अथर्ववेद-भाष्यम्
प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड ११-१३



प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड ११-१३]

भाष्यकार–

प्रो॰ विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक–

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम रेवली, पो॰ ई॰ सी॰ मुरथल

जि॰ सोनीपत- १३१०३९

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक–

रामलाल कपूर ट्रस्ट
रेवली, सोनीपत– ३९ (हरियाणा)
(०१३०) ३२९०२७६, २१००२८५
Web- www.rlktrust.org

प्राप्ति-स्थान–

१. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर
मर्चेण्टस्, २५९६, नई सड़क, दिल्ली
२. विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द,
४४०८ नई सड़क दिल्ली– ६
३. सुबोध पाकेट बुक्स, २/३ बी०
अंसारी रोड, नई दिल्ली– २

द्वितीय वार– ६००
वि० सं० २०६५ (सन् २००८)
मूल्यम्– १२०.००

मुद्रक–
अजय प्रैस
दिल्ली

प्रकाशीय वक्तव्य

वेदविद्याविशारद स्वर्गीय पण्डित श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड की अनुपमकृति अथर्ववेदभाष्य के काण्ड ११-१३ का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९८३ ई० में किया गया था। इस वेदभाष्य के जो-जो भाग समाप्त हो जाते हैं, उन-उन का पुनः प्रकाशन श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा अपने संसाधनों या जनता के सहयोग से किया जाता है। पूर्वोक्त अथर्ववेदभाष्य काण्ड ११-१३ समाप्त हो चुका है और जनता की मांग बढ़ रही है, अतः श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अपने संसाधनों से इस भाग का प्रकाशन तत्काल कर रहा है।

चौधरी प्रतापसिंह ने प्रो० विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड द्वारा रचित प्रथम तीन काण्डात्मक अथर्ववेद भाष्य 'रा० ब० चौ० नारायण सिंह प्रतापसिंह ट्रस्ट करनाल' की ओर से आर्य समाज शताब्दी समारोह (सन् १९७५) के अवसर पर प्रकाशित कराया था। उसके पश्चात् १८-१९ काण्डों का भाष्य सन् १९७७ में, काण्ड १४-१७ का भाष्य सन् १९८१ में और काण्ड ११-१३ का भाष्य सन् १९८३ ई० में 'दयानन्द निर्वाण शताब्दी' के अवसर पर कराया गया। सन् १९८६ ई० में चौधरी प्रतापसिंह के असामयिक निधन के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी पुत्र ने इस कार्य में कोई रुचि नहीं ली और अन्ततः श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ने अपने संसाधनों से सन् १९९२ में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया।

अजय प्रैस, दिल्ली के स्वामी के सहयोग से अथर्ववेदभाष्य के काण्ड ११-१३ की मुद्रण व्यवस्था के लिए हार्दिक धन्यवाद। श्री रमेश आर्य पुस्तक-बन्धनालय दिल्ली को ग्रन्थ की उत्तम साज-सज्जा और सुदृढ़-सुन्दर जिल्द तैयार करने के लिए हार्दिक धन्यवाद।

रामलाल कपूर ट्रस्ट
रेवली, सोनीपत

विजयपाल विद्यावारिधि
१० सितम्बर सन् २००८ ई०

भाष्यकार का संक्षिप्त परिचय

भाष्यकार प्रोफेसर विश्वनाथ का जन्म सन् १८८९ में गुजरांवाला (पाकिस्तान) में हुआ था उन्हें नौ वर्ष के वयः में गुजरांवाल की वैदिक पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया। यह पाठशाला गुरुकुल का प्रारम्भिक बीज थी। वैदिक पाठशाला के संचालक महात्मा मुंशीराम थे और आचार्य पं० गंगादत्त थे। कुछ काल पश्चात् सब छात्र तथा अध्यापक गुरुकुल काङ्गड़ी में पहुंचे। आप ने गुरुकुल काङ्गड़ी से सन् १९१४ में 'विद्यालंकार' उपाधि प्राप्त की। दीक्षान्त समारोह में आप को चार सुवर्ण पदक और एक रजत पदक प्राप्त हुए थे। उसी वर्ष आप गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। प्रारम्भ में आपने दर्शन शास्त्र और रसायनशास्त्र का अध्यापन किया बाद में वेद विषय पढ़ाने लगे। आचार्य रामदेव के आचार्यत्व काल में उपाचार्य के रूप में पन्द्रह वर्ष तक कार्य करते रहे। गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय ने आप को 'विद्यामार्त्तण्ड' की मानदोपाधि से विभूषित किया था। आप सन् १९४२ में सेवा निवृत्त हुए। उसके पश्चात् आप लेखन में प्रवृत्त हुए। ११ मार्च सन् १९९१ को एक सौ तीन वर्ष की परिपक्व आयु में परलोक प्रयाण किया।

वैदिक साहित्य की सेवाओं के उपलक्ष्य में आप को संस्थाओं द्वारा सम्मानित तथा पुरस्कृत किया गया। उनमें से प्रमुख हैं– सन् १९७९ में 'गङ्गाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार', सन् १९८३ में 'गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार', 'उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी पुरस्कार' और सन् १९८७ में वेदवेदाङ्ग पुरस्कार।

भाष्यकार की कृतियाँ– १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य २. सन्ध्यारहस्य ३. वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा ४. वैदिक जीवन ५. वैदिक गृहस्थाश्रम ६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश ७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ८. अथर्ववेदपरिचय ९. अथर्ववेदभाष्य (१-२० काण्ड) १०. यजुर्वेद स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा।

अथर्ववेद-भाष्य की विषय सूची

विशेष—(क) काण्ड ११ से काण्ड १३ तक सम्बन्धी भूमिकाएं पृथक् नहीं दीं। इन काण्डों के प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में "विषय-प्रवेश" शीर्षकों द्वारा इन सूक्तों के विषयों को संक्षेप में दर्शा दिया है।

(ख) काण्ड ११, सूक्त २ के मन्त्र २५ की व्याख्या के प्रसङ्ग में ज्योतिष सम्बन्धी दो चित्र संलग्न हैं, जिन के द्वारा मन्त्र २५ के तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया है।

अथर्ववेद-भाष्यम्

(काण्ड ११-१२-१३)

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेद-भाष्यम्

काण्ड ११ सूक्त १

विषय प्रवेश

१—काण्ड ११। सूक्त १ में ३७ मन्त्र हैं। निर्वाचित अग्रणी को यज्ञद्वारा सम्राट् रूप में स्थिर करना, उसके राष्ट्रिकर्तव्यों का निर्देश, तथा तद् द्वारा और सम्राट्-पत्नी द्वारा, समय-समय पर राष्ट्र के देवों अर्थात् विद्वानों, देवियों, ऋषियों, ऋषिसन्तानों, तथा ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों को आमन्त्रित कर उन्हें "ब्रह्मौदन" समर्पित करना-आदि विषयों की चर्चा ११।१ सूक्त में विस्तार पूर्वक हुई है।

२—प्रजा सहित 'सप्तऋषि'—जो कि परम्परा प्राप्त सचिव हैं,—राजसूय यज्ञ द्वारा, निर्वाचित अग्रणी को, 'सम्राट्' पद के लिये निर्धारित करते हैं (मन्त्र १-३)।

३—सम्राट् "सजातैः" अर्थात् समान पद वाले तथा सजातीय राजाओं के साथ मिलकर प्रजोन्नति करता है (मन्त्र ७)। सम्राट् का अर्थ है— "संयुक्त राज्यों का मुखिया", और साम्राज्य का अर्थ "संयुक्त-राज्य। तथा देखो "सजातान,' (६)।

४—"अग्नि" पद द्वारा प्रधान मन्त्री का, 'इमम्' द्वारा राष्ट्र का, तथा "समिधा" द्वारा राजकर का वर्णन (४)।

५—उपज के तीन विभाग करने, अर्थात् देवभाग, पितृभाग, तथा मर्त्य-भाग (५)।

६—"राजकर" का, प्रतिवर्ष माप कर, निश्चित करना (६)।

७—धान्य का अवहनन स्वयं राजपत्नी करे (८-१०)।

८—सम्राट् के लिये ३ वर (१०-११)।

९—अभ्यागत अतिथियों के बैठने के लिये काष्ठनिमित-बुना हुआ कौच, "द्रुवम्" (१२) ।

१०—अभ्यागतों में राष्ट्र के देव अर्थात् विद्वान्, शोभायमान महिलाएं, ऋषि, ऋषिसन्तानें तथा तपस्वीगण (१०,१४,१६) ।

११—ओदन का भोजन हितकर है (१५) ।

१२—ओदन पकाने की विधि (१६-१९) ।

१३—वंश परम्परा में प्रचलित १५वें पुरुष द्वारा लगातार किये गए अतिथि-यज्ञ सामाजिक महा सुकर्म है (१९) ।

१४—ब्रह्मौदन यज्ञ करना "देवयान" मार्ग है, और स्वर्गरूप है (२०) ।

१५—सम्राट् के कर्तव्य (२१,२२)

१६—वेदि का विधिपूर्वक निर्माण, तथा योषा के यह की आकृति वाली वेदि (२३) ।

१७—स्रुच अर्थात् जुहू, और दर्वि अर्थात् कड़छी, भूमिरूपी राजमाता का दूसरा हाथ है (२४) ।

१८—बलिवैश्वदेव के परिपक्व-ओदन का वेदि में संचय (२४) ।

१९—सम्राट् द्वारा, अभ्यागत ब्रह्मज्ञों को 'ऐकमत्य" में होने की प्रार्थना (२६) ।

२०—ब्रह्मौदनयज्ञ अर्थात् आतिथ्य में राजपत्नी द्वारा ब्रह्मज्ञों को, अन्नदान (२६) ।

२१—प्रत्येक यज्ञिया महिला का प्रत्येक ब्रह्मज्ञ के साथ "एकपति पत्नीव्रत" में रहकर विवाह की सूचना (२७) ।

२२—कृषि द्वारा प्राप्त अन्न-ज्योति, अमृत, हिरण्य, कामधेनु गौ, सच्चा धन और सच्ची निधि है । जिस गृह में यह अन्न है वह "स्वर्ग" रूप है (२८) ।

२३—दो प्रकार के पितर (२९) ।

२४—स्वर्ग (३०,३१), और नाक (३०) ।

२५—स्वर्गीय गृहजीवन में घृत का महत्त्व (३१) ।

२६—अभ्यागतों में आ गए अब्रह्मज्ञों को भी अन्न प्रदान, परन्तु आमन्त्रितों की पंक्ति से पृथक् बैठा कर, अन्न प्रदान (३२,३३) ।

२७—कृषिपक्व, अन्न की रक्षा करना, राष्ट्रवासी प्रत्येक जन का कर्तव्य है (३३) ।

२८—"पुमान् धेनु" अर्थात् बैल की प्राप्ति, तथा इसका महत्त्व । और वृषभ का प्रदान ऋषियों और ऋषि सन्तानों को—यह वैदिक संस्कृति है (३४,३५) ।

२९—सप्तरश्मि-आदित्य में स्थित "यज्ञनामक" परमेश्वर की प्राप्ति (३६) ।

३०—ब्रह्मौदन रूपी अतिथियज्ञ द्वारा "सुकृतस्य लोक" में और "उत्तम-नाक" में आरोहण (३७) ।

—:०:—

ऋषि ब्रह्मा १-३७ । देवता ओदनः । त्रिष्टुप; १ अनुष्टुब्गर्भा भुरिक्पङ्क्तिः; २ बृहतीगर्भा विराट्; ३ चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती; ४, १५-१६ भुरिक्; ५ बृहतीगर्भा विराट्; ६ उष्णिक्; ८ विराड् गायत्री; ९ शाक्वरातिजागतगर्भा जगती; १० विराट् पुरोतिजगती विराड्जगती; ११ जगती; १७ विराड् जगती; १८ अतिजागतगर्भा परातिजागता विराडतिजगती; २० अतिजागतगर्भा शाक्वरा चतुष्पदा भुरिग्जगती; २१, २४-२६, २९ विराड् जगती (२९ भुरिक्), २७ अतिजागतगर्भा जगती; ३१ भुरिक्; ३५ चतुष्पदा ककुम्मत्युष्णिक्; ३६ पुरोविराड् (व्याघ्राविष्ववगन्तव्या); ३७ विराड् जगती ।

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥१॥

(अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् हे अग्रणी ! (जायस्व) तू प्रकट हो, (इयम् अदितिः) यह पृथिवी (नाथिता) नाथवती होना चाहती है, अपना स्वामी चाहती है, (पुत्रकामा) तुझ जैसे पुत्र की कामना वाली हो कर, (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्मज्ञों[1] तथा वेदज्ञों के निमित्त, (ओदनं पचति) खेतों में

१. इस का वास्तविक अभिप्राय है कि "ब्रह्म के प्रसादनार्थं, ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों का परिपक्व ओदन द्वारा सत्कार करना" । मन्त्र ३७ वें की व्याख्या में इस अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है । सूक्त ११।१ में जहां ब्रह्मौदन शब्द पठित है, वहां इस की यही व्याख्या जाननी चाहिये ।

ओदन को परिपक्व करती है । (ते भूतकृतः) वे सत्यानुष्ठानी (सप्तऋषयः) सात ऋषि; (प्रजया सह) प्रजा के साथ मिलकर, (इह) इस राष्ट्र या साम्राज्य में (त्वा मन्थन्तु) मन्थन करके तुझे उत्पन्न करें, अर्थात् प्रकट करें, जैसे कि वे मन्थन करके अग्नि को प्रकट करते हैं ।

[मन्त्र द्वयर्थक है । यज्ञियाग्नि का तथा राष्ट्राग्रणीरूप राजाग्नि का वर्णन हुआ है । यज्ञियाग्नि को यज्ञर्षि लोग दो अरणियों से मथ कर प्रकट करते हैं, राजाग्नि को सप्तर्षि-तथा-प्रजा दो अरणियां बन कर, परस्पर सहमति से मन्थन अर्थात् छानबीन करके जन्म देते या प्रकट करते हैं । पृथिवी जो खेतों में अन्न पकाती है उसे ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के प्रसादन के निमित्त, यज्ञियाग्नि में आहुत करना होता है । इसी प्रकार ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों के उपभोग के निमित्त, कृष्युत्पन्न ओदन को राजाग्नि के प्रति अर्पित करना होता है । यज्ञियाग्नि आहुताश्न को सर्वत्र प्रसारित कर सर्वोपकार करती है, इसी प्रकार राजाग्नि प्राप्त अन्न का विभागपूर्वक सर्वत्र अर्थात् सब प्रजा में बांट देती है । पृथिवी विना स्वामी के नहीं रह सकती, इस लिये वह राजा के रूप में पुत्र की कामना करती है । अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १।१) ।

सप्तऋषयः=राज्य के सुचारुरूप में संचालन के लिये न्यून-से-न्यून सात ऋषिकोटि के अमात्य चाहियें । यथा "सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्" (मनु० तथा सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६) । मनु ने भी प्रथम सात सचिवों को नियुक्त करने का निर्देश किया है । आधिदैविक जगत् में भी सप्तर्षि मण्डल हैं, जिस में कि सात ऋषि विराजते हैं । आध्यात्मिक जगत् में भी सात ऋषि हैं जो कि शरीर का संचालन करते हैं । इसी प्रकार आधिभौतिक अर्थात् राष्ट्रिय जीवन में भी मनु ने ७ सचिवों की विधि लिखी है । आध्यात्मिक जगत में सात ऋषि यथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५) । ये सात ऋषि हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन और सातवीं विद्या । ये सातों ऋषि हैं। परन्तु इन द्वारा प्राप्त ज्ञान को, स्वार्थ भावना तथा लोभ, काम, क्रोध आदि वृत्तियां विकृत कर देती हैं । परन्तु सात्विक व्यक्ति को इन सात ऋषियों द्वारा प्राप्त ज्ञान मूलतः यथार्थ होता है ।

ब्रह्मौदनम्=ब्रह्म के नाम पर ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों की अन्नादि द्वारा सेवा । मन्त्र के अनुसार ऋषियों, जो कि ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ होते हुए, अमात्यरूप से प्रजा के शासन में, राजा की सहायता करते हैं उनकी, तथा

तत्सदृश राष्ट्र के अन्य ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों की अन्नादि द्वारा सत्कार पूर्वक सेवा "ब्रह्मौदन" है । ऐसे व्यक्ति आधिभौतिक दृष्टि से राष्ट्र के देव हैं । इसीलिये ऐसों को संस्कृत में "भूदेव" कहते हैं । ऐसे व्यक्तियों की सेवा से पृथिवी तर जाती है, पृथिवीस्थ प्रजा दुःखों के नद से पार हो जाती है । मन्त्र ५ में "यो देवानां स इमां पारयाति" में "इमाम्" से अभिप्राय पृथिवी की प्रजा है] ।

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥२॥

(वृषणः) हे सुखों की वर्षा करने वालो ! (सखायः) हे सब के मित्रो ! (अद्रोघाविताः) हे द्रोह विहीन प्रजा द्वारा रक्षा को प्राप्त सप्त ऋषियो ! (वाचम्, अच्छ) वेदवाणी को स्वाभिमुख कर के, उस का उच्चारण करते हुए (धूमम्) यज्ञियधूम को (कृणुत) करो, यज्ञानुष्ठान करो (अयम् अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी यह पुरुष अर्थात् राजसूययज्ञ द्वारा किया जाने वाला सम्राट् (पृतनाषाट्) शत्रुसेनाओं को पराभव करने वाला है, (सुवीरः) उत्तम वीर है, (येन) जिस की सहायता द्वारा (देवाः) सप्तर्षि देव या सैनिक [दिवु विजिगीषा, अर्थात् विजिगीषु सैनिक] (दस्यून्) उपक्षयकारी शत्रुओं का (असहन्त) पराभव करते रहे हैं । इस के साथ ही [असहन्त=इस द्वारा यह दर्शाया गया है कि राजा के निमित्त चुना गया तेजस्वी, हमारी सेनाओं का नायक बन कर पहिले भी युद्धों में विजय प्राप्त करता रहा है । इसलिये यह राजा होने का अधिकारी है । राजसूय-यज्ञ द्वारा राजा बनाने का वर्णन अथर्व (४।८।१-७) के मन्त्रों में देखो । अथर्व ४।८।१ में कहा है कि "तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु-मन्यतामिदम्[1]"] ।

अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नियच्छ ॥३॥

---

१. अर्थात् उस राजा के राजसूय यज्ञ में, मृत्यु भी उपस्थित हो कर, उसे राजा रूप में मानती है, अतः वह निर्वाचित अग्रणी राजा होना स्वीकृत करे, अनुमति दे । इस से यह भाव भी सूचित होता है कि स्वयं चुने राजा के राज्य में मृत्यु भी, उस के अधीन हो कर, उस के राज्य में विचरेगी । स्वेच्छाचारिता से नहीं ।

(जातवेदः) राष्ट्रोत्पन्न वस्तुओं के जानने वाले हे विद्वन् ! (अग्ने) हे राष्ट्र के अग्रणी राजन् ! (महते वीर्याय) महान् वीरता के कर्मों को करने के लिये, तथा (ब्रह्मौदनाय पक्तवे) ब्रह्मौदन के कृषिपाक के लिये, (अजनिष्ठाः) तू पैदा हुआ है। (ते) उन (भूतकृतः सप्तऋषयः) सत्यानुष्ठानी सात ऋषियों ने (त्वा) तुझे (अजीजनन्) राजरूप में जन्म दिया है, (अस्यै) इस पृथिवी अर्थात् प्रजा के लिये (रयिम्) सम्पत्ति तथा (सर्ववीरम्) सब वीर (नियच्छ) नितरां प्रदान कर।

[जातवेदसे="जातानि वेद, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः" (निरुक्त ७।५।१९)। पक्तवे=कृष्योदन के पकने के लिये। एतदर्थ कृषि की रक्षा तथा कृषि के लिये जल का प्रबन्ध करता राजा का कर्त्तव्य दर्शाया है। साथ ही राष्ट्ररक्षार्थ वीरता के कर्म, सम्पत्ति की वृद्धि, तथा युद्ध शिक्षा दे कर प्रजा को वीर बनाना ये भी राजा के कर्त्तव्य कर्म हैं]।

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयञ्जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

(अग्ने) हे तेजस्विन् प्रधानमन्त्रिन् ! (समिद्धः) सम्यक् प्रसिद्ध तू (समिधा) राष्ट्रयज्ञ में भेंट की गई ऐच्छिक "कर" रूपी समिधा द्वारा (समिध्यस्व) सम्यक् रूप से प्रदीप्त हो, प्रसिद्ध हो। (विद्वान्) विद्वान् तू (इह) इस राष्ट्र में (यज्ञियान्) राष्ट्रयज्ञ के योग्य (देवान्) दिव्यजनों को (आ वक्षः) प्राप्त कर, या ला। (जातवेदः) राष्ट्रोत्पन्न वस्तुओं को जानने वाले हे विद्वन् ! (तेभ्यः) उन दिव्यजनों के लिये (हविः) ब्रह्मौदनरूपी हवि को (श्रपयन्) परिपक्व करता हुआ तू, (इमम्) इस राजा को (उत्तमम् नाकम्) सर्वोत्तम सुखातिशय तक (अधिरोहय) चढ़ा।

[मन्त्र में "अग्ने" और "इमम्",—इन दो शब्दों द्वारा दो अधिकारियों का वर्णन हुआ है। "इमम्" द्वारा राजा का, तथा "अग्ने" द्वारा तद्भिन्न अधिकारी का। अतः "अग्ने" पद द्वारा प्रधान मन्त्री ही प्रतीत होता है, जो कि 'सप्त ऋषयः" में से एक ऋषि है।

समिधा=वैदिक दृष्टि में राज्य प्रबन्ध एक महायज्ञ है, जिस में स्वेच्छापूर्वक "कर प्रदान" समिधारूप है।

यज्ञियान् देवान्=राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभागों के प्रबन्ध के लिये राष्ट्रयज्ञ में निज सेवाओं को आहुतिरूप में देने वाले अधिकारियों का संग्रह प्रधान मन्त्री करे, और इन के जीवन निर्वाह के लिये हविरूप में इन के भोजनाच्छादन की व्यवस्था करे। अधिकारिवर्ग वेतन भोगी नहीं। सप्त ऋषियों के मन्त्रित्व में वेतनभोगियों के लिये स्थान नहीं। मन्त्र में राज्य व्यवस्था का सर्वोत्तम रूप दर्शाया है। नाकम्=कम्=सुखम्; अकम्=सुखाभाव; न+अकम्=सुखाभाव का अभाव; अर्थात् सुखस्वरूप तथा सुखाभाव का अभावरूप अतिशय सुख, अर्थात् जो निरन्तर सुखरूप है और जिस में सुख का अभाव कभी न हो, ऐसा सुख पारम्पर्य]।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।
अंशाञ्जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥५॥

हे प्रजाजनो ! (वः) तुम्हारे लिये, (पुरा) अनादिकाल से, (यः) जो (त्रेधा, भागः, निहितः) त्रिविध भाग निश्चित किया है, (देवानाम्) एक भाग देवों का, (पितॄणाम्) एक भाग पितरों का, (मर्त्यानाम्) एक भाग अन्य मनुष्यों का, (अंशान् जानीध्वम्) उन अंशों अर्थात् भागों को जानो, (तान्) उन भागों को (वः) तुम्हें (विभजामि) विभागानुसार मैं देता हूं, (यः) जो (देवानाम्) देवों का भाग है (सः) वह भाग (इमाम्) इस पृथिवी को अर्थात् पृथिवीस्थ प्रजा को (पारयाति) दुःखों और कष्टों के नद से पार करता है।

[जो अन्न आदि, राष्ट्र में उत्पन्न हो, राजनियम से उस के तीन भाग कर के उसे प्रजा के निमित्त निश्चित कर देने चाहिये। यह विभाग राज प्रबन्ध द्वारा होना चाहिये, जैसे कि यजुर्वेद में कहा है कि "विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः" (३०।४), अर्थात् "अभीष्ट साधक, राष्ट्रिय अद्भुत सम्पत्ति के विभाग-कर्त्ता का हम प्रजाजन आह्वान करते हैं"। इस से ज्ञात होता है कि राष्ट्र की उत्पत्तियों और सम्पत्तियों पर उत्पादकों का कोई एकाधिकार नहीं, अपितु वे सम्पत्तियां और उत्पत्तियां राष्ट्र की हैं, उन का यथोचित विभाग, राष्ट्रनियत "विभक्ता" करे। राष्ट्र की सम्पत्तियों और उत्पत्तियों के तीन विभाग होने चाहियें, उन-उन विभागों की जनसंख्या और आवश्यकतानुसार। देव हैं—विद्वान्, त्यागी, तपस्वी ऋषि-मुनि आदि। पितर हैं गृहस्थी। मनुष्य हैं, इन दोनों विभागों से अतिरिक्त सामान्य प्रजा ब्रह्मचारी वानप्रस्थी आदि। सायणाचार्य के मत में देव हैं,

यज्ञ पद्धति में जिन के निमित्त, आहुतियां दी जाती हैं अग्नि आदि । पितर हैं पिता, पितामह, प्रपितामह मृत व्यक्ति । मनुष्य हैं ब्राह्मण लोग] ।

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥६॥

(अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्विन् अग्रणी सम्राट् ! (सहस्वान्) तू शत्रुओं के पराभव क्षम बल वाला है, (अभिभूः) तू पराभव कर्त्ता है, (इत्) निश्चय से (अभि असि) तू पराभवकर्त्ता है, (द्विषतः, सपत्नान्) द्वेष करने वाले सपत्नों को (नीचः) अधोमुख कर के (न्युब्ज) उन्हें नितरां ऋजु व्यवहार वाले कर । (इयम्) यह (मात्रा) बलि की मात्रा अर्थात् राशि, (मीयमाना) जो कि मापी जा रही है, (मिता च) और जो पूर्व समयों में भी मापी जाती रही है, (ते) तेरे (सजातान्) सजातीय राजाओं को तेरे प्रति (बलिहृतः) बलि प्रदाता (कृणोतु) करे । बलि=राजकर[1], Tax यथा "**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्**" ।

[सहः=बलनाम (निघ० २।६)। न्युब्ज=नि+उब्ज आर्जवे । नीचः =अधोमुख अर्थात् शर्मिन्दा हो कर जिन्होंने अपने मुख नीचे कर लिये हैं। सपत्नान्=राष्ट्र के पति के विद्रोही निज राष्ट्रजन । इयं मात्रा=सजात राजाओं द्वारा देय मात्रा, जिसे कि समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार प्रतिवर्ष मापा जाता है, निश्चित किया जाता है, और जिस की प्रथा पूर्व-काल से चली आ रही है । सजातान् "**सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह**" (अथर्व० २।६।४); "**सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्**" (अथर्व० १।९।३); "**सजातानां मध्यमेष्ठा यथा सानि**" (अथर्व० ३।८।२); "**सजातानामसद् वशी**" (अथर्व० ६।५।२) । सजातान्=समान जाति के राजा यह संगठन संयुक्त-राज्य का सा प्रतीत होता है, जो कि एक ही जाति के लोगों का है, सम्भवतः जैसे कि भारत में एक केन्द्रिय सरकार है, और साथ ही प्रान्तीय सरकारें हैं । प्रान्तीय सरकारें केन्द्रिय सरकार को भेंट दिया करें, यह भावना यहां प्रतीत होती है । तथा जब प्रान्तीय सरकारें परस्पर किसी विचार के लिये मिलें, तब केन्द्रिय सरकार का राजा अर्थात्

---

१. "राजकर" को बलि कहना, राजकर को धार्मिक कार्य जान कर स्वेच्छा-पूर्वक देय दर्शाया है । जैसे कि बलिवैश्वदेव-यज्ञ में बलि को धार्मिक कार्य समझ कर दिया जाता है ।

सम्राट् इन में मध्यस्थ हो कर इन की सभा का संचालन करे । ऐसे ही अफ्रिका के लोग एक जाति के हैं, इन का भी संयुक्त-राज्य संगठन हो । इसी प्रकार अन्य समान-जाति वालों के भी संयुक्त राज्य हों, यह विचार यहां प्रस्तुत किया है] ।

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय ।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥७॥

(सजातैः) सजातीय राजाओं के (साकम्) साथ मिल कर, (पयसा सह) जल तथा दुग्धादि पदार्थों के साथ हे सम्राट् (एधि=भव) तू विद्य-मान हो । (उद् एनाम् उब्ज) इस प्रजा को उन्नत कर के इसे ऋजुगामिनी बना, (महते वीर्याय) ताकि यह प्रजा महावीरता के कार्य करे । (ऊर्ध्वः) सर्वोपरि वर्तमान तू (नाकस्य) अतिशय सुख के (विष्टपम्) ताप-संतापरहित शिखर पर (अधिरोह) अधिरूढ़ हो, (यम्) जिस नाक के शिखर को (वदन्ति) कहते हैं (इति) कि यह (स्वर्गः लोकः) स्वर्ग लोक है ।

[संयुक्त-राज्य के राजाओं के साथ मिल कर, केन्द्रिय-राज्य के सम्राट् को, प्रजा की वृद्धि के लिए कृष्यर्थजल, और दुग्धादि पेय, और खाद्य पदार्थों की समुन्नति करनी चाहिये । प्रजा के समृद्ध होने पर प्रजा ऋजुमार्गगामिनी हो जाती है । ऋजुमार्ग है, सत्यमय जीवन का मार्ग । ऐसा साम्राज्य स्वर्ग रूप है, जिस में कि प्रजा ताप-संताप तथा दुःखों से विगत हो जाती है । ऐसे सुखी गृहस्थ जीवन को, तथा दिव्य भावनाओं से भावित अष्टचक्रा और नव द्वारा देह पुरी को, तथा दान देने से उदार भावनाओं वाले जीवन को अथर्ववेद में "स्वर्ग" कहा है (४।३४।५; १०।२।३१; ६।१२२।२) । (उद्+उब्ज=आर्जवे) । विष्टपम्=विगत +तपम् । नाकस्य=देखो मन्त्र ४ की व्याख्या] ।

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना ।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥८॥

(इयम्) यह (मही) महनीया, (देवी) दिव्यगुणों वाली, (सुमनस्य-माना) सुप्रसन्न मनों वाली प्रजा के कारण प्रसन्नचित्ता (पृथिवी) पृथिवी (चर्म) मृगचर्म को (प्रतिगृह्णातु) स्वीकार करे । (अथ) तदनन्तर (सुकृत-स्य) सुकर्मियों के (लोकम्) लोक में (गच्छेम) जाने के अधिकारी हम बनें ।

[धान के कूटने के निमित्त, जमीन पर मृगचर्म बिछा कर, उस पर ऊखल-मुसल को रख कर तण्डुल तैयार किये जाते हैं। इस का वर्णन मन्त्र में हुआ है। उत्तम शासन तथा दिव्यगुणी मनुष्यों और प्रसन्न चित्त प्रजा के कारण पृथिवी को मही, देवी, तथा सुमनस्यमाना कहा है। राजपत्नी तथा राजा मिल कर, भोजन योग्य तण्डुलों को स्वयं तैयार करें—यह आगे के मन्त्रों में प्रतिपादित किया है। राजा के मन्त्री सप्त ऋषि हैं, जिन का कि जीवन त्याग-तपस्या वाला है। इन के संपर्क के कारण राजपत्नी और राजा का जीवन भी त्याग-तपस्यामय हो जाता है। इसलिये अपने निर्वाह के लिये अपनी भोज्य सामग्री को यथा सम्भव वे स्वयं तैयार करते हैं। इस का प्रभाव प्रजा पर भी पड़ता है, और प्रजा का जीवन भी त्याग-तपस्यामय हो जाता है। यथा **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः"** (ईशा० उप० १।१)। त्याग, तपस्या और स्वावलम्बिता—यह सुकर्मियों के जीवनों का लक्ष्य है, और जहां इन आदर्शों का पालन होता है वह सुकर्मियों का लोक है]।

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥९॥

हे राजपत्नि! (एतौ) इन दोनों (ग्रावाणौ) पत्थरों अर्थात् सिल-वट्टे के सदृश दृढ ऊखल-मुसल को, (सयुजा) जो कि अवहनन कार्य में साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं, (चर्मणि) चर्म पर (युङ्ग्धि) स्थापित कर, और (यजमानाय) राष्ट्रयज्ञ के रचयिता राजा या सम्राट् के लिये (साधु) ठीक तरह से (अंशून्) धान के सिट्टों[1] को (निर्भिन्धि) तोड़। (अवघ्नती) और अवहनन करती हुई, अर्थात् मुसल को उलूखल में मारती हुई उन का (निजहि) तू हनन कर (ये) जो कि (इमाम्) इस प्रजा को (पृतन्यवः) सेना द्वारा मारना चाहते हैं, और (उद्भरन्ती) मुसल को ऊपर उठाती हुई (प्रजाम्) प्रजा को (उद् ऊह) ऊपर उठा, अर्थात् उन्नति की ओर ले जा।

[अवघ्नती और उद्भरन्ती—इन स्त्रीलिङ्ग पदों द्वारा पत्नी की अवहनन क्रिया मन्त्र में निर्दिष्ट हुई है। इमां पृतन्यवः—इस द्वारा "इमाम्" से अभिप्राय राष्ट्रिय प्रजा का है, किसी वैयक्तिक प्रजा अर्थात् सन्तानों का नहीं। शत्रु, सेना द्वारा आक्रमण, राष्ट्र और राष्ट्रिय-प्रजा पर करेंगे,

१. मञ्जरी।

किसी व्यक्ति की सन्तान पर नहीं। अवघ्नती द्वारा मुसल को ऊखल में, धान्य के अवहननार्थ फेंकती हुई को कहा है कि इस द्वारा मानो कि तू शत्रुसेना का हनन कर रही है, और मुसल को ऊपर उठाती हुई को कहा है कि इस द्वारा तू प्रजा को ऊपर उठा अर्थात् उसे उन्नति की ओर ले जा। यह वर्णन राजपत्नी के सम्बन्ध में सार्थक हो सकता है, सामान्य यज्ञकर्त्ता की पत्नी के सम्बन्ध में नहीं। ग्रावाणौ को चर्म पर इसलिये स्थापित किया है कि कूटते समय धान्यांश इधर-उधर न बिखरे]।

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥१०॥

(वीर) हे वीर! (हस्ते) हाथ में, (ग्रावाणौ) सिल-वट्टा के समान सुदृढ़ ऊखल-मुसल को, (सकृतौ) जिन्होंने कि परस्पर मिल कर अवहनन कार्य करना है, (गृहाण) पकड़, (यज्ञियाः) पूज्य तथा सत्संग के योग्य तथा जिन का सत्कार ओदन भोग द्वारा करना है ऐसे (देवाः) देवकोटि के विद्वान् (ते) तेरे (यज्ञम्) इस राष्ट्र यज्ञ में (आ अगुः) आ गए हैं। (त्रयः वराः) तीन वर (यतमान्) जिन्हें कि (त्वं वृणीषे) तू वरना चाहता है (ताः समृद्धीः) उन तीनों (ते) तेरे समृद्धिरूप वरों को (इह) इस यज्ञ में (राधयामि) मैं सिद्ध करता हूं।

["राधयामि" द्वारा सप्तऋषियों में से कोई ऋषि, या कोई अन्य वरिष्ठ याज्ञिक विद्वान् अभिप्रेत है, जो कि राजा या समाट् के इस सत्कार यज्ञ का सम्पादन करेगा। वीर पद द्वारा राजा का या सम्राट् का सम्बोधन हुआ है। राजा केवल ग्रावाणौ को हाथ लगाता है, अवहनन क्रिया नहीं करता। अवहनन तो राजपत्नी करती है (मन्त्र ९)। इस सत्कार-यज्ञ में देवकोटि के विद्वान् आए हैं, इसलिये यज्ञ के लिये वरा गया वरिष्ठ विद्वान् राजा से कहता है कि तीनवर, जो कि तेरे लिये समृद्धिकारक हैं, उन का कथन कर, ताकि मैं उन के सम्पादन का यत्न करूं। सकृतौ=सह+कृतौ, कर्तरि क्तः]।

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥११॥

(इयम्) यह (अदितिः) राष्ट्रभूमि (ते) तेरी (धीतिः) खाने-पीने

का साधन है, (इदम् उ) और यह (ते) तेरा राष्ट्र (जनित्रम्) उत्पत्तियों का साधन है, (शूर पुत्रा) शूरपुत्रों वाली (अदितिः) राष्ट्रभूमि (त्वाम्) तुझे (गृह्णातु) स्वीकार करे। (ये) जो (इमाम्) इस राष्ट्रभूमि या इस तेरी प्रजा के सम्बन्ध में (पृतन्यवः) सेना चाह कर आक्रमण करते हैं उन्हें (परा पुनीहि) दूर कर जैसे कि छाज द्वारा तण्डुलों से तुषों को पृथक् किया जाता है, और (अस्यै) इस राष्ट्रभूमि या इस प्रजा को (रयिं सर्ववीरम्) सब वीरों उपेत सम्पत्ति (नि यच्छ) नितरां प्रदान कर।

[मन्त्र भावना राजा के प्रति है। **अदितिः पृथिवीनाम** (निघं० १।१)। धीतिः=धेट् पाने (सायण) मन्त्र में ३ वस्तुओं का वर्णन हुआ है, १. खाने-पीने के लिये साधन भूत राष्ट्रभूमि का होना, २. समग्र राष्ट्र का उत्पत्तियों का साधन होना, ३. तथा राष्ट्रभूमि का शूर-प्रजा वाली होना जिस द्वारा कि शत्रुओं को दूर किया जाय। सम्भवतः मन्त्र १० के ३ वरों की पूर्त्ति का निर्देश मन्त्र ११ में हुआ है]।

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥१२॥

(उपश्वसे=उप+श्वसितुम्) कुछ समय श्वास के लिये, विश्राम के लिये, (द्रुवये) काष्ठ के बने, और बुने हुए पीठ पर, (यूयम्) हे अभ्यागत (यज्ञियासः) पूज्यो! तुम (सीदत) बैठो, और (तुषैः) तण्डुलों के छिलकों से जैसे तण्डुलों को पृथक् कर दिया जाता है वैसे (विविच्यध्वम्) विवेक पूर्वक असत्य से सत्य की व्याकृति करो, असत्य से सत्य को पृथक् करो, ताकि सत्य का अवलम्ब कर (श्रिया) शोभा तथा राष्ट्रिय-सम्पत्ति द्वारा, (सर्वान् समानान्) सब स्वसमान राष्ट्रों को (अति स्याम) अतिक्रान्त करने वाले हम हो जायं। (द्विषतः) द्वेषियों को (अधस्पदम्) तुम्हारे पदों के नीचे (पादयामि) मैं गिरा देता हूं, तुम्हारे अधीन कर देता हूं।

[उप+श्वसे=उपश्वसितुम्; (यथा दृशे=द्रष्टुम्)। द्रुवये=द्रु+(काष्ठ)+वये (बुने हुए)। विविच्यध्वम् विवेक करो, पृथक् करो। विचिर् पृथग्भावे। अभ्यागत अतिथियों के स्वागत में किये गए यज्ञ के कर्त्ता ऋत्विक् का वचन है "पादयामि"]।

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥

(नारि) हे जलाहरण करने वाली नारि! (परेहि) दूर जा और (पुनः क्षिप्रम्) फिर शीघ्र (एहि) लौट कर आ, (अपां गोष्ठः) जल का घड़ा, (भराय) जल भरने या लाने के लिये (त्वा अध्यरुक्षद्) तुझ पर आरूढ़ हुआ है। (तासाम्) उन जलों में (यतमाः) जो जल (यज्ञियाः) शुद्ध पवित्र (असन्) हों (गृह्णीतात्) उन का ग्रहण कर, (धीरी) बुद्धिमती तू (इतराः विभाज्य) अन्य अर्थात् अपवित्र जलों को पृथक् कर के (जहीतात्) छोड़ दे।

[ताजा और शुद्धपवित्र जल लाने के लिये नारी को प्रेरित किया है, चाहे ऐसा जल दूर से भी लाना पड़े। गोष्ठः गो=जल (उणा० २।६८, महर्षि दयानन्द)+स्थः जलाधार घड़ा]।

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥१४॥

(इमाः) ये (शुम्भमानाः) शोभायमान (योषितः) स्त्रियां (आ अगुः) आ गई हैं, (नारि) हे राजपत्नि! (उत्तिष्ठ) उठ (तवसं रभस्व) शीघ्रता कर उन के स्वागत के लिये। (प्रजया) प्रजा के कारण (प्रजावती) श्रेष्ठ प्रजा वाली, (सुपत्नी) तथा उत्तमपति वाली तू (पत्या) पति के साथ मिल कर शीघ्रता कर, (त्वा) तुझे (यज्ञः) अतिथि-यज्ञ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है, (कुम्भम्) जलकुम्भ (प्रति गृभाय) पकड़।

[तवसम्=तव, सम् रभस्व (सायण)। तवस् बलनाम (निघं० २।९) तवसः महन्नाम (निघं० ३।३)। परन्तु मन्त्र में "शीघ्रता" अर्थ प्रतीत होता है। प्रजया प्रजावती=प्रजापद द्वारा राष्ट्रिय प्रजा अभिप्रेत है। पति, सम्राट् या राजा है, अतः राजपत्नी राज्ञी होने के कारण प्रजा वाली है। शोभायमान स्त्रियां राजपत्नी द्वारा आमन्त्रित हैं। अतः उन के स्वागत के लिये राजपत्नी के सम्बन्ध में उत्तिष्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है। राजपत्नी के साथ राजा भी स्वागत करता है। यह यज्ञ अतिथियज्ञ है जिस में कि अतिथियों को भोजनार्थं आमन्त्रित किया है। "कुम्भं गृभाय" द्वारा यह यह निर्देश किया है कि जल ले कर भात बनवाने की तय्यारी करो; जैसे कि अगले मन्त्रों में निर्देश हुआ है। तवसम्=तु गतौ, शीघ्रगति]।

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥१५

(पुरा) पूर्वकाल से (यः) जो, (वः) तुम्हारे लिये, (ऊर्जः) अन्न का (भागः) भाग (निहितः) नितरां हितकर जाना गया है [उस के लिये], (ऋषिप्रशिष्टाः) मन्त्र द्वारा निर्दिष्ट या कथित (एताः) इन (अपः) जलों को (आभर=आहर) ला। (अयं यज्ञः) यह अतिथि यज्ञ [अर्थात् राष्ट्र के विशिष्ट प्रजाजनों को आमन्त्रित कर उन का भोजन द्वारा सत्कार करना] (गातुविद्) पृथिवी [का राज्य] प्राप्त कराता है, (नाथविद्) ऐश्वर्य या या उत्तम शासक प्राप्त कराता है, (प्रजाविद्) प्रजा प्राप्त कराता है, (उग्रः) राष्ट्र को उग्र अर्थात् प्रभावशाली करता है, (पशुविद्) राष्ट्र में पशुओं की वृद्धि करता है, (वीरविद्) वीरों को प्राप्त कराता है,—(वः) हे राजपुरुषों! तुम्हारे लिये यह अतिथि यज्ञ (अस्तु) सुफल हो।

[अतिथियज्ञ के लिये भात तय्यार करना है। व्रीहि अर्थात् धान, जिस से तण्डुल प्राप्त होते हैं,। जीवन के लिये अति हितकर है। यथा "**शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदो मधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः**" (अथर्व. ८।२।१८) अर्थात् व्रीहि और यव कल्याणकारी हैं, बलक्षय को रोकते हैं, अदन करने में मधुर हैं, यक्ष्म रोग के प्रति बाधा डालते हैं, सात्विक होने से, राजस-तामस पापकर्मों से मुक्त करते हैं। तथा "**प्राणापानौ व्रीहियवौ**" (अथर्व. ११।४।१३), अर्थात् व्रीहि और यव प्राणापान रुप हैं। "**व्रीहियवश्च भेषजौ**" (अथर्व. ८।७।२०), अर्थात् व्रोहि और यव भेषज हैं, औषध हैं। इस लिये व्रीहि "निहित" है, नितरां हितकर है।

ऋषिः, ऋषिणा मन्त्रेण (सायण)। मन्त्र १३ उत्तरार्ध में यज्ञिय जलों के उपादान का निर्देश हुआ है, जो कि अतिथि यज्ञ के भात के निर्माण में उपयुक्त होंगे। गातुविद्; गातुः पृथिवी नाम (निघं० १।१)। नाथ=राष्ट्र वा उत्तम शासक, या ऐश्वर्य नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीषु" (भ्वादि)। यदि राजवर्ग समय-समय पर प्रजावर्ग के साथ सम्पर्क बनाए रखें और उन्हें आमन्त्रित करता रहे तो उन्हें पृथिवी (राष्ट्र) का शासन प्राप्त होता रहता है, वे राष्ट्र के प्रशासक बने रहते हैं, राष्ट्र प्रभावशाली बना रहता है राजवर्ग-और-प्रजावर्ग में सामञ्जस्य के कारण, पशुओं की वृद्धि दुग्धादि तथा कृषि कर्म के लिये होती रहती है, और वीर योद्धाओं की परिपुष्टि होती रहती है]

अग्ने चुरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम्।
आर्षेया दैवा अभिसङ्गत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥१६॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यज्ञियः) अतिथि यज्ञकर्म साधक (चरुः) तण्डुल पकाने का भाण्ड (त्वा अध्यरुक्षत्) तुझ पर चढ़ा है, (तपसा) ताप के द्वारा (एनम्) इसे (तप) तपा, (तपिष्ठः) ताकि यह खूब तप कर (शुचिः) शुद्ध पवित्र हो जाय। (आर्षेयाः) ऋषि कोटि के, तथा (दैवाः) देव कोटि के, और (तपिष्ठाः) तपस्वी, (ऋतुभिः) ऋतु-ऋतु में (अभिसंगत्य) मिल कर, (इमम्) इस (भागम्) अन्नभाग को (मन्त्र १५), (तपन्तु) तपाएं, अर्थात् यथेष्ट पक्वान्न के लिये निर्देश दें।

[अग्ने=यह सम्बुद्ध्यन्त पर पार्थिव-अग्नि का वाचक है। वेदकाव्य में अचेतनों का भी वर्णन चेतनों के सदृश होता है, यह सर्वसाधारण कवियों की वर्णन शैली है। जिस भाण्ड में ऋषियों, ऋषि सन्तानों विद्वानों तथा तपस्वियों के लिये तण्डुल पकाते हों, उसे प्रथम अग्नि के द्वारा खूब तपाना चाहिये, ताकि उस की मलिनता तथा सम्भाव्य कीटाणु समाप्त हो जायें, और ऋषि आदि को, कीटाणु आदि जन्य दुष्टपरिणाम भुगतने न पड़ें। इन ऋषि आदि को ऋतु-ऋतु या मास-मास में आमन्त्रित कर इन की सेवा करनी चाहिए। ये यतः सात्विक प्रकृति के होते हैं, अतः इन्हें सात्विक अन्न चाहिये। इसलिये इन के निर्देशानुसार इन के भोजन को तैयार करवाना चाहिये। वेद में ऋतुशब्द का प्रयोग मासों के युगल के लिये होता है। परन्तु मास के लिये भी वेद में ऋतुशब्द का प्रयोग हुआ है। यथा "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू**" (यजुः १३।२५)। "ऋतू" में द्विवचन है, इसलिये मधु अर्थात् चैत्र और माधव अर्थात् वैशाख प्रत्येक मास को ऋतु कहा है। मन्त्र १० में सर्वसाधारण दिव्यपुरुषों, यथा **मातृदेवोभव, पितृदेवोभव** आदि को आमन्त्रित किया है, और मन्त्र १४ में शोभायमान देवियों को आमन्त्रित किया है, और मन्त्र १६ में ऋषियों, ऋषिसन्तानों, विशिष्ठ विद्वानों, तथा तपस्वियों को आमन्त्रित किया है। इसी प्रकार समय-समय पर राजा को चाहिये कि वह प्रजावर्ग को आमन्त्रित करता रहे, ताकि पारस्परिक विचार परामर्श होता रहे, और सद्भावनाएं बनी रहें।]

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥१७॥

(योषितः) महिलाओं के सदृश (शुद्धाः पूताः) शुद्ध और पवित्र, (यज्ञियाः) अतिथि यज्ञकर्म योग्य, (शुभ्राः) चमकीले (इमाः आपः) ये जल, (चरुम्) भाण्ड में (अव सर्पन्तु) शनैः शनैः डलें, या डाले जाएं। [ऋष्यादि ने] (नः) हम राजवर्ग को (प्रजाम्) प्रजा तथा (बहूलान् पशून्) बहुत पशु (अदुः) दे दिये हैं। (ओदनस्य पक्ता) ओदन का पकाने वाला सुकृताम् लोकम्) सुकर्मियों के लोक को (एतु) जाए।

[मन्त्र १६ द्वारा शुद्ध पवित्र तथा गर्म भाण्ड में, शुद्ध जल को शनैः शनैः डालने का वर्णन मन्त्र १७ में हुआ है, ताकि भाण्ड शनैः शनैः ठण्डा होता रहे, और तदनन्तर समुचित जलमात्रा का संचय भाण्ड में हो जाय। आमन्त्रित ऋषि मुनि आदि भोजन से पूर्व राजपरिवार तथा राजवर्ग को राज्यशासन सम्बन्धी परामर्श देंगे। उन के परामर्शों का ग्रहण कर राज-परिवार आदि व्यक्ति कहते हैं कि इन परामर्शों द्वारा हमें मानो सत्प्रजा और नाना पशुओं की सम्पत्ति, ऋषि आदि ने दे दी हैं। ऋषि लोग कहते हैं कि अन्नादि द्वारा हमें सत्कृत करने वाला राजपरिवार आदि, उन लोगों की समाज के अधिकारी हो जांय जो कि प्रजा के पालनरूपी सत्कर्मों के करने वाले हैं[1]]।

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥१८॥

(ब्रह्मणा) जल द्वारा (शुद्धाः) शुद्ध किये गए, (उत) और (घृतेन) घृत द्वारा (पूताः) पवित्र किये गए, (सोमस्य अंशवः) मानो सोम-ओषधि के अंशरूप (इमे) ये (यज्ञियाः) अतिथि यज्ञ योग्य (तण्डुलाः) तुम तण्डुल हो (अपः प्र विशत) तुम भाण्डनिष्ठ जल में प्रविष्ट होओ, (चरुः) भाण्ड (वः) तुम्हें (प्रति गृह्णातु) ग्रहण करे, (इमम् पक्त्वा) इस तण्डुल को पका कर (सुकृतां, लोकम् एत) हे राजपरिवार के लोगो तुम सुकर्मियों की समाज के अधिकारी बनो[1]।

१. अथवा सुकर्मी लोग मृत्यु के पश्चात् जिस लोक में जाते हैं, उस लोक में तुम भी मृत्यु के पश्चात् जाओ। इस असीम संसार में लोक लोकान्तरों की कोई सीमा या निश्चित संख्या नहीं की जा सकती। सम्भव है कि मृत्यु के पश्चात् सुकर्मियों और दुष्कर्मियों के पृथक्-पृथक् लोक भी हों, और मिश्रित कर्मियों के लिये मृत्यु के पश्चात् पुनः भूलोक हो।

[ब्रह्मणा=ब्रह्म उदक नाम (निघं० १।१२)। मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है कि तण्डुलों को जल द्वारा धोकर, और उन में घृत डाल कर, भाण्डस्थ जल में उन्हें डालना चाहिये]।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥१९॥

हे ओदन! (उरुः) मात्रा में महान् तू (प्रथस्व) फैल, (सुकृतस्य लोके) मुझ सुकर्मी के गृह में (महता महिम्ना) निज महामहिमा के कारण तू (सहस्रपृष्ठः) हजारों अतिथियों का पृष्ठवत् आश्रय हुआ है। (पितरः) पितृवर्ग, (पितामहाः) पितामहवर्ग [तथा इन के पूर्वज ५]; और [पितृवर्ग की] प्रजा अर्थात् पुत्र और (उपजा) पौत्र [तथा पौत्र के ५ अनुज वंशज], तथा (अहम्) मैं (पञ्चदशः) १५ वां, (ते पक्ता अस्मि) तेरा पाक करने वाला हुआ हूं।

[वेद की भाषा कवितामय है। इसलिये ओदन का वर्णन भी कविता की भाषा में हुआ है। अतिथियज्ञ में बहुत से अतिथियों की सम्भावना से ओदन की मात्रा भी बड़ी होगी, इसे "उरु" शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है। पके गर्म-ओदन को ठण्डा करने के लिये तथा ओदन के दानों को पृथक्-पृथक् करने के लिये उन्हें फैलाया जाता है। इस विधि की सूचना "प्रथस्व" शब्द द्वारा दी है। "सुकृतस्य लोके[1]" पदों द्वारा मन्त्र में परलोक का वर्णन नहीं, अपितु अतिथियज्ञ के करने वाले यजमान का गृह अभिप्रेत है। ओदन की यह निज महिमा है कि इसे जो व्यक्ति खाता है उस के जीवन का यह आश्रय बन जाता है। जैसे प्राणियों की पीठ प्राणियों का आश्रय होती

१. सुकृतस्य लोके तथा पत्युर्लोके—इन शब्दों से परलोक की भावना, सर्वथा उचित नहीं। विवाह के पश्चात् पत्नी जब पति के घर जाती है, तब वह पतिलोक में विराजमान होती है। यथा "शिवा स्योना पति लोके विराज" (अथर्व० १४।१।६४), तथा" पतिलोकमाविश" (अथर्व० १४।२।४०)। इन उद्धरणों में पतिलोक का अभिप्राय परलोक नहीं, अपितु विवाहित और जीवित पति के गृह का है।

है, क्योंकि पृष्ठ के पृष्ठवंश और तद्गत सुषुम्णा-नाड़ी पर जीवन आश्रित होता है, इसी प्रकार अन्न, जीवन का आश्रय होता है। इस भावना को "सहस्रपृष्ठः" द्वारा सूचित किया है। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि जिस कुल की वांशिक १५ संख्या तक कुल परम्परा द्वारा, अतिथि सेवा अक्षुण्ण रूप में होती है वे बड़े सुकर्मी होते हैं। अतिथि सेवा, सामाजिक महा-सुकर्म है]।

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥२०॥

(ब्रह्मौदनः) ब्रह्म के प्रसादन के निमित्त ब्राह्मणों और वेदज्ञों को दिया गया ओदन, (सहस्रपृष्ठः) हजारों अतिथियों का पृष्ठवत् आश्रय होता है, (शतधारः) असंख्यातों का धारण-पोषण करता है, (अक्षितः देवयानः) अक्षुण्ण रूप में दिया गया, अर्थात् वंशपरम्परा द्वारा दिया गया (मन्त्र १९),(देवयानः) यह देवमार्ग कहलाता है, (स्वर्गः) और सुख विशेष प्राप्त कराता है। (ते) हे ब्रह्मन् ! तेरे लिये (बलिहाराय) बलि भेंट के निमित्त (अमून्) उन व्यक्तियों का (आ दधामि) मैं सम्राट् पूर्णतया धारण-पोषण करता हूं [जो कि ब्रह्मौदन यज्ञ करते हैं]; [और जो अतिथियों के निमित्त तुझे ब्रह्मौदन भेंट नहीं करते] (एमान्) इन्हें (प्रजया) सन्तान से (रेषय) अल्प संख्यक कर, और (मह्यम्) मुझ अतिथि यज्ञ के करने वाले सम्राट् के लिये (एव) अवश्य, (मृडतात्) सुख प्रदान कर।

[ब्रह्मौदनः=अतिथियज्ञ में दिया गया अन्न, ब्रह्म को प्रसन्न करता है, क्यों कि इस द्वारा उस के पुत्रों की सेवा होती है। देवयानः=अतिथियज्ञ देवकोटि के गृहस्थों का मार्ग है, इसलिये इस यज्ञ को अवश्य करते रहना चाहिये। गृहस्थी के पञ्चमहायज्ञों में अतिथियज्ञ भी है। मन्त्र की भावना के अनुसार जो केवल स्वार्थ के लिये अन्न पकाते हैं वे केवल पाप का भोजन करते हैं, अन्न का नहीं, "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गीता ३।१३), तथा "केवलाघो भवति केवलादी" (ऋ० १०।११७।६)। इसलिये ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम हो जानी चाहिये, क्योंकि ये स्वार्थी हैं। और मुझ जैसे अतिथि यज्ञ करने वालों को हे ब्रह्मन् ! तू सुखी कर।

[शतधारः; शतम् बहुनाम (निघं० ३।१)। "रेषय=रेशय (सायण)

=लेशय, अल्पी कुरु, लिश अल्पीभावे, रलयोरेकत्वस्मरणात् रेफः" (सायण)। अथवा "रेषय" विनष्ट कर, रिष हिंसायाम्। बलिः=अन्न प्रदान, जैसे कि "बलि वैश्वदेव" में बलि का अर्थ है—अन्न प्रदान]।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥२१॥

प्रधान मन्त्री कहता है कि हे सम्राट् ! (वेदिम्, उदेहि) तू वेदि पर चढ़। (एनाम्) इस प्रजा को (प्रजया) सन्तानों द्वारा (वर्धय) बढ़ा। (रक्षः) राक्षसी स्वभाव वाले को (नुदस्व) राष्ट्र से धकेल। (एनाम्) इस प्रजा का (प्रतरम्) प्रकर्षरूप में (धेहि) धारण-पोषण कर। (श्रिया) राष्ट्रिय शोभा तथा सम्पत्ति से (सर्वान् समानान्) सब समकक्ष राष्ट्रों का (अति स्याम) अतिक्रमण करने वाले हम हों। (द्विषतः) द्वेषियों को (पादयामि) मैं प्रधानमन्त्री, तेरे पादतले करता हूं, तेरे अधीन करता हूं।

[सम्राट् के कर्तव्यों का कथन प्रधान मन्त्री करता है, (१) प्रतिदिन के यज्ञ के लिये वेदि पर चढ़ा कर। (२) राष्ट्रिय प्रजा की, सन्तानोत्पत्तियों द्वारा, जनसंख्या बढ़ा कर। (३) राक्षसी स्वभाव वालों को राष्ट्र से बहिष्कृत किया कर, वे सामान्य प्रजा के साथ न रहें, उन्हें पृथक् जेल में या आबादी से रहित स्थान में रखा कर। (४) निजप्रजा का अतिशय पालन-पोषण किया कर। (५) ऐसा यत्न किया कर कि हम समकक्ष राष्ट्रों से राष्ट्रिय शोभा तथा सम्पत्ति से बढ़ कर रहें। (६) यह मैं प्रधानमन्त्री तुम्हें आश्वस्त करता हूं कि द्वेषियों को मैं तेरे पदसेवी कर दूंगा। यदि प्रजा धार्मिक कृत्यों वाली, संख्या में प्रवृद्ध, परिपुष्ट तथा सम्पत्ति में सर्वातिशायिनी हो, तो शत्रुओं पर विजय पाई जा सकती है]।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥२२॥

(पशुभिः, सह, एनाम् अभि) पशुसम्पत्ति के साथ वर्तमान हे राजन् तू इस प्रजा के अभिमुख (आवर्तस्व) आया कर, (प्रत्यङ् एनाम्) इसके प्रति आता हुआ तू (देवताभिः सह) देवताओं के साथ (एधि) हुआ कर। हे राष्ट्रिय प्रजा ! (त्वा) तुझे (शपथः) निन्दा, दोष, कलङ्क (मा प्रापत) न प्राप्त हो, (मा) न (अभिचारः) शत्रुकृत मारणकर्म प्राप्त हो।

(स्वेक्षेत्रे) अपने निवास स्थान में (अनमीवा) रोग रहित हुई (विराज) तू विराजमान हो ।

[क्षेत्रे=क्षि निवासे; अपनी निवास भूमि अर्थात् राष्ट्र में । राष्ट्र को क्षेत्र कहा है पशुओं के सहचार के कारण । राजा के प्रति कहा है कि (१) तू प्रजा के प्रति आया कर । (२) साथ देवकोटि के व्यक्तियों को भी लाया कर, जिस से देवों का सङ्ग पा कर प्रजा भी दिव्य विचारों तथा दिव्याचारों वाली हो जाय, इस प्रकार प्रजा निन्दा दोष तथा कलङ्क का पात्र न बने । राजा जब यज्ञक्रिया करने वाला होगा (मन्त्र २१) तो प्रजा भी यज्ञोन्मुखी हो जायेगी । इस से राष्ट्र रोग रहित होगा, और प्रजा अपने राष्ट्र में सुखपूर्वक निवास करेगी । शपथः=शप आक्रोशे । आक्रोशः= Censure, blame, reviling (आप्टे)] ।

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥२३॥

(ऋतेन) विधि से, (मनसा) और विचार पूर्वक (तष्टा) निर्मित हुई वेदि (हिता) हितकारिणी होती है, (ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्म के प्रसादन के निमित्त दिये गए ओदन के सम्बन्ध की (एषा) यह वेदि (अग्रे) पुराकाल से (विहिता) विहित है, वैदिक विधि द्वारा निर्दिष्ट है । (नारि) हे नारि ! (अंसद्रीम्=अंसध्रीम्) अंस अर्थात् कन्धों को धारण करने वाली, (शुद्धाम्) साफ और पवित्र वेदि को (उपधेहि) अपने समीप स्थापित कर, और (तत्र) उस पर (दैवानाम्) देवसमूह सम्बन्धी (ओदनम्) ओदन को (सादय) स्थापित कर ।

[अंसद्रीम्=अंसध्रीम्=शतपथ ब्राह्मण में दर्शपौर्णमास के लिये वेदि को योषा[1] अर्थात् योषाकृतिक कहा है । वेदि के पूर्वदिशावर्ती भाग में

१. अभिप्राय यह कि योषा के धड़ के सदृश यह वेदि बनाई जाती है । वेदि की पूर्व की सीमा रेखा के उत्तर और दक्षिण के दो कोनों को उत्तरांस और दक्षिणांस कहते हैं, इसी प्रकार पश्चिम की सीमा रेखा के उत्तर और दक्षिण के दो कोनों को उत्तर-श्रोणी तथा दक्षिण-श्रोणी कहते हैं । उत्तर और दक्षिण की दो सीमा रेखाओं के अंसों और श्रोणियों को मिलाने वाली पार्श्वों की दो रेखाएं मध्य भाग में एक-दूसरे की ओर कुछ-कुछ झुकी रहती हैं, जिस से वेदि तनुमध्या हो जाती है ।

दो अंस अर्थात् दो कन्धे (Shoulders) किये जाते हैं जैसे कि योषा के दो अंस अर्थात् कन्धे होते हैं, इसी प्रकार पश्चिम दिशा वर्तीभाग में दो श्रोणियां होती हैं]

अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥२४॥

(भूतकृतः) सत्यानुष्ठानी (सप्त ऋषयः) सात ऋषियों ने (याम् एताम् स्रुचम्) जिस इस स्रुच् अर्थात् जुहू को, जो कि हस्ताकृति की है, (अदितेः) भूमिमाता रूपी राजपत्नी का (द्वितीयाम् हस्ताम्) दूसरा हाथ (अकृण्वन्) निश्चित किया है, (सा) वह स्रुच् अर्थात् जुहू (दर्विः) कड़छी रूप हो कर, (ओदनस्य) ब्रह्मौदन के (गात्राणि) अवयवों को (विदुषी) जानती हुई सी, (एनम्) इस ब्रह्मौदन को (वेद्याम्, अधि) वेदि में (चिनोतु) संचित करे ।

[भूतकृतः=सत्यानुष्ठानी, भूत=True, सत्य (आप्टे) । सप्त ऋषयः=राजा या सम्राट् के सचिव (मन्त्र १,३) । स्रुचम्, हस्ताम्=हस्त की आकृति वाली "जुहू", जिस द्वारा कि आहुतियां दी जाती हैं । जुहूः=जुहोति यया सा । दर्विः=दृ विदारणे अर्थात् कड़छी, जिस द्वारा कि पके ओदन के अवयवों को विदारित किया जाता है, अलग-अलग किया जाता है । अदितेः=अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १।१) मन्त्र १) । अभिप्राय यह कि ब्रह्मौदन को तय्यार करना है राजपत्नी ने । ब्रह्मौदन जब तय्यार हुआ, पक गया, तब यह अत्युष्ण है । इस पके ओदन के प्रत्येक ओदन को पृथक्-पृथक् करने में कोई साधन चाहिये । राजपत्नी का हाथ इस अत्युष्ण ओदन को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकता । इसलिये स्रुच् अर्थात् जुहू को ही दर्वि रूप मानकर ओदन के अवयवों को पृथक्-पृथक् करने का विधान सात ऋषियों ने किया है । परिपक्व ओदन अभ्यागत अतिथियों को खिलाना है (मन्त्र २५), अतः गृहस्थी के लिये निश्चित पञ्चमहायज्ञों के अनुसार, पक्वान्न द्वारा बलिवैश्वयज्ञ भी करना है । तदर्थ स्रुच् अर्थात् जुहू को राजपत्नी का हस्तरूप कहा है । जुहू द्वारा अग्नि में दी गई ओदनाहुतियां मानो राजपत्नी के हाथ द्वारा दी गई हैं । गृहपत्नी हाथ द्वारा हो वैश्वदेवाहुतियां अग्नि में देती और हाथ द्वारा ही प्राणियों के निमित्त पक्वान्न का विभाग करती है । ब्रह्मौदन को वेदि में संचित इसलिये किया गया है ताकि इस की आहुतियां, वेदि की अग्नि में दी जा सकें । हस्ताम् में स्त्रीलिङ्ग स्रुचम् और जुहू की अपेक्षा से है] ।

शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः॥२५॥

हे ओदन ! (शृतम्) पके हुए, (हव्यम्) आहुतियोग्य तथा अदनीय (त्वा उप) तेरे समीप (देवाः) अतिथिदेव (सीदन्तु) बैठें, (अग्नेः) अग्नि से (निः सृप्य) हट कर (पुनः) तदनन्तर (एनान्) इन अतिथि देवों को (प्रसीद) प्रसन्न कर। (सोमेन) दुग्ध-दधि द्वारा (पूतः) पवित्र किया गया तू (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मवेत्ताओं के (जठरे) पेट में (सीद) स्थित हो, (प्राशितार) प्राशन करने वाली (ते आर्षेयाः) वे ऋषि सन्तानें (मा रिषन्) ताकि दुःख-कष्ट अनुभव न करे।

[मन्त्र २४ में पक्व ब्रह्मौदन को, बलिवैश्वदेव के लिये, वेदि पर संचित करने का विधान हुआ है। मन्त्र २५ में ब्रह्मौदन को वेदि की अग्नि से पृथक् करने का विधान किया है, ताकि ब्रह्मज्ञ अतिथि देव उस का प्राशन कर सकें। सोमेन=सोम का अर्थ दूध भी होता है। यथा **"सोमो दुग्धाभिरक्षाः"** (ऋ० ९।१०७।९), तथा **"सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति"** निरुक्त ५।१।३), अर्थात् दुही गई गौओं से सोम अर्थात् दूध क्षरित होता है तथा **"सोमः खलु वै सांनाय्यम्"** (तैत्ति० ब्राह्मण ३।२।३।११), अर्थात् सोम है सान्नाय्य, क्षीरदधिरूप। अतः ब्रह्मवेत्ता अतिथियों को दूध-दधि के साथ ओदन देना चाहिये। ओदन के प्राशन से अतिथियों की भूख शान्त हो जाती है, अतः भूख के कारण हुए दुःख-कष्ट का अनुभव वे नहीं करते]।

सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि ॥२६॥

(सोम साजन्) हे राजमान सोम ! या प्रेरक राजन् ! (यतमे) जो भी (सुब्राह्मणाः) श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता अतिथि (त्वा उप सीदान्) तेरे समीप बैठें (एभ्यः) इन के लिये (संज्ञानम्) यथार्थज्ञान या ऐकमत्य के बीज (आवप) बो। (ब्रह्मौदने) ब्रह्मौदन यज्ञ में (सुहवा) उत्तमाहुतियां देने वाली मैं, (तपसोधि जातान्) तपः प्रभाव से नवजन्म धारण किये हुए द्विजन्मा रूप (ऋषीन, आर्षेयान्) ऋषियों और ऋषिसन्तानों के प्रति (जोहवीमि) मैं ओदनाहुतियां देती हूं।

[मन्त्र २५ के अनुसार सोम है दुग्ध+दधि। दुग्ध=दधि तथा ओदन, सात्त्विक भोजन है। इस से बुद्धि सात्विक होकर सम्यक् अर्थात् यथार्थज्ञान के ग्रहण में सशक्त हो जाती है। प्रेरक राज-पक्ष में कहा है कि जो श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता राजा के समीप आते और बैठते हैं, उन्हें राजा एकमत्य में रहने की प्रार्थना करता रहे। यही बीजावाप है। ब्रह्मवेत्ताओं, ऋषियों तथा ऋषिसन्तान रूपी द्विजन्माओं के प्रति,अन्न का आहुतिरूप में देना, राजपत्नी का कर्त्तव्य है। वह ब्रह्मौदन को यज्ञरूप अर्थात् अतिथियज्ञरूप जान कर, श्रद्धापूर्वक, अन्न द्वारा इन की सेवा बार-बार किया करे। सुहवा=सु+हव (Oblation, आप्टे) अर्थात् आहुति]

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे[1]॥२७॥

(यज्ञियाः) यज्ञयोग्य, योषितः शुद्धाः पूताः) स्त्रियों के सदृश शुद्ध और पवित्र (इमाः) इन जलों को (ब्रह्मणाम् हस्तेषु) ब्रह्मवेत्ताओं के हाथों में (प्र पृथक्) पृथक्-पृथक् कर के (सादयामि) मैं स्थापित करता हूं। (यत्कामः) जिस कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हें (अभिषिञ्चामि) सींचता हूं, (सः मरुत्वान् इन्द्रः) वह मरुतों का स्वामी इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (इदम्) यह काम्यफल (मे) मुझे (ददात्) देवे।

[मन्त्र २५, २६ में ब्राह्मभोज हो चुकने का निर्देश हुआ है। मन्त्र २७ में शुद्ध जल द्वारा ब्रह्मवेत्ताओं के हाथ धोने के लिये जल डाला गया है, और मनुष्यजाति के स्वामी ऐश्वर्यवान् परमेश्वर से, अतिथियज्ञ करने के फलरूप में, काम्याभिलाषा की पूर्ति के लिये, प्रार्थना की गई है। मरुत्वान् **=म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः** (उणा० १।९४) महर्षि दयानन्द। इन्द्रः=इदि परमैश्वर्ये]।

---

१. मन्त्र द्वारा यह भी सूचित होता है कि शुद्ध, पूत और यज्ञिय अर्थात् पूजा योग्य स्त्रियों का ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ पुरुषों के साथ, विवाह होना चाहिये। "प्र पृथक्" द्वारा यह सूचित किया है कि प्रत्येक ब्रह्मज्ञ की एक पत्नी, तथा प्रत्येक पत्नी का एक पति होना चाहिये। "हस्तेषु" पद "पाणिग्रहण" विधि का सूचक है। "मरुत्वान्, इन्द्रः" का अभिप्राय, इस अर्थ में "मनुष्यों का स्वामी राजा" है।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥२८॥

(क्षेत्रात् पक्वम्) कृषिकर्म द्वारा खेत से पका हुआ (इदम्) यह ओदनान्न (मे) मेरी (ज्योतिः) ज्योति रूप है, (अमृतम्) मरने से बचाने वाला है, (हिरण्यम्) सुवर्णरूप है, (मे) मेरी (एषा) यह (कामदुघा) कामनाओं का दोहन करने वाली गौ है। (इदम् धनम्) इस पक्वौदन रूपी धन को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मवेत्ताओं में (निदधे) निधिरूप में मैं स्थापित करता हूं, इसे (पितृषु) पितरों में जाने का (पन्थाम्) मार्ग (कृण्वे) मैं बनाता हूं, (यः) जो यह मार्ग (स्वर्गः) विशिष्ट सुख प्राप्त कराता है, स्वर्गरूप है।

[मन्त्र २७,२८ में अतिथियज्ञ के कर्त्ता राजा की उक्तियां हैं। राजा अन्न को, निज तथा सब प्राणियों के लिये जीवनीय ज्योति, क्षुधाजन्यमृत्यु से बचाने वाला, तथा बहुमूल्य हिरण्य और कामदुघा गौ मानता है। अन्न वस्तुतः एतद्रूप है। कागजी तथा धातवीय सिक्के अन्न के लिये ही हैं। ब्राह्मण हैं ब्रह्म अर्थात् वेदों के वक्ता तथा ब्रह्मज्ञ अर्थात् परमेश्वर के ज्ञाता। ऐसे व्यक्ति मनुष्य-समाज के लिये आदर्शरूप हैं। इन्हें अन्न द्वारा सत्कृत करना मानो इन में निधि स्थापित करना है, जो कि वस्तुतः राष्ट्र के या पृथिवीमात्र के लिये बहु उत्पादिका है। पितृषु पन्थाम्=इन राष्ट्रिय भावनाओं के प्रसङ्ग में "पितृषु" के दो अभिप्राय हैं। (१) वैदिक-समाज के गृहस्थ माता-पिता जो कि पञ्चमहायज्ञों के करने वाले हैं, इन महायज्ञों में अतिथि यज्ञ भी महायज्ञ है। राजा इस महायज्ञ द्वारा इन जीवित पितरों में जाने-आने का निज मार्ग बनाता है। (२) "पितरः" पद द्वारा राष्ट्रिय सभा-समिति और संसद के सभासद्, सामित्य तथा सांसद्य भी पितरः हैं। यथा **"सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु"** (अथर्व० ७।१२।१) में **"पितरः संगतेषु"** द्वारा राष्ट्र के नेतृरूप अधिकारियों को पितरः कहा है। राजा अतिथियज्ञ करके इन पितरों में जाने का निजमार्ग बनाता हैं, क्योंकि वैदिकाज्ञानुसार ये पितर भी पञ्चमहायज्ञों के करने वाले हैं। यह मार्ग स्वर्गरूप है, स्वः (विशिष्ट सुख) काग: (मार्ग) है, विशिष्ट सुख प्राप्त कराने वाला है]।

अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥२९॥

(तुषान्) [अवहनन अर्थात् धान को उखल-मुसल में कूटने, और तत्पश्चात् उन्हें छाज द्वारा छांटने पर धान-बीज के जो छिलके भूमि पर गिरते हैं उन्हें तुष कहते हैं] तुषों को (जातवेदसि) यज्ञ की अग्नि में (आ वप) डाल; (कम्बूकान्) शेष तिनकों और डण्डियों को (परः) यज्ञकुण्ड से परे (दूर) दूर (अपमृड्ढि[1]) फेंक। (एतम्) इन तिनकों और डण्डियों के समूह को (गृहराजस्य) गृह के स्वामी का (भागम्) भाग हम (शुश्रुम) सुनते रहे हैं [अर्थात् यह भाग गृहराज की पाचकाग्नि के लिये है] (अथो) अथवा इसे (निर्ऋतेः भागम्) पृथिवी का भाग (विद्म) हम जानते हैं [अर्थात् पृथिवी पर गल-सड़ कर यह पृथिवी के लिये खाद बन कर उसे उपजाऊ बनाएगा]। **निर्ऋतिः पृथिवीनाम** (निघं १।१)।

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमे नाकं परमं व्योम ॥३०॥

(श्राम्यतः) परिश्रम करने वाले, (पचतः) अतिथि सेवा के लिये ओदन पकाने वाले, (सुन्वतः) दूध का स्रावण करने वाले को—हे परमेश्वर (विद्धि) तू जान, (एनम्) इसे (स्वर्गम्) सुख विशेष प्राप्त कराने वाले (पन्थाम्) मार्ग पर (रोहय) अधिरूढ़ कर, (येन) जिस मार्ग से कि (यत् परम्) जो उत्कृष्ट (वयः) जीवन है उस को (आ पद्य) प्राप्त कर, (उत्तमम्) सर्वोत्तम, (परमम्) परसम्पत्ति रूप (नाकम्) तथा दुःख के स्पर्श से रहित (व्योम) विशेषतया रक्षक परमेश्वर तक (रोहात्) यह रोहण करे।

[सुन्वतः=यद्यपि यह पद सोम-ओषधि के रस को निकाल कर उस की आहुति और उस के पीने के निमित्त किये गए यज्ञ का सूचक है, परन्तु प्रकरणानुसार यहां "सुन्वतः" का अभिप्राय है अतिथियों के लिये गौ से सोम अर्थात् दूध का स्रावण करना (मन्त्र २५,२६)। रोहात्=परमेश्वर की प्राप्ति के लिये यद्यपि रोहण की आवश्यता नहीं, परमेश्वर सर्वत्र

---

१. अप मृड्ढि=अप+मृजूष् शुद्धौ, अर्थात् उन्हें अपगत कर के स्थान की शुद्धि कर।

व्यापक है, परन्तु यह दर्शाने के लिये कि यज्ञकर्त्ता उस परमेश्वर को प्राप्त हो, जोकि आदित्य में स्थित हुआ सौरमण्डल का नियन्त्रण, आदित्यरूप केन्द्रिय-शक्ति द्वारा कर रहा है—"रोहात्" शब्द पठित है। यथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजु० ४०।१७)। परमम् =पर+मा (लक्ष्मी)]।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥३१॥

(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! (बभ्रेः) धारण-पोषण करने वाले के (एतत् मुखम्) इस मुख को (विमृड्ढि) तू विशेषरूप से समुज्ज्वल कर; तथा (प्र विद्वान्) गार्हस्थ्य जीवन को प्रकर्षरूप में जानता हुआ तू (आज्याय) आज्य के लिये (लोकम्) स्थान अर्थात् कुम्भ को (कृणुहि) स्थापित कर। (घृतेन) घृत द्वारा (सर्वा गात्रा) सब गात्रों और शरीरों को (वि मृड्ढि) विशेषतया समुज्ज्वल कर, इस प्रकार (पितृषु) पितरों में में (पन्थाम्) निज मार्ग (कृण्वे) तैयार करता हूं, (यः) जो कि (स्वर्गः) सुख विशेष का प्रापक है, या स्वर्गरूप है। आज्याय लोकम्=घृत रखने का स्थान, अर्थात् कुम्भ; न कि त्रिलोकी में से कोई लोक।

[गृहस्थी अध्वर्यु के प्रति कहता कि (१) तू अतिथियज्ञ के कर्त्ता की कीर्त्ति कर के उस के मुख को कीर्ति सम्पन्न कर। (२) उसे यह भी उपदेश दे कि वह गृहस्थ व्यवहार के लिये घर में आज्य भरा कुम्भ भी रखा करे। (३) ताकि गृहनिवासियों के शरीर घृतसेवन द्वारा समुज्ज्वल हों। (४) और इस विधि से गृहस्थ जीवन को स्वर्गीय बनाया जा सके। (अथर्व० ४।३४।२,५,७,८) मन्त्रों में गृहस्थ जीवन को स्वर्ग कहा है। (अथर्व० ४।३४।३,८) मन्त्रों में ब्राह्मणों की सेवा के लिये ओदन का भी कथन हुआ है। तथा घृत भरे कुम्भों को "घृतह्रदाः" (मन्त्र ६); तथा (मन्त्र ७) में चार कुम्भों में से घृतकुम्भ का भी वर्णन अभिप्रेत है। (मन्त्र ७) में चार कुम्भों का वर्णन हुआ है, जिन में से दुग्ध, उदक और दधि से पूर्ण कुम्भों का तो नामतः वर्णन हुआ है, और चौथा कुम्भ "घृतह्रदाः" प्रतीत होता है। ऐसे गृहस्थ को इन मन्त्रों में स्वर्ग कहा है। इस प्रकार वर्ण्य ३१ वें मन्त्र के तथा अथर्व० ४।३४।१-८ के विषयों में परस्पर एक वाक्यता सी प्रतीत होती हैं। गृह्य यज्ञों के कराने वाले अध्वर्यु का

यह कर्त्तव्य है कि वह गृहस्थों को मन्त्रोक्त वस्तुओं के संग्रह करने का उपदेश दे। गात्राणि=गात्रम् The body, शरीर (आप्टे), तथा शरीर के अङ्ग]।

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
पुरीषिणः प्रथमाना पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः॥३२॥

(बभ्रे) हे भरण-पोषण करने वाले ! (रक्षः) हे सब की रक्षा करने वाले राजन् ! (एभ्यः) इन के लिये भी (समदम्) सम्यक् अदनीय अन्न (आ वय) दे, (यतमे) जो कि (अब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ताओं और वेदवेत्ताओं से भिन्न व्यक्ति (त्वा) तेरे (उप सीदान्) समीप आ बैठे, प्राशनार्थ उपस्थित हो जायं। तथा (ये) जो (पुरीषिणः) प्रजापालक, और (पुरस्तात्) आगे की ओर (प्रथमानाः) फैले हुए, अर्थात् आगे की पंक्ति में फैल कर बैठे हैं, (ते प्राशितारः आर्षेयाः) वे प्राशन कर्त्ता ऋषि तथा ऋषि सन्तानें (मा रिषन्) कष्टभागी न हों।

[रक्षः=रक्षा करने वाला, न कि राक्षस। अथर्व० (१३।४(३)।२५) में परमेश्वर को "रक्षः" कहा है, जिस का "रक्षक" ही अर्थ उपपन्न होता है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अन्नग्रहणार्थ यदि अब्राह्मण भी, ऋषि लोगों के साथ आ जायं, तो उन्हें भी सम्यक्-अदनीय अन्न देना चाहिये। जैसे कि कहा है कि "**अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नाम बिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥११॥ कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥१२॥ अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात्॥१३॥ तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥१४॥** (अथर्व० १५।१३। ११-१४) इन की व्याख्या के लिये देखो अथर्ववेद भाष्य का यह प्रकरण। इन मन्त्रों द्वारा यह स्पष्ट है कि यदि अव्रात्य अतिथि भी अन्न ग्रहणार्थ आ उपस्थित हो, तो गृहस्थी इसे कष्ट न पहुंचाए। अपि तु अतिथि सम्बन्धी दैवत्यभाव" के अनुसार गृहस्थी, इस के साथ भी अतिथि का सा व्यवहार करे, परन्तु ऐसे की सेवा गृहस्थी स्वयं न करे, भृत्यों द्वारा उस की सेवा कराए। गृहस्थी के लिये वैदिक पञ्चमहायज्ञों में नानाविध प्राणियों को अन्नांश देने का विधान है, अतः वैदिक सद्-गृहस्थी अन्न के प्रशन में मनुष्य की उपेक्षा कैसे कर सकता है। प्राणियों को अन्नांश देने के सम्बन्ध में कहा है कि "**शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां**

च शनकैर्निर्वपेद् भुवि" (मनु० ३।९२) । तस्यां देवतायाम्=अतिथि में "दैवत्य" विद्यमान है, चाहे वह श्रोत्रिय (अथर्व० ९।६(३)।७) हो, या न हो, उस "दैवत्य" के लिये अश्रोत्रिय की भी सेवा करनी चाहिए। यथा "**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथि देवो भव**" के अनुसार माता-पिता के श्रोत्रिय न होते हुए भी वे देव हैं, वैसे प्रत्येक अतिथि भी देव हैं। समदम्=सम्+अद् (भक्षणे) । अन्नम्=अद्+क्त । पुरीषिणः="पुरीषं पृणातेः पूरयते वा" (निरुक्त २।६।२२)] ।

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यास्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥३३॥

(अपि=अपि च) तथा (ओदन) हे ओदन (त्वा) तुझे (आर्षेयेषु) ऋषिसन्तानों में (निदधे) मैं निधिरूप में स्थापित करता हूं, (अत्र) आगे की ओर फैल कर बैठे हुओं की आर्ष पङ्क्ति में [मन्त्र ३२] (अनार्षेयाणाम्) अनार्ष सन्तानों का (न असि) बैठना या प्रवेश नहीं है। (अग्निः) राष्ट्र का अग्रणी प्रधानमन्त्री (मे) मेरे राष्ट्र में (पक्वम्) खेती-पके अन्न का (गोप्ता) रक्षक है, (मरुतः च सर्वे) और राष्ट्र के सब मनुष्य तथा (विश्वे देवाः) सब विद्वान् इस खेती पके अन्न की (रक्षन्तु) रक्षा करें।

[मन्त्र ३२ के अनुसार अब्रह्मवेत्ताओं को भी अन्न दान का विधान है। मन्त्र ३३ में यह कहा है कि इन्हें आर्षेयों की पङ्क्ति में बैठ कर अन्नग्रहण करने का निषेध है। साथ ही यह कहा है कि अन्न, राष्ट्र की निधि है, इसलिये कृषिपक्व अन्न की रक्षा करना प्रत्येक राष्ट्रवासी का कर्तव्य है। मरुत्=मनुष्य जातिः (उणा० १।९४, महर्षि दयानन्द] ।

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥३४॥

(यज्ञम्) यज्ञसाधक दुग्ध के (दुहानम्) दोहन के (सदम्) सदा साधनरूप (इत्) तथा (प्रपीनम्) परिपुष्ट (रयीणाम्, सदनम्) सम्पत्तियों के आगार, (प्रजामृत त्वम्) प्रजाओं के अमृतत्व अर्थात् शीघ्र न मरने का साधन भूत, (दीर्घम् आयुः) आयु को दीर्घ करने वाले, (रायः च पोषैः) सम्पत्तियों की परिपुष्टि के साथ वर्तमान हम, (त्वा पुमांसम् धेनुम्) तुझ पुमान् दुधार-गौ को (उप सदेम) हम प्राप्त हों।

[उप सदेम="उपगम्यास्म, सदेः आशीर्लिङि, लिङ्याशिष्यङ्" (सायण)। मन्त्र में वृषभ अर्थात् बैल का वर्णन है (देखो मन्त्र ३५), इसे "पुमान्-धेनु कहा है। यह पुमान् होता हुआ धेनुरूप है प्रपीन वृषभ अनेक गौओं के पैदा करने का हेतु होता है। कारण वृषभ में, कार्य धेनु शब्द का उपचार हुआ है, जैसे कि "आयुर्वै घृतम्" इस वाक्य में घृत को आयु कहा है। घृत कारण है आयु का, आयु कार्य है। मन्त्र ३३ में खेती-पके अन्न का वर्णन हुआ है। कृषि और कृष्यन्न के उत्पादन में पुमान धेनु" अर्थात् बैल सहायक है। इसलिये बैल का वर्णन हुआ है। यह दुग्ध का साधन है। विना बैल के धेनु की उत्पत्ति नहीं हो सकती और धेनु दुग्ध प्रदात्री है। वृषभ जो कि प्रपीन हो, वह नाना धेनुओं और बैलों को पैदा कर सकता है। धेनु सम्पत्तियों, बैल सम्पत्तियों और दूध, दधि, घृत, तथा कृषि सम्पत्तियों का यह आगार है। दूध तथा घृत आयु के वर्धक है, अतः इन के सेवन से प्रजा शीघ्र नहीं मरती, इस द्वारा सदा सम्पत्तियों की परिपुष्टि होती रहती है। ऐसे "पुमान् धेनु" को हम प्राप्त हों] ।

वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ ।
सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥३५॥

(वृषभः) धेनुओं, बैलों तथा कृष्यन्नों को वर्षा करने वाला, प्रभूत मात्रा में देने वाला हे बैल ! (असि) तू है, (स्वर्गः) तू सुख विशेष पहुंचाता है, (ऋषीन् आर्षेयान्) ऋषियों और ऋषि सन्तानों को (गच्छ) प्राप्त हो। (सुकृताम्) इन सुकर्मियों के (लोके) स्थान में (सीद) विद्यमान रह। (तत्र) उन ऋषियों और आर्षेयों में (नौ) हम दोनों का (संस्कृतम्) यह संस्कृति का कार्य हो, या हम दोनों का मिल कर यह सेवा कार्य हो।

[मेरी ओर से ऋषियों को तेरा समर्पण, तथा ऋषियों में रह कर उन की धेनुओं आदि को बढ़ाना], यह दो कार्य हम दोनों के सम्मिलित कर्म हैं। मन्त्र ३४ और ३५ के समन्वित अर्थों की दृष्टि से वृषभ का अर्थ बैल प्रतीत है। ऋषियों की सेवार्थ उन्हें "पुमान् धेनु" भी देनी चाहिये, यह मन्त्राभिप्राय है] ।

समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् ।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥३६॥

(अग्ने) हे अग्रणीराजन् ! (समाचिनुष्व) सत्कर्मों का संग्रह तू किया कर, (अनु सं प्रयाहि) और इन कर्मों के अनुकूल सम्यक्तया चला कर, (देवयानान्) देवकोटि के लोग जिन मार्गों पर चलते हैं (पथः) उन मार्गों को [प्रजा के लिये] (कल्पय) विधिपूर्वक निश्चित कर। (एतैः सुकृतैः) इन सुकर्मों द्वारा (नाके तिष्ठन्तम्) दुःख के स्पर्श से रहित आनन्दमय स्वरूप में सदास्थित, और (सप्तरश्मौ अधि) सात रश्मियों वाले सूर्य में अधिष्ठातृरूप में स्थित, (यज्ञम्[1]) यजनीय-संगतियोग्य तथा आत्मसमर्पण योग्य परमेश्वर को (अनुगच्छेम) तदनन्तर हम प्राप्त हों।

[राजा जब सत्कर्मों का संचय करेगा और सत्कर्मों के अनुकूल चल कर देवयान-पथों का अवलम्ब करेगा, तो प्रजाजन भी तदनुरूप सत्कर्मी हो जायंगे, "**यथा राजा तथा प्रजा**"। इन सत्कर्मों के द्वारा परमेश्वर को पा सकेंगे। यज्ञम्=यजं देवपूजा संगतिकरण दानेषु। नाके; कम्=सुखम्; अकम्=सुखाभाव+दुःख नाकम्=न+अकम्=सुखाभाव अर्थात् दुःख के स्पर्श से रहित। सप्तरश्मौ=वर्षाकाल में इन्द्रधनुष् में सूर्य की सातरश्मियां प्रकट होती हैं। इस सूर्य में परमेश्वर अधिष्ठातृरूप में स्थित है, "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजु० ४०।१७)]।

येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥३७॥

(देवाः) दिव्यगुणी लोग (येन ज्योतिषा) जिस ज्योति के द्वारा, (द्याम्) द्युलोक या शिरःस्थ सहस्रारचक्र पर (उदायन्) चढ़े हैं, और (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्म के प्रसादन के लिये वेदवेत्ताओं और ब्रह्मज्ञों को देय ओदन को अथवा ब्रह्मरूपी-ओदन (अथर्व० ११।३) को (पक्त्वा) अग्नि परिपाक कर कें, तथा जीवन में परिपक्व कर के (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों द्वारा प्रापणीय सहस्रार चक्र रूप लोक को या ब्राह्मी-आलोक को प्राप्त हुए हैं, (तेन) उस ज्योति द्वारा (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों के इस लोक को (गेष्म) हम प्राप्त हों, अर्थात् (स्वः आरोहन्तः) "स्वः" पर

१. यजुर्वेद (३१।९) में "यज्ञ पुरुष" द्वारा परमेश्य-पुरुष को "यज्ञम्" कहा है। महर्षि दयानन्द इस का अर्थ करते हैं, "सम्यक् पूजने योग्य परमात्मा को"। इस प्रकार परमेश्वर को "यज्ञ कहते हैं।"

आरोहण कर के, अर्थात् हृदय में परमेश्वर का दर्शन कर के (उत्तमम् नाकम् अभि) उत्तम नाक की ओर हम जांय, या उस को प्राप्त करें। नाकम् =गेष्म दुःख के संस्पर्श से रहित आनन्दमय परमेश्वर को हम प्राप्त करें।

[ज्योतिषा=सम्भवतः "**ऋतम्भरा प्रज्ञा**", अथवा "**विवेकजज्ञान**" (योग १।४६; ३।४९,५४)। द्याम्="**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजु० ३१।१३); "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०।७।३२), अर्थात् आध्यात्मिकार्थ में "द्यौः या दिव्" हैं शिरः या मूर्धा। ब्रह्मौदनम्—इस के यथा लिखित दो अर्थ हैं—यह काण्ड ११। सूक्त ३ में स्पष्टतया वर्णित है। "ब्रह्मरूपी ओदन" इस अर्थ में ब्रह्म को "**सुकृतस्यलोकम्**" कहना यथार्थ प्रतीत होता है। मन्त्र के उत्तरार्ध में "**सुकृतस्यलोकम्**" "उत्तम-नाकम्" एकाभिप्रायक प्रतीत होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में "स्वः" शब्द हृदयस्थ कोश का भी वाचक है। यथाः—"**अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः**" (अथर्व० १०।२।३१)। हृदयस्थ "हिरण्यय कोश" पारमेश्वरी-ज्योति से आवृत रहता है। हिरण्यय-कोश में परमेश्वर का प्रथम दर्शन होता है। इस के पश्चात् शिरःस्थ सहस्रार चक्र में स्थित "नाक" अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। हृदय से सहस्रारचक्र में आरोहण करना, "स्वः" से "उत्तमनाक" तक आरोहण करना है। ब्रह्मौदनम्=मन्त्र ३७ के अनुसार "ब्रह्मौदन को पका कर" नाक अर्थात् मोक्ष या ब्रह्म को प्राप्त करने का कथन हुआ है। ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों को पकाया-ओदन देने मात्र से मोक्ष या ब्रह्म की प्राप्ति हो जाय, यह तो बुद्धिग्राह्य नहीं। इसलिये "ब्रह्मौदन" पद में "ब्रह्मप्रसादनार्थ" या ब्रह्मार्पण करके यह भावना अन्तर्निहित है। इस भावनानुसार ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों को दिया ओदन—योगशास्त्रोक्त "क्रियायोग" का अङ्ग हो जाता है, अर्थात् "ईश्वर प्रणिधान" हो जाता है। यथा "**तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**" (योग २।१)। इस की व्याख्या में व्यासमुनि लिखते

हैं कि "ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं, तत्फलसन्न्यासो वा", अर्थात् सब क्रियाओं का परमगुरु परमेश्वर के प्रति अर्पण, अथवा उन कर्मों के फल की अभिलाषा न करते हुए उन्हें करना" । इस से समाधि की प्राप्ति होती तथा पञ्चक्लेश (योग० २।३) सूक्ष्म पड़ जाते हैं। तथा "समाधि-सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" (योग २।४५) पर व्यासमुनि पुनः कहते हैं कि "ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः" अर्थात् ईश्वर के प्रति जिस ने अपने सब भावों को अर्पित कर दिया है, उसे समाधि सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार "ब्रह्मौदनं पक्त्वा" (३७) में, तथा इस से पूर्व के मन्त्रों में यदि "ब्रह्म के प्रसादनार्थ" इस भावना को अन्तर्हित माना जाय तो, "ब्रह्मात्मक ब्रह्म" की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है (३६), तथा नाक अर्थात् मोक्ष की सिद्धि भी हो जाती है (३७) । या मन्त्र ३६,३७ में "ब्रह्मौदनम्" का अर्थ "ब्रह्म-रूपी-ओदन" जानना चाहिये । "ब्रह्मौदन" की विस्तृत व्याख्या काण्ड ११ । सूक्त ३ में की गई है ।

—:o:—

सूक्त २

विषय प्रवेश

१—११।२ में ३१ मन्त्र हैं। इन में "भव, शर्व, रुद्र" द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। भव[1] का अर्थ है "उत्पादक परमेश्वर, शर्व[2] का अर्थ है संहारक परमेश्वर, और रुद्र[3] का अर्थ है पापियों को रुला कर उन के पापों का संहार करने वाला परमेश्वर।

मन्त्र १ में "भवाशर्वौ" समस्तपद है। अतः भव और शर्व परस्पर सम्बन्धी पद हैं, अतः इन में आर्थिक सम्बन्ध भी है। जैसे कि अहोरात्रे, द्यावापृथिव्यौ, श्वासप्रश्वासौ, मित्रावरुणौ, प्राणापानौ आदि समस्तपदों के घटकपदों में परस्पर आर्थिक सम्बन्ध है।

किसी भी वस्तु के निर्माण में प्रथम उसके पूर्वरूप का संहार करना होता है, तदनन्तर उस वस्तु में नए रूप का उत्पादन होता है। प्रथम बीज के बीजत्वरूप का संहार होगा, तदनन्तर उस के अङ्कुरत्वरूप का उत्पादन होगा । प्रथम साम्यावस्थापन्न प्रकृति की साम्यावस्था का संहार होगा, तदनन्तर उस की वैषम्यावस्था के "महत्" आदि तत्त्वों का उत्पादन होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न कार्य जगत् का जब संहार होगा, तदनन्तर प्रकृति में पुनः साम्यावस्था का उत्पादन होगा। इस प्रकार भव और शर्व में परस्पर आर्थिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार "भवारुद्रौ" समस्तपद में पदों और उन के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध है। "भवारुद्रौ" (मन्त्र १४) में भवपद तो भवाशर्वौ के भवपद सदृश अर्थवान् है । रुद्र पद का सम्बन्ध सदाचार के साथ है। रुद्र, पापियों के पाप का संहार करता है। उत्पादन और संहार की भावनाएं, भव और रुद्र में भी, भव और शर्व के सदृश

---

१. भवः=भावयति उत्पादयति पदार्थानिति भवः ।

२. शर्वः=शृणाति हिनस्ति पदार्थानिति शर्वः ।

३. यो रोदयति अन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः, जो दुष्टकर्म करनेहारों को रुलाता है इस से उस परमेश्वर का नाम रुद्र है। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास) ।

विद्यमान हैं। "भवारुद्रौ" को सयुजौ, अर्थात् परस्पर सम्बन्धी कहा है (मन्त्र १४)।

२—"भव" परमेश्वर है, देखो (मन्त्र १०), इस में कहा है कि भव चारों दिशाओं, तथा तीनों लोकों का स्वामी है, और इसी के कारण समग्र जगत् सात्मक हो रहा है। मन्त्र २७ में भी यही भावना है।

३—मन्त्र ५, ६ में पशुपति पद द्वारा परमेश्वर को सूचित कर उसके मुख, चक्षूंषि, त्वचा, रूप, प्रत्यक्-स्वरूप, उदर, जिह्वा, आस्य, दान्त और गन्ध का वर्णन हुआ है। इन पर विशेष प्रकाश डाला है।

४—रुद्र के नीलशिखण्ड, सहस्राक्ष, अर्धकघाती स्वरूपों की व्याख्या (मन्त्र ७)।

५—मन्त्र ९ में पशुपति परमेश्वर को ४ वार, ८ वार और १० वार प्रतिदिन नमस्कार करने का निर्देश है।

६—मन्त्र १७ में कहा है कि परमेश्वर के गुणस्तवनों में जिह्वा को उपरत न करना चाहिये, अर्थात् प्रत्येक कार्य में उस का स्तवन करना चाहिये।

७—मन्त्र २३ में हाथ जोड़ कर परमेश्वर को नमस्कार करने का निर्देश किया है।

८—मन्त्र १६ में सायम् प्रातः, रात्रि के होते और दिन चढ़ते परमेश्वर को नमस्कार करने का विधान दिये हैं। अग्नि, विद्युत्, सूर्य (१२।३। २५,२६)। तथा सैनिकों को वेद में "अग्निरूपाः" कहा भी है। यथा "तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपा" (ऋ० १०।८४।१), इस मन्त्रार्थ में "नरः" द्वारा नेतृरूप सैनिक अभिप्रेत है जिन्हें कि अग्निरूप अर्थात् अग्नि के सदृश तेजस्वी कहा है, तथा जिन्हें तीक्ष्ण बाणों वाले तथा आयुधों वाले कहा है भाष्यकारों ने "केशिनः" का अर्थ केशधारी किया है। अथवा अग्नि, विद्युत्, सूर्य की किरणों को केश जान कर सम्भवतः ऐसा अर्थ भाष्यकारों ने किया हो।

संभुञ्जतीभ्यः=सम्+भुज् (पालन), तथा (अभ्यवहार अर्थात् खाना प्रकरणानुसार संहार करना)। स्वकीय राष्ट्र का पालन तथा आक्रमणकारी राष्ट्र का संहार। रुद्र की सेनाओं के सम्बन्ध में

यजुर्वेद अध्याय १६ द्रष्टव्य है। नरः=अथवा सैनिक जवान संभुञ्जतीभ्यः=अथवा इकट्ठे होकर भोजन करने वाली सेनाओं के लिये]।

९—मन्त्र १५ में परमेश्वर के अभ्यते, परायते, तिष्ठते और आसीनाय स्वरूपों की व्याख्या की गई है।

१०—मन्त्र २५ में शिशुमार, अजगण: जषः, मत्स्याः,—इनके आधिदैविक स्वरूपों को दर्शाया है।

११—मन्त्र ३१ में रुद्र की सेनाओं और उन के प्रति नमस्कारों का वर्णन हुआ है।

—:०:—

ऋषि १-३१ अथर्वा। देवता भव, शर्व, रुद्र। त्रिष्टुप्। १ परातिजागता विराड् जगती; २ अनुष्टुभ्गर्भा पञ्चपदा पथ्या जगती; ३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्; ४, ५, ७, १३, १५, १६, २१ अनुष्टुप्; ६ आर्षी गायत्री; ८ महाबृहती; ९ आर्षी; १० पुरोकृति त्रिपदा विराट्; ११ पञ्चपदा विराड् जगती गर्भा शक्वरी; १२ भुरिक्। १४, १७-१९, २३, २६, २७ विराड् गायत्री; २० भुरिग् गायत्री; २२ विषमपादलक्ष्मा त्रिपदा महाबृहती; २४, २९ जगती; २५ पञ्चपदाति शक्वरी; ३० चतुष्पदा उष्णिक्; ३१ त्र्यवसाना विपरीतपाद लक्ष्मा षट्पदा जगती।

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतंपती पशुंपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥१॥

(भूतपती) हे भूत भौतिक जगत् के अधिपतियो! (पशुपती) हे पञ्चविध पशुओं के अधिपतियों! (भवाशर्वौ) हे सृष्ट्युत्पादक तथा सृष्टि संहारकों! (मृडतम्) हमें सुखी करो, (मा अभियातम्) हम पर आक्रमण न करो, या मेरे प्रति रक्षार्थ आओ, (वाम्) तुम दोनों को (नमः) नमस्कार हो। (प्रतिहिताम्) धनुष पर चढ़ाई गई, (आयताम्) तथा धनुष् की डोरी के साथ खींची गई इषु को (मा विस्राष्टम्) हमारी ओर न छोड़ो। (नः) हमारे (द्विपदः) दो पैरों वाले सम्बन्धियों, तथा (चतुष्पदः) चौपायों की (हिंसिष्टम्, मा) हिंसा न करो।

[भवाशर्वौ=भव अर्थात् सृष्टि का उत्पादक; शर्व अर्थात् सृष्टि का संहारक। ये दोनों नाम एक ही परमेश्वर-देव के हैं। गुण-कर्म भेद के कारण परमेश्वर भव भी है, और शर्व भी। (अभियातम्=अभियान=युद्धार्थ प्रस्थान या अभिमुख आगमन। पशुपती = **तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० ११।२।९)। सूक्त २ के देवता को ३ नामों द्वारा सम्बोधित किया है, भव, शर्व और रुद्र। भव और शर्व तो सृष्ट्युत्पादक तथा सृष्टि संहारक परमेश्वर है, तथा रुद्रनामक परमेश्वर, प्राणियों की, उन के बुरे कर्मों द्वारा, दण्डित कर रुलाने वाला है, ताकि वे दुःख भोग कर सन्मार्ग गामी हो सकें]।

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो
गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥२॥

(शुने) कुत्तों के लिये, (क्रोष्ट्रे) गीदड़ों के लिये, (अलिक्लवेभ्यः) क्षुधा से क्लान्त हुए बिच्छु आदि के लिये, (गृध्रेभ्यः) गीधों के लिये, (च) और (ये) जो (अविष्यवः) मांसप्रिय (कृष्णाः) काले कौए हैं, उन के लिये, (पशुपते) हे पशुओं के अधिपति ! (ते) तेरी जो (मक्षिकाः) मक्खियां हैं, (ते) तेरे जो (वयांसि) अन्य पक्षी हैं उन के लिये, (शरीराणि) हमारे मृत शरीरों को (मा कर्तम्) न कीजिये, वे (विघसे) खाद्य अन्न के निमित्त (मा विदन्त) हमारे शरीरों को न प्राप्त करें।

[शुने, क्रोष्टे=जात्येकवचनम्। कर्तम्=कुरुतम् [भव और शर्व के प्रति कथन हुआ है]। अलिक्लवेभ्यः=अलि=बिच्छु (आप्टे)+क्लम् ग्लानौ। शरीराणि=अभिप्राय यह कि राष्ट्रों में परस्पर युद्ध न हों, ताकि हमारे मृत शरीरों को युद्ध भूमि में पशुपक्षी न खाएं। वेद दृष्टि में तो शरीरों का अन्त्येष्टि संस्कार ही होना चाहिये। विघसे=वि+अद् (घस्लृ; घञपोश्च, अष्टा० २।४।३८)। अविष्यवः=आमिषम् इच्छन्तः (सायण)। अव=हिंसा (भ्वादि)]।

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥३॥

(अमर्त्य भव) हे अमर सृष्ट्युत्पादक ! (ते प्राणाय) तुझ प्राण-

स्वरूप के लिये, (याः च) और जो (ते) तेरी (रोपयः) विमोहक शक्तियां हैं उनके लिये; (अमर्त्य रुद्र) तथा हे अमर रुद्र ! (क्रन्दाय) पापियों को रुलाने वाले, (सहस्राक्षाय) हजारों पापियों का क्षय करने वाले (ते) तेरे प्रति (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं।

[क्रन्द्राय=क्रदि आह्वाने रोदने च। रोपयः=रुप विमोहने; "**रोपयः रोपयित्र्यो विमोहयित्र्यः**" (सायण)। रुद्र=रोदयतीति (सायण) **रोदयतेर्णि लुक्च**" (उणा० २।२२)। "**यद्वा रुद् दुःखहेतुर्वा, तस्य द्रावकः देवः परमेश्वरः**" (सायण)। रोपयः=परमेश्वर की विमोहक शक्तियां नाना हैं। प्राणदातृत्व, जीवनदातृत्व, अन्नदातृत्व, पितृरूपत्व, मातृरूपत्व, इन्द्रिय-दातृत्व आदि,—परमेश्वर की शक्तियां तथा विभूतियां नाना हैं, जोकि हमें विमुग्ध करती है। इन सबके लिये हम परमेश्वर को नमस्कार करते हैं। सहस्राक्षाय=सहस्र+आ+क्ष, क्षिक्षये; अर्थात् हज़ारों पापियों का क्षय करने वाले (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं]।

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥४॥

(पुरस्तात्) पूर्वदिशा में वर्तमान (ते) तेरे लिये (नमः कृण्मः) नमस्कार हम करते हैं, (उत्तरात्) उत्तर दिशा में (उत) तथा (अधरात्) दक्षिण दिशा में वर्तमान तेरे लिये नमस्कार करते हैं। (अभीवर्गात्) सब ओर अन्धकार से वर्जित (दिवः) द्युलोक से (परि) ऊपर वर्तमान तथा (अन्तरिक्षाय) अन्तराल में वर्तमान (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार हम करते हैं।

[उत्तरात् आदि=सप्तम्यर्थे "आतिः" प्रत्ययः ("उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" अष्टा० ५।३।३४)। अभीवर्गात्=अभि (अभितः) वर्गात्, वर्जनात् (वृजी वर्जने)। दिवः परि="पञ्चम्याः परावध्यर्थे" (अष्टा० ८।३।५१)। अन्तरिक्षाय="**अन्तरा क्षान्ताय नियन्तृत्वेन अवस्थिताय**" (सायण)। अथवा अन्तरिक्षस्वामिने, अर्श आद्यच (अष्टा० ५।२।१२७)]।

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥५॥

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते ।
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥६॥

(पशुपते, भव) हे पशुओं के अधिपति ! हे सृष्टयुत्पादक ! (मुखाय) मुख के लिये (तुझे (नमः) नमस्कार हो, (यानि चक्षूंषि) जो चक्षुएं हैं तदर्थ (ते) तुझे नमस्कार हो । (त्वचे) त्वचा के लिये, (रूपाय) रूप के लिये, (संदृशे) सम्यक् दर्शन के लिये (प्रतीचीनाय) तेरे प्रत्यक्स्वरूप के लिये (ते नमः) तुझे नमस्कार हो ॥५॥

(अङ्गेभ्यः) अङ्गों के लिये, (उदराय) उदर के लिये, (जिह्वायै) जिह्वा के लिये, (आस्याय) आस्य के लिये (ते) तुझे नमस्कार हो। (ददभ्यः) दान्तों के लिये, (गन्धाय) गन्ध के लिये (ते नमः) तुझे नमस्कार हो ॥६॥

[के लिये=तेरी इन वस्तुओं के परिज्ञान के निमित्त । "मुखाय" आदि चतुर्थ्यन्तपदों में "ज्ञातुम्" पद का सम्बन्ध अभीष्ट प्रतीत होता है । यथा "पुष्पेभ्यो गच्छति" में "पुष्पाणि आहर्तुं गच्छति" इस अर्थ के निमित्त तुमन्नन्त "आहर्तुम्" पद का सम्बन्ध होता है । इस के लिये देखो "**क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः**" (अष्टा० २।३।१४) । तथा उदाहरणार्थ "फलेभ्यो याति" फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । तथा "नमस्कुर्मो नृसिंहाय", नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यादावपि" (व्याकरण सिद्धान्त कौमुदी, भट्टोजी दीक्षित) । मुखादि के स्वरूपों के परिज्ञान के लिये, परमेश्वर की कृपा के निमित्त, परमेश्वर को नमस्कार किये गए हैं । मुखादि के स्वरूप निम्न लिखित हैं:—

"मुखायं"="**यस्य ब्रह्म मुखमाहुः**" (अथर्व० १०।७।१९), जिस स्कम्भ का मुख है ब्रह्म अर्थात् वेद या ब्रह्मवेद, अथर्ववेद । "चक्षूंषि"="**चक्षुरङ्गिरसो भवन्**" (अथर्व० १०।७।१८,३४) जिस की चक्षुएं हैं सूर्य की रश्मियां तथा सूर्य और चान्द (अथर्व० १०।७।३३) । "त्वचे"= त्वच संवरणे । समग्र जगत् की त्वक् परमेश्वर, जिसने समग्र जगत् को निज व्याप्त स्वरूप से घेरा हुआ है, जैसे कि अस्मदादि के शरीरों को त्वक् ने घेरा हुआ है, तथा वृक्षादि को उन की त्वचाएं घेरती हैं। त्वचाएं शरीर की रक्षार्थ होती हैं । परमेश्वर जगत् की त्वचा बन कर जगत् को सुरक्षित कर रहा है । रूपाय=रूपयतीति रूपम् । परमेश्वर

जगत् को रूप प्रदान करता है, अतः वह "रूप" है तथा "नक्षत्राणि रूपम्" (यजु० ३१।२२) अर्थात् नक्षत्र परमेश्वर के रूप हैं। "संदृशे"=परमेश्वर के सम्यक्-दर्शन के निमित्त तथा "प्रतीचीनाय" उसके प्रत्यगात्म-स्वरूप के परिज्ञान के लिए परमेश्वर को नमस्कार है ॥५॥

"अङ्गेभ्यः"="**अङ्गानि यस्य यातवः**" (अथर्व० १०।७।१८), यातवः अर्थात् गतिशील सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा तारागण जिस विराट्-शरीर के अङ्ग हैं । तथा "**एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः**" (अथर्व० १०।७।२५), असद् अर्थात् अव्याकृत प्रकृति को, पहुंचे हुए जन, स्कम्भ का अंग कहते हैं। प्रकृति, सत्त्व-रजस्-तथा-तमस् स्वरूपा है । त्रिविधा की दृष्टि से प्रकृति को अङ्गानि भी कह सकते हैं । अंगों के सम्बन्ध में देखो, (अथर्व० १०।७।२६,२७) । "उदराय"="**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्**" (अथव० १०।७।३२) में अन्तरिक्ष को स्कम्भ का उदर कहा है। "जिह्वायै="**जिह्वां मधुकशामुत**" (अथर्व० १०।७।१९) में मधुकशा अर्थात् मधुर वेदवाणी को परमेश्वर की जिह्वा कहा हैं । **कशा वाङ्नाम** (निघं० १।११)वाणी को कशा इस लिये कहते हैं कि यह अर्थ को प्रकाशित करती है। तथा जिह्वा वाङ्नाम (निघं० १।११)="आस्याय"="**अग्निं यश्चक्र आस्यम्** (अथर्व० १०।७।३३), स्कम्भ का आस्य है अग्नि । जैसे अग्नि हवि को खाती है वैसे आस्य अन्न को खाता है। "ददभ्यः, गन्धाय" =इन पदों द्वारा परमेश्वर की संहारक शक्तियों का वर्णन हुआ है। "ददभ्यः" वे प्राणी हैं, जोकि अपने दान्तों द्वारा प्रजा का संहार करते हैं, जैसेकि मच्छर, सांप, सिंह आदि हिंस्र प्राणी । ददभ्य; पद दान्त वाले हिंस्र प्राणियों का उपलक्षक है । गन्धाय पद भी पदमेश्वर की संहारक शक्ति का सूचक है। गन्धाय पद "गन्ध अर्दने", अर्थात् अर्दनार्थक "गन्ध" धातु से व्युत्पन्न है । अर्दन का अर्थ है हिंसन । यथा "अर्द हिंसायाम्" (चुरादि) । दन्तुल हिंसक प्राणियों के अतिरिक्त, अदन्तुल हिंसक संख्या में अत्यधिक हैं। ये हैं रोगकीटाणु । ये रोग कीटाणु प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में प्रजा का संहार करते रहते हैं।

विशेषध्येय=इन दो मन्त्रों की व्याख्या में यह निर्देश ध्यान में रखना चाहिये कि मन्त्रों में (ते) पद परमेश्वर के अङ्गों का वर्णन नहीं करते, जिन द्वारा कि परमेश्वर को शरीरधारी मानने का भ्रम हो सके,

और न इन अङ्गों के लिये नमस्कार का ही वर्णन हुआ है, अपितु इन के स्वरूपों के परिज्ञान के लिये परमेश्वर की कृपा के निमित्त परमेश्वर के प्रति नमस्कारों का वर्णन हुआ है । "ते" पद चतुर्थी विभक्ति का है, षष्ठी का नहीं] ।

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥७॥

(अस्त्रा) वज्र फैंकने वाले, (नीलशिखण्डेन) नीलमेघरूपी केश-संनिवेश वाले, (सहस्राक्षेण) हजारों का क्षय करने वाले, (वाजिना) शक्तिशाली विद्युद्देव के सदृश विद्यमान, (अर्धकघातिना) धन की वृद्धि करने वाले का हनन करने वाले, (रुद्रेण) रुलाने वाले (तेन) उस परमेश्वर के साथ (मा समरामहि) हम समर-भावना वाले न हों, उस के नियमों का उल्लंघन[1] करने वाले न हों।

[मन्त्र में लुप्तोपमा है । विद्युद् देव वर्षाकाल में वज्र फैंकता है । नीले अर्थात् घने मेघ मानो उसके केश संनिवेश है, वह हजारों का क्षय करने वाला है । वाजिना=वाजः बलनाम (निघं० २।९) तद्युक्तेन । परमेश्वर भी विद्युद्-देव के सदृश महाबली है । वह उस का घात करता है जोकि सूद द्वारा निजधन की वृद्धि करता, और निजधन को परोपकार आदि धार्मिक कार्यों में व्यय नहीं करता । "कीकट" शब्द की व्याख्या में, निरुक्तकार यास्क ने निम्नलिखित मन्त्र, इस भावना को प्रकट करने के लिये उपस्थित किया है (निरुक्त ६।६।३२); यथा—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥
(ऋ० ३।५३।१४)

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त में कहा है कि "मगन्दः कुसीदी, माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति, तदपत्यं प्रमगन्दः, अत्यन्त कुसीदि-कुलीनः । ऐसे व्यक्ति को "नैचाशाख" कहा है, अर्थात् नीचकुल वाला । ऐसे व्यक्ति को धन से च्युत करने के लिये प्रार्थना की गई है 'आ नो भर

१. राजा द्वारा निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन करना मानो उस के साथ समर अर्थात् युद्ध करना है ।

वेद (धनम्) । आभर=आहर । अर्धक=अर्ध, धनस्य वृद्धि, करोतीति; ऋधु वृद्धौ] अर्धम्, अर्द्धम्="ऋध्नोतेर्वा स्यात्, ऋद्धतमोविभागः" (निरुक्त ३।४।२०) ।

मा समरामहि="मा संगच्छामहै, आर्ता मा भूमेत्यर्थः । ऋ गतौ, अस्मात् माङि लुङि "समोगमृच्छि इति आत्मनेपदम् । "सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च" इति च्लेः अङ् (सायण)] ।

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः ।
मा नो अभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥८॥

(सः भवः) वह सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर (विश्वतः) सब प्रकार के [दुःखों मे] (नः) हमें (परि वृणक्तु) छुड़ाए, (आपः इव अग्निः) जैसे जल और अग्नि परस्पर को त्याग देते हैं वैसे (भवः) सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर (नः) हमें (परिवृणक्तु) दुःखों से छुड़ाए । (नः, मा, अभिमांस्त)[1] भव हमारी हिंसा न करे । (अस्मै नमः अस्तु) इसे हमारा नमस्कार हो ।

[आपः=जैसे अग्नि जल को त्याग देती है,—इस अर्थ में आपः के स्थान में "अपः" पाठ चाहिये]।

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥९॥

(पशुपते) हे पशुओं के पति ! (इमे) ये (गावः अश्वा पुरुषाः अजावयः) गौएं, अश्व, पुरुष, बकरियां, भेड़ें (पशवः) पशु, (पञ्च विभक्ताः) जो कि पांच विभागों में विभक्त हैं, (तव) तेरे हैं, (ते भवाय) सृष्ट्युत्पादक तेरे लिये (चतुः नमः) चार वार नमस्कार हो, (अष्टकृत्वः) आठ वार तथा (दशकृत्वः) दस वार (नमः) नमस्कार हो ।

[चतुः=चार वार, चार मुख्य दिशाओं में वर्तमान तेरे लिये चारों दिशाओं में नमस्कार हो । अष्टकृत्वः=चार मुख्यदिशाओं तथा चार उपदिशाओं की अपेक्षा से । दश कृत्वा=पूर्वोक्त आठ तथा ऊर्ध्वा और ध्रुवा दिग् की अपेक्षा से । सन्ध्या के मन्त्रों में मनसा परिक्रमा के सदृश मनसा-

१. अभिपूर्वो मन्यतिः हिंसने वर्तते । माङि लुङि रूपम् (सायण) ।

परिक्रमा करते हुए परमेश्वर को नमस्कार करने का विधान हुआ है। चतु:, अष्ट और दश, – ये वैकल्पिक हैं।

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तवं पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥१०॥

(उग्र) हे उग्र[2] अर्थात् तेजस्विन् ! (चतस्रः प्रदिशः) चारों फैली हुई दिशाएं (तव) तेरी हैं, (द्यौः) द्युलोक (तव) तेरा है, (पृथिवी तव) पृथिवी तेरी है, (इदम्, उरु, अन्तरिक्षम्, तव) यह विस्तृत अन्तरिक्ष तेरा है, अर्थात् इन सब का तू स्वामी है। (इदम्, सर्वम्, आत्मन्वत्) यह सब जगत् तेरी सत्ता के कारण सात्मक हो रहा है, और जो (पृथिवीम्, अनु) पृथिवी पर रहने वाला प्राणी (प्राणत्) प्राणव्यापार कर रहा है वह भी (तव) तेरा है।

[यह सब जोकि दृश्यमान और अदृष्ट जगत् है, उस में तू आत्मरूप में विद्यमान है, इसलिये वह सात्मक हुआ-हुआ है]

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥११॥

(पशुपते) हे पशुओं के स्वामिन् ! (अयम्) यह (वसुधानः) सम्पत्तियों का निधिभूत (उरुः कोशः) विस्तृत खजाना (तव) तेरा है, (यस्मिन् अन्तः) जिस के अन्दर (विश्वा भुवनानि) समग्र भुवन हैं। (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) उस कोश द्वारा सुखी कर, (ते नमः) तुझे (नमः) नमस्कार हो, (अभिभाः) पराभव करने वाले (क्रोष्टारः) श्वानः) आक्रोश करने वाले गीदड़ तथा कुत्ते (परः) दूर हों; (परः) परे (यन्तु) हो जायं (अघरुदः) पापों के कारण रोने वाली (विकेश्यः) विकीर्ण केशों वाली सेनाएं या शत्रु की स्त्रियां।

[यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर का विस्तीर्ण कोश है, सम्पत्तियों का बड़ा

२. नियमों के पालन कराने में उग्ररूप। परमेश्वर ने जो नियम संसार के चालन के लिये, तथा हमारे जीवनों के लिये, निश्चित किये हुए हैं, उन के विपरीत चलने पर परमेश्वर हमें दण्डित करता है, अतः वह उग्र है।

खजाना है। इस खजाने द्वारा सुखी होने की प्रार्थना की गई है, और प्रत्युपकार में परमेश्वर को नमस्कार भेंट किये हैं। पराभवकारी और आक्रमणकारी शत्रुओं को गीदड़ तथा कुत्ते कहा है। "गीदड़" पद द्वारा उन्हें केवल आक्रोश करने वाले तथा डरपोक कहा है, जैसे कि "गीदड़-भभकी" इस मुहावरे में प्रसिद्ध है; तथा "श्वानः" पद द्वारा उन्हें मांस-लोलुप कहा है। परराष्ट्र पर, लोभ के वश, आक्रमण करने को "अघ" कहा है। परिणाम रूप में शत्रु सेनाओं तथा शत्रुस्त्रियों का रोना-चिल्लाना वर्णित किया है]

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥१२॥

(शिखण्डिन्=नीलशिखण्डिन्) हे नीलेमेघरूपी केशसंनिवेश वाले विद्युद्-देव के सदृश परमेश्वर ! (मन्त्र ७), (हरितम्) संहार करने वाले, (सहस्रघ्नि) हजारों का हनन करने वाले, (शतवधम्) सैकड़ों प्रकार की विधियों से वध करने वाले (हिरण्ययम्) परन्तु परिणाम में हितकर और रमणीय (धनुः) धनुष् को (बिभर्षि) तू धारण करता है। (रुद्रस्य) तुझ रुलाने वाले की, (देवहेतिः) दिव्यास्त्र रूपी (इषुः) इषु, (इतः) इस जगत् में, (यतमस्याम् दिशि) जिस दिशा में भी (चरति) किसी लक्ष्य पर चलती है (तस्यै) उस के निराकरणार्थ (नमः) तुझे नमस्कार है।

[शिखण्डिन्=नीलशिखण्डिन् (देखो मन्त्र ७ की व्याख्या) नीले अर्थात् काले मेघरूपी केशसंनिवेश वाला विद्युद्-देव। विद्युद्-देव का धनुष् वर्षाकाल में इन्द्रधनुष् के रूप में प्रकट होता है, जोकि रमणीय प्रतीत होता है, और जो महासंहारी वज्ररूपी-इषु का प्रहार करता है। इस दृष्टि से परमेश्वर और विद्युद्-देव परस्पर सदृश हैं, और दोनों ही रुद्ररूप हैं, दोनों के धनुष् और इषु हैं। धनुष् तो लक्ष्य पर फेंका नहीं जाता, वह तो धानुष्क के हाथ में ही रहता है। चलाई जाती है इषु। अतः इसी इषु के वर्जनार्थ, निराकरणार्थ रुद्र को नमस्कार किया है, ताकि वह अनुकूल होकर हम पर इषु न चलाए। "तस्यै" में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (अष्टा० २।३।१४) द्वारा उपपन्न हो सकता है। तस्यै नमः=तां निवारयितुं नमः कुर्मः। प्रत्येक व्यक्ति इषु के निवारण को ही चाहता है।

योऽ३भियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति ।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥१३॥

(यः अभियातः) जिस के प्रति रुद्र ने अभियाण अर्थात् आक्रमण किया है, (निलयते) और यदि वह छिप जाता है, (रुद्र) हे रुलाने वाले परमेश्वर ! जो इस प्रकार (त्वां निचिकीर्षति) तेरा अपमान करना चाहता है, (तम्) उस का (पश्चाद् अनुप्रयुङ्क्षे) तू पीछा करता है, (इव) जैसे (पदनीः) पद खोजी शिकारी, (विद्धस्य) बींधे गए शिकार का पीछा करता है ।

[अभिप्राय यह कि रुद्र-परमेश्वर जिसे दण्डित करता है वह उस के दण्ड से बच नहीं सकता] ।

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय ।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीऽतः ॥१४॥

(सयुजा=सयुजौ) साथ-साथ रहने वाले, (संविदानौ) सम्यग्-ज्ञानी या ऐकमत्य को प्राप्त, (उभौ उग्रौ) दोनों उग्रबली (भवारुद्रौ) संसारोत्पादक तथा पापियों को रुलाने वाले परमेश्वर के दोनों स्वरूप, (वीर्याय) अपनी-अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिये (चरतः) विचरते हैं । (इतः) इस संसार में (यतमस्यां दिशि) जिस भी दिशा में वे हों (ताभ्याम्) उन दोनों स्वरूपों के लिये (नमः) नमस्कार हो ।

[इतः=सार्वविभक्तिकः तसिः । परमेश्वर के दोनों स्वरूपों के गुण-कर्म परस्पर में एक समान मन्त्र में दर्शाए हैं, अतः इन दोनों स्वरूपों में एकत्व दर्शाया है । परमेश्वर सर्वव्यापक है, परन्तु जिस किसी दिशा में परमेश्वर का उग्रकर्म, वर्षाधिक्य, सूखापन, अतिगर्मी, भूचाल आदि प्रतीयमान हों, उस दिशा में मुख कर, उस के प्रति नमस्कार करने चाहियें । परमेश्वर है संविदान अर्थात् सम्यग्-ज्ञानी । अतः उस का उग्रकर्म जिधर भी हो रहा हो, उसे निजकर्मों का फल ही समझना चाहिये । इस निमित्त परमेश्वर की अवहेलना न करते हुए उसे नमस्कार ही करने चाहियें] ।

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥१५॥

(रुद्र) हे रुद्र ! (आयते) समाधि अवस्था में आते हुए, दर्शन देते हुए (ते) तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो, (परायते) समाधि से उत्थान काल में परे जाते हुए, अदृष्ट होते हुए (नमः अस्तु) नमस्कार हो । समाधि काल में (तिष्ठते) कुछ काल तक स्थिर रूप में दर्शन देते हुए (ते नमः) तेरे प्रति नमस्कार हो, (उत) तथा (आसीनाय) समाधि काल में चिरकाल तक मानो आसन लगा कर उपविष्ट हुए (ते) तेरे प्रति (नमः) नमस्कार हो ।

[मन्त्र में परमेश्वर के आने, जाने, स्थिर होने, तथा उपविष्ट होने का वर्णन कविता मिश्रित है] ।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥१६॥

(सायम्) सायं काल की सन्ध्या में (नमः) नमस्कार हो, (प्रातः) प्रातःकाल की सन्ध्या में (नमः) नमस्कार हो, (रात्र्या) रात्रि के समय (नमः) नमस्कार हो, (दिवा) दिन के समय (नमः) नमस्कार हो । (भवाय च शर्वाय च) परमेश्वर के भव अर्थात् उत्पादक तथा शर्व अर्थात् संहारक (उभाभ्याम्) दोनों स्वरूपों के प्रति (नमः अकरम्) नमस्कार मैंने किया है ।

[दोनों सन्ध्या कालों में, रात्रि में सोते समय, प्रातः जागरण के समय, परमेश्वर को नमस्कार करना चाहिये । संहारावस्था में, तथा उत्पादकतावस्था में, परमेश्वर को नमस्कार करना चाहिये] ।

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् ।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥१७॥

(सहस्राक्षम्) हजारों आंखों वाले अर्थात् सर्वद्रष्टा, (अतिपश्यम्) बहुत दूर तक देखने वाले, (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (अस्यन्तम्) अन्धकार का निरसन करने वाले, (विपश्चितम्) मेधावी, (बहुधा ईयमानम्) प्रायः आते हुए (रुद्रम्) रुद्र के प्रति (जिह्वया) जिह्वा द्वारा [नमस्कार करने में] (मा उपाराम) हम उपरत न हों, विश्राम न पाएं, अर्थात् जिह्वा द्वारा उस की सदा स्तुतियां करें ।

[बहुधा ईयमानम्=इन पदों द्वारा यह दर्शाया है कि प्रातः काल पूर्व दिशा में मुखकर समाधि का अभ्यास करनेवाले को प्रायः रुद्र-परमेश्वर के दर्शन होते हैं, वह समाधि अवस्था में चित्त में आता है, प्रकट होता है ।

"प्रायः" पद द्वारा यह प्रकट किया है कि समाधि के ठीक प्रकार न लगने पर वह रुद्र-परमेश्वर दर्शन नहीं भी देता । सहस्राक्षम्, अतिपश्यम्=अति पश्यम में दूर तक, देखने में रुद्र को सहस्राक्ष अर्थात् हजारों आंखों वाला कहा है ।

श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् ।
पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥१८॥

(श्यावाश्वम्) सदागति वाले अश्वों अर्थात् रश्मियों, या श्यामवर्णी अश्वों अर्थात् रश्मियों से युक्त, (कृष्णम्) काले या आकर्षक रूप वाले, या ग्रह आदि का आकर्षण करने वाले, (असितम्) बन्धन से रहित, (मृणन्तम्) हिंसा करने वाले, (भीमम्) भयप्रद, (केशिनः रथम्) किरणों वाले सूर्य के रथ को (पादयन्तम्) नीचे गिराने वाले रुद्र को (पूर्वे) प्रथम भावी हम उपासक, या पूर्व प्रदेश में [प्रातर्ध्यान में] (प्रतीमः) जान लेते हैं, साक्षात् करते हैं, (अस्मै) इस के प्रति (नमः अस्तु) हमारा नमस्कार हो ।

[मन्त्र में "केशिनः रथम्" में विकल्प में षष्ठी विभक्ति है । क्योंकि केशी और रथ एक ही वस्तु हैं । केशी का अर्थ है रश्मियों वाला सूर्य; यथा "केशी केशा रश्मयः तद्वान्" (निरुक्त १२।३।२५) । रथ अर्थात् सूर्य पिण्ड और रश्मियों वाला सूर्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं । "शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शून्यो विकल्पः" (योग १।८) । यथा पुरुषस्य चैतन्यम् । पुरुष अर्थात् जीवात्मा तक परमात्मा "चित्" हैं, चैतन्यमात्र हैं, तब भी "पुरुषस्य चैतन्यम्" यह प्रयोग होता है । इस में भी विकल्प में षष्ठी है ।

श्यावाश्वम्=श्याव पद "श्यैङ्"[1] गतौ का रूप है । यौगिक दृष्टि में श्याव' का अर्थ है गतिवाला । सूर्य के अश्व अर्थात् रश्मियां सदागति में रहती हैं इन रश्मियों से युक्त सूर्य है । अथवा "श्याव" शब्द, "काले-नीले रक्त रंगों वाली" सौर-रश्मियों का बोधक हैं । सूर्य अभी उदय न हुआ तथा हो, उस से पूर्व काले अथवा नीले नभस पर जब सूर्य की रश्मियां उत्क्षिप्त होती हैं तब इस मिश्रितवर्ण को श्याव कहा है । यह समय उपासना का है ।

कृष्णम्=सूर्य में काले धब्बे हैं, अतः सूर्य कृष्ण है । उदीयमान होते यह आकर्षकरूप वाला होता है, तथा ग्रह आदि का आकर्षण करता है, इसलिये भी यह कृष्ण है ।

१. श्यैङ् गतौ (भ्वादि) ।

असितम्=अ+षिञ् बन्धने+क्त । सूर्य सदा विचरता है, दिन में भी और रात में भी । जो बद्ध हो वह स्वतन्त्रतापूर्वक सदा विचर नहीं सकता ।

मृणन्तम्=अतिवर्षा, अतिगर्मी आदि के द्वारा यह संहार भी करता रहता है ।

पादयन्तम्=केशी-सूर्य के रथ अर्थात् पिण्ड को रुद्र, सायंकाल में, पश्चिम में पटक देता है, अतः सूर्य दिखाई नहीं देता ।

पूर्वे=प्रथमा के बहुवचन तथा सप्तमी के एक वचन में "पूर्वे" रूप प्रयुक्त होता है । जो उपासक पूर्व-पूर्व काल में परमेश्वर का ध्यान करते हैं वे प्रथम भावी हो कर प्रथम दर्शन परमात्मा का करते हैं, यथा "**पूर्वः पूर्वः यजमानः वनीयान्**" (ऋ० ५।७७।२), अर्थात् पूर्व-पूर्व काल में ध्यान यज्ञ में भजन करने वाला अपेक्षया श्रेष्ठ है । सप्तम्येकवचन में "पूर्वे" का अर्थ है पूर्व प्रदेश में । अर्थात् पूर्व की ओर मुख कर ध्यान करने वाला उपासक परमेश्वर का साक्षात् करता है । साक्षात्कार होने पर परमेश्वर को नमस्कार करने का विधान मन्त्र में हुआ है । जो दीखता नहीं उसे नमस्कार कैसा ? पूज्य व्यक्ति दृष्टिगोचर न हो तो उसे नमस्कार कैसा ?

मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥१९॥

(मत्यम्) अभिमत (देवहेतिम्) दिव्यास्त्र (नः) हमारे प्रति (मा) न (अभिस्राः) फैंक, (नः) हमारे प्रति (मा क्रुधः) क्रोध न कर, (पशुपते) हे पशुओं अर्थात् प्राणियों के स्वामिन् ! (ते नमः) तुझे नमस्कार हो । (अस्मत्) हम प्राणियों से (अन्यत्र) अन्य स्थान में [अर्थात् अप्राणि-स्थानों में (दिव्याम्, शाखाम्) दिव्यशाखा अर्थात् विद्युत् को (विधूनु) फैंक ।

[स्राः=सृज; सृजतेः "माङि लुङ्" मध्यमैकवचने (सायण) । मत्यम् (अथर्व० ८।८।११) में भी "मत्यम्" पद पठित है । सम्भवतः इस का अर्थ हो "अभिमत अस्त्र । विद्युत् की चमक को दिव्या-शाखा कहा है । जब विद्युत् चमकती है तो काम्पती हुई शाखा सी प्रतीत होती है (मन्त्र २६) ।

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः ।
मा त्वया समरामहि ॥२०॥

(नः) हमारी (मा हिंसीः) हिंसा न कर, अपितु (नः) हमें (अधि-ब्रूहि) स्वाधिकार पूर्वक सदुपदेश दे । (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) हिंसाकर्म से छोड़ दे, (मा क्रुधः) हम पर क्रोध न कर । (त्वया) तेरे साथ (मा समरामहि) हम समर भावना में न हों, अर्थात् तेरे नियमों तथा सदुपदेशों के विपरीत हम न चलें ।

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु ।
अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥२१॥

(नः) हमारी (गोषु) गौओं तथा (पुरुषेषु) पुरुषों के सम्बन्ध में (मा गृधः) अभिकाङ्क्षा न कर, (मा) न (नः) हमारी (अजाविषु) बकरियों और भेड़ों के सम्बन्ध में अभिकाङ्क्षा कर । (उग्र) हे तेजस्विन्! (अन्यत्र) हम से अन्य स्थानों में (विवर्तय) विरोध का वर्ताव कर, अर्थात् (पियारूणाम्) हिंस्र व्यक्तियों की (प्रजाम् जहि) प्रजा का हनन कर ।

यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥२२॥

(यस्य) जिस परमेश्वर का (तक्मा) ज्वर, तथा (कासिका) कुत्सित शब्द करने वाली खांसी (हेतिः) अस्त्र है, जो खांसी (एकम्) किसी एक पुरुष को, (वृषणः) शक्तिशाली (अश्वस्य) अश्व के (क्रन्दः) ह्रेषा शब्द की (इव) तरह (एति) प्राप्त होती है, वह हेति (निर्णयते) मानो स्वयं निर्णय करती है कि (अभिपूर्वम्) किसे पहिले प्राप्त होना है ।

[ज्वर और कासिका=कासिका "कुक्कर खांसी" प्रतीत होती है, जिसे कि "Fertussis, तथा whooping-cough" कहते हैं । यह ह्रेषा की तरह खांसते समय, ऊंचा शब्द करती है । यह पहिले किसी एक व्यक्ति को प्राप्त होती है, तदनन्तर सम्पर्क द्वारा अन्यत्र फैल जाती है । यह कमजोर व्यक्ति को मानो स्वयं चुनने का निर्णय करती है । ह्रेषा=अश्व के नथनों का शब्द, हिनहिनाना] ।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् ।
तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः ॥२३॥

(यः) जो परमेश्वर (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्टभितः) थमा हुआ, (अयज्वनः) यज्ञविहीन (देवपीयून्) और देवहिंसकों की (प्रमृणन्) हिंसा करता हुआ (तिष्ठति) स्थित है, (तस्मै) उस के प्रति (दशभिः शक्वरीभिः) १० अङ्गुलियों अर्थात् बद्धाञ्जुलि द्वारा (नमः) नमस्कार हो ।

[शक्वरीभिः=शक्वरी शब्द यद्यपि बाहु वाचक है, "शक्वरी बाहुनाम" (निघं० २।४), परन्तु यहां १० शक्वरियों द्वारा, १० अङ्गुलियां अभिप्रेत हैं, जोकि शक्वरी अर्थात् कर्म करने में सशक्त हैं । मन्त्र में यह आश्चर्य प्रकट किया गया है कि निराधार अन्तरिक्ष में रुद्र-परमेश्वर स्थिर रूप में स्थित किस प्रकार हो रहा है रुद्र विद्युत् अर्थात् इन्द्रदेवता भी है, जो कि अन्तरिक्ष में स्थित रहता है और वर्षा काल में प्रकट हो जाता है] ।

तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
तव यक्षं पशुपते अप्स्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥२४॥

(आरण्याः पशवः) जंगली पशु, तथा (वने) वनोपवन में (हिताः) स्थित (मृगाः) मृग, (हंसाः, सुपर्णाः) हंस और श्येन, (शकुनाः) शक्तिशाली चीलें गृध्र आदि, (वयांसि) तथा कौए (तुभ्यम्) तेरे प्रति अपने आप को समर्पित किये हुए हैं, तेरे आश्रय पर जीवित हैं । (पशुपते) हे सब प्राणियों के स्वामिन् ! (तव यक्षम्) तेरा पूजनीय स्वरूप (अप्सु अन्तः) समुद्रों तथा अन्य जलों में भी विद्यमान है, तथा (वृधे) प्राणी आदि की वृद्धि के लिये (दिव्याः आपः) अन्तरिक्षीय-मेघीय-जल (तुभ्यम्) तेरी प्रसन्नता के लिये (क्षरन्ति) प्रवाहित होते हैं ।

[आरण्यवासी पशु, तथा वनोपवनों में रहने वाले मृग, तथा आकाश विहारी पक्षिगण तेरे आश्रय पर जीवित हैं । तेरा स्वरूप सामुद्रिक जलों में भी प्रतीत हो रहा है, जिस तेरी सत्ता के कारण जलीय प्राणी जीवित हैं । दिव्य जल अर्थात् पर्वतों से प्रवाहित होने वाले और अन्तरिक्ष से वरसने वाले मधुर जल तेरी प्रसन्नता के निमित्त प्रवाहित हो रहे हैं, और प्राणियों की वृद्धि कर रहे हैं । जलप्रवाह परमेश्वर के निमित्त हो रहा है, देखो (अथर्व० १०।७।४)] ।

शिशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि । न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परि पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥२५॥

(शिशुमाराः) तारा मण्डल, (अजगराः) बड़े सांप, (पुरीकयाः) पुरीकय, (जषाः=झषाः) बड़ी मछलियां, (मत्स्याः) छोटी मछलियां, (येभ्यः) जिन के लिये, (रजसा) निज ज्योतिर्मय स्वरूप द्वारा, (अस्यसि) तू ज्योति फेंक रहा है, प्रदान कर रहा है । (भव) हे सृष्ट्युत्पादक ! (ते) तेरे लिये, (न दूरम्) कोई दूर नहीं, (ते) तेरे लिये (न परिष्ठा अस्ति) कोई ऐसे वस्तु नहीं जिसे तू वर्जित कर के स्थित है, अर्थात् जो तेरी व्याप्ति से वर्जित[1] है । (सर्वान्) सब वस्तुओं को (सद्यः) शीघ्र अर्थात् एक-उन्मेष में (परि पश्यसि) पूर्णतया तू देखता है, (भूमिम्) और समग्र भूमि को एक-उन्मेष में देखता है । (पूर्वस्मात्) पूर्व के समुद्र से (उत्तरस्मिन्) उत्तर के (समुद्रे) समुद्र में (सद्यः) शीघ्र अर्थात् तत्काल (हंसि) तू पहुंच जाता है ।

[शिशुमाराः=शिशुमार आदि पार्थिव प्राणी प्रतीत नहीं होते, अपितु ये द्युलोकस्थ तारामण्डल हैं । जैसे कि मेष, वृष, कर्क, सिंह, वृश्चिक मकर, मीन, ये राशियां पशुनाम वाली हैं, इसी प्रकार शिशुमार आदि मन्त्र पठित नाम भी दिविष्ठ तारा मण्डल प्रतीत होते हैं । शिशुमार[2] तारा मण्डल है । शिशुमार यद्यपि एक मण्डल है । परन्तु इस मण्डल में नाना तारा हैं । ताराओं की बहुत्व संख्या के कारण मन्त्र में "शिशुमाराः" बहुवचन है । शिशुमारमण्डल=Ursa minar अर्थात् लघु सप्तर्षि या लघु ऋक्षः तथा ध्रुवमध्य कहते हैं । इस में ७ चमकते तारे हैं । देखो पृ० १८६ Popular Hindu Astronomy (कालिनाथ मुकर जी) तथा नक्शा नं० १ के केन्द्रियवृत्त में] ।

१. परिष्ठा=परि (अपपरी वर्जने)+ष्ठा (स्था) "परिवर्ज्यः स्थितिः" । "न दूरं न परिष्ठा" अथवा तेरे सम्बन्ध में दूर और समीप का प्रश्न नहीं, क्योंकि तू सर्वव्यापक है । अथवा तेरे मार्ग में कोई बाधारूप में स्थित नहीं ।

२. संलग्न चित्र नं० १ में "शिशुमार" तारा मण्डल मध्यवर्ती केन्द्रिय-वृत्त में है, इसे चित्र नं० १ में शिशुमार शब्द द्वारा दर्शाया है । डिगरी १६० से डिगरी २७० की रेखाएं उत्तर की ओर जाती हुई जहां केन्द्रिय-वृत्त को स्पर्श करती हैं वहां शिशुमार तारामण्डल की स्थिति है ।

अजगराः[1]=महाकाय सर्प । ये द्युलोक में नाना हैं । ये स्वाकृतियों में भी नाना हैं, और निज ताराओं की भी दृष्टि से नाना हैं । यथा (१) तक्षक-तारामण्डल (Draco) जो कि शिशुमार-मण्डल के समीप कुण्डली में स्थित है, और जो सप्तर्षिमण्डल के समीप है । (२) सर्पधारि-मण्डल, यह तुला राशि के पूर्व में तथा आकाश गङ्गा के पश्चिम में है (Ophinchees) । (३) ह्रद सर्पमण्डल जो कि १४० डिग्री से २२० डिग्री तक फैला हुआ है, और जिस की पूंछ तुलाराशि को छूती है (The water make, या Hydra) । इस का मुख मिथुनराशि के समीप है, और पूंछ तुलाराशि के समीप तक गई है ।

पुरीकयाः[2]=इस तारामण्डल का स्वरूप अनुसन्धेय है ।

जषाः[3]=झषाः । ये बृहदाकार मछली है जिसे मीन राशि कहते हैं, इस में रेवती-नक्षत्र है ।

मत्स्याः[4]=(अ) दक्षिण मत्स्य Fishes Australin) । यह कुम्भः राशि के दक्षिण में और मकर-राशि के आग्नेयी दिशा में है; आग्नेयी=

१. एक महाकाय सर्प "तक्षक" है, जो कि शिशुमार तारामण्डल के दक्षिण में कुण्डलि मारे लेटा पड़ा है, और २१० डिगरी और ३०० डिगरी तक की रेखाओं में फैला हुआ है ।

दूसरा महाकाय सर्प है "ह्रदसर्प मण्डल" जो कि चित्र नं० २ में १४० डिगरी से २२० डिगरी के मध्य में तुलाराशि तक फैला हुआ है ।

तीसरा महाकाय सर्प है "सर्पधारिमण्डल" जोकि चित्र नं० २ में डिगरी २४० से डिगरी २७५ के लगभग तक फैला हुआ है ।

२. पुरीकयाः=पुलीकयाः (सायण) । सम्भवतः पुलिरिकया=Snaks (आप्टे), लघुकाय सर्पाः ।

३. यह मीन-राशि है । मीन=मच्छली । तथा "तिमि" तारामण्डल । तिमि =मछली । लेटिन भाषा में इसे cetus, तथा अंग्रेजी में इसे Seamonster कहते हैं । ये दो बृहदाकार मछलियां हैं । मीन राशि तो प्रसिद्ध राशि है, जो कि कुम्भ राशि के पूर्व में और मेष राशि के समीप है । "तिमि" को चित्र नं० २ में शून्य डिगरी से ३५ डिगरी के भीतर दर्शाया है ।

४. मत्स्याः, यह छोटी मछली है, यथा 'Gisces Australin' (दक्षिण मीन मण्डल) चित्र नं० २ में डिगरी ३३० और डिगरी ३४० के मध्य में, कुम्भ राशि के नीचे है । Gisces vdans=flying fish. चित्र में नहीं है ।

दक्षिण-पूर्व की अवान्तर दिशा । (इ) पतत्रि-मत्स्य (Fisces volans or Flying fish)। इन सब के चित्र "Popular Hindu Astronomy"[1] में दिये हैं । इन का चित्रपट संलग्न है ।

रजसा="ज्योतीरज उच्यते" (निरुक्त ४।३।१९) । अर्थात् रजस् का अर्थ है "ज्योतिः" । मन्त्र में "रजसा" का अभिप्राय है कि हे भव ! तू निज ज्योतिर्मय स्वरूप द्वारा, निज ज्योति को इन द्युलोकस्थ तारा-मण्डलों में फैंक रहा है, प्रक्षिप्त कर रहा है । यथा "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्ड० उप० २।२।१०) । वैदिक सिद्धान्तानुसार इन सब की ज्योतियों में परमेश्वरीय-ज्योति ही चमक रही है ।

हंसि=हन् हिंसागत्योः । हंसि में हन् धातु गत्यर्थक है ।

पूर्वस्मात् उत्तरस्मिन् समुद्रे=पूर्व समुद्र का सम्बन्धी पश्चिम समुद्र है, न कि उत्तर दिशावर्ती समुद्र । इस वर्णन पर अनुसंधान अपेक्षित है] ।

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ॥२६॥

(रुद्र) हे पापियों को रुलाने वाले ! (नः) हम सुकर्मियों को, (तक्मना) जीवन को कष्टमय करने वाले ज्वर के साथ (मा संस्राः) न संबद्ध कर, (मा विषेण[2]) न विष के साथ (मा) न (नः) हमें (दिव्येन अग्निना) दिव्य अग्नि के साथ सम्बद्ध कर । (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में (एताम् विद्युतम्) इस विद्युत को (पातय) गिरा ।

[संस्राः=संसृज (लुङ् लकार) । तक्मना=तकि कृच्छ्र जीवने । दिव्य अग्नि=विद्युत्] ।

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम् ।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥२७॥

(भवः) सृष्टयुत्पादक परमेश्वर (दिवः) द्युलोक का (ईशे) अधीश्वर है, (भवः) सृष्टयुत्पादक परमेश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का अधीश्वर है, (भवः) सृष्टयुत्पादक परमेश्वर ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्)

१. "कालीनाथ मुकरजी" ।
२. विष=ज्वरादि का उत्पादक विष, अर्थात् Tox in ।

अन्तरिक्ष को (आ पप्रे) निज व्याप्ति से आपूरित किया हुआ है । (यतमस्याम्) जिस किसी भी (दिशा) दिशा में वह है, (इतः) यहां से (तस्मै) उसे (नमः) नमस्कार हो ।

[परमेश्वर तीनों लोकों में और सब दिशाओं में व्याप्त है । जिस किसी दिशा की ओर भी तुम मुख करके उसे नमस्कार कर सकते हो, वह तो निज व्याप्ति द्वारा सभी दिशाओं में विद्यमान है ही । आ पप्रे (लिङ् लकार)] ।

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥२८॥

(भव राजन्) हे सृष्टयुत्पादक जगत् के राजा ! (यजमानाय) यज्ञ कर्म करने वाले को (मृड) सुखी कर, (हि) यतः (पशूनाम्) प्राणियों का (पशुपतिः) अधिपति और रक्षक तू (बभूथ) हुआ है । (यः) जो (श्रद्दधाति) श्रद्धा रखता है (सन्ति देवाः इति) कि देव हैं (अस्य) इस श्रद्धालु के (चतुष्पदे) चौपायों को (द्विपदे) और दुपायों को (मृड) सुखी कर ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥२९॥

(मा) न (नः) हमारे (महान्तम्) वृद्ध पुरुष की, (उत) और (मा नः अर्भकम्) न हमारे शिशु की, (मा नः वहन्तम्) न हमारे गृह-भार का वहन करने वाली की, (उत मा नः वक्ष्यतः) और न जो कि हमारे गृह-भार का वहन करेगा उस की, (मा नः पितरम् मातरम् च) न हमारे पिता और माता की (हिंसीः) हिंसा कर, (रुद्र) हे पापियों को रुलाने वाले ! (नः स्वाम् तन्वम्) हमें दी हुई अपनी ही तनू की (मा रीरिषः) न हिंसा कर ।

[वहन्तम्, वक्ष्यतः=अथवा शकट का वहन करने वाले और जो भविष्य में शकट का वहन करेगा उस बैल की हिंसा न कर । स्वाम् तन्वम् =हे रुद्र ! मुझे जो तनू तू ने दी है वह तो तेरी ही तनू है, उस अपनी तनू की हिंसा न कर] ।

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः ।
इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥३०॥

(ऐलवकारेभ्यः) विलासी-कर्मों के करने वालों के लिये, (असंसूक्तगिलेभ्यः) न सम्यक्-विधि से और न उत्तम वचनों का भाषण करने वालों के लिये, तथा (महास्येभ्यः श्वभ्यः) महा-खाऊ कुत्तों के लिये, (रुद्रस्य) पापियों को रुलाने वाले परमेश्वर का (नमः) वज्रपात हो, ऐसों के लिये (अकरम्, नमः) मैंने भी दूरतः नमस्कार किया है, यथा "दूरतो दुर्जना वन्द्याः" ।

[ऐलवकारेभ्यः=एला विलासे+स्वार्थे अण्+मतुबर्थक "वः"+कारेभ्यः, अर्थात् जो विलासी कर्मों के करने वाले हैं उन के लिये । असंसूक्त गिलेभ्यः=अ+सम् (सम्यक् विधि से)+सु (उत्तम) उक्त (वचन)+गिलेभ्यः (गॄ शब्दे), अर्थात् जो न सम्यक्-विधि से और न उत्तम वचनों का भाषण करते हैं उन के लिये । महास्येभ्यः श्वभ्यः=श्वभ्यः द्वारा उन व्यक्तियों का निर्देश किया है, जोकि कुपथ द्वारा, या लूट-मार कर, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण कर, भोग करते हैं । इन्हें "महास्येभ्यः" द्वारा महामुखी या महाखाऊ कुत्ते कहा है । ये व्यक्ति पापी हैं, इसलिये ये रुद्र के शिकार हैं । परमेश्वर से प्रार्थना की है कि वह इन पर निज वज्र प्रहार करे, "नमः वज्रनाम (निघं० २।२०) ; तथा प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति भी इन्हें दूरतः नमस्कार करदे, इन का सामाजिक वायकाट करे, क्योंकि ऐसे व्यक्ति समाजद्रोही हैं । सम्यक्-विधि का अभिप्राय है कि सुवचनों का भाषण भी मीठे और प्रेम संसिक्त विधि से करना चाहिये, जैसे कि मनु ने कहा है कि "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्", अर्थात् सत्यवचनों को भी अप्रियविधि से न कहे, उन्हें भी प्रिय वचनों में कहे] ।

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः ।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः ।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥३१॥

हे रुद्र ! (ते) तेरी (घोषिणीभ्यः[1]) नगारे तथा दुन्दुभि का घोष करने वाली सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो, (ते) तेरी (केशिनीभ्यः) केशधारी अथवा अग्नि-विद्युत् सूर्य सम प्रतापी सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो । (नमस्कृताभ्यः) पूर्वकाल से चलती आई जो कि

१. अथवा विजय के घोषों को करने वाली सेनाओं के लिये ।

हमारे नमस्कारों को प्राप्त करती आई हैं, उन्हें (नमः) हमारा नमस्कार हो, (संभुञ्जतीभ्यः) एकत्रित हो कर सहभोजन करने वाली अथवा स्वराष्ट्र का सम्यक् पालन और द्वेषोराष्ट्र का सम्यक् संहार करने वाली सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो, (देव) हे देव ! (ते) तेरी (सेनाभ्यः) उक्त सब प्रकार की सेनाओं को (नमः) हमारा नमस्कार हो, जिस से (नः) हमारी (स्वस्ति) सु-स्थिति तथा कल्याण (च) और (अभयम्) भय राहित्य हो ।

[राष्ट्रिय-सेनाओं को रुद्ररूप-सेनापति के प्रबन्ध में रखना चाहिये और इन्हें समझना चाहिये कि ये रुद्र परमेश्वर की सेनाएं हैं, और इन का प्रयोग रुद्र-परमेश्वर की इच्छा पूर्ति के लिये, अर्थात् पापियों के संहार और धर्मात्माओं के पालन के लिये करना है ।

केशिनीभ्यः=सूक्त की ऐकवाक्यता के लिये इस का अर्थ अग्नि-विद्युत् सूर्य सम प्रतापी सेनाएं किया है । मन्त्र १८ में "केशिनः" का अर्थ सूर्य हुआ है । निरुक्त में भी "केशिना" के तीन अर्थ दिये हैं, आदित्य, पार्थिवाग्नि तथा विद्युत् (१२।३।२५,२६) । नमस्कार इन सेनाओं के प्रति हुआ है ।

प्रथम अनुवाक समाप्त

—:o:—

सूक्त ३

विषय प्रवेश

काण्ड ११। सूक्त ३ में ३ पर्याय अर्थात् विभाग हैं। ३ पर्यायों में ५६ मन्त्र हैं। प्रथम पर्याय में १ से ३१ मन्त्र हैं। इन ३१ मंत्रों में, (१) ओदन के स्वरूप का कथन हुआ है, और ओदन द्वारा ब्रह्म का निर्देश हुआ है (मन्त्र १९-२१)। (२) ब्रह्मरूपी ओदन तथा कृष्योदन अर्थात् कृषि द्वारा उत्पन्न ओदन में परस्पर प्रतिरूपता अर्थात् सादृश्य दर्शाया है (मन्त्र १-१८)। (३) ओदन की महिमा सम्बन्धी प्रश्न पूर्वक (मन्त्र २२-२५), ओदन के प्राशन के सम्बन्ध में ब्रह्मवादियों के कथन का वर्णन हुआ है (मन्त्र २६-३१)।

(क) मन्त्र १९-२१ में कहा है कि "ओदन द्वारा यज्ञ प्रोक्त सब लोक सम्यक् प्राप्त हो सकते हैं। जिस ओदन में कि समुद्र[1], द्यौः, भूमि। ये तीनों नीचे-ऊपर करके आश्रित हैं। तथा जिस उच्छिष्ट अर्थात् महाप्रलय में शेष बचे ओदन में ६×८० देव निज सामर्थ्यों वाले होते हैं।

यह वर्णन कृष्योदन के सम्बन्ध में उपपन्न नहीं हो सकता। अतः इस वर्णन में ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। अथर्व० ४।३५।१-७ में भी ओदन पद द्वारा ब्रह्म का वर्णन हुआ है। यथा "**यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्**" (मन्त्र १) अर्थात् जो लोकों का धारण करता है, विनष्ट नहीं होता उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु-नद से तैर जाऊं। "**येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण**" (मन्त्र २), जिस ओदन द्वारा, सत्यानुष्ठानी, मृत्यु से तरे, जिसे कि तप और परिश्रम द्वारा उन्होंने प्राप्त किया। "**यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव। यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्**" (मन्त्र ६) जिस के परिपक्व होने से अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है, जो

१. समुद्र पद द्वारा अन्तरिक्ष अभिप्रेत है। समुद्रः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३); तथा "स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्" (ऋ० १०।९८।५) में उत्तर-समुद्र अन्तरिक्ष है। देखो निरुक्त (२।३।१०,११)।

गायत्री का अधिपति हुआ है, जिस में विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित है, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु को तैर जाऊं। तथा इस ओदन को ब्रह्मौदन भी कहा है, अर्थात् ब्रह्मरूपी ओदन। यथा "**ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि**" (मन्त्र ७), मैं विश्वविजयी ओदन (ब्रह्म) का परिपाक करता हूं, निज जीवन में उस की स्थिति परिपक्व करता हूं। इस प्रकार सूक्त ३३ वें के प्रथम पर्याय में वर्णित ओदन की ब्रह्मरूपता अथर्ववेदानुमोदित है।

(ख) ओदन (ब्रह्म) और ओदन (कृष्यन्न) में प्रतिरूपता अर्थात् सादृश्य—

१ बृहस्पतिः	शिरः	मन्त्र १
२ ब्रह्म	मुखम्	"
३ द्यावापृथिवी	श्रोत्रे	मन्त्र २
४ सूर्याचन्द्रमसौ	अक्षिणी	"
५ सप्त ऋषयः	प्राणापानाः	"
६ चक्षुः	मुसलम्	मन्त्र ३
७ कामः	उलूखलम्	"
८ दितिः	शूर्पम्	मन्त्र ४
९ अदितिः	शूर्पग्राही	"
१० वातः	अपाविनक्	"
११ अश्वाः	कणाः	मन्त्र ५
१२ गावः	तण्डुलाः	"
१३ मशकाः	तुषाः	"
१४ कब्रु	फलीकरणाः	मन्त्र ६
१५ अभ्रम्	शरः	"
१६ श्यामम् अयः (काला लोहा)	मांसानि	मन्त्र ७
१७ लोहितम् अयः (ताम्बा)	लोहितम्	"
१८ त्रपु (सीसा)	भस्म	मन्त्र ८
१९ हरितम् (हिरण्य)	वर्णः (पीत)	"
२० पुष्करम्	गन्धः	"
२१ खलः (खलिहान, Terashing Floor)	पात्रम्	मन्त्र ९
२२ अंसौ	स्पयौ	"
२३ अनूक्ये	ईषे	"

ओदन (ब्रह्म)	ओदन (कृष्यन्न)	
२४ आन्त्राणि	जत्रवः	मन्त्र १०
२५ गुदाः	वरत्रा,	,,
२६ पृथिवी	कुम्भी	मन्त्र ११
२७ द्यौः	अपिधानम्	,,
२८ पर्शवः	सीताः	मन्त्र १२
२९ सिकताः	ऊबध्यम्	,,
३० ऋतम्	हस्तावनेजनम्	मन्त्र १३
३१ कुल्या	उपसेचनम्	,,
३२ ऋचा कुम्भी अधिहिता		मन्त्र १४
३३ आर्त्विज्येन ,, प्रेषिता		,,
३४ ब्रह्मणा ,, परिगृहीता		मन्त्र १५
३५ साम्ना ,, पर्यूढा		,,
३६ बृहत् (साम)	आयवनम्	मन्त्र १६
३७ रथन्तरम् (साम)	दर्विः	,,
३८ ऋतवः	पक्तारः	मन्त्र १७
३९ आर्तवः	समिन्धते	,,
४० चरुं पञ्चबिलमुखम् घर्मः अभीन्धे		मन्त्र १८

(ग) उपरि लिखित प्रतिरूपों के अभिप्राय तथा अर्थः—

(१) बृहस्पतिः=बृहती वाक् तस्याः पतिः, वेदवाणीज्ञः। बृहती छन्दोभेदः (उणा० २।८५, महर्षि दयानन्द), तथा "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्" (ऋ० १०।७१।), में बृहस्पति का सम्बन्ध "वाचो अग्रम्" वाणियों में अग्रभूत वेदवाणी के साथ दर्शाया है।

शिरः=सिर भी वाणी का पति है। कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि स्थान जो कि वाक् के साधन हैं, सिर में ही हैं।

(२) ब्रह्म=वेद या ब्रह्मवेद=अथर्ववेद। यथा "अस्य ब्रह्म मुखमाहुः" (अथर्व० १०।७।१९)। ओदन (ब्रह्म) पक्ष में।

तथा ब्रह्म=ब्राह्मण। यथा "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत" (यजु० ३१। ११)। ओदन (कृष्योदन) पक्ष में।

अभिप्राय यह कि मन्त्र २६ से ३१ में ओदन के प्राशन के सम्बन्ध में ब्रह्मवादियों द्वारा प्राशन कर्त्ताओं के सम्बन्ध में कथन हुआ है। ब्रह्म को

ओदन कहा है, अतः ब्रह्म प्राश्य है, कृष्योदन भी ओदन है, अतः यह भी प्राश्य है। ब्रह्मरूपी ओदन अन्नरूप भी है। यथा "अहमन्नम्, अहमन्नादः" (तैत्ति० उप० भृगुवल्ली, अनु० १०)। इन दोनों प्रकार के ओदनों के प्राशन कर्त्ताओं को "बृहस्पतिः" तथा शिरः" कहा है। वेदों का पति वैदिक विद्वान् तो ओदन (ब्रह्म) का प्राशन करता है, ओदन (ब्रह्म) उस के लिये लिये आध्यात्मिक-अन्न है, शारीरिक नहीं। उस का मुख है वेद या ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। अर्थात् वह वेदोक्त विधिरूपी मुख द्वारा ओदन (ब्रह्म) का प्राशन करता है। परन्तु ब्राह्मण-पुरुष ओदन (कृष्यन्न) का प्राशन करता है शिरः द्वारा, शिरःस्थ मुख द्वारा। यह ब्राह्मण-पुरुष के लिये शारीरिक भोजन है आध्यात्मिक नहीं।

इसी प्रकार अन्य प्रतिरूपों के अभिप्रायों के सम्बन्ध में भी यथा तथा ऊहा कर लेनी चाहिये। शेष प्रतिरूपों के यथा सम्भव अभिप्रायः मन्त्रार्थों में प्रकट किये जायेंगे।

(घ) सप्त ऋषयः=द्युलोकस्थ सप्तर्षि मण्डल (ursa major)।

दितिः=दो अवखण्डने या दीङ् क्षये, क्षीण होने वाला कार्यजगत्।

अदितिः=न क्षीण होने वाली प्रकृति।

अपाविनक्=कुटे व्रीहों से तण्डुलों को पृथक् करने वाला। अप+विचिर् पृथग्भावे।

फलीकरणाः=खलियान में, खेत कटे व्रीहि पौधों के अवहनन से प्रकट हुए, व्रीही सम्बन्धी तुष, तिनके डण्डियां आदि।

शरः=तण्डुलों को उबालते समय उठी हुई सफेद झाग।

मांसानि=सट्ठी या साठो ("षष्टिका" चावल) तण्डुलों के पकने पर उन का पिण्ड गुच्छा बन जाना, अलग-अलग दानों का न होना।

लोहितम्=सट्ठी या साठी[1] के चावलों पर का लाल अंश।

पात्रम्=शकट, जिस में कि खेत कटे व्रीहि पौधे डाल कर खलिहान में लाए जाते हैं।

---

१. सट्ठी या साठी के तण्डुल=षष्टिकाः तण्डुल। यथा "षष्टिकाः षष्टि रात्रेण पच्यन्ते" (अष्टा० ५।१।९०)। षष्टिका तण्डुल, खेत में, ६० रातों में परिपक्व होते हैं। षष्टिका का अपभ्रंश है। सट्ठी और साठी।

स्फ्यौ=ये दो यज्ञिय उपकरण नहीं । अपितु शकट के अग्रभाग के दो प्रवृद्ध कोने हैं । स्फायी वृद्धौ (सायण) । इन दो कोनों को अंसौ कहा है (Shoulders) ।

अनूक्ये=दो कन्धों को परस्पर में जोड़ने वाली दो हड्डियां (हंसलियां, Clavicles) ।

ईषे=शकट के अग्रभाग में दोनों ओर आगे की ओर लगे दो दण्डे जिन के दो किनारों पर जुआ-दण्ड (Yoke) लगा रहता है, जिसे कि बैल की गर्दन पर रखा जाता है ।

पर्शवः=पसलियां ।

सीताः=हल जोतने पर खेत में पड़ीं हल की पद्धतियां, मार्ग ।

ऊबध्यम्=आधा पका, बैल के उदरस्थ शकृत् ।

ऋतम्=ऋतम् उदकनाम (निघं० १।१२) ।

कुल्या=अल्पा सरित् (सायण), या सेंचने के लिये खेत की जलनालियां ।

आयवनम्=उदक में डाले तण्डुलों के मिश्रण का साधन भूत उपकरण ।

दर्विः=पके ओदनों को कुम्भी से निकालने की कड़छी ।

पञ्चबिलम्, उखम् (उखाम्)=भूतपञ्चकरूपी पांच बिलों पृथिवी[1] को,

घर्मः अभीन्धे=गर्म आदित्य तपाता है ।

पञ्च बिलम् उखम् (उखाम्)=पांच बिलों वाली कुम्भी, अर्थात् बटलोई को,

अग्निः अभीन्धे=पार्थिव-अग्नि तपाती है ।

विशेषः—

"बृहस्पति"—शीर्षक के नीचे दिये पदार्थों द्वारा तो ओदन (ब्रह्म) के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

और "शिरः"—शीर्षक के नीचे दिये पदार्थों द्वारा ओदन (कृष्यन्न) के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

मन्त्रों की व्याख्या में "विषय-परिचय" पदार्थों का स्पष्टीकरण किया जायेगा ।

---

१. पृथिवीरूपी बटलोई के, खेती के तण्डुलों को, आदित्य पकाता है, और खाद्य तण्डुल की बटलोई को, पार्थिव-अग्नि पकाती है ।

पर्याय (१)

१-३१ अथर्वा । देवता ओदनः बार्हस्पत्यः । १, १४ आसुरी गायत्री; २ त्रिपदा समविषमा गायत्री; ३, ६, १० आसुरी पङ्क्तिः; ४-८ साम्न्यनुष्टुप्; ५, १३, १५, २५ साम्न्युष्णिक्; ७, १९-२२ प्राजापत्यानुष्टुप्; ९, १७, १८ आसुर्यनुष्टुप; ११ भुरिगार्च्यनुष्टुभ्; १२ याजुषी जगती; १६, २३ आसुरी बृहती; २४ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती; २६ आर्च्युष्णिक्; २७-२९ साम्नी बृहती, (२९ भुरिक्); ३० याजुषी त्रिष्टुप्; ३१ अल्पाचापङ्क्तिः, उत याजुषी ।

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥१॥

(तस्य ओदनस्य) उस ओदन के सम्बन्ध में, (बृहस्पतिः) बृहस्पति (शिरः) सिर स्थानी है, और (ब्रह्म) ब्रह्म (मुखम्) मुख स्थानी है ।

[काण्ड ११ । सूक्त ३ में ओदन (ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर) तथा ओदन (पाकसाध्य ओदन) का संमिश्रित वर्णन हुआ है । परन्तु ओदन-परमेश्वर का वर्णन मुख्य अभीष्ट है, और पाकसाध्य-ओदन का गौण । (अथर्ववेद ४।३५।१-७) में ओदनरूप-परमेश्वर का विस्तृत वर्णन हुआ है । एतत्सम्बन्धी मन्त्रों तथा मन्त्रांशों के उद्धरण "विषय-प्रवेश" में दे दिये हैं । उन का अनुवाद निम्नलिखित है—

(१) जो लोकों का धारण करता है, विनष्ट नहीं होता, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु-नद से तैर जाऊं, पार हो जाऊं (मन्त्र १) ।

(२) जिस ओदन द्वारा, सत्यानुष्ठानी, मृत्यु से तरे हैं, और जिसे कि तप और परिश्रम द्वारा उन्होंने प्राप्त किया (मन्त्र २) ।

(३) जिस के परिपक्व होने से अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है, जो गायत्री का अधिपति है, जिस में विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित हैं, उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु को तैर जाऊं (मन्त्र ६) । तथा इस ओदन को "ब्रह्मौदन" भी कहा है । ब्रह्मौदन=ब्रह्मरूपी ओदन । यथा "ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि" (मन्त्र ७) मैं विश्वविजयी ब्रह्मरूपी ओदन का परिपाक करता हूं, निज जीवन में उस की स्थिति परिपक्व करता हूं ।

इस निमित्त काण्ड ११ । सूक्त ३ । पर्याय १ के मन्त्र (१९-२१) भी विशेषतया द्रष्टव्य हैं ।

"बृहस्पतिः"=बृहती वेदवाक् तस्याः पतिः=वेदज्ञ विद्वान्। वह ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) रूपी मुख द्वारा, जैसा के ब्रह्मवेद में प्रतिपादित विधि है तदनुसार, ओदन-ब्रह्म का, परमेश्वर का आत्मिक प्राशन करता है (देखो मन्त्र २६-३१)। इस प्राशन की दृष्टि से परमेश्वर को "अन्न" भी कहा है। यथा "अहमन्नम्" (तैत्ति० उप० भृगुवल्ली, अनुवाक १०)। परमेश्वर को 'ओदन' कहने का अभिप्राय भी यही है कि अध्यात्म-व्यक्ति इस का आत्मिक प्राशन करते हैं।

"शिरः" भी बृहस्पति है, बृहती लौकिकी वाक् तस्याः पतिः। पशुओं और मनुष्यों में एक भारी भेद है "लौकिकी वाक्" का। इस लौकिकी-वाक् का स्थान है "शिरः"। शिरःस्थ कण्ठ, तालु, ओष्ठ, मूर्धा आदि स्थान लौकिकी-वाक् के स्थान हैं। "शिरः" की दृष्टि से पाकसाध्य ओदन का प्राशन करने वाला ब्राह्मणरूपी-मुख है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (यजु० ३१।११)। ब्राह्मण[1] निज मुख द्वारा, ओदन का शारीरिक भोजन या प्राशन करता है, इस प्रकार ओदन-परमेश्वर का प्राशन तो ब्रह्मज्ञ व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से करता है, और ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ही पाकसाध्य ओदन का शारीरिक प्राशन भी करता है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के लिये दोनों प्राशन आवश्यक हैं, आध्यात्मिक और शारीरिक।

द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥२॥

उस ओदन के (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (श्रोत्रे) दो श्रोत्रस्थानी हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (अक्षिणी) दो आंखों स्थानी हैं, (सप्त ऋषयः) द्युलोकस्थ सप्तऋषि [ursa major] अथवा शरीरस्थ सात ऋषि (प्राणापानाः) प्राण और अपान स्थानी हैं।

[द्यावापृथिवी को क्रन्दसी भी कहते हैं, यथा "यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभाने" (यजु० ३२।७)। इस की व्याख्या में, क्रन्दसी=द्यावापृथिव्यौ (महीधर)। क्रन्दसी इसलिये कि द्युलोक और पृथिवीलोक आक्रन्दन आदि शब्दों के आश्रय हैं। दो श्रोत्र भी आक्रन्दन आदि के आश्रय हैं।

१. यद्यपि ब्राह्मणेतर भी ओदन का प्राशन करते हैं। परन्तु वैदिक समाज व्यवस्था में चूंकि ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ का प्राधान्य है, इसलिये वाक् तथा ओदन-प्राशन के सम्बन्ध में प्राधान्यदृष्टि से ब्राह्मण का कथन किया है।

सूर्याचन्द्रसौ=सूर्य और चन्द्रमा के कारण प्राणियों की आंखें देखती हैं। अतः ये दो आंखें हैं। यथा "यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः" (अथर्व० १०।७।३३), अर्थात् सूर्य और चद्रमा को परमेश्वर ने चक्षु के रूप में रचा है।

सप्त ऋषयः=शरीरस्थ[1] सात ऋषि हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन और विद्या (निरुक्त १२।४।३५)। जब तक ये सात ऋषि शरीर में विद्यमान रहते हैं, तब तक प्राण-अपान क्रियाएं होती हैं। द्युलोकस्थ सप्तर्षि मण्डल का प्राणापान के साथ सम्बन्ध विचारणीय है]।

चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥३॥

(चक्षुः) आंख अर्थात् परमेश्वर की ईक्षण-शक्ति मुसलस्थानी है, (कामः) और कामना (उलूखलम्) ओखली स्थानी है।

[सृष्टिरचना में परमेश्वर में प्रथम, ईक्षण होता है। यथा "तद् ऐक्षत्"[2] (छान्दो० उप० ६।२।३), तत्पश्चात् सृष्टि रचने की कामना होती है। यथा "सोऽकामयत" (बृ० उप० १।४-७)। कृष्योदन के लिये व्रीहि अर्थात् धान के अवहनन में प्रथम मुसल को उठाते और उस का प्रहार ओखली में करते हैं, तत्पश्चात् ओखली में तण्डुल तय्यार होता है। अतः परमेश्वरीय ईक्षण और कामना, मुसल और उलूखल स्थानी हैं]।

दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥४॥

(दितिः) अवखण्डित और क्षीण होने वाला कार्यजगत् (शूर्पम्) छाजस्थानी है, (अदितिः) न अवखण्डित और न क्षीण होने वाली प्रकृति (शूर्पग्राही) छाज को पकड़ने वाले व्यक्ति का स्थानी है, (वातः) वायु (अपाविनक्) तुषों से तण्डुलों के विवेचयिता अर्थात् पृथक् करने वाले व्यक्ति का स्थानी है।

[दिति=दो अवखण्डने, या दीङ् क्षये (कार्यजगत्), जो कार्य जगत् में लीन रहते हैं वे दिति के पुत्र दैत्य है। अदिति=न अवखण्डित या क्षीण होने वाली प्रकृति। जो कारणरूपा प्रकृति में योगाभ्यास द्वारा लीन होते

१. "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५)।

२. तथा "स ईक्षांचक्रे" (बृहदा० उप० अ० १। ब्रा० ४। ख० २।४)।

हैं, उन्हें प्रकृति कहते हैं। यथा "भव प्रत्ययो विदेह "प्रकृति"-लयानाम्" (योग १।१९)। ये कार्यजगत् विरक्त होते हैं, अतः दैत्य नहीं होते।

दिति, अदिति और वायु—परमेश्वर सम्बन्धी तत्त्व हैं, और शूर्प, शूर्पग्राही तथा अपाविनक् कृष्योदन सम्बन्धी हैं। अपाविनक्=अप+अट्+विचिर् पृथग्भावे। लङि श्नम् "ति" इत्यस्य इकार लोपे, "हल्ङ्याब्भ्यः" इति तकार लोपे, "चोः कुः" इति कुत्वम्]।

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥५॥

(अश्वाः कणाः) अश्व कण स्थानी हैं, (गावः तण्डुलाः) गौएं तण्डुल स्थानी हैं, (मशकाः तुषाः) मच्छर तुष स्थानी हैं।

[टूटे तण्डुल जो कि कणरूप होते हैं उन्हें अश्व कहा है। वायु के कारण कण ऐसे उड़ते है जंसे कि अश्व वेग से भागते हैं। अनटूटे तण्डुलों को गावः कहा है। तण्डुल सात्विक भोजन है, गौएं अर्थात् गोदुग्ध भी सात्विक है। गावः=गोदुग्ध। यथा "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ० ९।४६।४) की व्याख्या में कहा है कि "इति पयसः" (निरुक्त २।२।५)। तुष हैं व्रीहि के छिलके। तुष हाथ में चुबते हैं, मच्छर भी काटते हैं। अतः तुष मच्छर हैं। कण, तण्डुल, तुष—ये व्रीहि के अवयव हैं, अश्व, गौ, मच्छर इन का सम्बन्ध परमेश्वरोदन के साथ है। अतः इन में प्रतिरूपता है]।

कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥६॥

(कब्रु) हैं (फलीकरणाः) तण्डुल सम्बन्धी तिनके आदि के स्थानी, (अभ्रम्) मेघ है (शरः) उबलते तण्डुलों की झाग के स्थानी।

[कब्रु के स्थान में सायण ने "कभ्रु" पाठ मान कर, "कं शिर एव भ्रुवौ यस्य प्राणिजातस्य तत् कभ्रु", इस विग्रह द्वारा, आंखों के ऊपर के भौएं अर्थ किया है (Eye brows)। "कब्रू" पद का रूपान्तर "कंबर" तथा "कंबु" शब्द प्रतीत होते हैं, जिन के अर्थ हैं "Variegted color; तथा spotted (आप्टे), अर्थात् विविधरंगी, तथा बिन्दुओं वाला, धब्बों वाला पदार्थ, सम्भवतः प्रकृतिरूप पदार्थ। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० उप० ४।५) द्वारा प्रकृति-पदार्थ को विविधरंगी दर्शाया है। अवहत व्रीहि भी, समूहरूप में, विविधरंगी होते है, तण्डुल तुष, तिनके—इन का मिश्रित रूप विविधरंगी ही होता है, इसे फलीकरणावस्था कह सकते

हैं। "शरः" का अर्थ मलाई भी होता है जोकि उबलते तण्डुलों की झाग की तरह सुफैद होती है। इस सादृश्य से झाग को "शर" कहा हो। कब्रु, अभ्रु का सम्बन्ध परमेश्वरोदन के साथ है, और फलीकरणों और झाग (शर) का कृष्योदन के साथ। इस प्रकार परस्पर प्रतिरूपता है। "अदिति" भी प्रकृति है, अवखण्डन-रहित होने से, और कब्रु भी प्रकृति है विविधरंगी होने से। गुणभेद के कारण प्रकृति का वर्णन भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा हुआ है। "कब्रु" के अर्थ पर अनुसन्धान अपेक्षित है]।

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥७॥

(श्यामम्, अयः) काला लोहा, (अस्य) इस [ओदन-ब्रह्म] का, (मांसानि) कृष्योदन सम्बन्धी मांस स्थानी है, (लोहितम्) लाल लोहा अर्थात् ताम्बा, (अस्य) इस [ओदन-ब्रह्म] का (लोहितम्) साठी नामक लाल ओदन सम्बन्धी लालिमा स्थानी है।

[साठी के धान का कौन सा भाग मांसस्थानी है, और उस की प्रतिरूपता, काले-लोहे के साथ किस प्रकार सम्भव है—यह विचारणीय है। मांस शब्द, केवल प्राणिमांस के लिये ही प्रयुक्त नहीं होता। इस का प्रयोग फलों के गुच्छे आदि के लिये भी होता है। यथा "यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥ मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नावतत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥ (बृहदा० उप० ३।९।२८) में, पुरुष के सदृश, वृक्ष में भी, मांस, त्वचा, रुधिर, अस्थि आदि सत्ता प्रतिपादित की है। तथा मांसम्=The fleshy part of a frnit (आप्टे)]।

त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥८॥

(त्रपु) सीसा (भस्म) भस्मस्थानी हैं, (हरितम्) हेम अर्थात् सुवर्ण (वर्णः) पीत वर्ण स्थानी है, (पुष्करम्) कमल (अस्य) इस का (गन्धः) गन्ध स्थानी है।

[त्रपु काला सा होता है, ओदन पाकानन्तर बची भस्म भी काली सी होती है। केसर का पुट देकर ओदन का निखरा पीत वर्ण सुवर्ण के पीतवर्ण के सदृश होता है। तथा इसे इस प्रकार पकाना चाहिये कि कमल

के गन्ध के सदृश ओदन का गन्ध हो जाय। हरितम्=हेम (सायण)। हरित्=yellow (आप्टे)।

त्रपु, हरित और पुष्कर का सम्बन्ध ओदन-ब्रह्म के साथ है और वर्ण तथा गन्ध का सम्बन्ध कृष्योदन के साथ है। यह परस्पर प्रतिरूपता ओदन-ब्रह्म तथा ओदन कृषि में दर्शाई है]।

खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥९॥

(खलः) खलियान (पात्रम्) पात्र स्थानी है, (अंसौ) दो कन्धे (स्फ्यौ) शकट के प्रवृद्ध अगले भाग के दो किनारे स्थानी हैं, (अनूक्ये) कन्धों के साथ सम्बद्ध दो बाहुएं (ईषे) शकट के अगले भाग में लगे दो दण्डे स्थानी हैं।

[खलः=व्रीहि के कटे-पौधों के पीडन का स्थान। पात्रम्=शकट का वह भाग जिस में कटे-व्रीहि-पौधों को डालकर खलियान तक लाया जाता है। इसे शकट का धड़ या उपस्थ भी कह सकते हैं, उपस्थ अर्थात् जहां बैठा जाता है। जैसे कि रथोपस्थ "रथोपस्थ उपाविशत्" (गीता)। तथा उपस्थः The middle part in general (आप्टे)। स्फ्यौ=स्फायी वृद्धौ, धान्याधारस्य शकटस्यावयवौ (सायण)। अनु उच्यते समवेयते संघीयत इति अनूक्या (सायण), उच समवाये। ईषे=शकट के दो पार्श्वों से आगे बढ़े हुए दो दण्डे, जिन के मध्य में जोतने के लिए बैल खड़ा किया जाता है। "अनूक्या" के अर्थ भाष्यकारों ने अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न किये हैं। परन्तु मन्त्र ९ में अनूक्ये का अर्थ दो बाहुएं अधिक उपपन्न होता है। "स्फ्य" यद्यपि याज्ञिक उपकरण होता है जो कि खड्गाकृति का होता है, परन्तु ओदन प्रकरण में स्फ्य का याज्ञिक अर्थ उपपन्न नहीं प्रतीत होता। खल; असौ, अनूक्ये,-ये परमेश्वरीय पदार्थ हैं। स्फ्यौ, पात्रम्, ईषे,-ये मनुष्यरचित हैं। इन में भी प्रतिरूपता दर्शाई है। कन्धों से ऊर्ध्वीकृत दो बाहुएं, शकट के दो ईषारूप दण्ड हैं, और दो बाहुओं में स्थित सिर, दो ईषाओं के मध्य स्थित बैलरूप है। इस प्रकार अनूक्ये का अर्थ, ईषा के अर्थों के साथ समन्वित प्रतीत होता है।

आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥१०॥

(अन्त्राणि) शरीर की, आन्तें (जत्रवः) बैल की ग्रीवा की रस्सियों के स्थानी हैं, जिन द्वारा कि बैल को शकट के साथ जुआ के साथ जोता जाता है, (गुदाः) गुदा की नाडियां (वरत्राः) चर्म की पेटीरूप रज्जु स्थानी हैं।

[आन्तों और गुदा की नाडियों का सम्बन्ध ओदन-ब्रह्म के साथ है, ये परमेश्वर की रचनाएं हैं। और जत्रुओं तथा वरत्रा का सम्बन्ध ओदन (कृषि) के साथ है, ये मानुष रचनाएँ हैं। इन दोनों प्रकार के घटकों में प्रतिरूपता दर्शाई है]।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥११॥

(इयम्, एव, पृथिवी) यह ही पृथिवी (राध्यमानस्य, ओदनस्य) रीन्धे जाते हुए ओदन की (कुम्भी) देगचीस्थानी (भवति) होती है और (द्यौः) द्युलोक (अपिधानम्) ढकना स्थानी होता है।

[रीन्धे अर्थात् पकाए जाते हुए कृष्योदन की एक तो होती है कुम्भी अर्थात् देगची और दूसरा होता है उस पर ढकना। इसी प्रकार रीन्धे जाते हुए अर्थात् आराध्यमान ओदन ब्रह्म की कुम्भी है पृथिवी, और ढकना है द्युलोक। इन दोनों के मध्य में व्याप्त ओदन ब्रह्म पकाया जाता है, अर्थात् पृथिवी और द्युलोक की रचनाओं को दृष्टिगोचर करके, रचयिता का भान या ध्यान किया जाता है, यह है इस की आराधना। तथा पृथिवी है पार्थिव है शरीर, और द्यौः है सिर। इन दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्णा नाडी के चक्रों में ओदन ब्रह्म का परिपाक करना होता है; उस की, ध्यान द्वारा आराधना करनी होती है। मन्त्र में पृथिवी और द्यौः को, कुम्भी और ढकना स्थानी कहा है। यह परस्पर प्रतिरूपता है, सादृश्य है। पृथिवी यथा "पृथिव्याः शरीरम्" (अथर्व० ५।१०।८); तथा "पृथिवी शरीरम्" (अथर्व० ५।९।७)। द्यौः=सिर। यथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३) "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२)]।

सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥१२॥

(पर्शवः) छाती की पसलियां (सीताः) हल चलाने की रेखाओं अर्थात् हल-पद्धतियों के स्थानी हैं, (सिकताः) रेता (ऊबध्यम्) उदरस्थ अर्धपक्व अन्न, हैं। सीताः=furrows।

[खेत में हल चलाने पर जो गहरी खाईयां पड़ जाती हैं, और खाईयों के दो ओर उन्नत ढेर हो जाते हैं, वे पसलियों की आकृति के सदृश हैं। पसलियों के मध्य खाली स्थान खाइयां सी होती हैं, उन के दोनों ओर पसलियां उभरी हुई होती हैं। पर्शवः और सिकताः परमेश्वरीय रचनाएं हैं। और

सीताः तथा ऊबध्य प्राणियों की रचनाएं हैं । इन दोनों रचनाओं में प्रतिरूपता है] ।

ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥१३॥

(ऋतम्) पृथिवीस्थ जल (हस्तावनेजनम्) हाथ धोने के जल स्थानी है, (कुल्या) अल्पा सरित् अर्थात् छोटी नदियां (उपसेचनम्) खेत के सींचने की नालियों के स्थानी हैं ।

[ऋतम् उदकनाम (निघं० १।१२) अवनेजनम्=अव+विजिर शुद्धौ । हाथों को शुद्ध अर्थात् धोने का जल । व्याप्त जल और कुल्या ओदन-ब्रह्म की कृतियां हैं, हस्तावनेजन और उपसेचन मानुष कृतियां हैं । इस प्रकार परमेश्वरीय और मानुष कृतियों में प्रतिरूपता है] ।

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥१४॥

ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥१५॥

(कुम्भी) ओदन के पाक के लिए हण्डिया (ऋचा) ऋग्वेद द्वारा (अधिहिता) अग्नि पर स्थापित की है, (आर्त्विज्येन), अध्वर्यु-ऋत्विक् सम्बन्धि कर्म के प्रतिपादक यजुर्वेद द्वारा (प्रेषिता) अग्नि के प्रति प्रेषित की गई है, भेजी गई है ॥१४॥ (ब्रह्मणा) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद द्वारा (परिगृहीता) अग्नि से उतार कर ग्रहण कर ली गई है, (साम्ना) सामवेद द्वारा (पर्यूढा) अङ्गारों द्वारा परिवेष्टित की गई है ॥१५॥

[मन्त्र में ओदन-परिपाक के ४ प्रक्रमों का वर्णन हुआ है, और इन प्रक्रमों को चतुर्वेदों में प्रोक्त विधि द्वारा, या चतुर्वेदों के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण कर परिपाक करने का विधान मन्त्र १४, १५ में हुआ है । प्रत्येक शुभकर्म, मन्त्रोच्चारण पूर्वक, तथा वेदोक्त-विधि द्वारा करने की प्रेरणा, इन दो मन्त्रों द्वारा हुई है । यह वर्णन पाकशाला सम्बन्धी ओदन के सम्बन्ध में हुआ है ।

परमेश्वरोदन के सम्बन्ध में, ज्ञानाग्नि पर परमेश्वरीय भावनाओं का परिपाक करना चाहिये, और वह परिपाक वेदों के प्रतिपादन के अनुसार होना चाहिये । या चारों वेदों के विषयों अर्थात् ज्ञान, कर्म, उपासना, तथा विज्ञान पूर्वक होना चाहिये । परमेश्वरोदन के परिपक्व करने के लिए कुम्भी है शरीर, तथा शरीरगत इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा] ।

बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥१६॥

(बृहत्) बृहत् नामक सामगान है (आयवनम्) उदक में डाले गए तण्डुलों को मिश्रित करने का उपकरण (रथन्तरम्) रथन्तर नामक सामगान है (दर्विः) ओदन के उद्धरण का उपकरण ।

[परमेश्वर रूपी ओदन को बृहत् सामगान द्वारा निज जीवनीय रस-रक्त में मिश्रित कर, उपासना पूर्वक उसे अपने रस-रक्त आदि अङ्गों, तथा इन्द्रियादि में भावित कर, रथन्तर सामगानपूर्वक उपासना से उत्थान करने का आदेश मन्त्र द्वारा हुआ है] ।

ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥१७॥

(ऋतवः) ऋतुएं हैं (पक्तारः) ओदन के उपादान भूत व्रीहि को पकाने वालीं, (आर्तवा) तथा ऋतु-ऋतु में प्राप्त भिन्न-भिन्न वृक्षों के भिन्न भिन्न काष्ठ (समिन्धते) अग्नि को प्रदीप्त करते हैं ।

[परमेश्वर पक्ष में भिन्न-भिन्न ऋतु काल तथा ऋतु कालों में प्रतीयमान परमेश्वरीय भिन्न-भिन्न कृतियां परमेश्वर सम्बन्धी भावनाओं को प्रदीप्त करती हैं, और खेतों में व्रीहि को ऋतु काल पकाते हैं ।

चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३भीन्धे ॥१८॥

(पञ्चविलम्) पांच बिलों अर्थात् छिद्रों वाली (चरुम् उखम्) ओदन परिपाकार्थ कुम्भी रूपी उखा को (घर्मः) काष्ठाग्नि की गर्मी (अभीन्धे) अभितप्त करती है । तथा भूतपञ्चकरूपी पांच बिलों वाली पृथिवी को (घर्मः) सूर्य की गर्मी (अभीन्धे) अभितप्त करती है ।

[पृथिवी=कुम्भी (मन्त्र ११) । कृष्योदन के परिपाक के लिये कुम्भी अर्थात् देगची पर के ढकने में ५ छिद्र होने चाहियें, ऐसी विधि प्रतीत होती है । इस विधि द्वारा कुम्भी की भाप का नियन्त्रण होता रहता है ।]

ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥१९॥

(ओदनेन) ओदन द्वारा (यज्ञवचः) पञ्चमहायज्ञ आदि में प्रोक्त सब लोक प्राप्त हो जाते हैं ।

[ओदन-ब्रह्म जब जीवन में परिपक्व हो जाता है, और उस द्वारा आत्मिक उन्नति हो जाती है, तो मानो उसे सब लोक प्राप्त हो गए हैं। देखो अथर्व० (९।६। पर्याय ४), इस में केवल अतिथि यज्ञ द्वारा सब प्रकार के यज्ञों के फलों की प्राप्ति कही है] ।

यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥२०॥

(यस्मिन्) जिस ओदन में (समुद्रः) अन्तरिक्ष, (द्यौः) द्युलोक, (भूमिः) और भूमि (त्रयः) ये तीन लोक (अवरपरम्) अधरोत्तरभाव में, अर्थात् परस्पर नीचे-ऊपर रूप में (श्रिताः) आश्रित हैं।

[समुद्रः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३)। जलमय पार्थिव-समुद्र तो भूमि के ही अन्तर्गत है। यह ओदन स्पष्टतया परमेश्वर है जिस के आश्रय में तीन लोक आश्रित हैं। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों में ओदन द्वारा परमेश्वर का ही मुख्य वर्णन अभिप्रेत है जो कि आध्यात्मिक भोजन है, और प्रासङ्गिकतया पाकशालीय ओदन का वर्णन भी हुआ है जो कि शारीरिक भोजन है। अभिप्राय यह पाकशालीय ओदन द्वारा शारीरिक पुष्टि के साथ-साथ आध्यात्मिक ओदन द्वारा आत्मा का भी पोषण करते रहना चाहिये] ।

यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥२१॥

(यस्य उच्छिष्टे) जिस ओदन रूपी उच्छिष्ट में (षडशीतयः देवाः) ६ गुना ८०, अर्थात् ४८० देव (अकल्पन्त) समर्थ अर्थात् शक्ति सम्पन्न होते हैं।

[यस्य उच्छिष्टे=विकल्पे षष्ठी। अथर्व० ११।७ सूक्त में "उच्छिष्ट" का वर्णन हुआ है। उस में "उच्छिष्ट" का अर्थ है प्रलयावस्था में शेष रहने वाला परमेश्वर। अतः मन्त्र २१ में ओदन-ब्रह्म को ही उच्छिष्ट कहा है कृष्योदन को नहीं। षडशीतयः ६×८० देवताओं पर सम्भवतः निम्नलिखित मन्त्र कुछ प्रकाश डाल सके। यथा—

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ अथर्व०२।१२।४॥

इस मन्त्र में सामगायकों की संख्या तीन अशीतियां (३ गुणा ८०)

कही हैं। इस के द्वितीय पाद में "आदित्येभिः[1], वसुभिः, तथा अङ्गिरोभिः" इन तीन प्रकार के देवों का वर्णन हुआ है। यदि इन के साथ "तिसृभिः अशीतिभिः" का अन्वय किया जाय तो इन की समुदित संख्या भी तीन अशीतियां (३ गुना ८०) हो जाती हैं। ३ गुना ८० सामग, तथा आदित्येभि आदि तीन वर्गों में प्रत्येक वर्ग की एक-एक अशीति, इस प्रकार सामग आदि सब मिल कर "षडशीतयः[2]" संख्या उपपन्न हो सकती है] ।

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥२२॥

(त्वा) तुझ से (ओदनस्य) ओदन की (तम्) उस महिमा को (पृच्छामि) पूछता हूं: (यः) जो कि (अस्य) इस ओदन की (महान महिमा) महामहिमा है।

स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥२३॥

नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥२४॥

---

१. ये सामग और "आदित्य-वसु तथा अङ्गिरा" आधिभौतिक देव अर्थात् दिव्य जन, जब उच्छिष्ट ब्रह्म की उपासना में रत रहते हैं तो ये सामर्थ्य युक्त हो जाते हैं, शक्तियों से सम्पन्न हो जाते हैं (अकल्पन्त, मन्त्र २१)। ब्रह्म की उपासना दो प्रकार से की जा सकती है। सृष्टि की रचना को देख कर "सृष्टिकर्त्ता" आदि के रूप में, तथा प्रलयावस्था (उच्छिष्टावस्था) में सृष्टि कर्तृत्व आदि गुणों से रहित रूप में। दूसरे प्रकार की उपासना में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का ध्यान नहीं करना होता, अपि तु सविकल्पक समाधि में "केवल" ब्रह्म का ही ध्यान कर उसे साक्षात् करना होता है। यह उपासना "उच्छिष्ट ब्रह्मोपासना" है। ६×८० संख्या का अभिप्राय अनुसन्धेय है।

२. "षडशीतयः" की उपपत्ति के लिये मन्त्र का अन्वय निम्न प्रकार जानना चाहिये "अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिः, अशीतिभिस्तिसृभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः"। आदित्येभिः, वसुभिः द्वारा ४८ वर्षों और २४ वर्षों के ब्रह्मचारियों का ग्रहण है, आधिदैविक तत्त्वों का नहीं। "अङ्गिरोभिः" तथा "सामगेभिः" के साहचर्य से भी आदित्य और वसु आधिभौतिक ही प्रतीत होते हैं। जड़ आदित्य और वसु सामगान नहीं कर सकते। गौण अर्थ में सामगान की कल्पना व्यर्थ है।

(यः) जो (ओदनस्य) ओदन की (महिमानम्) महिमा को (विद्यात्) जान ले ॥२३॥

(सः) वह (अल्पः इति न ब्रूयात्) न कहे कि यह अल्प है, (न अनुपसेचनः इति) न कहे कि यह उपसेचन से रहित है, (न इदम् च, किं च इति) न कहे कि यह ही, न कहे कि क्या और नहीं ॥२४॥

[मन्त्र १९-२१ से ज्ञात हुआ कि इस ओदन प्रकरण में ओदन से मुख्य अभिप्रेत है परमेश्वर। जो परमेश्वर की महिमा को जानता है कि वह सर्वव्यापक तथा सर्वाधार (मन्त्र २०) है, उस के सम्बन्ध में उपदेष्टा जितना उपदेश दे उस के बारे में श्रोता यह न कहे कि यह उपदेश अल्प है, और दीजिये, न कहे कि ओदन का स्वरूप केवल इतना ही है? न कहे कि कुछ और ओदन के स्वरूप पर प्रकाश डालिये। उपसेचन=यजुर्वेद ३१।९ **"तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः"** में "प्रौक्षन्" शब्द द्वारा यज्ञ-पुरुष परमात्मा के सेचन का वर्णन हुआ है (प्रौक्षन्=प्र+उक्ष् सेचने), अर्थात् भक्तिरस द्वारा परमात्मा के सेचन का वर्णन हुआ है। श्रोता उपदेश से चाहता है कि इस "उपसेचन" की विधि का भी उपदेश दिया जाय। परन्तु श्रोता को ऐसी मांग न करनी चाहिये। अध्यात्मविद्या में प्रथम, उपदेश का श्रवणमात्र ही होता है, इस से अधिक का नहीं। अधिक उपदेश के लिये उपदेष्टा जब श्रोता को अधिकारी जान लेगा तो वह निज कृपा से स्वयमेव और उपदेश कर देगा। यह अध्यात्म विद्या की पद्धति है। इस सम्बन्ध में अगला मन्त्र २५ है। यथा—

यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥२५॥

(दाता) दाता (यावत्) जितना (अभिमनस्येत) देने का मन करे, (तत् न अति वदेत्) उस से अधिक के लिये न कहे।

[मन्त्र २४, २५ में खाद्य ओदन के सम्बन्ध में यह भी उपदेश दिया है कि दाता जितना देना चाहे उस से अधिक न मांगे। यदि ओदन, विना दाल-सब्जी के, दाता ने दिये हैं, तो उस से इन उपसेचनों की मांग न करे। यह उपदेश धनादि के दान के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये]।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति ॥२६॥

(ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ब्रह्म का प्रवचन करने वाले कहते अर्थात्

पूछते हैं कि (पराञ्चम्, ओदनम्) पराक्-ओदन का (प्राशीः) तू ने प्राशन किया है, या (प्रत्यञ्चम् इति) प्रत्यक्-ओदन का?

[पराक् और प्रत्यक्—ये दो स्वरूप ब्रह्म के हैं। वेदों में ब्रह्माण्ड को परमेश्वर के शरीररूप में वर्णित किया है, और ब्रह्माण्ड के अवयवों को परमेश्वर के शरीरावयव या अङ्गरूप में। परन्तु ब्रह्माण्ड और तदवयव ब्रह्म के कर्मफल भोग निमित्तक नहीं। अपितु यह दर्शाने के लिये हैं कि जैसे अस्मदादि शरीर और शरीरावयव जीवात्मा के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा प्रेरित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक अवयव, ब्रह्म के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा प्रेरित हो रहे हैं, जगत् निरात्मक नहीं है। पराञ्च् अर्थात् पराक्-ब्रह्म है प्राकृतिक जगत्, और प्रत्यञ्च् अर्थात् प्रत्यक्-ब्रह्म है ब्रह्म का निज आत्मिक स्वरूप, सत्, चित्, आनन्द स्वरूप। इस भावना को उपनिषद् में **"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे"** (बृहदा० उप० प्र० २ खण्ड ३) द्वारा प्रकट किया है।

प्रश्न द्वारा यह पूछा है कि क्या तू प्राकृतिक जगत् का ही केवल भोग करता है, या केवल चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में ही लीन रहता है।

त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥२७॥

(त्वम्) तूने (ओदनम् प्राशीः) ओदन का प्राशन किया है, या (त्वाम्) तेरा (ओदनः इति) ओदन ने प्राशन किया है।

[जगत् का भोग करने वाला जगत् का भोग नहीं करता, अपितु जगत् ही उस भोक्ता का भोग कर रहा होता है। **"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः"**—की उक्ति का समर्थन मन्त्र २७ द्वारा हुआ है]।

पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥२८॥

(पराञ्चम्[1], च, एनम्) इस पराक्-ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (त्वा प्राणाः हास्यन्ति) तुझे प्राण छोड़ जायेंगे (इति, एनम्, आह) इस प्रकार इस जगद् भोक्ता को कहे।

१. "पराञ्चम् और प्रत्यञ्चम्" शब्दों के अर्थों पर औपनिषद श्लोक अधिक प्रकाश डालता है यथा "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठ० २।४।१)। मन्त्र २८, २९ में पठित पराञ्चम् और प्रत्यञ्चम् और श्लोक पठित पराञ्चि खानि, पराङ् पश्यति; तथा प्रत्यगात्मानम्, शब्दों में परस्पर साम्य देखना चाहिये।

[मन्त्र में प्राणशक्ति के ह्रास का वर्णन हुआ है । भोग प्रधान जीवन में जीवनीय शक्ति का ह्रास होता ही है। जीवनीयशक्ति है, प्राण। **"भोगे रोगभयम्"**, भोगों द्वारा रोगों का भय होता है, और रोगों के कारण प्राणशक्ति कम होती जाती है । इसलिये मन्त्र में अधिक भोग से विरत रहने का निर्देश किया है] ।

प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥२९॥

(प्रत्यञ्चम्, च, एनम्) यदि इस प्रत्यक्-ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (अपानाः, त्वा, हास्यन्ति) अपान तुझे छोड़ जायेंगे, (इति, एनम्, आह) इस प्रकार इस आध्यात्मिक-भोक्ता को कहे ।

[प्रत्यञ्च=प्रत्यक्-ओदन, परमेश्वर रूपी ओदन, जोकि आध्यात्मिक जीवन के लिये ओदन रूप है । कहा भी है **"अहमन्नम्, अहमन्नादः"**। परमेश्वर सम्बन्धी कथन है, परमेश्वर कहता है कि "मैं अन्न हूं" और "अन्नाद भी हूं" । आध्यात्मिक जीवन के लिये परमेश्वर अन्न [ओदन] है, और भोगियों तथा प्रलयकाल में सृष्टि के लिये वह अन्नाद है। यथा **"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः"** ॥ इस उद्धरण में ब्रह्म और क्षत्र को परमेश्वर का ओदन तथा मृत्यु को उपसेचन अर्थात् ओदन का व्यञ्जन कहा है । अतः परमेश्वर अन्नाद भी है । परमेश्वर के भजन और उपासना में अधिक लीन रहने, और खान-पान तथा शारीरिक स्वास्थ्य से लापरवाह हो जाने पर अपान वायु विकृत हो जाती है, अपान वायु का यथोचितरूप में अपसरण नहीं होता । यह अपान का त्यागा जाना है ।

नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥३०॥

(न एव) न ही (अहम्) मैंने (ओदनम्) ओदन का प्राशन किया, (न) और न (माम्) मेरा (ओदनः) ओदन ने प्राशन किया ।

[मन्त्र २६ में "ब्रह्मवादिनः पद" द्वारा प्रश्न किये गये हैं, सामान्य व्यक्तियों द्वारा नहीं । इसलिये प्रश्नों में आध्यात्मिकता की भावना प्रतीत होती है । इन प्रश्नों के उत्तर भी आध्यात्मिक भावनाओं का पुट लिये हुए हैं । उत्तरदाता अपने स्वरूप को अनध्यात्म और अध्यात्म,—दोनों रूपों में देखता है । अनध्यात्म रूप है शरीर, और अध्यात्म रूप है जीवात्मा

का आत्मरूप । उत्तरदाता का अभिप्राय है कि "मैं आत्मा" ने प्राकृतिक ओदन का प्राशन नहीं किया, न प्राकृतिक-ओदन ने मेरे स्वरूप का प्राशन किया है। तो किस ने किस का प्राशन किया, इसका उत्तर ३१ में है] । यथा:—

ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥३१॥

(ओदनः एव) ओदन ने ही (ओदनम्) ओदन का (प्राशीत्) प्राशन किया है ।

[प्राशीत्=प्र+अश (भोजने)+लुङ् । अभिप्राय यह है कि शरीर ओदन है, क्योंकि यह ओदन का ही विकृतरूप है । यथा **"अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः"** (तैत्तिरीयोपनिषद्) । ओदन है अन्न, अन्न से उत्पन्न होता है रेतस् [वीर्य], रेतस् से उत्पन्न होता है पुरुष [शरीर], इसलिये पुरुष [शरीर] अन्नरसमय है । इस अन्न या ओदन रूपी शरीर ने [निज आवश्यकतानुसार, न कि भोग भावना से] ओदन अर्थात् प्राकृतिक-ओदन का प्राशन किया है। इसलिये ओदन ने ही ओदन का प्राशन किया है: अतः इस प्राशन में कोई दोष नहीं । और आत्म-स्वरूप मैं ने तो आध्यात्मिक "ब्रह्मौदन" का ही प्राशन किया है; "ब्रह्मौदनः" (अथर्व० ११।१।२०) । यथा **"ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः"** (अथर्व० ४।३५।७); प्राकृतिक ओदन का नहीं] ।

—:०:—

पर्याय (२)

विषय प्रवेश

(१) पर्याय २ में २८ मन्त्र हैं । ओदन-ब्रह्म और कृष्योदन का संमिश्रित वर्णन हुआ है । मन्त्र ३२ से ३५ तक में, तथा ४९ वें मन्त्र में मुख्यरूप से ओदन ब्रह्म का तथा शेष मन्त्रों में मुख्यरूप से कृष्योदन का वर्णन है ।

(२) कृष्योदन का प्राशन किस विधि से करना चाहिये, और इस विधि की उपेक्षा कर अन्य विधि से कृष्योदन के प्राशन के दुष्परिणाम क्या-

क्या भोगने होते हैं—इन का वर्णन विस्तार पूर्वक हुआ है। इस के प्रदर्शन के लिये निम्नाङ्कित चार्ट है। यथा—

(क) बृहस्पतिना	शीर्ष्णा,	[अन्येन शीर्ष्णा ज्येष्ठतः प्रजा मरिष्यति]	मन्त्र ३२
(ख) द्यावापृथिवीभ्याम्	श्रोत्राभ्याम्,	[अन्याभ्यां श्रोत्राभ्याम् बधिरो भविष्यसि]	मन्त्र ३३
(ग) सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्	अक्षीभ्याम्,	[अन्याभ्याम् अक्षीभ्याम् अन्धो भविष्यति]	मन्त्र ३४
(घ) ब्रह्मणा	मुखेन,	[अन्येन मुखेन मुखतः प्रजा मरिष्यति]	मन्त्र ३५
(ङ) अग्नेः	जिह्वया,	[अन्यया जिह्वया जिह्वा मरिष्यति]	मन्त्र ३६
(च) ऋतुभिः	दन्तैः,	[अन्यैः दन्तैः दन्ताः शत्स्यन्ति]	मन्त्र ३७
(छ) सप्तर्षिभिः	प्राणापानैः,	[अन्यैः प्राणापानैः प्राणापानाः हास्यन्ति]	मन्त्र ३८
(ज) अन्तरिक्षेण	व्यचसा,	[अन्येन व्यचसा राजयक्ष्मः हनिष्यति]	मन्त्र ३९
(झ) दिवा	पृष्ठेन,	[अन्येन पृष्ठेन विद्युत् हनिष्यति]	मन्त्र ४०
(ञ) पृथिव्या	उरसा,	[अन्येन उरसा कृष्या न रात्स्यसि]	मन्त्र ४१
(ट) सत्येन	उदरेण,	[अन्येन उदरेण उदरदारः हनिष्यति]	मन्त्र ४२
(ठ) समुद्रेण	वस्तिना,	[अन्येन वस्तिना अप्सु मरिष्यसि]	मन्त्र ४३
(ड) मित्रावरुणयोः	ऊरुभ्याम्	[अन्याभ्याम् ऊरुभ्याम् ऊरू मरिष्यतः]	मन्त्र ४४
(ढ) त्वष्टुः	अष्ठीवदन्याम्,	[अन्याभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् स्रामः भविष्यसि]	मन्त्र ४५
(ण) अश्विनोः	पादाभ्याम्,	[अन्याभ्याम् पादाभ्याम् बहुचारी भविष्यसि]	मन्त्र ४६
(त) सवितुः	प्रपदाभ्याम्,	[अन्याभ्याम्, प्रपदाभ्याम् सर्पः हनिष्यति]	मन्त्र ४७
(थ) ऋतस्य	हस्ताभ्याम्,	[अन्याभ्याम्, हस्ताभ्याम् ब्राह्मणम् हनिष्यसि]	मन्त्र ४८
(द) सत्ये	प्रतिष्ठया,	[अन्यया प्रतिष्ठया अप्रतिष्ठानोऽनायतनः मरिष्यसि]	मन्त्र ४९

उक्त चार्ट में ३ स्तम्भ हैं (१) बृहस्पतिना स्तम्भ; (२) शीर्ष्णा स्तम्भ; (३) कोष्ठक स्तम्भ। मन्त्रों में यह दर्शाया है कि ओदन का प्राशनकर्त्ता यदि ओदन को स्तम्भ (२) के अवयवों द्वारा प्राशन करेगा तो उसे कोष्ठक गत रोग हो जायेंगे। अतः उसे स्तम्भ (१) के दैवी तत्त्वों की दृष्टि से ओदन प्राशन करना चाहिये तो वह कोष्ठकगत दुष्परिणामों से बच सकेगा। अभिप्राय यह कि प्राशनकर्त्ता निज देहावयवों को दैवी रूप देकर ओदन प्राशन करेगा तो ओदन प्राशन उस के लिये सुफल होगा, अर्थात् वह लोभ-लालच में न आकर, यदि सात्विक ओदन का प्राशन मित तथा पथ्याहार की दृष्टि से करेगा तो वह ब्रह्मौदन के प्राशन का भी अधिकारी बन जाता है, सत्य ब्रह्म में उस की स्थिति हो जाती है (मन्त्र ४९)। मन्त्रों के अभिप्राय अस्पष्ट हैं।

—:०:—

३२-४९ मन्त्रोक्त देवताः। प्रथम चरण ३२, ३८, ४१, द्वि० च० ३२, ४९ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि० च० ३२, ३५, ४२; तृ० च० ३२, ४९; पं० च० ३३, ३४, ४४-४८ एकपदा आसुरी गायत्री; च० च० ३२, ४२, ४३, ४७ दैवी जगती; द्वि० च० ३८, ४४, ४६, पं० च० ३२, ३५-४३, ४९ एकपदासुर्यनुष्टुप्; ष० च० ३२ साम्न्यनुष्टुप्; प्र० च० ३२-४९ आर्च्यनुष्टुप्; प्र० च० ३७ साम्नी पंक्ति; द्वि० च० ३२, ३६, ४०, ४७, ४८ आसुरी जगती; द्वि० च० ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ आसुरी पंक्ति; च० च० ३४ आसुरी त्रिष्टुप्; च० च० ३५, ४६, ४८ याजुषी गायत्री; च० च० ३६, ३७, ४० दैवी पंक्ति; च० च० ३८, ३९ प्राजापत्या गायत्री; द्वि० च० ३९ आसुर्युष्णिक्; च० च० ४२, ४५, ४९ दैवी त्रिष्टुप्; द्वि० च० ४९ एकपदा भुरिक् साम्नी बृहती।

३२-४९ मन्त्रों को अनुक्रमणी में "दण्डक" कहा है।

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३२॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन शीर्ष्णा) जिस सिर से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है (ततः) उस से (च) यदि (अन्येन शीर्ष्णा) भिन्न सिर से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (ते प्रजा) तेरी प्रजा (ज्येष्ठतः) ज्येष्ठ अंग से प्रारम्भ कर के (मरिष्यति) मर जायेगी (इति) यह (एनम्) इस प्राशन करने वाले को कहे। (तम्) उस ओदन को (वै) निश्चय से, (न अर्वाञ्चम्[1]) न इधर गति करते हुए को, (न पराञ्चम्[1]) न दूर के लोकों में गति करते हुए को, (न प्रत्यञ्चम्[1]) न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए को (अहम्) मैं ने प्राशित किया है। (बृहस्पतिना शीर्ष्णा) बृहस्पति रूप सिर से मैं ने उस ओदन का प्राशन किया है। (तेन) उस सिर से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैं ने प्राशन किया है, (तेन) उस सिर द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने प्राप्त किया है। (एषः) यह ओदन (वै) निश्चय से (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है, (सर्वपरुः) सब सन्धियों से युक्त है, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर अर्थात् स्वरूप वाला है। (एषः) यह प्राशन कर्त्ता भी (सर्वाङ्गः, सर्वपरुः, सर्वतनूः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण, सब सन्धियों से युक्त, सम्पूर्ण शरीर वाला (सं भवति) हो जाता (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार (वेद) ओदन के प्राशन के तत्त्व को (वेद) जानता है।

[पूर्वे ऋषयः=पुर्व पूरणे, सद्गुणों से सम्पूर्ण। प्रजा ज्येष्ठतः= ब्रह्मौदन का प्राशन यदि बृहस्पतिरूप सिर द्वारा नहीं किया तो प्राशन कर्त्ता को अभिज्ञ व्यक्ति कहा है कि तेरी प्रजा जो कि तेरे शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव और अङ्ग हैं,उन में से ज्येष्ठ-अङ्ग जोकि "सिर" है, वहां से प्रारम्भ कर, अवयव और अङ्ग-प्रत्यङ्गरूपी तेरी प्रजा सदा पुनर्जन्मों द्वारा मृत्यु का ग्रास बनी रहेगी। शरीर है जीवात्मा की पुरी और इस पुरी में रहने वाले अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा अन्य शक्तियां जीवात्मा की प्रजाएं हैं। सिर के विकृत

१. कृष्योदन पक्ष में, भोजन के नियत काल से अर्वाक्-काल में [अर्वाञ्चम्] तथा पराक्-काल में (पराञ्चम्) और क्षुधा के अभाव में प्रतिकूलरूप हुए (प्रत्यञ्चम्) ओदन के प्राशन का निषेध किया है। इस प्राशन को विचार पूर्वक करना चाहिये (शीर्ष्णा)। साथ ही मन्त्र में यह भी कहा है कि [कृष्योदन के सात्विक, नीरोग और रोगनाशक होने से, भोजन की दृष्टि से] कृष्योदन सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है। कृष्योदन के सम्बन्ध में यही भावना अगले मन्त्रों में भी जाननी चाहिये। देखो मन्त्र ३५ की व्याख्या।

हो जाने पर सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग आदि विकृत हो कर विनाशोन्मुख हो जाते हैं। इस से विधि पूर्वक ब्रह्मौदन के आध्यात्मिक प्राशन के लिये प्राशनकर्त्ता को प्रेरित किया गया है। इसलिये ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया है कि ब्रह्म न केवल इधर अर्थात् पृथिवी पर सक्रिय हो रहा है, न केवल दूर के लोकों में ही सक्रिय हो रहा है, अपितु वह सर्वव्यापक हो कर सक्रिय हो रहा है। यथा "तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" (यजु० ४०।५)। प्राशनकर्त्ता यह कहता है कि मैंने प्रत्यङ् भाव अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए ब्रह्मौदन का प्राशन नहीं किया, अपितु उसे सर्वानुग्रहकारीरूप में जान कर उसका मैंने प्राशन किया है।

बृहस्पतिना शीर्ष्णा=बृहस्पति और ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध है। (अथर्व० १५।१०।४,५) के अनुसार बृहस्पति में ब्रह्म का प्रवेश कहा है। प्राशनकर्त्ता कहता है कि मैंने सिर को बृहस्पति जान कर ब्रह्मौदन का प्राशन किया है, अर्थात् मेरा सिर सामान्य सिर नहीं, अपितु यह बृहस्पतिरूप है, जिस में कि ब्रह्म प्रविष्ट है। इसी प्रविष्ट ब्रह्म का प्राशन मैंने सिर द्वारा किया है। सिर में आज्ञाचक्र तथा सहस्रारचक्र हैं। इन चक्रों में परमेश्वर अर्थात् ब्रह्मौदन का प्राशन योगिजन करते हैं। यदि सिर द्वारा ब्रह्मौदन का प्राशन अर्थात् साक्षात् कर, सिर में ब्रह्मप्रधान विचार और संकल्प स्थित हो जाये, तो समग्र शरीर और शरीरावयव ब्राह्मी शक्ति से आप्लुत हो जायें और खाना-पीना आदि सब व्यवहार ब्राह्म शक्ति से आविष्ट हो जायें।

ब्रह्मौदन को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण कहा है, इस का प्राशनकर्त्ता भी सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो जाता है। यह फल निर्देश किया है। अथर्व० ११।३।१ में "शिरः" से अभिप्राय कृष्योदन के प्राशिता का है। क्यों कि वहां ओदन-ब्रह्म और कृष्योदन में प्रतिरूपता दर्शाई है।

जीवन में दो प्रकार के ओदनों की आवश्यकता है। एक की तो शारीरिक जीवन के लिये आवश्यकता है, और दूसरे की आत्मिक जीवन के लिये। प्राकृतिक-ओदन शरीरोपयोगी है, और ब्रह्मौदन आत्मोपयोगी है। इसलिये इस ओदन-सूक्त में द्विविध ओदन का संमिश्रित वर्णन किया गया है। सात्विक और ब्रह्मप्रधान जीवन के लिये उभयविध ओदन का

सेवन प्रतिदिन आवश्यक है। जीवन भी तो प्रकृति और जीवात्मा का संमिश्रित रूप है]।

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३३॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, श्रोत्राभ्याम्) जिन श्रोत्रों द्वारा (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (च) यदि (अन्याभ्याम्) अन्य अर्थात् भिन्न प्रकार के श्रोत्रों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (बधिरो भविष्यति) तू बहरा हो जायेगा (इति) यह (एनम्) इस श्रोता को (आह) ज्ञानी कहे। (तम्) उस ओदन को (वै) निश्चय से (न अर्वाञ्चम्) न इधर गति करते हुए को, (न पराञ्चम्) न दूर के लोकों में गति करते हुए को, (न प्रत्यञ्चम्) न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूलभाव में रहते हुए को (अहम्) मैंने प्राशित किया है, अपितु (ताभ्याम् द्यावापृथिवीभ्याम् श्रोत्राभ्याम्) उन द्युलोक तथा पृथिवीरूपी श्रोत्रों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन द्वारा (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैंने प्राप्त किया है। (वै) निश्चय से (एषः ओदनः) यह ओदन ब्रह्मौदन (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त है, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला है। (यः) जो श्रोता (एवम्) इस प्रकार से (वेद) ब्रह्मौदन को जानता है, वह भी (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला (सं भवति) हो जाता है।

[मन्त्र का अभिप्रायः मन्त्र ३२ के सदृश है। मन्त्र ३३ में श्रोत्रों द्वारा ब्रह्मौदन के प्राशन का वर्णन है। श्रोत्रों द्वारा प्राकृतिक-ओदन का प्राशन असम्भव है, प्राकृतिक-ओदन का प्राशन मुख द्वारा होता है। ब्रह्मौदन का प्राशन श्रोत्रों द्वारा होना है। श्रोत्रों द्वारा ब्रह्म के गुणों के श्रवण से ब्रह्मौदन का प्राशन करना है। इस के लिये श्रोत्रों को द्युलोक और पृथिवी का रूप देना होगा। द्युलोक और पृथिवी के भीतर नाना-

विध ध्वनियां, शब्द और शोर हो रहे हैं, परन्तु ये दोनों इन से प्रभावित न होते हुए, निर्विकार रूप में वर्तमान रहते हैं। इसी प्रकार निज श्रोत्रों को सांसारिक ध्वनियों तथा शब्दों से निर्विकार रूप कर, ब्राह्मी श्रुतियों के श्रवण के उन्मुख करना होगा। बधिरो भविष्यसि=यदि तूने द्यावापृथिवी रूप निर्विकार श्रोत्रों द्वारा ब्राह्मी श्रुतियों का श्रवण न किया तो समझना कि श्रोत्रों के होते हुए भी तू आध्यात्मिक श्रोत्रों की दृष्टि से बधिर है, बहरा है, और ऐसा ही रहेगा। जैसे कि वेदवाणी के सम्बन्ध में कहा है कि "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्" (ऋ० १०।७१।४)]।

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अन्धो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३४॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम् अक्षीभ्याम्) जिन आंखों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च) यदि (अन्याभ्याम्) भिन्न प्रकार की (अक्षीभ्याम्) आंखों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (अन्धः भविष्यसि) तू अन्धा हो जायेगा, (इति) यह (एनम्) इसे (आह) ज्ञानी कहे। (तम्) उस ओदन को (वै) निश्चय से, (न अर्वाञ्चम्) न इधर गति करते हुए को, (न पराञ्चम्) न दूर के लोकों में गति करते हुए को, (न प्रत्यञ्चम्) न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए को (अहम्) मैंने (प्राशिषम्) प्राशित किया है, अपितु (ताभ्याम्) उन (सूर्या-चन्द्रमसाभ्याम्, अक्षीभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमारूपी आंखों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन आंखों द्वारा (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैंने प्राप्त किया है। (एषः ओदनः) यह ओदन अर्थात् ब्रह्मौदन (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त है, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला है। (यः) जो द्रष्टा (एवम्) इस प्रकार से (वेद) ब्रह्मौदन को जानता है वह भी (सर्वाङ्गः) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण, (सर्वपरुः) सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त, (सर्वतनूः) सम्पूर्ण शरीर वाला (सं भवति) हो जाता है।

[मन्त्र का भाव, पूर्व के ३२ और ३३ मन्त्रों के सदृश है। इस मन्त्र में आंखों द्वारा ओदन के प्राशन का वर्णन है। प्राकृतिक-ओदन का प्राशन मुख द्वारा होता है, आंखों द्वारा नहीं, और ये आंखें हैं सूर्य और चन्द्रमारूप। सूर्य और चन्द्ररूपी आंखें सब को समरूप से देखती हैं। इसी भाव को गीता में (१२।१९) कहा है "समः शत्रौ च मित्रे च"। तथा "समः सर्वेषु भूतेषु" (गीता १८।५४)। तथा "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" (यजु० ३६।१८)। प्राशन कर्त्ता कहता है कि मैंने अपनी आंखों को, सूर्य और चन्द्रमा के समान, समदृष्टिरूप में ढाल कर ब्रह्मौदन का प्राशन किया है, क्योंकि पक्षपात दृष्टि के रहते ब्रह्मौदन का प्राशन अर्थात् साक्षात्कार या दर्शन हो नहीं सकता। अन्धो भविष्यसि=अन्धापन शारीरिक दृष्टि से नहीं, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से अभिप्रेत है। परमेश्वर का दर्शन न होना, आध्यात्मिक अन्धापन है]।

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। ब्रह्मणा मुखेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३५॥

(पूर्वे ऋषयः)पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने(येन मुखेन) जिस मुख से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (च=चेत्) यदि (अन्येन) भिन्न प्रकार के (मुखेन) मुख से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तू प्राशन करता है, तो (मुखतः[1]) मुख से प्रारम्भ कर के (ते प्रजा) तेरा प्रत्येक उत्पन्न हुआ अङ्ग-प्रत्यङ्ग (मरिष्यति) प्राण हीन हो जायेगा। (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तम्) उस को (न अर्वाञ्चम्) न कुत्सित[2] हो कर याचित किये, (न पराञ्चम्) न दूसरे के लिये याचित किये, (न प्रत्यञ्चम्) न प्रतिकूल

१. मन्त्र ३२ में "ज्येष्ठतः" और मन्त्र ३५ में "मुखतः"। इन भिन्न पदों द्वारा दो स्थानों में प्राप्यों में भेद दर्शाया है।

२. अर्वः=कुत्सितः (उणा: ५।५४)। अथवा अर्वाञ्चम्=अवर+अञ्चम्। नीचा होकर याचित।

व्यक्ति से याचित किये ओदन को, (वै) निश्चय से, (अहम्) मैंने (प्राशिषम्) प्राशित किया है। (तेन ब्रह्मणा मुखेन) उस ब्रह्मरूपी मुख से (एनम्) इस ओदन को (प्राशिषम्) मैंने प्राशित किया है, (तेन) उस ब्रह्मरूपी मुख से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्[1]) मैंने उदरादि अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः) यह ओदन [पुष्टि के लिये] सर्वथा सम्पूर्ण है। (यः एवम् वेद) जो प्राशनकर्त्ता इस प्रकार ओदन को जानता है वह (सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति) सर्वाङ्ग सम्पुष्ट हो जाता है।

[मन्त्र ३५ से मुख्यरूप में प्राकृतिक-ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है, ब्रह्मौदन का नहीं। प्राशनकर्त्ता ब्रह्मरूपीमुख द्वारा प्राकृतिक-ओदन का प्राशन करता है। ब्रह्म अन्नाद है, जगत् रूपी अन्न का वह भक्षण करता है, नियम से बद्ध हो कर भक्षण करता है, स्वाद, लोभ और लालच से नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति को ओदन का प्राशन करना चाहिये, स्वाद, लोभ और लालच से नहीं, और नियत समय में प्राशन करना चाहिये। यतः ३५ वें मन्त्र से प्राकृतिक-ओदन का वर्णन हुआ है, अतः तदनुसार "अर्वाञ्चम्, पराञ्चम् और प्रत्यञ्चम्", के अर्थ भी तदनुरूप ही किये गए हैं। अर्वाञ्चम्=अर्वः[2] (कुत्सित हो कर, दाता द्वारा अपमान्ति हो कर)+अञ्चम् (याचितः "अचि" याचने, भ्वादि)। पराञ्चम्=पर (दूसरे व्यक्ति के लिये)+अञ्चम् (याचित)। प्रत्यञ्चम्=प्रति (प्रतिकूल व्यक्ति से)+अञ्चम् (याचित)। अभिप्राय यह है कि अपने आप को हीनावस्था में दर्शा कर मांगे ओदन को, दूसरे के निमित्त मांगे ओदन को, प्रतिकूल अर्थात् जो विरोधी व्यक्ति है उस से मांगे ओदन को प्राशन कर्त्ता प्राशित न करे, अपितु उदारता पूर्वक धर्म भावना से दिये गये, या स्वोपार्जित ओदन का प्राशन ही सर्वश्रेष्ठ प्राशन है। तथा यह भी जानना चाहिये कि ओदन का प्राशन सात्विक प्राशन है। आध्यात्मिक व्यक्ति को इस सात्विक-ओदन का सेवन करना चाहिये, और इसे सर्वाङ्ग सम्पूर्ण भोजन जानना चाहिये। यह भोजन प्राणापान को व्यवस्थित करता है "**प्राणापानौ व्रीहियवौ**" (अथर्व० ११।४।१३)। तथा "**शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदो मधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः**" (अथर्व० ८।२।१८), अर्थात् व्रीहि और यव कल्याणकारी, अबलास अर्थात् बलक्षय को दूर करते, खाने में मधुर,

१. गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् (सायण)।

२. देखो पृष्ठ ८४ की टिप्पणी २।

यक्ष्म-विनाशक तथा अंहम् की प्रवृत्ति के विरोधी हैं। "व्रीहिर्यवश्च भेषजौ" (अथर्व० ८।७।२०), अर्थात् व्रीहि और यव भेषज हैं। "व्रीहिमत्तं यवमत्त-मथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ......" (अथर्व० ६।१४०।२), अर्थात व्रीहि और यव का भोजन दान्तों के लिये हितकर है]।

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अग्नेर्जिह्वया। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३६॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यया जिह्वया) जिस जिह्वा से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (च=चेत्) यदि (अन्यया जिह्वया) भिन्न प्रकार की जिह्वा से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (ते जिह्वा) तेरी जिह्वा (मरिष्यति) प्राणविहीन हो जायेगी, विकृत हो जायेगी, (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तया अग्नेः जिह्वया) उस अग्नि की जिह्वा से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तया) उस जिह्वा से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि में पहुंचाया है। (स वा ओदनः...वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[ओदन का प्राशन करने वाला कहता है कि मैंने निज जिह्वा द्वारा ओदन का प्राशन नहीं किया अपितु अग्नि[1] की जिह्वा से ओदन का प्राशन किया है। मनुषी-जिह्वा तो चटपटी, राजसिक, तामसिक, तथा अवैध मांस आदि का भी प्राशन चाहती है, परन्तु अग्निदेव की जिह्वा तो सात्त्विक प्राशन करती है। इस लिये सात्त्विक अन्न के प्राशन से मेरी जिह्वा प्राण-वती हैं, अविकृत रूपा है। अग्निदेव के प्रति मांसाहुति वेदविरुद्ध है]।

---

१. तथा अग्निहोत्र पूर्वक ओदन का प्राशन मैंने किया है या यज्ञशिष्टान्न का मैंने प्राशन किया है। यथा "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः" (गीता)।

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। दन्तास्ते शत्स्यन्ती-त्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। ऋतुभिर्दन्तैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३७॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यैः दन्तैः) जिन दान्तों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उन से (च=चेत्) यदि (अन्यैः दन्तैः) भिन्न प्रकार के दान्तों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (ते दन्ताः) तेरे दान्त (शत्स्यन्ति) विशीर्ण हो जायेंगे, टूट जायेंगे, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तैः ऋतुभिः दन्तैः) उन ऋतुरूप दान्तों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तैः) उन दान्तों से (एनम्) इस ओदन का (अजीगमम्) मैंने उदरादि में पहुंचाया है। (स वा ओदनः...वेद) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र ३५।

[ऋतु-ऋतु के अनुसार व्यञ्जनों में यथोचित परिवर्तन के साथ, तथा ऋतु-ऋतु के अनुसार ओदन के परिपाकों को तय्यार कर, ओदन के प्राशन से दान्त विशीर्ण नहीं होते, ऐसा अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है। मन्त्र में ऋतुचर्या का विचार दिया है]।

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सप्तऋषिभिः प्राणापानैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३८॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यैः) जिन (प्राणापानैः) प्राणों और अपानों से (एतम्) इस ओदन को (प्राश्नन्) खाया है, (ततः) उस से (च=चेत्) यदि (अन्यैः) भिन्न प्रकार के (प्राणापानैः) प्राणों और अपानों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (प्राणापानाः) प्राण और अपान (त्वा) तुझे

(हास्यन्ति) त्याग जायेंगे, (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तैः सप्तऋषिभिः प्राणापानैः) उन सप्तर्षिरूप प्राणों और अपानों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तैः) उनसे (एनम्) इन ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा ओदन···वेद) पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[सप्तर्षि दो प्रकार के है (१) द्युलोकस्थ, (२) शरीरस्थ। मन्त्र में शरीरस्थ सप्तर्षियों का कथन किया है। यथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५), अर्थात् सात ऋषि शरीर में प्रतिष्ठित हैं। यथा "अत्रासत ऋषयः सप्त साकम्" (अथर्व० १०।८।९), अर्थात् इस मस्तिष्क में सात ऋषि साथ-साथ उपविष्ट हैं। इस पर निरुक्त में कहा है कि "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी, आत्मनि" (१२।४।३७), अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, १ विद्या अर्थात् बुद्धि। ये सात ऋषि प्राण और अपान हैं। इन्द्रियों द्वारा परीक्षा कर, मन द्वारा विचार कर, बुद्धिपूर्वक ओदन के प्राशन से शरीरस्थ प्राण और अपान स्वस्थ बने रहते हैं, अन्यथा प्रकार से ओदन के सेवन से प्राण और अपान शरीर को त्याग जाते हैं, अर्थात मृत्यु हो जाती है]।

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अन्तरिक्षेण व्यचसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥३९॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन व्यचसा) जिस विस्तार द्वारा (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (च=चेत्) यदि (अन्येन) अन्य प्रकार के (व्यचसा) विस्तार द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तू ने प्राशन किया है, तो (राजयक्ष्मः) यक्ष्मों का राजा तपेदिक [T. B; थाइसिस] (त्वा हनिष्यति) तेरी हत्या करेगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन अन्तरिक्षेण व्यचसा) उस अन्तरिक्षरूपी विस्तार द्वारा (एनम्)

इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा ओदन···वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[अन्तरिक्षेण व्यचसा=अन्तरिक्ष में वायु और मेघ होते हैं। इस दृष्टि से वक्षोगत फेफड़े तथा हृदय "अन्तरिक्ष व्यचस्" द्वारा अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। राजयक्ष्म रोग भी वक्षोगत रोग है, फेफड़ों का रोग है। अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में निरुक्त में कहा है कि "शरीरेष्वन्तरक्षयमिति' वा" (२।३।१०) अर्थात् शरीरों के भीतर यह अक्षय है, क्षीण नहीं होता 'अन्तः+अक्षयम्= अन्तरिक्षम्"। "अक्षय" पद श्लिष्टपद है। इस के दो अर्थ सम्भव हैं, जो स्वयं क्षीण नहीं होता, तथा जो क्षयरोग[1] नहीं होने देता। विस्तृत तथा स्वच्छ अन्तरिक्ष में निवास तथा रहने-सहने से यक्ष्म तथा क्षय रोग नहीं होने पाता। गन्दी हवा यक्ष्म और क्षय को उत्पन्न करती है। इसीलिये मन्त्र में "अन्तरिक्षेण व्यचसा" पद द्वारा "विस्तृत अन्तरिक्ष" को राजयक्ष्म नाशक दर्शाया है]।

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। दिवा पृष्ठेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४०॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन पृष्ठेन) जिस पीठ से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (च=चेत्) यदि (अन्येन) अन्य प्रकार की (पृष्ठेन) पाठ से (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (विद्युत्) बिजली (त्वा) तेरी (हनिष्यति) हत्या करेगी,—(इति) यह (एनम्)

---

१. शरीर तथा शरीरावयवों के अन्तर अर्थात् अभ्यन्तर अन्तरिक्षस्थ शुद्ध वायु, क्षयरोग होने नहीं देती। यह शुद्ध वायु फेफड़ों में जा कर, रक्त को शुद्ध करके, समग्र शरीर तथा शरीरावयवों को स्वस्थ करती है।

इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (ग्राह) कहे। (तं वा अहं न अर्वाञ्चं, न पराञ्चं, न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन दिवा पृष्ठेन) उस द्युलोक रूपी पीठ से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस से (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) अन्य अङ्गों में मैंने पहुंचाया है। (एष वा ओदनः……वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[शरीर के पृष्ठ भाग में मस्तिष्क (Brain), सुषुम्णा नाड़ी (Nervous cord), तथा सुषुम्णा नाड़ी के तन्तुओं-प्रतन्तुओं का समग्र शरीर में प्रसार है। इस समग्र नाड़ी-संस्थान को द्युलोकात्मक जान कर ओदन प्राशन करने का विधान मन्त्र द्वारा हुआ है। अर्थात् ओदन का सेवन इस प्रकार करने का विधान किया है जिस से कि द्युलोकात्मक[1] नाड़ी संस्थान स्वस्थ बना रहे, विकृत न हो। द्युलोक विद्युत् का स्रोतस्थान है। इसी प्रकार सुषुम्णा नाड़ी-संस्थान शारीरिक-विद्युत् का स्रोतस्थान है। विकृत अन्नों के प्राशन और अयथाविधि द्वारा प्राशन से विद्युत् का यथोचित प्रवाह शरीर में न होने पर विकृतावस्था की विद्युत् हत्या कर देती है। महात्माओं के सिरों के चारों ओर जो प्रभामण्डल होते हैं वे शारीरिक विद्युत् के कारण ही होते हैं। इस शीररिक विद्युत् के सम्बन्ध में "Your guide to health" (ग्रन्थकार Clifford R. Anderson, M. D. के निम्नलिखित उद्धरण विशेष प्रकाश डालते हैं यथा—

(1) Thought is an electrical process that depends on many different parts of the brain. (2) They (Thoughts) are more permanent, probably because of actual changes within the electrical circuits of the brain itself. (3) All living tissues produce some kind of electrical waves. These waves can now be measured by delicate instruments, that measure the electrical currents produced by the heart muscle itself (Nervous disorders)। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की विद्युत् का मूलस्रोत पृष्ठगत सुषुम्णा ही है]।

---

१. सुषुम्णानाड़ी के चक्र तथा तन्तुओं का तान-प्रतान, शरीर में प्रकाश (विद्युत्) का हेतु है। तथा "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२) द्वारा मूर्धा को द्युलोक भी कहा है।

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषय प्राश्नन्। कृष्या न रात्स्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। पृथिव्योरसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४१॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन उरसा) जिस वक्षः स्थल से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (अन्येन उरसा) भिन्न प्रकार के वक्षः स्थल से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तू ने प्राशन किया है, तो (कृष्या) कृषिकर्म द्वारा (न रात्स्यसि) तू समृद्ध नहीं होगा—(इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन) उस (पृथिव्या उरसा) पृथिवीरूपी वक्षः स्थल से (एनम्) इन ओदन को (अजीगमम्) मैंने उदरादि अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा ओदन…वेद) पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[पृथिव्या उरसा=जिस प्रकार पृथिवी, बीज का एक दाना खा कर, उसे रूपान्तरित कर, उस से कई गुना बीज=दानों को उत्पन्न कर, प्राणियों की रक्षा करती है, इसी प्रकार मैंने वक्षः स्थल रूपी पृथिवी में वीरता और बल का बीज बो कर, उस से उत्पन्न नानाविध कर्मों द्वारा प्राणिमात्र की रक्षा का व्रतग्रहण किया है,—यह अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है]।

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्येनोदरेण। तनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४२॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन) उदरेण) जिस उदर से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है,

(ततः) उस से (अन्येन उदरेण) भिन्न प्रकार के उदर से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (उदरदारः) पेट का फटना अर्थात् उदर-शूल या उदर-व्यथा (त्वा) तुझे (हनिष्यति) मार डालेगी या तुझे प्राप्त होगी—(इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन सत्येन उदरेण) उस सत्यात्मक उदर से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुंचाया है (एष वा ओदन······वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[सत्येन उदरेण="सत्यात्मक उदर" का अभिप्राय अनुसंधेय है। आयुर्वेद खान-पान के जिन तथ्यों का कथन करता है तदनुसार भोजन करना चाहिये, अन्यथा प्रकार से उदरदार हो जायगा,—सम्भवतः "उदरेण सत्येन" का यह अभिप्राय हो। वे तथ्य हैं, बिना भूख के न खाना, मित, पथ्य तथा ऋत्वनुकूल भोजन करना आदि। सायणाचार्य ने "उदरदारः" का अर्थ "अतिसार" किया है। सत्य का अर्थ "उदक[1]" भी होता है। कब्ज उदरदार अर्थात् उदर व्यथा को उत्पन्न करती है। सत्यम् उदक नाम (निघं १।१२)। उदक के उचित मात्रा में सेवक करने से आन्तों की खुश्की दूर हो कर, शौचक्रिया के हो जाने से, उदर व्यथा नहीं होने पाती,—यह डाक्टरी सिद्धान्त है। यथा "The person who does not drink six to eight glasses of fluid daily may soon have trouble with his internal organs, He may suffer from constipation and other digestive complaints. Stones may form in his kidneys and bladder etc. (Your guide to health).

अथर्व० ४।१६।६,७ में अनृतभाषण का सम्बन्ध उदर के संस्राव के साथ दर्शाया है। यथा "**मा ते मोच्यनृतवाङ्[2] नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोष्ठ इवाबन्धः परिकृत्यमानः**"]।

---

१. अभिप्राय यह है कि भोजन के साथ-साथ तथा तत्पश्चात् उदक का पान भी उचित मात्रा में होना चाहिये।

२. इस मन्त्र में "अनृत-भाषण" को उदर-संस्राव का हेतु दर्शाया है। उदर-संस्राव=उदरदार (उदर+दृ विदारणे)। संश्रयित्वा=संस्रयित्वा।

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्सु मरिष्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४३॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (येन वस्तिना) जिस मूत्राशय से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उससे (अन्येन) भिन्न प्रकार के (वस्तिना) मूत्राशय से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है, तो (अप्सु) जलों में (मरिष्यति) तू मरेगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशन कर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (तेन) उस (समुद्रेण वस्तिना) समुद्ररूपी मूत्राशय की दृष्टि से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (तेन) उस द्वारा (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों तक पहुंचाया है। (एष वा ओदनः···वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[समुद्र खारी होता है, अम्ल नहीं। भोजन में भोज्य पदार्थ ऐसा होना चाहिये जो कि मूत्र में अम्ल पैदा न करे, तथा जलपान भी इसी प्रकार होना चाहिये। मूत्र यदि अम्ल होगा तो मूत्र जलन करता हुआ मूत्रेन्द्रिय द्वारा प्रस्रवित होगा। मिष्टान्न का अधिक प्रयोग मूत्र को अम्ल बना देता है, और मधुमेह जैसे रोगों को उत्पन्न कर देता है। तथा समुद्रवत्[1] जलपान प्रभूत मात्रा में होना चाहिये, इस से वस्तिरोग नहीं होता]।

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ऊरू ते मरिष्यत इत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। मित्रावरुणयोरूरुभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४४॥

---

१. "यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः" (अथर्व० ६।१३५।२)।

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, ऊरुभ्याम्) जिन दो ऊरुओं से (एतम्) इस ओदन को (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (अन्याभ्याम्) भिन्न प्रकार के (ऊरुभ्याम्) ऊरुओं से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस आदन का (प्राशीः) तू ने प्राशन किया है, तो (ते) तेरे (उरु) दोनों ऊरु मरिष्यतः) प्राणहीन हो जायेंगे, निःशक्त हो जायेंगे, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहता है। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम्, मित्रावरुणयोः, ऊरुभ्याम्) मित्र और वरुण के उन दो ऊरुओं से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन द्वारा (एनम्) इस ओदन को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुंचाया है, अर्थात् इस ओदन के परिपक्व रस को अन्य अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा ओदन…वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[ऊरु=यह, thighs "ऊर्वोरोजः" (अथर्व० १९।६०।२) ऊरुओं में ओज होता है, जिस से ऊरु समग्र शरीर के भार को उठाए रखते हैं। भोजन इस प्रकार का और इस दृष्टि से करना चाहिये जिस से ऊरुओं में ओजस् की प्राप्ति हो। इस के लिये मित्र और वरुण के ऊरुओं को लक्ष्य बनाना चाहिये। मित्र है सूर्य, और वरुण है चन्द्रमा। मित्र पूर्व दिशा से उदित होता है, और चन्द्रमा पश्चिम दिशा से। वरुण, पश्चिम दिशा का अधिपति है। यथा "प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः" (अथर्व. ३।२७।३)। सूर्य और चन्द्रमा की किरणें इन दोनों के ऊरु हैं। ये बड़े ओज वाले हैं। मानो इन की किरण रूपी ऊरुओं ने इन भारी सूर्य और चान्द के बोझ को उठाया हुआ है]।

तर्तश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्‌भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। त्वष्टुरष्ठीवद्‌भ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४५॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, अष्ठीवद्‌भ्याम्) हड्डियों वाले जिन दो घुटनों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उन घुटनों से (अन्याभ्याम्, अष्ठीवदभ्याय्) भिन्न प्रकार के घुटनों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (स्रामः) स्रामरोग वाला (भविष्यसि) तू हो जायगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को विज्ञ (आह) कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम् त्वष्टुः अष्ठीवदभ्याम्) त्वष्टा के उन हड्डियों वाले घुटनों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन द्वारा (एनम्) इस ओदन [के परिपक्व रस] को (अजीगमम्) अन्य अङ्गों में मैंने पहुंचाया है। (एष वा ओदनः…वेद) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र ३५।

[त्वष्टुः=त्वष्टा के तीन अर्थ हैं, (१) सूर्य, (२) विद्युत् (३) अग्नि (शाकपूणि के मतानुसार)। मन्त्र में त्वष्टा द्वारा विद्युत् अभीष्ट है। इसकी अस्थियां हैं करकाः, ओले। ये ओले जब पृथिवी पर गिरते हैं तो कठिनावस्था में, दृढ़ावस्था में होते हैं। इसी प्रकार घुटनों की दृढ़ावस्था होनी चाहिये। घुटनों की अस्थियों के ढीला पड़ जाने से घुटकों में पीड़ा हो जाती है। घुटनों की दृढ़ता में मेघीय विद्युत् (त्वष्टा) के करकों का दृष्टान्त दिया हैं। स्रामः=शुष्कजङ्घः (सायण)]।

तर्तश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्। बहुचारी भविष्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अश्विनोः पादाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्गः एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४६॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्यां पादाभ्याम्) जिन दो पादों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उस से (अन्याभ्याम् पादाभ्याम्) भिन्न प्रकार के पादों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तू ने प्राशन किया है, तो (बहुचारी भविष्यसि) बहुत विचरने वाला तू होगा, (इति) यह (एनम्) इस ओदन के प्राशनकर्त्ता को विज्ञ कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम् आश्विनोः पादाभ्याम्) अश्वियों के उन दो पादों से (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन दो पादों से (एनम्) इस प्राशित ओदन के रस को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में [पैरों की अंगुली आदि में] पहुंचाया है। (एष वा ओदनः…वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[बहुचारी=प्रवासी, "प्रवासशील" (सायण) । सम्भवतः पाद-रोगों के उपचार के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमना निर्दिष्ट किया है । पैरों और जङ्घाओं के अतिसूजन रोग को "हस्तिपद रोग कहते हैं, और आङ्ग्ल भाषा में "Elephantiasis" । "अश्विनोः पादाभ्याम्" द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की रश्मियों को सूचित किया है । **"अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ"** (निरुक्त० १२।१।१) । मन्त्र ११।३। पर्याय २, मन्त्र ३ में सूर्य और चन्द्रमा का वर्णन "अक्षीभ्याम्" द्वारा किया है । वर्तमान मन्त्र में अश्वियों के पादों का वर्णन हुआ है । संस्कृत साहित्य में सूर्य की रश्मियों को "पाद" कहा है । यथा **"बालस्यापि रवेः पादाः पतन्ति शिरसि भूभृताम्** (शिशुपालवध ६।३४) । पादरोग का शमन सम्भवतः सूर्य की शुभ्र रश्मियों या इस की सप्तरश्मियों में से किसी रश्मि द्वारा हो सकता है । सूर्य की शुभ्र रश्मियों को spectrum द्वारा ७ रश्मियों में विभक्त किया जा सकता है । वैदिक साहित्य में अश्वियों को **"देवानां भिषजौ"** द्वारा वर्णित भी किया जाता है । **"अश्विनोः पादाभ्यां प्राशिषम्"** का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि अश्वियों की रश्मियों द्वारा अन्न को पवित्र कर के, Disinfect कर के मैंने इसका प्राशन किया है । यथा—**"उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः"** (यजु० १।३१) । सूर्य को रश्मियों को इस मन्त्रपाद में "अच्छिद्र पवित्र" कहा है । अभिप्राय अस्पष्ट है । सम्भवतः बहुचारी का अभिप्राय यह हो कि तेरी टांगों तथा पैरों में अस्थिरता तथा लड़-खड़ाना रोग हो जायगा, जिसका कि उपचार "अश्विनोः पादाभ्याम्" द्वारा हो सकेगा । "बहुचारी" पद में "चर" का अर्थ "गतिमात्र" अभिप्रेत होने पर पैरों की अस्थिरता तथा लड़खडाना भी गति ही है । शारीरिक रोगों का मुख्य कारण, उदर तथा खानपान में असंयम है] ।

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्यैनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४७॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, प्रपदाभ्याम्) जिन पादाग्रभागों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्) प्राशन किया है, (ततः) उन से (अन्याभ्याम्, प्रपदाभ्याम्) भिन्न प्रकार के

पादाग्रों से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है तो (त्वा) तुझे (सर्पः) सर्प (हनिष्यति) मार डालेगा, या प्राप्त हो जायेगा, (इति) यह (एनम्) इस प्राशनकर्ता को विज्ञ (आह) कहे । (तं वा अहं न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५ । (ताभ्यां सवितुः प्रपदाभ्याम्) सविता के उन प्रपदों अर्थात् पादाग्रों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने प्राशन किया है, (ताभ्याम्) उन प्रपदों द्वारा (एनम्) इस ओदन [के रस] को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुंचाया है । (एष वा ओदन...वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५ ।

[सवितुः प्रपदाभ्याम्=यास्काचार्य के अनुसार "तस्य [सवितुः] कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवतिः अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति" (निरुक्त १२।२।१२), अर्थात् जब द्युलोक का तमस् अन्धकार अपहृत हो जाय और द्युलोक रश्मियों से आकीर्ण हो जाय, और नीचे पृथिवी पर अभी तमस् अन्धकार हो तो वह सविता का काल है । इस समय मानो सविता के प्रपदों पादाग्रों का प्रवेश हुआ है, पूर्णपदों का नहीं । इस काल में ओदन आदि का प्राशन अर्थात् प्रातराश करना चाहिये, न कि इस से पूर्व । इस समय से पूर्वकाल में अन्धेरा अधिक होता है, अतः सर्प आदि के काटने का भय रहता है । हनिष्यति=सर्प मार डालेगा, या प्राप्त होगा, इन दोनों की सम्भावना अन्धेरे में रहती है । हन् हिंसागत्योः, हन्=हिंसा और गति (प्राप्ति[1]) होना] ।

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ब्राह्मणं हनिष्यसीत्यैनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । ऋतस्य हस्ताभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४८॥

(पूर्वे ऋषयः) पूर्व काल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (याभ्याम्, हस्ताभ्याम्) जिन हाथों से (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्)

१. गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं, गतिः, प्राप्तिश्चेति । सर्पः=सर्पण करने वाले सांप, बिच्छु आदि ।

प्राशन किया है,(ततः)उन से(अन्याभ्याम् हस्ताभ्याम्)भिन्न प्रकार के हाथों
से (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया है,
तो (ब्राह्मणम्) अपने ब्राह्मणत्व-धर्म का (हनिष्यसि) तू हनन करेगा,(इति)
यह (एनम्) इस प्राशनकर्त्ता को (आह) विज्ञ कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं
न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (ताभ्याम्, ऋतस्य, हस्ता-
भ्याम्) सत्य के उन हाथों द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्) मैंने
प्राशन किया है। (ताभ्याम्) उन के द्वारा (एनम्) इस ओदन [के रस]को
(अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा ओदन······वेद)
अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[ब्राह्मणम्=ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणधर्म, ब्राह्मणपन । ऋतस्य हस्ता-
भ्याम्=सत्य के हाथों द्वारा प्राशन मैंने किया है, अर्थात् सत्य के हाथों द्वारा
मैंने ओदन का अर्जन किया है, और सत्य के हाथों द्वारा ही मैंने ओदन का
प्राशन किया है,—यह ब्राह्मण धर्म है, ब्राह्मणत्व है। "सत्यानृत" है व्यापार,
जो कि वैश्य का कर्म है (मनु० ४।४,६) । परन्तु ब्राह्मण का कर्म है सदा
सत्यानुष्ठान। ऋषि लोग सत्य के हाथों द्वारा ओदन का प्राशन करते हैं,—
ऐसी मन्त्रभावना है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को इसी भावना से अन्नग्रहण
करना चाहिये] ।

**ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रति-
ष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न
प्रत्यञ्चम्। सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा
ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं
भवति य एवं वेद ॥४९॥**

(पूर्वे ऋषयः) पूर्वकाल के या सद्गुणों से पूरित ऋषियों ने (यया
प्रतिष्ठया) जिस दृढ़ स्थिति द्वारा (एतम्) इस ओदन का (प्राश्नन्)प्राशन
किया है, (ततः) उस से (अन्यया प्रतिष्ठया) भिन्न प्रकार की दृढ़-स्थिति
द्वारा (च=चेत्) यदि (एनम्) इस ओदन का (प्राशीः) तूने प्राशन किया
है, तो (अप्रतिष्ठानः) प्रतिष्ठा अर्थात् दृढ़स्थिति से रहित तथा (अनाय-
तनः) आश्रय-रहित (मरिष्यसि) मर जायेगा, (इति) यह (एनम्) इस
प्राशनकर्त्ता को विज्ञ कहे। (तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्)
अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५। (सत्ये प्रतिष्ठाय) अपितु सत्यब्रह्म में दृढ़-स्थित

हो कर (तया) उस दृढ-स्थिति द्वारा (एनम्) इस ओदन का (प्राशिषम्)
मैंने प्राशन किया है, (तया) उस दढ़ स्थिति द्वारा (एनम्) इस ओदन
[के रस] को (अजीगमम्) मैंने अन्य अङ्गों में पहुंचाया है। (एष वा
ओदन···वेद) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र ३५।

[मन्त्र में सत्यब्रह्म में दृढ़-स्थित हो कर ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है। ऐसा न होने पर प्राशनकर्त्ता वस्तुतः आश्रय-रहित हो कर, मृत्यु का ग्रास बनता रहेगा। मन्त्र ४८ में "ऋतस्य हस्ताभ्याम्" द्वारा जीवन को सत्यमय बना कर ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ४९ में सत्यस्वरूप ब्रह्म में दृढ़-स्थित हो कर ओदन के प्राशन का वर्णन हुआ है, और इस विधि द्वारा जन्म-मरण की शृङ्खला से उन्मुक्त हो जाने का निर्देश हुआ है]।

—:o:—

पर्याय (३)

मन्त्रोक्तदेवत्यम्। ५० आसुरी अनुष्टुप्; ५१ आर्ची उष्णिक्; ५२ त्रिपदा भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्; ५३ आसुरी बृहती; ५४ द्विपदा भुरिक् साम्नी बृहती; ५५ साम्नी उष्णिक्; ५६ प्राजापत्या बृहती।

एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥५०॥

(यद्) जो कि (ओदनः) ओदन अर्थात् ब्रह्मौदन है, (एतद्) यह (वै) निश्चय से (ब्रध्नस्य) महान् सूर्य का (विष्टपम्) प्रवेश स्थान है।

[ब्रध्नस्य=ब्रध्नो महान् सूर्यः (उणा० ३।५, महर्षि दयानन्द)। ब्रध्न शब्द "बन्ध बन्धने" का रूप है। महान् सूर्य ने ग्रह-उपग्रह आदि को अपने साथ आकर्षक द्वारा बान्धा हुआ है। विष्टपम्=विशन्ति यत्रेति (उणा० ३।१४५, महर्षि दयानन्द)। सूर्य तथा लोकलोकान्तर ब्रह्म में प्रविष्ट हैं, अतः ब्रह्म विष्टप है]।

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥५१॥

(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार ब्रह्मौदन के स्वरूप को

(वेद) जान लेता है उसे (ब्रध्नलोकः) महान् सूर्यलोक (भवति) प्राप्त हो जाता है, और (ब्रध्नस्य) महान् सूर्यलोक के (विष्टपि) प्रवेशस्थान परमेश्वर में (श्रयते) वह आश्रय पाता है।

[ब्रध्नः=महान् सूर्यः (उणा० ३।५, महर्षि दयानन्द); तथा sun (आप्टे)। विष्टपि=विशन्ति यत्रेति (उणा० ३।१४५; महर्षि दयानन्द)। ब्रध्नलोकः—"**अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते, स ओमिति वा आह, उद् वा मीयते, स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदित्यं गच्छत्येतद् वै खलु लोकद्वारं, विदुषां प्रपदनम्**" (छान्दोग्य० उप० अध्या० ८। खण्ड ६। सन्दर्भ ५), अर्थात् जब इस शरीर से उत्क्रमण करता है, तब इन ही रश्मियों द्वारा ऊर्ध्व की ओर आक्रमण करता है, वह "ओ३म्" ऐसा कहता है, ऊर्ध्व गति करता है, जितनी देर मन को सूर्य तक उत्क्षेपण में लगती उतने काल में वह आत्मा आदित्य को पहुंच जाता है। यह आदित्य ब्रह्म-लोक का द्वार है, जिसे कि ब्रह्मवेत्ता लोग पाते हैं। यजुर्वेद में ब्रह्म को आदित्यनिष्ठ कहा है। यथा—"**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म** (४०।१७) ब्रह्म है तो सर्वव्यापक, परन्तु वह सौरमण्डल के नियन्त्रण में केन्द्रिय शक्तिरूप आदित्य में स्थित हो कर सौरमण्डल का नियन्त्रण करता है। मन्त्र ५१ में सूर्य की स्थिति ब्रह्म में कही है। ब्रह्म, सूर्य में प्रविष्ट भी है, और सूर्य का आश्रय भी]।

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥

(वै) निश्चय से (एतस्मात्, ओदनात्) इस निज-ब्रह्मौदन स्वरूप से, (प्रजापतिः[1]) प्रजापतिरूप में (त्रयस्त्रिंशतं लोकान्) ३३ लोकों को (निरमिमीत) उसने निर्मित किया, अर्थात् ३३ देवों के ३३ स्थानों को नियत किया।

१. प्रलयावशिष्ट ब्रह्म ने सृष्ट्युत्पादनार्थ प्रजापतिरूप हो कर ३३ लोकों का निर्माण किया। प्रलयावस्था में ब्रह्म प्रजापति नहीं होता। प्रजाओं के होने पर ही ब्रह्म का प्रजापतिरूप आभिमूत होता है। प्रलयावस्था में प्रजाएं प्रकृतिलीन होती हैं। प्रजा=उत्पन्न पदार्थ। मन्त्र में ३३ लोक कहे हैं। वेदों में अन्यत्र ३३ देवों का वर्णन होता है, लोकों का नहीं। सम्भवतः "लोकृ दर्शने" अर्थ की दृष्टि से "लोकान्" का अभिप्राय हो—दर्शनीय ३३ देव, अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और प्रजापति, तथा इन्द्र (विद्युत्)

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥५३॥

(तेषाम्) उन ३३ लोकों के (प्रज्ञानाय) ज्ञान के लिये प्रजापति ने (यज्ञम्) यज्ञ की (असृजत) सृष्टि की।

[प्रजापति ने संसार-यज्ञ को रचा, ताकि इस यज्ञ के घटक ३३ लोकों का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके[2]]।

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥५४॥

(सः) वह (यः) जो पुरुष (एवं विदुषः) इस प्रकार के ब्रह्मज्ञ का, (उपद्रष्टा भवति) उस के समीप रह कर, उस का दर्शन ही करता रहता है [उस के द्वारा उपदिष्ट मार्ग के अनुसार जीवन-चर्या नहीं करता] वह (प्राणम्) निज प्राण अर्थात् जीवन में (रुणद्धि) रुकावट डालता है।

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥५५॥

(च) और (न) न केवल (प्राणम्, रुणद्धि) जीवन में रुकावट ही डालता है, अपितु (सर्वज्यानिं जीयते) समग्र जीवन को हानि पहुंचाता है।

[ज्यानिम्=ज्या वयोहानौ। जीयते=ज्या कर्मणि लट् "ग्रहिज्या" (अष्टा. ६।१।१६) द्वारा सम्प्रसारण]।

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥५६॥

(न च) और न केवल (सर्वज्यानिं जीयते) समग्र जीवन को हानि ही पहुंचाता है, अपितु (जरसः पुरा) जरावस्था से पहिले (एनम्) इसे (प्राणः जहाति) प्राण त्याग देता है।

—:०:—

(२) सृष्टि-यज्ञ को यहां यज्ञ कहा है। सृष्टि के होते ही सृष्टि के घटक अवयवों का प्रज्ञान हो सकता है। असत् वस्तु के अभाव में ज्ञेय का ज्ञान नहीं हो सकता।

प्राण-सूक्त ४

विषय प्रवेश

१. काण्ड ११, सूक्त ४ प्राण सूक्त है । मन्त्र २६ हैं । प्राण के नाना स्वरूपों का वर्णन हुआ है । मुख्यरूप में प्राण परमेश्वर है, जोकि प्राणों का भी प्राण है (१) ।

२. मेघ भी प्राण है, क्योंकि ये वर्षा द्वारा, तथा अन्नोत्पत्ति में कारण होने से प्राणियों को प्राण देते हैं (२-५; १७) ।

३. प्राण वायु तथा परमेश्वर, दोनों की प्राणरूपता (७, ८) ।

४. प्राणस्वरूप परमेश्वर की प्रिया तथा प्रेयसी [श्रेयसी] तनू (९) ।

५. प्राण की उपासना, तथा तद् द्वारा सत्यवादी की उत्तमलोक में स्थिति (११) ।

६. प्राण है,—देष्ट्री जगन्माता, सूर्य, चन्द्रमा तथा प्रजापति (१२) ।

७. प्राण है-व्रीहि [धान्य], यव [जौ], तथा अनड्वान् [बैल] (१३) ।

८. प्राण द्वारा पुष्टि पा कर गर्भ से पुनर्जन्म (१४) ।

९. प्राण है,—मातरिश्वा और वात (१५) ।

१०. प्राण द्वारा पोषित ४ प्रकार की ओषधियां, आथर्वणीः, आङ्गिरसीः, दैवीः, मनुष्यजाः (१६) ।

११. प्राणज्ञ की महिमा, तथा उस के प्रति उपहार (१९) ।

१२. प्राण-परमेश्वर की आज्ञा या कथन का श्रवण (१९) ।

१३. देवताओं में गर्भरूप में प्रविष्ट प्राण-परमेश्वर (२०) ।

१४. हंसनामक प्राण (२१) ।

१५. प्राण के दो बराबर-बराबर के अर्धभाग (२२) ।

१६. प्राण के प्रति नमः (२३) ।

१७. प्राण और ब्रह्म की युगपत् स्थिति शरीर में (२४) ।

१८. प्राण का सदा जागरण (२५) ।

१९. जीवन के लिये प्राण को बान्धे रखना (२६) ।

ऋषि भार्गवो वैदर्भिः । देवता मन्त्रोक्त-प्राणदैवत्यम् । अनुष्टुप्:— १ शङ्कुमती; ८ पथ्यापंक्ति; १४ निचृत्; १५ भुरिक्; २० अनुष्टुग्गर्भा त्रिष्टुप्; २१ मध्येज्योतिर्जगती; २२ त्रिष्टुप्; २६ बृहतीगर्भा ।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१॥

(प्राणाय नमः) प्राण को नमस्कार हो, (यस्य) जिस के (वशे) वश में (इदं सर्वम्) यह सब जगत् है । (भूतः) अनादिकाल से वर्तमान सत्स्वरूप (यः) जो प्राण (सर्वस्य) समग्र जगत् का (ईश्वरः) अधीश्वर है, (यस्मिन्) और जिस में (सर्वम्) समग्र जगत् (प्रतिष्टितम्) स्थित है ।

[समग्र जगत् का मुख्य-प्राण परमेश्वर है । जड़-चेतन जगत के प्रत्येक पदार्थ में अपना अपना प्राण है, जिस के कारण उस-उस पदार्थ की सत्ता बनी रहती है । यह प्रातिस्विक प्राण परमेश्वररूपी प्राण द्वारा पदार्थ-मात्र को प्राप्त है, क्योंकि प्रत्येक की स्थिति परमेश्वराश्रित है । परमेश्वर के नियमानुसार, जब परमेश्वर, इन पदार्थों में प्राणशक्ति, अर्थात् इन की स्थिति को कायम रखने की शक्ति को हर लेता है तो उस महाप्रलय में सब पदार्थ प्रकृतिरूपी उपादान कारण में विलीन हो जाते हैं, और प्राण-शक्ति को पुनः प्राप्त कर सृष्टिकाल में पुनः सत्तावान् हो जाते हैं] ।

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥२॥

(प्राण) हे प्राण ! (क्रन्दाय) नाद या ध्वनि करते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (स्तनयित्नवे) गरजते हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो । (प्राण) हे प्राण ! (विद्युते) चमकते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (प्राण) हे प्राण ! (वर्षते) बरसते हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो ।

[मन्त्र में मेघ के वर्णन के व्याज से परमेश्वर को नमस्कार किये हैं । मेघ निज स्थिति और कार्यों के लिये प्राणदाता परमेश्वर से प्राण प्राप्त करता है । इस की गरजना, नाद, चमकना और बरसना परमेश्वरा-धीन है । जैसे शरीर जड़ है, और शरीरस्थ जीवात्मा चेतन है । इस चेतन

के कारण शरीर की स्थिति तथा चेष्टाएं होती हैं, जीवात्मा के निकल जाने पर शरीर अग्नि के अर्पित हो जाता है, इसी प्रकार मेघ और परमेश्वरीय प्राण की पारस्परिक स्थिति है । आकाश के मेघाच्छन्न होने पर भी, परमेश्वरीयेच्छा के अभाव में, मेघ बरसता नहीं । मेघ तो परमेश्वरीय कृति है, और पत्थर की मूर्त्ति मानुषकृति है । पत्थर की मूर्त्ति से मनुष्य के कौशल की तो प्रशंसा हो सकती है, परमेश्वर की नहीं] ।

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः ।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ।।३।।

(यत्) जब (प्राणः) प्राण (स्तनयित्नुना) गर्जन द्वारा (ओषधीः) ओषधियों को (अभि) लक्ष्य कर के (क्रन्दति) नाद या ध्वनि करता है, तब ओषधियां (प्रवीयन्ते) उत्पत्ति के अभिमुख होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती हैं, (अथो) तत्पश्चात् (बह्वीः) बहुत या बहुविधरूप में (विजायन्ते) पैदा होती हैं ।

[मन्त्र दो में प्राण को ही स्तनयित्नु कहा है । परन्तु मन्त्र तीन में स्तनयित्नु को प्राण का साधन कहा है, प्राणरूप नहीं । अतः प्राण और स्तनयित्नु भिन्न भिन्न हैं] ।

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ।।४।।

(ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु के आने पर (यत्) जब (प्राणः) प्राण [मेघरूप में] (ओषधीः अभि) ओषधियों को लक्ष्य कर के (क्रन्दति) नाद या ध्वनि करता है, (तदा) तब (सर्वम्) सब प्राणी और अप्राणी वस्तु (प्रमोदते) प्रमुदित अर्थात् प्रसन्न होती है (यत् किं च) जो कुछ भी कि (भूम्याम् अधि) पृथिवी पर है ।

[वर्षा जल द्वारा अप्राणी वस्तुओं के धुल जाने पर उन का स्वच्छ रूप हो जाना उन की प्रसन्नता है] ।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ।।५।।

(यदा) जब (प्राणः) प्राण (महीम्, पृथिवीम्, अभि) बड़ी तथा विस्तीर्ण भूमि को लक्ष्य करके (वर्षेण) वर्षा द्वारा (अवर्षीत्) सींचता है, (तत्) तब (पशवः प्रमोदन्ते) पशु प्रमुदित अर्थात् प्रसन्न होते हैं कि (वै) निश्चय से (नः) हमारे लिये (महः) महान् अन्न (भविष्यति) होगा ।

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् ।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ।।६।।

(अभिवृष्टाः ओषधयः) वर्षा द्वारा सींची गई ओषधियों ने (प्राणेन) प्राण के साथ (समवादिरन्) संवाद किया कि (वै) निश्चय से (नः आयुः) हमारी आयु को (प्रातीतरः) तूने बढ़ा दिया है, और (नः सर्वाः) हम सब को (सुरभीः) सुगन्धित (अकः) तूने कर दिया है ।

[प्राण के साथ ओषधियों का संवाद कवितारूप में है । समग्र सूक्त का वर्णन भी कवितामय है] ।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ।।७।।

(प्राण) हे प्राण ! (आयते) आते हुए (ते) तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो, (परायते) परे जाते हुए (नमः, अस्तु) नमस्कार हो । (तिष्ठते) स्थिर होते हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो, (उत) तथा (आसीनाय) बैठे हुए (ते नमः) तुझे नमस्कार हो ।

[मन्त्र में प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया द्वारा, ब्रह्माण्ड के प्राण को नमस्कार किया गया है । श्वासोच्छ्वास में नासिका द्वारा प्राण फेफड़ों के भीतर आता, तथा भीतर से बाहिर जाता है । प्राणायाम की विधि द्वारा शनैः-शनैः वह स्थिरता लाभ करता, अर्थात् श्वासोच्छ्वास की गति में विच्छेद अर्थात् कालिक अभाव होने लगता है, और कालान्तर के अभ्यास द्वारा पूर्ण-गति विच्छेद हो जाता है । इन दो गतिविच्छेदों को अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक कुम्भक कह सकते हैं । विशेष परिज्ञान के लिये देखो योग २।४९-५१ पर व्यास भाष्य । आयते=पूरक; परायते=

रेचक; तिष्ठते=आभ्यन्तर कुम्भक; आसीनाय=सम्भवतः बाह्य कुम्भक¹ अल्पकाल और क्रमशः अधिकाधिक काल तक चित्त की स्थिरता के अनुसार परमेश्वर का दर्शन भी अल्पाधिक काल तक होने लगता है। पहिले परमेश्वर का अत्यल्प काल के लिये दर्शन होता (आयते); और पुनः दर्शन का अभाव हो जाता, विलोप हो जाता (परायते)। कालान्तर में दर्शन अधिक काल के लिये स्थिर हो जाता (तिष्ठते); और अभ्यास के पूर्णतया परिपक्व हो जाने पर परमेश्वर मानो चित्त में आसीन हो जाता (आसीनाय)। चित्त में दृष्ट परमेश्वर के प्रतियोगी के नमस्कारों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। आयते=चित्त में परमेश्वर का आना अर्थात् दर्शन देना। परायते=चित्त से परे-चला जाना, अर्थात् दर्शन का विलोप हो जाना। इस प्रकार का अभिप्राय "तिष्ठते" और 'आसीनाय' का है। मन्त्र में प्राण-अपान या श्वास-उच्छ्वास रूप वायु के प्रति नमस्कार अभिप्रेत नहीं। इस सम्बन्ध में मन्त्र ७ और मन्त्र ११।२।१५ में समता और विषमता द्रष्टव्य है। मन्त्र ११।२।१५ निम्नलिखित है। यथा "**नमस्तेस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र तिष्ठते आसीनायोत ते नमः**"। इन दोनों मन्त्रों में "रुद्र और प्राण" पदों के अतिरिक्त पूरी शाब्दिक समता है। "रुद्र" पद चेतन—देवता को सूचित करता है। इस लिये वर्ण्य मन्त्र में भी "प्राण" से अभिप्राय, ब्रह्माण्ड का प्राणभूत परमेश्वर ही प्रतीत होता है]

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥

(प्राण) हे प्राण! (प्राणते) प्राण क्रिया करने वाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (अपानते) अपान क्रिया करने वाले के लिये (नमः अस्तु) नमस्कार हो। (पराचीनाय) पराङ्मुख अर्थात् शरीर से बाहिर की ओर गति करने वाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (प्रतीचीनाय) शरीर के प्रति अर्थात् शरीर के भीतर की ओर गति करने वाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (सर्वस्मै) जगत् की सब प्रकार की क्रियाओं को करने वाले (ते) तुझे (इदं नमः) यह नमस्कार हो।

---

(१) प्राणायाम के ४ भाग। अथवा चतुर्थ भाग="बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" (योग २।५१)।

[प्राणते=श्वासक्रिया। अपानते=उच्छ्वासक्रिया तथा गुदा सम्बन्धी अपान वायु की क्रिया। पराचीनाय=परा (परे)+अञ्च् (गतौ), पराञ्चनाय, परागमनकर्त्रे। मन्त्र ७ में परायते और मन्त्र ८ में पराचीनाय एकार्थक हैं। प्राणापान क्रिया तथा समग्र जगत् की क्रियाओं के कर्त्ता महा-प्राण रूप परमेश्वर के प्रति नमस्कार है]।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥९॥

(प्राण) हे प्राण! (या, ते, प्रिया, तनू) जो तेरी प्रियरूपा तनू है, (या, उ, ते, प्राण, प्रेयसी) और जो, हे प्राण! तेरी अधिक प्रियरूपा तनू है, (अथो) तथा (तव) तेरा (यद्) जो (भेषजम्) भेषज अर्थात् जीवात्मा के रागद्वेष, अविद्या और विविध जन्मरूपी रोगों की चिकित्सा करने वाला स्वरूप है, (तस्य नः धेहि) उसे हमें प्रदान कर (जीवसे) जीवन के लिये।

[मन्त्र में प्राण की दो तनुओं का वर्णन हुआ है, एक है प्रियरूपा और दूसरी है उस से अधिक प्रियरूपा। मन्त्रों में ब्रह्माण्ड और उस के घटक अवयवों को, परमेश्वर की तनू तथा तनू के अङ्गों के रूप में वर्णित किया है। यथा "**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**" "**यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**" ॥ "**यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**" ॥ (अथर्व० १०।७।३२-३४), इत्यादि।

इस प्रकार मन्त्रों में वर्णित पारमेश्वरी-तनू, अस्मदादि के लिये प्रियरूपा है, हम इसी तनू में लिप्त रहते हैं। परन्तु इस से भिन्न पार-मेश्वरी-तनू, परमेश्वर का निज अलौकिक स्वरूप है जिसे कि प्रेयसी-तनू कहा है। यह तनू श्रेयसी है। संसार के विरक्त महात्मा, प्रियरूपा-तनू की अपेक्षा प्रेयसी-तनू के दर्शन के अभिलाषी होकर ध्यानावस्थित होते हैं। परमेश्वर भेषजरूप भी है, औषध रूप भी है (भिषज् चिकित्सायाम्)। यथा "**भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै** ॥ (यजु० ३।५९)। इस मन्त्र में रुद्रनामक परमेश्वर को सम्बोधित करके, "भेषजम्" का अर्थ महीधराचार्य करते हैं "औषधवत्सर्वोपद्रवनिवारकः, अर्थात् औषध के सदृश सब उपद्रवों का विनाश करने वाला"। इस प्रकार

व्याख्यात मन्त्र में परमेश्वर की ही दो तनुओं अर्थात् स्वरूपों का वर्णन प्रतीत होता है। इन दो स्वरूपों को उपनिषदों में प्रेय और श्रेय कहा है। प्राणि-जीवन में भी दो स्वरूप होते हैं, शरीर और जीवात्मा। इसी प्रकार परमेश्वर के दो स्वरूपों का वर्णन मन्त्रों में होता है। प्राणि-जीवन में शरीर में और शरीवयवों में प्रेरणा चेतन-जीवात्मा द्वारा होती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक अवयवों में भी प्रेरणायें, चेतन द्वारा हो रही हैं, इस तथ्य के प्रदर्शन के लिये ब्रह्माण्ड को पारमेश्वरी-तनू कहा है]।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥

(प्राणः) प्राण (प्रजाः) प्रजाओं को (अनु वस्ते) सातत्येन आच्छादित कर रहा है, (इव) जैसे कि (पिता प्रियम् पुत्रम्) पिता प्रिय पुत्र को वस्त्रों द्वारा आच्छादित करता है। (प्राण (ह) निश्चय से (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) अधीश्वर है, (यत् च प्राणति, यत् च न) जो कि प्राणधारी है, और जो प्राणधारी नहीं।

[प्रजाः=उत्पन्न सब पदार्थ। वस्ते=वस आच्छादने। "प्राण" द्वारा अन्तरिक्षस्थ वायु, तथा सर्वेश्वर का ग्रहण है। वायु और सर्वेश्वर निज स्वरूपों द्वारा, सब का आच्छादन करते है, और पिता वस्त्रों द्वारा पुत्र का आच्छादन करता है। वायु तो फिर भी अल्पस्थान व्यापी है, उस का स्थान अन्तरिक्ष है, परन्तु सर्वेश्वर समग्र ब्रह्माण्ड व्यापी है। जहां वायु नहीं वहां भी वह व्यापी है। अतः मन्त्र में वायु का वर्णन गौणरूप में, तथा सर्वेश्वर का वर्णन मुख्यरूप में अभिप्रेत है]।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥११॥

(प्राणः) प्राण (मृत्युः) मृत्यु है, (प्राणः) (तक्मा) जीवन को कष्टमय करने वाला ज्वर आदि का उत्पादक है, (देवः) दिव्यकोटि के के लोग (प्राणम्, उपासते) प्राण की उपासना करते हैं। (प्राणः ह) प्राण निश्चय से (सत्यवादिनम्) सत्यवादी को (उत्तमे लोके) उत्तम लोक में (आ दधत्) स्थापित करता हैं।

[मृत्युः=परमेश्वर को मृत्यु कहा है। परमेश्वर से अतिरिक्त कोई मृत्यु-देवता नहीं। यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः" (अथर्व० १३।४। पर्याय ३।२५)। परमेश्वर ही प्राणियों के कर्मफलरूप में मृत्यु, ज्वर आदि का प्रदाता, और सत्यवादी को उत्कृष्ट स्थान तथा उत्कृष्ट जन्म देता है]।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥१२॥

(विराट्) विविध प्रकार के जगत् में प्रदीप्त हो रहा परमेश्वर (प्राणः) सब का प्राण है, (देष्ट्री) जीवन सम्बन्धी निर्देश देने वाली पारमेश्वरी जगन्माता (प्राणः) सब का प्राण है, (प्राणम्) इस प्राण की (सर्वे) सब (उपासते) उपासना करते हैं। (सूर्यः) सूर्य (ह) निश्चय से (प्राणः) प्राण है, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा निश्चय से प्राण है, (प्रजापतिम्) प्रजाओं के पालक परमेश्वर को (प्राणम्, आहुः) विज्ञलोग प्राण कहते हैं।

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१३॥

(व्रीहियवौ) व्रीहि अर्थात् धान, और जौ (प्राणापानौ) प्राण और अपान हैं, (अनड्वान्) गाड़ी का वहन करने में समर्थ बैल (प्राणः उच्यते) प्राण कहा जाता है। (यवे ह) जौ में (प्राणः आहितः) प्राण की स्थिति है, (व्रीहिः) धान (अपानः उच्यते) अपान कहा जाता है।

[व्रीहि=धान, जिस के भीतर तण्डुल होता है। शकट या गाड़ी के वहन में समर्थ बैल कृष्युत्पादक होने के कारण प्राण कहा जाता है, क्योंकि बैल की सहायता से खेत के जुत जाने के पश्चात् बीजावाप से व्रीहि और यव पैदा होते हैं। व्रीहि और यव के सेवन से प्राण और अपान की क्रियाएं ठीक होने लगती हैं। व्रीहि और यव सुपाच्य हैं, अतः स्वास्थ्यकारी है]।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥

(पुरुषः) पुरुष (गर्भे) मातृगर्भ के (अन्तरा) भीतर (अपानति, प्राणति) अपान और प्राण की क्रियाएं करता है । (प्राण) हे प्राण ! (यदा) जब (त्वम्) तू (जिन्वसि) उसे पुरिपुष्ट कर देता है (अथ) तव (सः) वह (पुनः जायते) पुनर्जन्म लेता है ।

[पुरुषः=शरीर-पुरी में शयन करने वाला या वास करने वाला जीवात्मा । जीवात्मा का शरीर धारण करना ही उस का जन्म है । इस लिये जीवात्मरूप से, मन्त्र में, स्त्री-पुरुष दोनों का वर्णन है] ।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे ह भूतं च भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

(मातरिश्वानम्) अन्तरिक्ष में व्यापी वायु को (प्राणम्, आहुः) प्राण कहते हैं, (वातः ह) संचारी तथा रोगनाशक[1] वायु भी (प्राणः उच्यते) प्राण कहा जाता है । (भूतम्, भव्यम्, च) भूतकाल का और भविष्यत् काल का जगत् (प्राणे ह) प्राण में, तथा (सर्वम्) सब जगत् (प्राणे) प्राण में (प्रतिष्ठितम्) स्थित है ।

[मन्त्र के पूर्वार्ध में प्राण द्वारा वायु, तथा उत्तरार्ध में परमेश्वर अभिप्रेत है । मातरिश्वा द्वारा, मातृगर्भस्थ शिशु की प्राणन क्रिया का उत्पादक प्राण भी सम्भव है । वातः=वा गतिगन्धनयोः, गन्धनम्=हिंसनम् नाशनम् अर्दनम्] ।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी और मनुष्यज ओषधियां पैदा होती हैं जबकि हे प्राण ! तू उन्हें प्रीणित करता है ।

(१) वात, रोगनाशक भेषज तथा विश्वभेषज है । यथा "आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः । त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे" (अथर्व० ४।१३।३) ।

(आथर्वणीः[1]=मनोनिरोध द्वारा उत्पन्न मानसिक शक्ति आथर्वणी ओषधि है । अथर्वा=थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरुक्त ११।२। १४), अर्थात् मन की चञ्चलता का प्रतिषेध, अर्थात् मन की स्थिरता, निरोध । यथा "आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः । दक्षं त उग्र-मा भारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते" (अथर्व० ४।१३।५), मनोबल चिकित्सक कहता है कि "मैं तुझे शान्ति देने वाली और तुझे स्वस्थ करने वाली ओषधियों के साथ आया हूं । उग्रबल तेरे लिये मैं लाया हूं, तेरे यक्ष्मरोग को मैं प्रेरित करता हूं" ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ (अथर्व० ४।१३।६), "यह मेरा हाथ भाग्यशाली है, यह मेरा अधिक भाग्यशाली हैं । यह मेरा सब रोगों का औषधरूप है, यह छूने अर्थात् स्पर्शमात्र से कल्याण करता है" ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी । अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि ॥ (अथर्व० ४।१३।६), "दस शाखाओं अर्थात् अङ्गुलियों वाले दो हाथों से पहिले वाणी सम्बन्धी जिह्वा चलती है । आमय अर्थात् रोगों को हराने वाले उन दो हाथों द्वारा तेरा मैं स्पर्श करता हूं, या हम करते हैं । इस प्रकार मन्त्रों में हस्त-स्पर्श चिकित्सा, तथा वाणी द्वारा, रोगी के रोग को दूर करने का आश्वासन दिया है । इस प्रकार की मनोबल चिकित्सा आथर्वणी-ओषधि चिकित्सा है ।

आङ्गिरसीः[1]—वेदों में अग्नि को अङ्गिरा कहा है । यथा "तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि" यजुर्वेद (३।३) मन्त्रोक्त अङ्गिरा अग्नि यज्ञियाग्नि है । अग्निहोत्र तथा यज्ञशालाओं की अग्नियों से उत्थित यज्ञधूम स्वास्थ्य कर तथा रोग विनाशक होता है । तभी अग्नि को "रक्षोहा" अर्थात् रोगजनक कीटाणुओं का हनन करने वाला तथा "अमीवचातनः" अर्थात् रोगनाशक कहा है, (अथर्व० १।२८।१) । इसलिये अग्नियां ओषधि रूप हैं । ओषधि=जलन तथा दोषों का धयन करने वाली । गृह्याग्निहोत्र की अग्नियां, तथा यज्ञशालोयाग्नियां नाना हैं । इसलिये "आङ्गिरसीः ओषधयः" में बहुवचन भी उपपन्न हो जाता है ।

(१) अथर्वा तथा अङ्गिरा पदों के "औषध अर्थ" की दृष्टि से वेद को "अथर्वाङ्गिरसः" कहा प्रतीत होता है । यथा "अथर्वाङ्गिरसो मुखम्" । (अथर्व० १०।७।२०) ।

तथा "अयास्य' प्राण को "आङ्गिरस" अर्थात् अङ्गिरा-सम्बन्धी कहा है। यथा—"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं वै न उद्‌गायेति···। ते होचुः क्वनु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेति, अयमास्येऽन्तरेति। सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः"॥ (बृहदा० उप० ब्राह्मण ३। खण्ड ७, ८)। तथा "सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः···। तस्माद् यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तत् शुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः (खण्ड १९)। अर्थात् वे इस आस्य-प्राण को बोले कि हमारे लिये तू गा। उन्होंने कहा कि वह कहां है कि जिस ने हमें इस प्रकार विजय दिलाई है, उत्तर मिला कि वह यह है जो कि आस्य अर्थात् मुख के अन्दर है। वह है "अयास्य आङ्गिरस", अर्थात् "अङ्गों का रस"। वह अयास "आङ्गिरस" निश्चय से अङ्गों का रस है, प्राण ही अङ्गों का रस हैं, इसलिये जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है वह-वह सूख जाता है।

इस सन्दर्भ या खण्ड में आसन्य अर्थात् मुखस्थ प्राण के गान का वर्णन हुआ है। नासिका, मुख और उरः स्थल में संचार करने वाली वायु द्वारा गाना सम्पन्न होता है। इसे आङ्गिरस कहा है, अर्थात् शरीर और तदङ्गों का रस। इस प्रकार आङ्गिरस-प्राण जीवनीय, स्वास्थ्यप्रद तथा रोगनिवारक होने से महौषध रूप है। यही मुख्य प्राण, अपान, व्यान, समान, और उदान रूप में विभक्त हो कर जीवनचर्या का कारण बन रहा है, अतः "आङ्गिरसीः ओषधयः" रूप हैं।

दैवीः—पृथिवी, अप्, तेज और वायु दैवी ओषधियां हैं। पृथिवी अर्थात् मिट्टी के प्रलेप द्वारा त्वचा के विकारों, और अङ्गों की पीड़ाओं का शमन होता है। अप् अर्थात् जल-चिकित्सा द्वारा विविध रोगों की निवृत्ति होती है (अथर्व० १।४।४; १।५।१-४)। तेज अर्थात् आग्नेय, सौर, तथा विद्युत् सम्बन्धी तेज भी रोगशामक हैं। वायु अर्थात् वात के लिये देखो (मन्त्र १५ की टिप्पणी)। मनुष्यजाः—मनुष्यज ओषधियों के लिये आयुर्वेद के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

---

(१) अयास्यः="अयम्+"आस्ये", अथवा "अयते (एति) आस्ये"। (क) "यस्य कुर्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्" (यजु. १७.५) अर्थात् जिस के गृह में हम हविर्यज्ञ करते हैं उसे हे अग्नि! तू बढ़ा। इस प्रकार स्वास्थ्य तथा आयु की वृद्धि अग्निहोत्र द्वारा होने के कारण अङ्गिरा-अग्नि औषध रूप है। अथवा "मन को स्थिरता प्रदान करने वाली, तथा अङ्गों में रसोत्पादिका ओषियां=आथर्वणी तथा आङ्गिरसी ओषधियां।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्रजायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥१७॥

(यदा) जब (प्राणः) प्राण (वर्षेण) वर्षा द्वारा (पृथिवीम्, महीम्) विस्तृत भूमि को (अभ्यवर्षीत्) सींचता है (अथो) तब (ओषधयः) ओषधियां (याः काः च वीरुद्धः) और जो कोई विरोहणशील लताएँ आदि हैं वे (प्रजायन्ते) प्रकर्षरूप में पैदा होती हैं। [मन्त्र में मेघ का वर्णन हुआ है]।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे ॥१८॥

(प्राण) हे प्राण! (यः) जो (ते) तेरे (इदम्) इस स्वरूप को (वेद) जानता है, (च) और (यस्मिन्) जिस में तू (प्रतिष्ठितः असि) स्थित हो जाता है, (तस्मै) उस के लिये (सर्वे) सब (अमुष्मिन्, उत्तमें, लोके) उस उत्तम लोक में (बलिम्, हरान्) भेंटें प्रदान करते हैं।

[हरान्=हरन्ति; लेट् लकार, "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (अष्टा० ३।४।९७) तथा संयोगान्तलोपश्च। अमुष्मिन् लोके=उस उत्तम प्रदेश या स्थान में रहने वाले के लिये, या भावी उत्तम जन्म में भी भेंटें प्रदान करते है। मन्त्र में प्राण द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है, वह प्राणों का प्राण है। प्रतिष्ठितः=जिस व्यक्ति में हे प्राण परमेश्वर! तू अपनी स्थिति कर लेता है, और जो अपने में तुझे स्थित हुआ अनुभव कर तेरी प्रेरणा के अनुसार जीवनचर्या करता है, वह सब के लिये पूज्य देवतारूप हो जाता है, और सब लोग उपहारों द्वारा उस का सत्कार करते रहते हैं]।

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥१९॥

(प्राण) हे प्राण! परमेश्वर! (यथा) जैसे (इमाः सर्वाः प्रजाः) ये सब प्रजाएँ, (तुभ्यम्) तेरे लिये, (बलिहृतः) उपहार लाती हैं, (एवा) इसी प्रकार (तस्मै) उस के लिये (बलिम्) उपहार (हरान्) लाएँ

(यः सुश्रवः) जो उत्तम श्रवण शक्ति वाला (त्वा शृणवत्) तुझे सुनें, तेरे श्रद्धेय वचनों को सुनें।

[मन्त्र में "प्राण" द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। शृणवत् सुश्रुवः =यथा "मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्॥ अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते ब्रवीमि" (अथर्व०४।३०।४) अर्थात् मेरे द्वारा दिये अन्न को वह खाता है जोकि जगत् को देखता है, जोकि प्राण लेता है, जो शब्द सुनता है । मुझे न मानने वाले या अमनन-शील वे मनुष्य मेरे आश्रय पर निवास करते हैं, हे श्रवण करने वाले! सुन, तुझे श्रद्धायोग्य कथन कहता हूं]।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥

(आभूतः) सर्वत्र विद्यमान, (भूतः) अनादि परमेश्वर, (देवतासु अन्तः) सूर्यादि दिव्य पदार्थों के भीतर (गर्भः) गर्भीभूत हुआ (चरति) विचरता है, (सः उ) वह ही (पुनः) बार-बार (जायते) सृष्टियों में प्रकट होता है । (सः) वह (भूतः) अनादि (पिता) परमेश्वर-पिता (शचीभिः) अपने कर्तव्यों और प्रज्ञाओं के साथ (पुत्रम्) पुत्रभूत सब प्राणियों तथा अप्राणियों में (प्रविवेश) प्रविष्ट हुआ है।

[शचीभिः=कर्म (निघं० २।१); प्रजा (निघं० ३।६)। गर्भः= जैसे माता में स्थित गर्भ अज्ञायमान स्वरूप होता है, परमेश्वर दिव्यपदार्थों में विद्यमान भी अज्ञायमान स्वरूप होता है, वह केवल अनुमेय ही होता है। परन्तु गर्भ जैसे उत्पत्ति पर प्रत्यक्ष हो होता है, इसी प्रकार परमेश्वर हृदय में प्रत्यक्ष होकर प्रकट होता है]।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन ॥२१॥

(हंसः) प्राणवायु (सलिलात्) जल के समीप से (उच्चरन्) उत्थान करता हुआ, उड़ता हुआ, (एकं पादम्) एक पैर को (न उत्खिदति) नहीं उखाड़ता, (अङ्ग) हे प्रिय! (यत्) यदि (सः) वह (तम्) उसे (उत्खि-

देत्) उखाड़ दे तो [व्यक्ति के लिये] (न एव अद्य) न हा आज हो, (न श्वः) न कल (स्यात्) हो, (न रात्री) न रात, (न अहः) न दिन हो, (न कदाचन व्युच्छेत्) न कभी उषा चमके।

[हंस पद द्वारा प्राणवायु का वर्णन हुआ है । हंस जल के वासी हैं, इसलिये सलिल का प्रयोग हुआ है । प्राणवायुरूपी हंस, रक्तरूपी जल के आश्रयभूत हृदय के समीपस्थ फेफड़ों से उत्थान कर उड़ता है नासिका द्वारा शरीर से बाहर जाता है। बाहर उड़ कर जाता हुआ भी वह मानो अपना एक पाद शरीर के साथ जमाए रखता है । जैसे कि सूत द्वारा बद्धपाद-पक्षी कुछ दूर तक उड़ कर जाता हुआ भी अपने बन्धन के साथ बन्धा रहता है। यदि प्राण बन्धन छोड़ जाय तो, व्यक्ति की मृत्यु हो जाने से, उस के लिये आज-कल, रात्री-दिन तथा उषा आदि का व्यवहार नहीं रहता।

हंसः=हन्+सः (षणु दाने)+डः । प्राण वायु के कारण शरीरगत दुर्गन्ध का हनन और नवीन वायु का प्रदान होता रहता है । शरीरगत दुर्गन्ध गन्दी वायु है, जो कि नासिका द्वारा बहिर्गत होती रहती है। सूर्य पक्ष में भी मन्त्रार्थ सुसङ्गत होता है]।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥२२॥

ब्रह्म (अष्टाचक्रम्) आठ चक्रों वाले ब्रह्माण्ड-रथ का (वर्तते) स्वामी हैं, (एकनेमि) वह इस ब्रह्माण्ड-रथ के चक्रों की नेमि है, (सहस्राक्षरम्) इन आठ चक्रों में हजारों अक्षों के रूप में रम रहा है, (प्र पुरः) दूर तक आगे की ओर (नि पश्चा) और नितरां पीछे की ओर (वर्तते) विद्यमान है। (अर्धेन) निज अर्ध अर्थात् समृद्ध "एकपाद" द्वारा (विश्वं भुवनं जजान) समग्र ब्रह्माण्ड को उस ने उत्पन्न किया है, (अस्य) इस ब्रह्म का (यत्) जो (अर्धम्) शेष समृद्ध "त्रिपाद्" हैं (सः कतमः) वह अतिसुख-रूप है, (सः केतुः) वह ज्ञानमय है, विज्ञानघन है।

[ब्रह्माण्ड-रथ के आठ चक्र हैं—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएं। प्रकृति तो प्रकृतिरूप हैं, विकृतिरूप नहीं। शेष प्रकृतिरूप और विकृतिरूप हैं। ये आठ चक्र हैं। इन्हीं के आधार पर समग्र ब्रह्माण्ड

आश्रित तथा चलायमान हो रहा है । रथ में चक्र तो अल्प परिमाण होते हैं, परन्तु रथ उनकी अपेक्षा महापरिमाणी होता है। इसी प्रकार आठ-चक्रों और ब्रह्माण्ड के परिमाणों में अनुपात है।

एकनेमिः=नेमि लोहे का चक्र होता है जोकि रथ के पहियों पर चढ़ाया जाता हैं, जोकि रथ की रक्षा करता है, इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के आठ चक्रों पर ब्रह्म नेमिरूप हैं, उन की रक्षा करता हैं । चक्रों को परस्पर मिलाए रखने के लिये उन के बीच में दण्डा लगा रहता हैं जिसे कि अक्ष कहते हैं, ब्रह्माण्ड के चक्रों में ब्रह्मरूपी अक्ष लगा हुआ हैं । ब्रह्माण्ड में हजारों सौर मण्डलों के चक्र चल रहे हैं, उन सब चक्रों में ब्रह्म ही अक्षरूप है। अर्धम्=यह शब्द "ऋधु वृद्धौ" द्वारा व्युत्पन्न हैं । यजुर्वेद में एकपाद और त्रिपाद् ब्रह्म का वर्णन हैं (अध्याय ३१ मन्त्र ३,४) । ब्रह्म का एकपाद भी महावृद्ध हैं, जिस में कि समग्र ब्रह्माण्ड समाया हुआ हैं, अतः यह एकपाद भी अर्ध हैं, समृद्ध है । कतमः=कः (सुखम्)+तमप् (अतिशायने) । केतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९) । प्रपुरः, नि पश्चा=अर्थात् व्यापक हैं।

मन्त्र में "अष्टाचक्रम्" द्वारा शरीर का भी वर्णन प्रतीत होता है। यथा "अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" (अथर्व० १०।२।३१) । तथा सौर मण्डल का भी वर्णन प्रतीत होता है। सौर चक्रों को भी आदित्य-मण्डलस्थ ब्रह्म ही नेमि तथा अक्षरूप में गतिसम्पन्न कर रहा है (यजु० ४०।१७)] सौर मण्डल=बुध, शुक्र, पृथिवी, बृहस्पति, शनि, चन्द्रमा तथा सूर्य] ।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः ।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

(यः प्राणः) जो प्राण (विश्वजन्मनः) नानाविध जन्मों वाले, (चेष्टतः) और चेष्टा वाले, (अस्य विश्वस्य) इस विश्व का (ईशे) अधीश्वर है, तथा (अन्येषु) अन्य पदार्थों की अपेक्षा (क्षिप्रधन्वने) शीघ्र गति वाला हैं, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (प्राण) हे प्राण ! (नमः अस्तु) हमारा नम्र भाव हो।

[जन्मधारी तथा चेष्टावान्, प्राणी होते हैं। उन सब प्राणियों पर प्राणवायु का प्रभुत्व है, क्योंकि विना प्राणवायु के उन का जीवन समाप्त हो जाता है। शरीर में किसी भी अन्य अवयव की गति इतनी शीघ्र नहीं

होती जितनी गति कि प्राणापान की होती है। प्राणवायु के प्रतिपादित गुणों की अपेक्षया परमेश्वर में इन गुणों का अतिशय है। परमेश्वर की शीघ्र गति के सम्बन्ध में कहा है कि "तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्" (यजु० ४०।४), अर्थात् परमेश्वर स्थित रहता हुआ ही, दौड़ते हुए अन्यों से आगे निकल जाता है। व्यापक होने से वह तो सदा सर्वत्र पहुंचा हुआ ही है। इस प्रकार प्राणवायु के वर्णन के साथ-साथ परमेश्वर का भी वर्णन मन्त्र में हुआ है। वस्तुतः "नमः" पद परमेश्वर को लक्ष्य करके ही पठित हैं। क्षिप्रधन्वने=क्षिप्र धवि गतौ] ।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥२४॥

(यः प्राणः) जो प्राण (सर्वजन्मनः) नानाविध जन्मों वाले, (चेष्टतः) और चेष्टा वाले (अस्य विश्वस्य) इस विश्व का (ईशे) अधीश्वर है, (अतन्द्रः) आलस्यरहित (धीरः) तथा कर्मशील है वह प्राण (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (मा अनु) मुझे लक्ष्य कर के (तिष्ठतु) स्थित हो, अर्थात् मुझ में स्थित हो।

[धीरः=इस पद के दो अर्थ हैं बुद्धिवाला अर्थात् बुद्धिमान्, तथा कर्मशील। धीः=कर्म (निघं. २।१), प्रज्ञानाम (निघं०. ३।९)+र(वाला)। प्राण कर्मशील है, प्रज्ञावाला नहीं। "अनु" शब्द लक्षणार्थक[1] है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्राण, ब्रह्म के साथ, मुझ में स्थिर रहे। प्राण की स्थिति द्वारा जीवन की अभिलाषा तभी फलवती हो सकती है यदि जीवन काल में ब्रह्म के साथ भी संसर्ग बना रहे, अन्यथा केवल प्राणमय जीवन निष्फल है] ।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥२५॥

(सुप्तेषु ऊर्ध्वः) सोए हुए प्राणियों में, प्राण या परमेश्वर (जागार) जागता है। प्राण या परमेश्वर (तिर्यङ्) टेढ़ा होकर (न, नु) नहीं कभी (निपद्यते) लेटता, नहीं सोता। (सुप्तेषु) सोए हुओं में (अस्य) इस प्राण

---

१. अनुर्लक्षणे (अष्टा० १।४।८४)।

या परमेश्वर के (सुनम्) सोने को (अनु) वंशपरम्परा से (कश्चन) किसी ने (न, शुश्राव) नहीं सुना।

[मन्त्र २४ में प्राण और ब्रह्म दोनों का वर्णन हुआ है। तदनुसार मन्त्र २५ में भी दोनों का वर्णन अभिप्रेत है]।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥२६॥

(प्राण) हे प्राण! (मत्) मुझ से (मा, पर्यावृतः) न पराङ्मुख हो, (मत्) मुझ से (अन्यः) पराया अर्थात् अपरिचित (न भविष्यसि) तू न होगा (जीवसे) जीने के लिये, (अपां गर्भम् इव) जैसे माता गर्भाशय के जल सम्बन्धी गर्भ को सुरक्षितरूप में बान्धे रखती हैं, वैसे जीने के लिए, (प्राण) हे प्राण! (त्वा) तुझे (मयि) अपने में (बध्नामि) सुरक्षित रूप में मैं बान्धता हूं।

[मा पर्यावृतः=मा पराङ्मुखः भूः। पर्यावृतः=वृतु वर्तने, माङि लुङ्, च्लेः अङ्,। न मदन्यः=व्यक्ति प्राण के प्रति कहता है कि "तू मुझ से अन्य अर्थात् अपरिचित न होगा"—अतः मुझे अपना परिचित जान कर मेरे साथ बन्धा रह। मन्त्र में परमेश्वर के प्रति भी व्यक्ति इसी भावना को प्रकट करता हैं। परमेश्वर को भी धारणा-ध्यान आदि उपायों द्वारा उपासक अपने साथ बान्धे रखने का संकल्प करता हैं। "बध्नामि" यथा "सप्तास्यासन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद् यज्ञं तन्वानाऽ अबध्नन् पुरुषं पशुम्" (यजु. ३१।१५) में "अबध्नन्" पद बान्धने अर्थ का सूचक हैं। धारणारूपी योगाङ्ग भी बान्धने अर्थ को सूचित करता हैं। यथा "देशबन्धः चित्तस्य धारणा" (योग ३।१)]।

दूसरा अनुवाक समाप्त ॥

---

१. अथवा जलनिष्ठ अग्नि को जैसे जल अपने में बान्धे रखते हैं, वैसे मैं तुझे अपने में, हे प्राण! बान्धता हूं। यथा "अप्स्वग्ने सधिष्टव," "अग्ने गर्भो अपामसि" (यजु० १२।३६,३७)।

ब्रह्मचर्यसूक्त-५

विषय प्रवेश

१. इस सूक्त का नाम ब्रह्मचर्य-सूक्त है। मन्त्र २६ हैं। सूक्त में मुख्यरूप से मनुष्य ब्रह्मचारी का वर्णन, अभिप्रेत है। कहीं-कहीं "ब्रह्म के आश्रय में विचरने वाले" सूर्य का भी निर्देश हुआ है, और सूक्तसमाप्ति के मन्त्रों में पशु पक्षी, तथा काल को भी ब्रह्मचारी के रूप में निर्दिष्ट किया है।

२. ६३३३ गन्धर्वों की संख्या के स्वरूप पर यथासम्भव प्रकाश डाला है (२)।

३. ब्रह्मचर्य जीवन में विद्याप्राप्ति के साथ-साथ "तप" का विशेष महत्त्व है (१,२,४,८ १०)।

४. ब्रह्मचारी का उपनयन और उसका तीन रात तक गर्भ-निवास (७,८)।

५. ब्रह्मचारी की १,२ तथा अधिक समिधाएं (४,६,१३)।

६. पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक ब्रह्मचारी का गमन, लोक-संग्रह, तथा प्रचार (६)।

७. ब्रह्मचारी के ज्ञानार्थ पृथिवी और द्युलोक के नमूनों (models) का निर्माण आचार्य द्वारा (८)।

८. ब्रह्मचारी की ज्ञान-प्राप्ति भिक्षारूप में (९)।

९. ब्रह्मचारी की ज्ञान-निधियां (१०)।

१०. दो अग्नियों का संगम, और उन की दृढ़रश्मियों पर ब्रह्मचारी का आ-स्थित होना (११)।

११. आचार्य के नानारूप (१४)।

१२. ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारी को प्राजापत्य अर्थात् गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्यों का उपदेश (१५)।

१३. आचार्य का ब्रह्मचारी होना, तदनन्तर ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ स्वीकार करना (१७)।

१४. चातुर्वर्ण्य का निर्देश और "इन्द्र" का स्वरूप (१६)।

१५. कन्याओं का ब्रह्मचर्यवास (१८)।

१६. जगद्-व्यापी ब्रह्मचर्य (१८,२२)।

१७. ब्रह्मचारी-स्नातक द्वारा उपदेष्टव्य तत्त्व या विषय (२४,२५)।

१८. ब्रह्मचारी का सलिलपृष्ठ तथा समुद्र पर स्थित हो सकना, और स्नातक बनना (२६)।

—:०:—

ऋषि ब्रह्मा। देवता ब्रह्मचारी। त्रिष्टुप्; १ पुरोतिजागता विराड्गर्भा; २ पञ्चपदा बृहतीगर्भा शक्वरी; ३ उरोबृहती; ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती; ७ विराड्गर्भा; ८ पुरोतिजागता विराड् जगती; ९ बृहतीगर्भा; १० भुरिक्; ११ जगती; १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती; १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४,१६-२२ अनुष्टुप्; २३ पुरोबार्हतातिजागतगर्भा; २५ एकावसानाच्युष्णिक्; २६ मध्येज्योतिरुष्णिग्गर्भा।

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्त्ति ॥१॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (इष्णन्) [विद्या] चाहता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) द्युलोक और भूलोक में (चरति) विचरता है; (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी में (देवाः) देव (संमनसः) एक मन वाले (भवन्ति) हो जाते हैं। (सः) वह (पृथिवीं, दिवं च) पृथिवी और द्युलोक [के ज्ञान] को (दाधार) निज चित्त में धारण करता है, (सः) वह (आचार्यम्) निज आचार्य को (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (पिपर्त्ति) प्रसन्नता से भरपूर करता है।

[ब्रह्मचारी को भूलोक की तथा द्युलोक सम्बन्धी विद्याओं की प्राप्ति के लिये यत्नशील होना चाहिये। तथा तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना चाहिये। ब्रह्मचारी की विद्याग्रहण में प्रयत्नशीलता, तथा तन्निमित्त तपश्चर्यामय जीवन को देख कर आचार्य प्रसन्नता से भरपूर हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य में देवों का निवास है। यथा **"सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्"**, (अथर्व० ११।८।१३), अर्थात् मनुष्य को रसों से सींच कर देव, मनुष्य में प्रविष्ट हो गए। **"गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्"** (अथर्व० ११।८।१८), अर्थात् मनुष्य को अपना घर कर के देव मनुष्य में प्रविष्ट हो गए। **"रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्"** (अथर्व० ११।८।२९), अर्थात् मनुष्य में रेतस् को आज्य जान कर के देव, मनुष्य में प्रविष्ट हो गए। **"सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते"** (अथर्व० ११।८।३२) अर्थात् इस मनुष्य में सभी देवता रहते हैं जैसे कि गोशाला में गौएँ रहती हैं। अभिप्राय यह कि मनुष्य में सभी दिव्यशक्तियों का निवास है, ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहण, तथा तपश्चर्यामय जीवन द्वारा उन दिव्यशक्तियों का जागरण और विकास किया जा सकता है। ब्रह्मचारी के जीवन में इन शक्तियों के विकास में संमनस्कता हो जाती है। उस के जीवन में देवासुर-संग्राम नहीं होता, क्योंकि उस के जीवम में निवास देवों का ही होता है, आसुरी भावनाओं का अभाव होता है, और इन दिव्यशक्तियों में भी परस्पर समतुलन रहता है, सांमनस्य रहता है पिपर्त्ति=पृ पालनपूरणयोः]।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥

(पितरः) पितृवर्ग, (देवजनाः) विद्वान् तथा दिव्यकोटि के लोग, (सर्वे देवाः) ये सब देव मिलकर तथा (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में (ब्रह्मचारिणम्, अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी के अनुगामी हो जाते हैं। (गन्धर्वाः) तथा पृथिवी का धारण करने वाले ६३३३ देव (एनम्, अनु आयन्) इस की अनुकूलता में आ जाते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (सर्वान्, देवान्) सब देवों को (तपसा) निज तपश्चर्यामय जीवन द्वारा (पिपर्त्ति) प्रसन्नता से भरपूर कर देता है।

[गन्धर्वाः=गौः पृथिवी (निघं० १।१)+धर्वाः (धृञ् धारणे)। "गन्धर्वाः" का अर्थ पृथिवी का धारण करने वाले शासक-अधिकारी यदि अभिप्रेत हों, तब ६३३३ संख्या इन शासक-अधिकारियों की वेद ने नियत की है, जोकि सार्वभौम शासनार्थ होनी चाहिये। इस संख्या की उत्पत्ति निम्न प्रकार है:—

(१) शासन के लिये वेद ने "त्रीणि सदांसि" अर्थात् तीन सभाएं कही हैं। यथा "त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि" (ऋ० ३।३८।६) । तीन सभाएं हैं "विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६) । विद्यार्यसभा शिक्षा के लिये, धर्मार्यसभा नियमनिर्माण तथा तदनुसार न्याय के लिये, तथा राजार्यसभा राज्य-शासन के लिये। सत्यार्थप्रकाश में इन सभाओं के साथ "आर्य" शब्द का प्रयोग है। आर्य का अभिप्राय है श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदाचारी, सत्यानुष्ठानी।

(२) "सार्वभौमशासक" सर्वोपरि शक्ति है, जोकि समग्र पृथिवी की प्रजाओं द्वारा वरण किया गया है । इस के निरीक्षण में तीन सभाएं कार्य करती हैं।

(३) प्रत्येक सभा में १ सभापति होता है और न्यून से न्यून १० पारिषद्य या पारिषद। इसे मनु में "दशावरा वा परिषद्" कहा है। १ सभापति और १० पारिषद्यों को "देवा एकादश" कहा है (यजु० २०।११)। ये "एकादश देवाः" ३ भागों या सभाओं में विभक्त हैं "त्रया देवा एकादश" (यजु० २०।११)। इन तीन सभाओं के ग्यारह देवों अर्थात् दिव्य सभासदों में एक-एक पुरोहित होता है, मुखिया होता है जिसे कि बृहस्पति कहा है "बृहस्पतिपुरोहिताः" (यजु० २०।११)। ये तीन सभाएं सार्वभौम राजा की रक्षा करती हैं "देवा देवैरवन्तु मा" (यजु० २०।११)। यजु० २०।११ की विस्तृत व्याख्या के लिये देखो मत्कृत "यजुर्वेद स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा" (प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरयाणा)।

(४) प्रत्येक सभा का सभापति तो सभा का प्रबन्धक है, और शेष १० अधिकारी अपने-अपने विभागों, महकमों के शासक होते हैं। प्रबन्धकों और शासकों को मिलाकर तीन सभाओं में ११×३=३३ होते हैं। ये ३३ देव हैं, दिव्यकोटि के शासक हैं; सार्वभौम शासक हैं।

(५) दशावरा परिषदों के दस-दस शासकों में प्रत्येक के अधीन दस-दस उपशासक हों। इस प्रकार प्रत्येक परिषद् के अधीन दस-दस उपशासकों की संख्या होती है १००। अतः तीन परिषदों के उपशासक ३०० होते हैं। संख्या (४) के ३३ देव तथा संख्या (५) के ३०० देव मिल कर ३३३ देव हुए।

(६) ३०० उपशासकों में से प्रत्येक उपशासक के अधीन बीस-बीस और उपोपशासक हों। इस प्रकार उपोपशासक होते हैं ३००×२०=६००० । अतः कुल योग=३३+३००+६०००=६३३३ ।

(७) काण्ड ११। सूक्त ५ में ब्रह्मचारी का वर्णन होने से सूक्त में आधिभौतिक वर्णन है। इसलिये ६३३३ देव भी आधिभौतिक ही प्रतीत होते हैं।

(८) आधिदैविक दृष्टि से, विना दूरबीन के तीव्र दृष्टि द्वारा देखने से दृष्टिगोचर सम्भवतः ६३३३ तारा हों।

(९) तथा "यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे" के अनुसार सम्भवतः शरीरस्थ ६३३३ अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा नाड़ियां अभिप्रेत हों।

बृहदारण्यकोपनिषद् में केवल हृदय की नाड़ियों की संख्या निम्न प्रकार दर्शाई है:—

"हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते" (अध्याय २, ब्राह्मण १), अर्थात् हितानामक नाड़ियां ७२हजार हैं, जोकि हृदय से पुरीतत् की ओर जाती हैं। सुषुम्णा की नाड़ियां इन से अतिरिक्त हैं। सम्भवतः ६३३३ संख्या मुख्य-मुख्य अंग-प्रत्यंगों, तथा मुख्य नाड़ियों की अभिप्रेत हो। नाड़ियों के सम्बन्ध में देखो बृहदा० उप० अध्या० ४, ब्राह्मण ३, खण्ड २०।

आध्यात्मिक दृष्टि में:—

१	तीन शरीर =	स्थूल शरीर,	सूक्ष्म शरीर,	कारण शरीर	=	३
२	प्रत्येक शरीर में ऐन्द्रियिक शक्तियां=	१०	१०	१०	=	३०
३	सौ वर्ष काल में शारीरिक परिवर्तन=	१००	१००	१००	=	३०० प्रतिवर्ष दृष्टि से
४	„ „ ऐन्द्रियिक दैवी परिवर्तन=	१००×१०	१००×१०	१००×१०	=	३००० दैवी भेद
५	„ „ में आसुरी „ =	„	„	„	=	३००० आसुरी „
	ऐन्द्रियिक परिवर्तनों के दो भाग			कुल	=	६३३३

६३३३ संख्या के सम्बन्ध में उपरि लिखित व्याख्याएं केवल सुझाव रूप हैं। इस सख्या के सम्बन्ध में निश्चितरूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। सायणाचार्य ने लिखा है कि **"वैश्वदेवनिविदि देवानां संख्या उत्तरोत्तरं भूयसी, तन्माहात्म्यप्रतिपादनाय समाम्नायते। यथा "ये स्थ त्रय एकादशाः, त्रयश्च त्रिंशच्च, त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रा "इति प्रक्रम्य" अतो वा देवा भूयांसः स्थ"** इति (निविदि १।७)। "अर्थात् इस प्रकार प्रदर्शित ६३३३ दैवी संख्या, केवल दैवों के महात्म्य का प्रदर्शन करती है। संख्या अनुसंन्धान योग्य है]।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥

(ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (उपनयमानः) अपने समीप प्राप्त करता हुआ (आचार्यः) आचार्य, (अन्तः) विद्या या गायत्री या निज स्वरूप में (गर्भम् कृणुते) गर्भरूप में [पालित] करता हैं, (तम्) उस गर्भीभूत को (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्री पर्यन्त (उदरे) उदर में (बिभर्ति) धारित तथा परिपुष्ट करता है। (जातम्, तम्) पैदा हुए उस को (द्रष्टुम्) देखने के लिये (अभि) उस के संमुख (देवाः) देवकोटि के लोग (संयन्ति) मिल कर जाते हैं।

[उपनयमानः=उपनयन संस्कार द्वारा निज सामिप्य में लाता हुआ। वर्तमान काल में पुरोहित बच्चों का उपनयन तो करा देते हैं, परन्तु उन के साथ समीपता में नहीं रहते। ब्रह्मचारिणम्=उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी ब्रह्म में तथा वेद-विद्या में विचरता है। गर्भमन्तः=आचार्य ब्रह्मचारी को निज सामीप्य में लेकर उसकी रक्षा तथा पालन-पोषण इस प्रकार करे जैसे कि माता गर्भस्थ बच्चे की रक्षा तथा पालन-पोषण करती हैं। तिस्रः रात्रीः=ब्रह्मचर्य के तीन काल हैं, वसु काल २४ वर्षों की आयु तक, रुद्रकाल ३६ वर्षों की आयु तक, आदित्य काल ४८ वर्षों की आयु तक। ४८ वर्षों की आयु के काल को "तिस्रः रात्रीः" कहा है। ब्रह्मचारी के लिये यह काल रात्रीरूप है। इस काल को ब्रह्मचारी निज के लिये अन्धकाररूप जाने, और आचार्य द्वारा प्रदर्शित जीवन मार्ग के प्रकाश द्वारा जीवनचर्या करे। जातम्=शारीरिक जन्म तो माता पिता देते हैं, परन्तु द्वितीय-जन्म आचार्य देकर, ब्रह्मचारी को द्विजन्मा बनाता है। यह द्वितीयजन्म, श्रेष्ठजन्म है।

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥४॥

(इयं पृथिवी) यह पृथिवी (समित्) पहली समिधा हैं, (द्यौः) द्युलोक (द्वितीया) दूसरी है, (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [तीसरो] है, (समिधा) इस प्रत्येक समिधा द्वारा ब्रह्मचारी (पृणाति) [निज मानसिक, और अध्यात्मिक अग्नि को] पालित करता हैं। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) प्रत्येक समिधा द्वारा, (मेखलया) मेखला अर्थात् कटिबन्ध द्वारा (श्रमेण) परिश्रम द्वारा, (तपसा) तथा तपश्चर्या द्वारा (लोकान्) पृथिवीस्थ लोकों को (पिपर्ति) परिपालित तथा सुखों से परिपूरित करता है।

[पृणाति, पिपर्ति=पृ पालनपूरणयोः। अभिप्राय यह कि ब्रह्मचारी को प्रथम पार्थिव तत्वों-तथा-विषयों का परिज्ञान देना चाहिये, तदनन्तर अन्तरिक्ष लोक, तथा द्युलोक का। मन्त्र में छन्दः पूर्ति के लिए द्यौः और अन्तरिक्षम्—यह क्रम रखा है। मन्त्र में यह भी अभिप्रेत है कि ब्रह्मचारी कटिबद्ध होकर, त्रिलोकी रूपी तीन समीधाओं को, मन तथा आत्मरूपी, अग्नि में, धारण करता हुआ, अर्थात त्रिलोकी का ज्ञान प्राप्त करता हुआ, और परिश्रम तथा तपोमय जीवन व्यतीत करता हुआ, पृथिवीस्थ लोगों को ज्ञानप्रदान द्वारा परिपालित तथा सुखों से पूरित करता हैं। लोकाः=लोग। यथा **"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तद् देवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते"** (गीता ३।२१)। श्लोकस्थ लोकः=लोग]।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥

(पूर्वः) पूर्वाश्रमस्थ (ब्रह्मचारी) वेद विद्या तथा ब्रह्म में विचरने वाला ब्रह्मचारी, (ब्रह्मणः) वेद माता के गर्भ से (जातः) द्विजन्मा रूप में पैदा होता है, जन्म लेता है, (घर्मम्) शरीर पर उष्णता का (वसानः) वस्त्र धारण करता हुआ (तपसा) तपोमय जीवन द्वारा (उदतिष्ठत्) उत्थान अर्थात् उन्नति करता है। (तस्मात्) उस ब्रह्मचारी से (ज्येष्ठं ब्राह्मणम्) सबसे ज्येष्ठ परमेश्वर, और (ब्रह्म) वेदज्ञान (जातम्) प्रकट होता है, तथा (सर्वे देवाः) ब्रह्मचारी की सब दिव्यशक्तियां (अमृतेन साकम्) अमृत अर्थात् अमर परमेश्वर के साथ मिल जाती हैं, परमेश्वरीय कार्यों के अनुरूप हो जाती हैं (मन्त्र २३)।

[घर्मं वसानः=ब्रह्मचारी का शरीर, बिना वस्त्र धारण किये, गर्म रहता है। ब्राह्मणम्=ब्रह्मैव ब्राह्मणम्, स्वार्थेऽण्। "ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः" (अथर्व. १०।७।१७) में ब्राह्मणम् से अभिप्राय "ब्रह्म" का है, और इस का विशेषण है "ज्येष्ठम्"। तदनुसार व्याख्येय मन्त्र में "ज्येष्ठम्" विशेषण "ब्राह्मणम्" का प्रतीत होता है। सच्चे ब्रह्मचारी की शक्तियां, दिव्य बन कर, अमर ब्रह्म सदृश पवित्र तथा स्वार्थ-हीन और परोपकार करने वाली हो जाती हैं]।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥६॥

(समिधा समिद्धः) त्रिलोकी के ज्ञानरूपी तीन समिधाओं से प्रदीप्त (मन्त्र ४), (कार्ष्णम्) आकर्षकरूप का (वसानः) वस्त्र ओढ़ा हुआ, (दीक्षितः) ब्रह्मचर्य के व्रतों वाला, (दीर्घश्मश्रुः) लम्बी दाढ़ी और मूंछों वाला (एति) ब्रह्मचर्याश्रम से आता है। (सः) वह (सद्यः) शीघ्र (पूर्वस्मात्) पूर्व समुद्र से (उत्तरं समुद्रम्) उत्तर के समुद्र तक (एति) पहुंचता है, और (लोकान् संगृभ्य) लोक-संग्रह करता हुआ, (मुहुः) वारम्वार या अत्यर्थरूप में (आचरिक्रत्) सदाचार का सदुपदेश करता है।

[पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रम्=अथर्ववेद का आङ्ग्ल भाषा में भाष्यकार "विलियम ह्विटह्विटनी" अथर्व० ११।१।५५ की टिप्पणी में लिखते हैं कि "we are surprised to find a "Nor.hern" ocean spoken of, and set over against the "Eastern" one, But "uttar" can not well mean anything else." अर्थात् मन्त्र में उत्तर समुद्र और पूर्व समुद्र के वर्णन से हम आश्चर्यान्वित हैं। परन्तु "उत्तर" का अर्थ और कुछ नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द "उत्तर समुद्र का अर्थ" गृहस्थाश्रम करते हैं, और पूर्व समुद्र का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम (ऋग्वेद० भूमिका, वर्णाश्रमधर्म) "दीर्घश्मश्रुः" पद द्वारा ब्रह्मचारी की पूर्ण यौवनावस्था को सूचित किया है। इस अवस्था को "बृहच्छेपः" पद (अर्थात् बृहल्लिङ्गी) भी सूचित करता है (मन्त्र १२)। कार्ष्णं वसानः="कृष्णमृग सम्बन्धित अजिन (चर्म, मृगछाला) वसानः धारयन्" (सायणाचार्य)]।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥७॥

(ब्रह्म) वेदविद्या को, (अपः) कर्तव्य कर्म को, (लोकम्) लोकज्ञान को (प्रजापतिम्) प्रजाओं के पति गृहस्थी तथा राजा के कर्तव्यों को (विराजं परमेष्ठिनम्) तथा देदीप्यमान परमोच्च स्थिति वाले परमेश्वर को (जनयन्) प्रकट करता हुआ, इनके यथार्थ स्वरूपों का कथन करता हुआ, [मुहुराचरिक्रत् मन्त्र ६], और (अमृतस्य) अमृत होने की (योनौ) योनि अर्थात् वेदमाता की योनि में (गर्भः भूत्वा) गर्भीभूत हो कर, (इन्द्रः भूत्वा) और इन्द्र पदवी को पा कर (असुरान्) आसुर विचारों तथा आसुर कर्मों का (ततर्ह) विनाश करता है।

[ब्रह्म=वेद, यथा "त्रयं ब्रह्म सनातनम्, ऋग्यजुः सामलक्षणम्" (मनु०)। अपः=कर्म (निघं० २।१) गीता में कहा है कि "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (४।१६)। अतः पूर्ण ब्रह्मचारी कर्म विद्या को भी प्रकट करता है। लोकम्=लोक-ज्ञान तथा लोक-संग्रह (मन्त्र ६) तथा (मन्त्र ८)। योनौ=उदरे, (मन्त्र ३)। वेदमाता के गर्भ अर्थात् उदर में। वेद को माता भी कहा है। यथा "स्तुता मया वरदा वेदमाता" (अथर्व० १९।७१।१)। वेदमाता के गर्भ में वास कर और उस के ज्ञान दुग्ध का पानकर व्यक्ति अमृत हो जाता है, जन्म-मरण की परम्परा से दीर्घकाल के लिए मुक्ति पा लेता है। इन्द्रः[1]=चतुर्थाश्रमी (देखो मन्त्र १६ की व्याख्या) असुरान्=यथा "देवासुरसंग्राम"। इस संग्राम में चतुर्थाश्रमी-ब्रह्मचारी देव है, और असुर और आसुर कर्म असुर हैं]।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

(उर्वी) विस्तृत और (गम्भीर) गहरे (इमे उभे) इन दो (नभसी,-पृथिवीं दिवं च) नभों अर्थात् पृथिवी और द्युलोक को, (आचार्यः) आचार्य (ततक्ष) घड़ता है [इन के models, प्रतिरूप, नमूने बनाता है] (ते) उन दो प्रतिरूपों को (ब्रह्मचारी तपसा रक्षति) ब्रह्मचारी तपोमय जीवन व्यतीत करता हुआ सुरक्षित करता है, (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी में (देवाः) पृथिवी और द्युलोक के देव (संमनसः) सांमनस्यरूप में (भवन्ति) हो जाते हैं।

---

१. इन्द्र का अर्थ "जीवात्मा" भी होता है, जो इन्द्रियों का स्वामी है। इन्द्र शब्द द्वारा चतुर्थाश्रमी को आत्मशक्ति-सम्पन्न सूचित किया है। ऐसा व्यक्ति देवासुर-संग्राम में असुरों और आसुरी वृत्तियों पर विजय पा सकता है।

[पृथिवीलोक और द्युलोक अति विस्तृत हैं, और गम्भीर हैं। पृथिवी के गहरे भागों में क्या क्या विद्यमान है, तथा द्युलोक के अति विस्तृत और गहरे अर्थात् दूर तक भीतर के भागों में कौन कौन से और किस-किस प्रकार के तारा हैं,—इन का ज्ञान ब्रह्मचारी को देने के लिये आचार्य, इन के models बनाता है, प्रतिरूप, नमूने तथा चित्रपट बनाता है। ब्रह्मचारी इन को सुरक्षित रखता है। इन प्रतिरूपों द्वारा पार्थिव तथा द्युलोक के देवों अर्थात् घटक-तत्त्वों का परिज्ञान ब्रह्मचारी में सामञ्जस्य रूप में, परस्पर अविरोधरूप में रहता है, इस का कारण ब्रह्मचारी का तपोमय जीवन है, वह भोग विलास में न पड़ता हुआ सदा प्राप्त ज्ञान के अभ्यास में रत रहता है। ततक्ष=तक्षू तनूकरणे, अर्थात् सूक्ष्म, छोटे प्रतिरूप घड़ना]।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥९॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) प्रथमाश्रमी ब्रह्मचारी, (इमाम् पृथिवीम्) इस प्रथित अर्थात् विस्तृत (भूमिम्) भूमि [के ज्ञान] को, (च दिवम्) और विस्तृत द्युलोक [के ज्ञान] को (भिक्षाम्) भिक्षारूप में (आ जभार) आहृत करता हैं, प्राप्त करता है। (ते) उन दो लोकों को (समिधौ कृत्वा) दो समिधाएं कर के (उपास्ते) निज ज्ञानाग्नि की उपासना अर्थात् परिचर्या करता है। (तयोः) उन दो में (विश्वा भुवनानि) सब सत्पदार्थ सब (आर्पिता) अर्पित हैं, आश्रित हैं। भुवनानि=भू सत्तायाम्, सत्पदार्थ।

[प्रथमाश्रम का ब्रह्मचारी भूमि और द्युलोक के ज्ञान को, भिक्षारूप में, आचार्य से ग्रहण करता है। इस निमित्त, आर्थिक व्यय उसे नहीं करना पड़ता। प्रथमाश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में उस को भिक्षावृत्ति नहीं रहती। गृहस्थाश्रम के निर्वाह के लिये उसे स्वयं धनोपार्जन करना होता है। वह भूलोक और द्युलोक को समिधा बना कर, निज ज्ञानाग्नि को, प्रदीप्त करता है। इन्हीं दो लोकों के अन्तर्गत सब सत्पदार्थ विद्यमान रहते हैं। इसलिये इन दो लोकों के परिज्ञान के अन्तर्गत सभी सत्पदार्थों का परिज्ञान उसे हो जाता है। "पृथिवीम्" पद भूमिम् और दिवम् दोनों का विशेषण है, जोकि इन दोनों के विस्तार का द्योतक है। "पृथिवीम्" पद मन्त्र ८ में पठित "उर्वी" पद का, समानार्थक है]।

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥

(अर्वाक्) इधर (अन्यः) भिन्न प्रकार की निधि है, (दिवस्पृष्ठात्) और द्युलोक की पीठ से (परः) परे (अन्यः) उस से भिन्न प्रकार की निधि है,—ये (निधी) दोनों निधियां (ब्राह्मणस्य) वेदज्ञ ब्रह्मचारी की (गुहा) हृदय या मस्तिष्क की गुफा में (निहितौ) स्थित रहती हैं। (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् वेद में विचरने वाला (तपसा) तपोमय जीवन द्वारा (तौ) उन दोनों ज्ञाननिधियों को (रक्षति) निज हृदय या मस्तिष्क में सुरक्षित करता है, (ब्रह्म विद्वान्) वेद का जानने वाला (तत्) उस वेदज्ञान को (केवलम्) केवल अर्थात् एकमात्र लक्ष्य (कृणुते) करता है।

[इधर निधि है पृथिवी, और द्युलोक की पीठ से परे निधि है द्युलोक। द्युलोक की पीठ भूलोक की ओर है, और मुख ऊपर अर्थात् ऊर्ध्व की ओर है। इन दोनों का परिज्ञान दो निधियां हैं, जिन्हें कि ब्रह्मचारी निज गुहा में सुरक्षित रखता है। **"ब्राह्मणस्य=अधीतवेदस्य। निधि-वेदात्मकः। गुहा हृदयरूपा। विद्वान् वेदार्थरहस्याभिज्ञः"** (सायणाचार्य)। सायणाचार्य की दृष्टि में मन्त्रपठित ब्राह्मणपद जातिपरक नहीं, अपितु यौगिकार्थपरक है]।

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

(अन्यः) एक अग्नि (अर्वाक्) इधर अर्थात् पृथिवी[1] की ओर है, (इतः पृथिव्याः) इस पृथिवी से परे (अन्यः) उस से भिन्न अग्नि है, (इमे अग्नी) ये दोनों अग्नियां (नभसी अन्तरा) पृथिवी और द्यौ के मध्य[2]

१. चन्द्रमा का सम्बन्ध अर्वाक् अर्थात् पृथिवी से है। यह पृथिवी से पैदा हुआ और पृथिवी की परिक्रमा करता है।

२. अर्थात् अन्तरिक्ष में।

भाग में (समेतः[1]) परस्पर मिलती हैं। (तयोः) उन दो अग्नियों में (दृढाः[2] रश्मयः) दृढ रश्मियां (अधि श्रयन्ते) आश्रित हैं, (ब्रह्मचारी तपसा) ब्रह्मचारी तप के प्रभाव से (तान्) उन रश्मियों पर (आ तिष्ठति) आ-स्थित होता है।

[मन्त्र १० से "परः" पद का अन्वय मन्त्र ११ में हुआ है। दो अग्नियों में से एक अग्नि है चान्द्राग्नि, और दूसरी है सौराग्नि। इन में की रश्मियां परस्पर पृथिवी और द्यौ के अन्तराल में मिलती हैं। दोनों की रश्मियां दृढ़[2] हैं, मजबूत हैं। ब्रह्मचारी अपने तप के प्रभाव से इन रश्मियों पर आरूढ़ हुआ दोनों लोकों में जाता-आता और आकाश गमन कर सकता है। "कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमगमनम्" (योग ३।४२), अर्थात् शरीर और आकाश के परस्पर सम्बन्ध में संयम से, और हलकी कपास में चित्त को तल्लीन करने से, योगी आकाशगमन करता है। इस सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि ने कहा है कि "योगी के शरीर के लघु हो जाने पर, योगी पैरों द्वारा जल के पृष्ठ पर, तथा रश्मियों में विहार करता, और आकाश में यथेष्ट गमन करता है"। व्यास भाष्य में आकाश गमन के लिये निम्नलिखित क्रम हैं, (१) जलपृष्ठ पर चलने का अभ्यास, (२) तदनन्तर मकड़ी के जाले के सदृश सूक्ष्म प्रत्येक वस्तु पर विहार का अभ्यास, (३) पश्चात् आकाशगमन की सिद्धि[3]। वर्तमान में बड़े-बड़े भारी विमान आकाशविहारी हो रहे हैं, पक्षी

१. अन्तरिक्ष में इन दो अग्नियों, चान्द्राग्नि और सौराग्नि का अपनी-अपनी रश्मियों द्वारा संगम होता है। और संगम के कारण योगी निचली और ऊपर की रश्मियों में जा-आ सकता है। विना संगम, आश्रय न मिलने के कारण, जाना-आना नहीं हो सकता।

२. रश्मियों के दृढ़ होने से ही, दृढ़ सीढ़ी के सदृश, नीचे-ऊपर जाना-आना सम्भव होता है।

३. सूक्ष्माति सूक्ष्म वस्तुओं पर विहार करने की इसलिए आवश्यकता होती है चूंकि लोक लोकान्तरों में गमन और वहां से आगमन करने में,—स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम आदि स्तरों में से योगी को गुजरना पड़ेगा, अतिदूर जा कर आई-ओनिक स्तर भी आते हैं, जो कि सूक्ष्मतमातिसूक्ष्म हैं। बिना अभ्यास के ऐसे स्तरों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। यजुर्वेद १७।६७ मन्त्र इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। यथाः—

तो विना विमानों के आकाशविहारी हैं। योगी का योगाभ्यास भी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिस के द्वारा वह आकाशगमन करता है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद मं० १०, सू० १३६ द्रष्टव्य है। सूक्तगत मन्त्रों के कतिपय भागों का आङ्गल भाषा में अनुवाद दिया जाता है ताकि खींचातानी का शक न रहे। "वातस्यानु ध्राजिं यन्ति" (मन्त्र २), The munis following the winds swift course go। "वातां आ तस्थिमा वयम्" (मन्त्र ३), "we have pressed on into the wind"। 'अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्" (मन्त्र ४,) The muni looking upon all varied forms flies through the region of the air. "उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतावरः" (मन्त्र ५), "The muni in both the oceans half his home, in eastern and in western sea" Everywhere in the firmament from its eastern to its western extremity"

यद्यपि यह अनुवाद मन्त्रांशों के अभिप्रायों को ठीक प्रकट नहीं करता, तो भी अनुवाद से यह प्रकट हो जाता है कि वायु में विहरण और आकाशगमन वेदों के अनुकूल है। अर्वाक्=अवर+अञ्च् (गतौ)]।

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार। ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥

(अभिक्रन्दन्) शब्द करता हुआ, (स्तनयन्) गरजता हुआ, (अरुणः) आरोचमान हुआ, (शितिङ्गः) शुभ्र वायुमण्डल को प्राप्त हुआ मेघ—

पृथिव्या अहमन्तरिक्षमाऽरुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

योगी कहता है कि मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष पर आरूढ़ हुआ हूं, अन्तरिक्ष से द्युलोक पर, तथा वहां से स्वर्ज्योति पर मैं आ गया हूं। इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द का लेख अतिमहत्व का है। यथा—"जब मनुष्य अपनी आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है। उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों पर जा सकता है, अन्यथा नहीं"।

(बृहच्छेपः) प्रवृद्ध-लिङ्गेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी का (अनुजभार) अनुहरण अर्थात् अनुकरण करता है, और (भूमौ) भूमि पर तथा (सानौ) पर्वतों पर (रेतः) जल (सिञ्चति) सींचता है, (तेन) उस द्वारा (पृथिव्याम्) पृथिवी में (चतस्रः प्रदिशः) चहुंदिग्-निवासी प्रजाजन (जीवन्ति) जीते हैं, वैसे (अभिक्रन्दन्) ललकारता हुआ, (स्तनयन्) मेघसदृश गरजता हुआ, (अरुणः) देदीप्यमान, (शितिङ्गः) शुभ्रकर्मों को प्राप्त हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी, (भूमौ) भूमि में (सानौ) और पर्वतों में (रेतः) निज सदुपदेशों का जल (सिञ्चति) सींचता है; (तेन) और उस द्वारा (पृथिव्याम्) पृथिवी में (चतस्रः प्रदिशः) चहुंदिग्-निवासी प्रजाजन (जीवन्ति) नव जीवन प्राप्त कर जीते हैं।

[अभिक्रन्दन्=मेघ; यथा **"अभिक्रन्दत्योषधीः"** (अथर्व० ११।४।४)। ब्रह्मचारी पक्ष में ललकारना, आह्वान करना, "क्रदि आह्वाने", यथा **"मल्लोमल्लमाह्वयते"**। अनुजभार=अनुहरणम्, अनुकरणम्। यथा **"बालः मातरमनुहरति"**। बृहच्छेपः= इस द्वारा ब्रह्मचारी के पूर्ण यौवन को सूचित किया है। पूर्णयुवा को उपदेश देने का अधिकार है। "बृहच्छेपः" शब्द गृहस्थ प्रवृति का द्योतक नहीं। क्योंकि वह बृहच्छेप होता हुआ भी ब्रह्मचारी है। रेतः उदकनाम (निघं० १।१२)। अरुणः=आरोचमानः (निरुक्त ५।४।२१)। शितिङ्गः=शितिः शुक्लो वा (उणा. ४।१२३; महर्षि दयानन्द)+गः (गमनम्)। गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। प्राप्त्यर्थ अभिप्रेत है। मन्त्र वर्णन में मेघ और ब्रह्मचारी में परस्पर उपमानोपमेय-भाव है]।

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्य१प्सु समिधमा दधाति।
तासामर्चीषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः॥१३॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्म और वेद विद्या में विचरने वाला, (सूर्ये) सूर्य के निमित्त, (चन्द्रमसि) चन्द्रमा के निमित्त, (मातरिश्वन्) अन्तरिक्ष में फैली हुई वायु के निमित्त, (अप्सु) जलों के निमित्त, (अग्नौ) अग्नि में (समिधम्) समिधा का (आ दधाति) आधान करता है। (तासाम्) उन समिधाओं की (अर्चीषि) ज्वालाएं (पृथक्) पृथक्-पृथक् (अभ्रे) मेघ के निमित्त या मेघ में (चरन्ति) गति करती हैं, (तासाम्) उन ज्वालाओं का परिणाम है;—(आज्यम्) घृतादि पदार्थ, (पुरुषः) पुरुषादि प्राणी, (वर्षम्) वर्षा, (आपः) तथा नदी आदि के जल।

[मन्त्र में "अग्नौ" में अधिकरण सप्तमी है, और शेष पदों में निमित्त सप्तमी। "समिधम्" में जात्येकबचन है, समिधम्=समिधाएं। इसीलिए "तासाम्" में बहुवचन है। सूर्यादि साधन हैं वर्षा के। यज्ञोत्थ धूम इन साधनों में मिल कर वर्षा का कारण बनता है[1]। वेदानुसार सब बालकों और बालिकाओं के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की विधि से शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। पृथिवी के सब बालक बालिकाएं करोड़ों की संख्या में हैं। प्रत्येक बालक और बालिका अग्निहोत्र यदि प्रात-सायं करे तो यज्ञोत्थ धूम की कितनी मात्रा प्रतिदिन अन्तरिक्ष में जायेगी—इसकी कल्पना की जा सकती है[2]। यह धूम वर्षा का कारण बनता है। वर्षा से आज्यादि अन्न की उत्पत्ति, अन्न अन्नरस और वीर्य, और वीर्य से पुरुषादि की उत्पत्ति होती है]।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम्॥१४॥

(आचार्यः मृत्यु) आचार्य मृत्यु रूप है, (वरुणः) वरुणरूप है, (सोमः ओषधयः पयः) सोम, ओषधि तथा जल अथवा दुग्धरूप है। (सत्वानः) आचार्य में विद्यमान ये शक्तियां (जीमूताः) मेघरूप (आसन्) होती हैं, (तैः) उन शक्तियों द्वारा (इदं स्वः) यह सुख (आभृतम्) प्राप्त होता है।

[ब्रह्मचारी के जीवन को स्वर्गीय अर्थात् सुखमय बनाने के लिए आचार्य के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। आचार्य मृत्यु है, उत्पत्ति काल से बालक पशु समान तथा शूद्रवृत्तिक[3] होते हैं, आचार्य उसके पशुत्व और शूद्रत्व का विनाश कर उन्हें विद्वान् तथा द्विजन्मा बताता है, अतः आचार्य मृत्युरूप है। वह उन्हें पापकर्म से निवारित करता है, अतः वरुणरूप है। सत्कर्मों में प्रेरित करता, अतः सोमरूप है, "षू प्रेरणे"।

१. धूम्र ज्योतिः (सूर्य, चान्द, विद्युत्), सलिल (पानी) और मरुत् (वायु) इन का सन्निपात अर्थात् मेल ही तो मेघ है। इन्हीं का वर्णन मन्त्र १३ में हुआ है।

२. गृहस्थियों और वानप्रस्थियों के अग्निहोत्र भी यज्ञोत्थ धूम के अतिरिक्त कारण हैं।

३. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

रोगोपचार करता है, अतः ओषधिरूप है । सुखों तथा सदुपदेशों की वर्षा करता है, अतः मेघरूप है। स्वभाव से जलसमान शीतल, तथा दुग्धादि अन्न प्रदान द्वारा मातृरूप[1] है] ।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥१५॥

(आचार्यः) आचार्य (प्रजापतौ) प्रजाओं के पति अर्थात् रक्षक होने के निमित्त [ब्रह्मचारी के लिये] (यत् यत्) जो-जो उपदेश देना (ऐच्छत्) चाहता है, (वरुणो भूत्वा) पापनिवारकरूप धारण कर आचार्य उस-उस उपदेश का (केवलम्) सिर्फ (घृतम्) प्रकाशमात्र, ज्ञानमात्र (अमा) उसके आश्रमनिवास में (कृणुते) कर देता है। तदनन्तर (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [गृहस्थ धारण कर] (मित्रः) मित्ररूप में अर्थात् स्नेहरूप में, (तद्) उस सदुपदेश को, (आत्मनः अधि) निज अनुभव से, (स्वान्) निजसन्तानों को (प्रायच्छत्) देता है ।

[अमा=गृहनाम (निघं० ३।४) घृतम्=घृ दीप्तौ। वरुणः (मन्त्र १४) =निवारकः । अभिप्राय यह कि सद्गृहस्थी होने के लिए, ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य काल में हो आचार्य, गृहस्थ कर्तव्यों तथा गृहस्थ धर्मों का ज्ञान दे देता है] ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥१६॥

(आचार्यः) आचार्य पहिले (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्याश्रम ग्रहण कर ब्रह्मचारी बनता है, (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हो कर (प्रजापतिः) गृहस्थ धारण कर सन्तानों का रक्षक होता है। (प्रजापतिः) प्रजापति होकर (विराट्) विशेष दीप्ती वाला वानप्रस्थी बनता है, (विराट्) वानप्रस्थी होकर (वशी) और इन्द्रियों और मन को वश में करके (इन्द्रः) इन्द्रपदवी को पाता है, परम ऐश्वर्यवान् संन्यासी या चतुर्थाश्रमी होता है।

[इन्द्रः=इदि परमैश्वर्ये । इन्द्र से अभिप्राय स्वर्गाधिष्ठाता, कल्पित, इन्द्र-देवता नहीं । मन्त्र में यह दर्शाया है कि वर्तमान में जो आचार्य था, वह भी प्रथम ब्रह्मचारी बना था। अतः आचार्यत्व के लिये योग्य था] ।

---

१. तं तिस्रः रात्रीरुदरे बिभर्ति (मन्त्र ३) ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥

(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण, तथा (तपसा) तपोमय जीवन के कारण (राजा, राष्ट्रं, विरक्षति) राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है। (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य धारण कर (ब्रह्मचारिणम् इच्छते) शिष्य को अभिलाषा करता है ।

[राजा—मन्त्र का यह अभिप्राय नहीं कि राष्ट्ररक्षा के लिये राजा को अखण्ड वीर्य (ऊर्ध्वरेतस्) होना चाहिये। मनु के कथनानुसार ऋतुगामी व्यक्ति भी ब्रह्मचारी होता है। अभिप्राय केवल इतना है कि भोगी और विषयी राजा राष्ट्ररक्षा के योग्य नहीं। इस अभिप्राय को सूचित करने के लिये तपसा शब्द का प्रयोग हुआ है। तपस्वी, न भोगरत होता है, न विषयी ।

आचार्य भी ब्रह्मचारी हो—इस का भी अभिप्राय यही है कि वह गृहस्थ जीवन व्यतीत कर, वानप्रस्थी-ब्रह्मचारी होना चाहिये, तभी तो वह मन्त्र १५ में उक्त प्रजापति सम्बन्धी सदुपदेश ब्रह्मचारी को दे सकता है। साथ ही अनुभवी होने के कारण ब्रह्मचारियों का पालन मातृवत् कर सकता है (मन्त्र ३,१४) । इस भाव को सूचित करने के लिये मन्त्र १६ में "आचार्यो ब्रह्मचारी" आदि द्वारा चातुर्वर्ण्य का कथन किया है] ।

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥

(कन्या) कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य धारण करने के पश्चात् (युवानम्) युवा-ब्रह्मचारी को (पतिम्) पतिरूप में (विन्दते) प्राप्त करती है। (अनड्वान्) बैल तथा (अश्व,) घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के प्रभाव से घासम्) घास को (जिगीर्षति) निगलना चाहता है।

[अनड्वान्, अश्वः=पशु भी अपना खाना तभी चाहते हैं जब उन की पाचनशक्ति ठीक हो, और पाचनशक्ति बिना ब्रह्मचर्य के ठीक नहीं रह सकती। पाचनशक्ति के बिना पशु खाना भी नहीं चाहता] ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥१९॥

(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या के द्वारा (देवाः) दिव्य-कोटि के विद्वान् (मृत्युम्) मृत्यु को (अपाघ्नत) समाप्त करते हैं, उस पर विजय पाते हैं, जन्ममरण से चिरकाल तक मुक्ति पाते हैं। (इन्द्रः) इन्द्र-पदवी वाला व्यक्ति भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण (देवेभ्यः) इन कथित देवों के लिये (स्वः आभरत्) मुक्ति के सुख का मार्ग दर्शाता है।

[इन्द्रः=देखो मन्त्र १६ में कथित इन्द्र।]

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥

(ओषधयः) ओषधियां, (वनस्पतयः) वनों तथा उपवनों अर्थात् उद्यानों के वृक्ष, (अहोरात्रे) दिन और रात, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) तथा ऋतुओं सहित वर्ष, (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (जाताः) हुए हैं।

[अभिप्राय यह कि रोगनाशक ओषधियां, तथा अन्नोत्पादक व्रीहि, यव आदि पौधे, और बड़े-बड़े वृक्ष भी पूर्ण यौवन पर पहुंच कर बीज तथा फलरूपी सन्तान पैदा करते हैं, अपरिपक्व अवस्था में नहीं। तथा भूतकाल और भव्य अर्थात् भविष्यत्काल, यथा एकयुग के पश्चात् अगला युग, और एक मन्वन्तर के पश्चात् अगला मन्वन्तर, अपना-अपना पूरा यौवन-काल बिता कर ही अगले काल के मानो उत्पादक होते हैं। अतः मानो ये भी निज ब्रह्मचर्य काल के नियम को पूर्ण करते हैं। दिन के नियत काल के पूर्ण हो जाने के पश्चात् रात्रि का जन्म होता, तथा रात्रि के नियत काल के पश्चात् ही दिन का जन्म होता है। इनका अपना अपना नियतकाल ही इन का कालिक-ब्रह्मचर्य है। इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु नियत काल के पश्चात् ही अगली ऋतु को जन्म देती, और नियतकाल के पश्चात् ही ऋतुएँ वर्ष को जन्म देती हैं। इस प्रकार वैदिक दृष्टि में स्थावर-जङ्गम-जगत्, तथा काल, सभी अपने अपने नियतकालों के ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं]।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२१॥

(पार्थिवाः) पृथिवीवासी, (आरण्याः) अरण्यवासी, (ये ग्राम्याः च) और जो ग्रामवासी (अपक्षाः पशवः) पंखों से रहित पशु हैं, तथा (ये) जो (दिव्याः पक्षिणः) आकाश में विचरने वाले पक्षी हैं, (ते) वे भी (ब्रह्मचारिणः जाताः) ब्रह्मचारी हुए हैं।

[पशु तथा पक्षी भी परिपक्व आयु के पश्चात् ही निज सन्तानों को पैदा करते हैं। अतः वे भी नियत कालों के ब्रह्मचारी हुए हैं]।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥२२॥

(प्राजापत्याः सर्वे) प्रजापति से उत्पन्न हुए सब प्राणी, (आत्मसु) निज शरीरों में; (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में, (प्राणान्) प्राणों को (बिभ्रति) धारण करते हैं, (तान् सर्वान्) उन सब प्राणों या प्राणियों की, (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी में (आभृतम्) पूर्णतया धारित और परिपोषित हुआ (ब्रह्म) वेदज्ञान,—(रक्षति) रक्षा करता है।

[ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यकाल में जो वेदज्ञान प्राप्त करता है, उस के आधार पर ब्रह्मचारी प्राणिमात्र की रक्षा कर सकता है। वेद में विविध प्राणियों के पालन की विधियों का भी ज्ञान विद्यमान है। उस ज्ञान के आधार पर वह ब्रह्मचारी पशुपालन की विधियों का उपदेश देकर पशुओं और प्राणियों की रक्षा करता हैं]।

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

(अनभ्यारूढम्) विरोधी शक्तियों द्वारा अनाक्रान्त, (देवानाम्) दिव्य शक्तियों का (एतत् परिषूतम्) यह निचोड़ अर्थात् सार, (रोचमानम्) प्रदीप्यमान ब्रह्मचारी (चरति) विचरता है। (तस्मात्) उस ब्रह्मचारी से (ज्येष्ठं ब्राह्मणम्) सब से ज्येष्ठ ब्रह्म, तथा (ब्रह्म) वेदज्ञान (जातम्) प्रकट होता है, (सर्वे देवाश्च) और ब्रह्मचारी की सब दिव्य शक्तियां (अमृतेन साकम्) अजर-अमर परमेश्वर के साथ मिल जाती हैं, परमेश्वरीय कार्यों के अनुरूप हो जाती हैं।

[ब्राह्मणम्=ब्रह्म (परमेश्वर), स्वार्थे "अण्", देखो (मन्त्र ५)। ब्रह्म, निःस्वार्थ तथा परोपकार भावना से और प्राणियों पर अनुग्रह करता

हुआ जगत् का निरीक्षण तथा नियन्त्रण करता है, सच्चे ब्रह्मचारी के कार्य भी एतदनुरूप हो जाते हैं (मन्त्र ५)] ।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

(ब्रह्मचारी, भ्राजत्, ब्रह्म, बिभर्ति) ब्रह्मचारी देदीप्यमान ब्रह्म अर्थात् वेद का धारण तथा पोषण करता है, (तस्मिन् अधि) उस वेद[1] में (विश्वे देवाः) सब देव[1] (समोताः) सम्यक्तया ओत-प्रोत हैं। ब्रह्मचारी (प्राणापानौ) प्राण और अपान, (आत्)[2] तत्पश्चात् (व्यानम्) व्यान, (वाचम्, मनः, हृदयम्, ब्रह्म, मेधाम्) वेदवाणी या मानुषवाणी, मन, हृदय, परमेश्वर और मेधा अर्थात् आशु विद्याग्रहण करने की शक्ति को (जनयन्) प्रकट करता रहता है।

[देवाः समोताः=वेद में सब दिव्य तत्त्व समवेत हैं, ओत-प्रोत हैं। जैसे वस्त्र में तन्तु ओत-प्रोत होते, और वस्त्र के किसी भाग में तन्तुओं का अभाव नहीं होता, वस्त्र तन्तुमय ही होता है, इसी प्रकार वेदमन्त्रों में देव अर्थात् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि, तथा वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय देव समवेत हैं, सर्वत्र वर्णित हैं, ऐसे ओत-प्रोत हैं मानो इन देवों के वर्णन के अतिरिक्त वेद की सत्ता नहीं, वेद देवतामय ही है। इसलिये जिस ब्रह्मचारी में वेद धारित है, और परिपुष्टमात्रा में विद्यमान है, वह ब्रह्मचारी वेदवर्णित प्राणापानादि के यथार्थ स्वरूपों पर प्रकाश डालने या उन के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान देने का अधिकारी है। मन्त्र के प्रथमार्ध में पठित "ब्रह्म" का अर्थ है वेद, और मन्त्र के उत्तरार्ध में पठित "ब्रह्म" का अर्थ है परमेश्वर]।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥२५॥

तथा हे ब्रह्मचारी! (अस्मासु) हम में, (चक्षुः···) चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, लोहित और उदर,—इन के यथार्थ स्वरूपों का ज्ञान भी (धेहि) स्थापित कर।

१. यथा "प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकाँसि चक्रिरे" (यजु. ३४।५७)। अर्थात् ब्रह्म (वेद) का पति परमेश्वर, निश्चय से, प्रशंसनीय मन्त्र समूह का कथन करता है, जिस मन्त्र समुदाय में इन्द्र, वरुण, मित्र अर्यमा आदि देवों ने निवासगृह रचे हैं। २. अस्मात्।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥

(तपः, तप्यमानः, ब्रह्मचारी) तपश्चर्या करता हुआ ब्रह्मचारी (सलिलस्य पृष्ठे) जल की पीठ पर, (समुद्रे) समुद्र [की पीठ या लहर] पर (अतिष्ठत्) जब स्थित होने में समर्थ हो जाता है, तब (तानि) उन [मन्त्र २४, २५ में कथित तत्त्वों तथा शरीराङ्गों] को (कल्पत्) सामर्थ्यवान् कर देता है। (सः) वह (स्नातः) स्नातक होकर, (बभ्रुः) सब का भरण पोषण करता हुआ, (पिङ्गलः) रक्तमुखवाला (पृथिव्याम्) पृथिवी में (बहु रोचते) बहुत रुचिकर अर्थात् प्रिय होता या चमकता है।

[कल्पत्=क्लृप् सामर्थ्ये। बभ्रुः=भृञ् धारणपोषणयोः। पिङ्गलः=Reddish-Broun (आप्टे)। सलिलस्य पृष्ठे, समुद्रे, अतिष्ठत्= इन पदों द्वारा ब्रह्मचारी की योगसिद्धि का वर्णन हुआ है। योग की अणिमादि सिद्धि के कारण योगी जल पर स्थित हो सकता है। मन्त्र में "सलिलस्य" पद द्वारा तालाब आदि के स्थिर और अचञ्चल जलों पर स्थित होना सूचित किया है, और "समुद्रे"[1] पद द्वारा समुद्र की चञ्चल लहर पर स्थित होना सूचित किया है। मन्त्र ११ की व्याख्या के सम्बन्ध में, (योग ३।४२) की व्याख्या में व्यासमुनि द्वारा "जल को पृष्ठ पर योगी का पैरों द्वारा विहरण करने का कथन किया है। तथा "उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च" (योग ३।३८) की व्याख्या में वाचस्पति लिखते है कि "उदाने कृतसंयमस्तज्जयात् जलादिभिर्न प्रतिहन्यते," अर्थात् उदान में संयम द्वारा जल आदि में योगी का प्रतिरोध नहीं होता। उदान वायु का नियन्त्रण, कण्ठस्थ विशुद्ध चक्र करता है]।

—:०:—

१. तथा "उभौ समुद्रावाक्षेति यश्चपूर्व उतापरः" (ऋक् १०।१३६।५) तथा अथर्व ११।५।११ की व्याख्या देखो। "आक्षेति" के दो अर्थ हैं, (१) आ-निवास करता है, (२) तथा वहाँ तक गति करता है। "क्षि निवासगत्योः"। "निवास" करने का अभिप्राय क्या "समुद्र की पृष्ठ पर" है, या उसके "किनारों पर"—यह विचारणीय है।

सूक्त ६

विषय प्रवेश

(१) सूक्त ६ में २३ मन्त्र हैं। इनमें "अंहस्" अर्थात् हनन से मुक्त होने की प्रार्थनाएं परमेश्वर से की गई हैं। अंहस् का प्रसिद्ध अर्थ "पाप" है। परन्तु यह अर्थ मन्त्र वर्णनों के अनुकूल नहीं प्रतीत होता, इस लिये "अंहस्" की धातु "हन" के अर्थ के अनुसार मन्त्र व्याख्या की गई है। निरुक्त में "अंहुः, अंहतिः, अंहस् अंहुरः, अंहुरणम्"—पदों की व्याख्या में इनके अर्थ "पाप" नहीं किये। अतः पाप से भिन्न अर्थ भी अंहस् के अभिमत हैं। अतः मन्त्र व्याख्या में "अंहस्" का अर्थ "हनन" किया गया है जो कि मन्त्र भावना के अनुकूल प्रतीत होता है।

(२) मन्त्रों में "ब्रूमः" शब्द पठित है। इस का अर्थ "हम कथन करते है"—ऐसा किया है। सायणाचार्य ने इन मन्त्रों में पठित "ब्रूमः" के दो अर्थ दिये हैं, "स्तुमः यद्वा इष्टफलं याचामहे"। मन्त्र में ओषधियों, जड़ वस्तुओं, तथा सर्प राक्षस से आदि इष्टफल की याचना बुद्धिग्राह्य नहीं।

(३) मन्त्रों में वनस्पति, ओषधि, वीरुध्, दर्भ, भङ्ग, यव (जौं), दिशाएं, उपदिशाएं, अहोरात्र, हायन, संवत्सर, ऋतु, मास, पार्थिव-आरण्य पशु, पक्षी, पर्वत, समुद्र, नदी, वात, पर्जन्य, अन्तरिक्ष आदि जड़ वस्तुओं, तथा आधिदैविक वरुण, विष्णु, सविता, धाता, आदि जड़ देवताओं से प्रार्थनाएं उपपन्न नहीं हो सकतीं। इस लिये मन्त्रों में "हे परमेश्वर"! ऐसा अध्याहार कर प्रार्थनाओं की यथार्थता दर्शाई है।

(४) मन्त्रों में प्रभुस्थ देवताओं का भी वर्णन हुआ है। यथा "सत्य-सन्धान्, ऋतावृधः, तथा पत्नीभिः सह (१९,२०)। इन से की गई प्रार्थनाएं तो उचित ही हैं; परन्तु इन मन्त्रों में भी "हे परमेश्वरः" इस अध्याहार का का समन्वय होता है।

(५) **दिवि देवा, अथर्वाणः, तथा अङ्गिरसो मनीषिणः** (१३) पर विचार।

(६) मन्त्र (१४) में "**ऋचः, सामानि, भेषजा यजूंषि**" में "भेषजा" पद औषध प्रधान अथर्ववेद का निर्देशक है। ऋचः और सामानि का प्रायः

इकट्ठा वर्णन वेदों में हुआ है। क्योंकि इन दोनों का परस्पर आधाराधेय का सम्बन्ध है। ऋचाओं के आधार पर साम गाया जाता है, जैसे कि गेय रचना पर राग या गान। इन दोनों और यजूंषि के मध्य में "भेषजा" पद पठित हैं, यह दर्शाने के लिये कि "भेषजा" पद भी वेद को सूचित करता है, केवल औषधों को नहीं।

(७) सूक्त ६ के २३ मन्त्रों में "अंहस्" अर्थात् हनन से मुक्त होने की प्रार्थनाएं की गई हैं—"अंहसः मुञ्चन्तु"। पर हनन से मोचन या मुक्ति अर्थात् छुटकारा तो तभी मिल सकता है, जब कि मोक्ष की प्राप्ति हो जाय, अन्यथा जीवात्मा जन्म-मरण की शृङ्खला से छूट नहीं सकता। मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है,—इस का वर्णन मन्त्र (२३) में हुआ है।

—:o:—

ऋषि शन्तातिः। देवता चन्द्रमा, तथा मन्त्रोक्त अनुष्टुप्; २३ बृहतीगर्भा; १८ पथ्या बृहती।

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१॥

(अग्निम्, वनस्पतीन्, ओषधीः) अग्नि, वनस्पतियों (उत) तथा (वीरुधः) लताओं, (इन्द्रं बृहस्पतिम्) इन्द्र, बृहस्पति का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, वर्णन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[मन्त्र में जिन कारणों से हनन की सम्भावना है, उन का कथन किया है। तथा उनके द्वारा हनन न होने की याचना की गई है। यह याचना परमेश्वर से की गई,—यह भाव मन्त्र का प्रतीत होता है। अग्नि आदि को, हनन के कारण रूप में, वर्णित किया है। यदि प्रार्थना इनसे की होती तो यह कहा जाता कि "ते यूयं अंहसः नो मुञ्चत," न कि "मुञ्चन्तु"। देखो (मन्त्र १८) में सायणाचार्य का अर्थ। अग्नि जलाने से, वनस्पतियों, ओषधियों और लताओं के सूख जाने से, इन्द्र अर्थात् विद्युत् तथा बृहस्पति अर्थात् वायु द्वारा अवर्षा या अतिवर्षा से, सूर्य द्वारा अतिताप और अतिसर्दी से मृत्यु की सम्भावना होती है। अग्नि आदि [पदार्थ परमेश्वरा-

धीन हैं। वह इन का नियन्ता है। अतः नियन्ता से प्रार्थना उचित प्रतीत होती है]।

बृहस्पति मध्यस्थानी देवता है। सम्भवतः वायु। यथा "**निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणाविकृत्य**" (ऋ० १०.६८।८), अर्थात् बृहस्पति, गर्जनाओं द्वारा मेघ को काट कर, वर्षा प्रदान करता है। जैसे कि बढ़ई वृक्ष से चमस को काट निकालता है। तथा "बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य" (निरुक्त १०।१।१२)। अंहसः="[1]हन्तेर्निरूढोपधात्, विपरीतात्" (निरुक्त ४।४।२५)।

ब्रूमो राजा॑नं॒ वरु॑णं मि॒त्रं विष्णु॑मथो॒ भग॑म् ।
अंशं॑ विव॑स्वन्तं ब्रूम॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥२॥

(राजानं वरुणम्) वरुण राजा, (मित्रं विष्णुम्) मित्र, विष्णु, (अथो) तथा (भगम्) भग का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं; (अंशम्) अंश, (विवस्वन्तम्) विवस्वान् का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं,—(ते) कि वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहस) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[वरुण आदि सूर्य के नाम हैं, जोकि सूर्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं। वरुण=सूर्य जोकि रश्मियों द्वारा मेघ पैदा कर, उस द्वारा अन्तरिक्ष को आवृत करता है, ढक देता है। मित्र=सूर्य जो कि स्निग्ध करने वाले उदक का अधिष्ठाता है "मिद् स्नेहने"। विष्णु=किरणों से व्याप्त सूर्य। भग=सूर्य, जो कि क्षितिज से उपर आने वाला है, परन्तु अभी आया नहीं। यथा "**अन्धो भग इत्याहुः, अनुत्सृप्तो न दृश्यते**" (निरुक्त १२।२।१३)। अंश=किरण अर्थात् अंशु, अर्थात् किरणों द्वारा उत्सृप्त सूर्य। विवस्वान्=रात्री के अन्धकार का विवासन अर्थात् निरसन करने वाला सूर्य। "**रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयते**" (निरुक्त १२।२।११)]।

ब्रूमो॑ दे॒वं स॑वि॒तारं॑ धा॒तार॑मु॒त पू॒षण॑म् ।
त्वष्टा॑रमग्रि॒यं ब्रू॑म॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥३॥

(देवम्) स्तुत्य या द्योतमान (सवितारम्) प्रेरक, (धातारम्) धारण-

१. हन्=ह्+अ+न्, अ+न्+ह्=अंह्। अंह्+असुन्=अंहस्।

पोषण करने वाले, (उत) तथा (पूषणम्) रश्मियों द्वारा परिपुष्ट का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (अग्रियम्) अगुए अर्थात् श्रेष्ठ (त्वष्टारम्) त्वष्टा का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं,—(ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

(देवम्= दिव् स्तुतौ: **देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा** (निरु० ७।४।१५)। सविता=सूर्य, जब कि उदित होने वाले सूर्य की रश्मियां द्युलोक की ओर प्रक्षिप्त होती हैं, और नीचे भूमि पर अभी अन्धकार होता है। यथा "**तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति, अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति**" (निरुक्त १२।२।१२)। यह काल उषा के प्रयाण करने के पश्चात् का है। यथा "**सवितो वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विभाति**" (ऋ० ५।८१।२)। धाता=मध्यस्थानी देवता। सम्भवतः धारक वायु। पूषा=रश्मियों द्वारा परिपुष्ट सूर्य। त्वष्टा=पार्थिव पदार्थों में रूप भरने वाला सूर्य। यथा "**य इमे द्यावा पृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्**॥ (ऋ० १०।११०।९)]।

ग॒न्ध॒र्वा॒प्स॒रसो॑ ब्रूमो अ॒श्विना॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑म् ।
अ॒र्य॒मा नाम॒ यो दे॒वस्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥४॥

(गन्धर्वाप्सरसः) अग्नि गन्धर्व है, ओषधियां अप्सराएं हैं; सूर्य गन्धर्व है, मरीचियां अप्सराएं हैं; चन्द्रमा गन्धर्व है, नक्षत्र अप्सराएं हैं; वात गन्धर्व है, आपः (जल) अप्सराएं हैं; यज्ञ गन्धर्व है, दक्षिणाएं अप्सराएं हैं; मन गन्धर्व है, ऋक् और साम अप्सराएं हैं (यजु० १८।३८-४३); (अश्विना) द्युलोक और पृथिवी लोक; (बृहस्पतिः) जल स्वामी, तथा (यः अर्यमा नाम देवः) जो अर्यमा नाम देव है, (ब्रूमः) इन का हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वरः] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[अश्विना=**द्यावापृथिव्यौ** (निरुक्त १२।१।१)। ब्रह्मणस्पतिः=**ब्रह्म उदकम्, अन्नम्, धनम्** (निघं० १।१२; २।७; २।१०)। अर्यमा=**आदित्योऽरीन् नियच्छति** (निरुक्त ११।३।२३)]।

अथवा—गन्धर्वाप्सरसः=गो (पृथिवी निघं० १।१)+धर्व (धृञ् धारणे)=राजवर्ग। अप्सराएं=राजवर्ग की रूपवती स्त्रियां। **अप्स इति**

रूपनाम, तद्वा भवति, रूपवती (निरुक्त ५।३।१३)। अश्विना[1]=सैनिक, नागरिकविभागों के दो अधिपति, ब्रह्मणस्पतिः=वैदिक महाविद्वान्। अर्यमा[2]=राष्ट्र के अरियों, शत्रुओं का नियमन करने वाला आदित्य सम तेजस्वी न्यायाधीश। राष्ट्र के ये शासक भी अज्ञान वश, धन के लोभ, तथा पक्षपात द्वारा हमारा हनन न करें—यह प्रार्थना परमेश्वर से की है]।

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥५॥

(अहोरात्रे) दिन और रात, (उभा सूर्याचन्द्रमसौ) तथा सूर्य और चन्द्र दोनों का (इदं ब्रूमः) हम यह कथन करते हैं, तथा (विश्वान्) सभी (आदित्यान्) अदिति अर्थात् अनश्वर प्रकृति से उत्पन्न सब का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं कि (ते) वे (हे परमेश्वर !) (नः) हमें (अहंस,) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[प्राकृतिक पदार्थों, भिन्न-भिन्न कालों तथा प्राणियों द्वारा सम्भाव्यमान कष्टों तथा मृत्युओं से बचे रहने की प्रार्थनाएं परमेश्वर से इन मन्त्रों में की गई हैं। इन प्रार्थनाओं द्वारा प्रार्थियों की आस्तिक भावनाओं को प्रदर्शित किया है। अदिति=अ+दो (अवखण्डने)=न खण्डित अर्थात् विनष्ट न होने वाली प्रकृति]।

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥६॥

[वातम्) वायु, (पर्जन्यम्) मेघ, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (अथो) तदनन्तर (दिशः) दिशाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं; (च सर्वाः आशाः) और सब अवान्तर दिशाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर !] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

---

१. अश्विना=राजानौ पुण्यकृतौ (निरुक्त १२।१।१)।

२. "अर्यमाऽऽदित्योऽरीन्नियच्छति" (निरुक्त ११।३।२३); मन्त्र में "अरीन् नियच्छति" के आधार पर न्यायाधीश अर्थ किया है।

[दिशः=पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाएं। इन द्वारा सामान्य रूप से वस्तुओं की सापेक्ष स्थितियों का निर्देश किया जाता है। आशाः=दो दो दिशाओं के मध्य में स्थित अवान्तर दिशाएं। पर्जन्य=जनहितकारी तृप्तिदायक मेघ। तृप् (तृप्तौ)+जन्यः (जनहितकारी। दिशः=निर्देश के साधन]।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥७॥

(अहोरात्रे) दिन और रात, (अथो) तथा (उषाः) उषः काल, (शपथ्यात्) शपथजन्य दुष्परिणामों से (मा) मुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। तथा (देव) प्रकाशमान (सोमः) सोम, (यम्) जिसे कि (चन्द्रमाः इति) चन्द्रमा इस नाम से (आहुः) कहते हैं वह भी (मा) मुझे (मुञ्चतु) उन दुष्परिणामों से मुक्त करे।

[शपथ्यात्=मनुष्य प्रायः अपने आप को निरपराधी साबित करने के लिए शपथें खाते हैं, जो कि झूठी होती हैं, सत्यरूप नहीं होतीं। इन शपथों के कारण चित्तवृत्तियां दूषित हो जाती हैं,—यह दुष्परिणाम है। व्यक्ति इस बात को समझ कर शपथों और उन के दुष्परिणामों से अपने आप को मुक्त करना चाहता है। दिन-रात तथा उषः काल में मनुष्य झूठी शपथें खाता रहता है। वह इन्हें त्यागने का अभिलाषी है। अतः इन्हें त्यागने का वह संकल्प करता है, और इस निमित्त परमेश्वर से शक्ति की याचना करता है। चन्द्रमा शब्द द्वारा रात्रि का काल सूचित किया है, और उषाः शब्द द्वारा दिन का काल। "शपथ्य" परिणाम है, और "शपथ" उस का कारण है। परिणाम से छुटकारा चाहने वाला व्यक्ति, सुतरां कारण से भी छुटकारे का अभिलाषी है]।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥८॥

(पार्थिवाः) पृथिवी के (दिव्याः) तथा द्युलोक के (पशवः) पशु, (उत) तथा (ये) जो (आरण्याः मृगाः) वनों के (मृगाः) मृग हैं, तथा (शकुन्तान्) शक्तिशाली (पक्षिणः) पक्षी हैं उन का (ब्रूमः) हम कथन

करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनत न करें, हमें कष्ट न पहुंचाएं।

[दिव्याः पशवः=मेष, सिंह, वृश्चिक, मकर आदि नक्षत्रगण]।

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः ।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥९॥

(भवाशर्वौ) भव अर्थात् राष्ट्रिय उत्पत्तियों का उत्पादक और शर्व अर्थात् शत्रुओं को शीर्ण करने वाला, उन का विनाश करने वाला अर्थात् (यः) जो (पशुपतिः) राष्ट्रिय पशुओं का स्वामी भव, तथा (रुद्रम्) रौद्र-रूप शर्व सेनापति है—इन दोनों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (एषां या इषूः) इन के जो बाण हैं उन्हें (संविद्म) सम्यक्तया हम जानते हैं, (ताः) वे इषु अर्थात् बाण, [हे परमेश्वर!] (नः) हमारे लिये (सदा शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों।

[भवः=भावयति, उत्पादयति अन्नादीन् इति भवः ण्यर्थः अन्तर्भूतः। शर्वः=शृणाति। रुद्रम्=रौद्ररूपम्, शर्वम्। पशुपतिः=राष्ट्रिय प्राणि वर्ग का पालक, रक्षक अधिकारी भव। पशुः="तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः" (अथर्व० ११।२।९), पशुओं के ५ विभाग हैं गावः आदि]।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् ।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१०॥

(दिवम्) द्युलोक, (नक्षत्राणि) नक्षत्रों, (भूमिम्) भूमि, (यक्षाणि) पुण्य क्षेत्रों, (पर्वतान्) तथा पर्वतों का (ब्रूम) हम कथन करते हैं, (समुद्राः) समुद्र, (नद्यः) नदियां, (वेशन्ताः) अल्प जलाशय (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें, हमें कष्ट न पहुंचाएं।

[अभिप्राय यह कि हम इन स्थानों में कहीं भी जांय, या विमानों द्वारा द्युलोक तथा नक्षत्रों की ओर जायें, तो हमारा न हनन हो, और न इन स्थानों से हमें कष्ट प्राप्त हो। सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर जोकि इन सब स्थानों का शासक है, उस से स्वरक्षा की प्रार्थना की है। यक्षाणि=पुण्यक्षेत्राणि (सायण), "यक्ष पूजायाम्"]।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥११॥

(वै) निश्चय से (सप्तर्षीन्) सात ऋषियों, (अपः देवीः) जल-वत् शान्त प्रकृति वाली देवियों, (प्रजापतिम्) प्रजारक्षक राजा का (इदम् ब्रूमः) यह कथन हम करते हैं, तथा (यमश्रेष्ठान्) यम-नियमों के पालन द्वारा श्रेष्ठ (पितॄन्) पितरों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे [हे परमेश्वर!] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमें हनन से बचाएं।

[सप्तर्षीन्=सप्ताङ्ग राज्य के प्रत्येक विभाग के ऋषि कोटी के ७ अध्यक्ष। सप्ताङ्गराज्य=स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग, तथा सेना[1]। इन तथा समग्र विभागों के अध्यक्ष ऋषिकोटि के व्यक्ति होने चाहियें—ऐसा वैदिक विधान है। यथा "अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र-ऽइव पप्रथे। (यजु० ३३।८३) अर्थात् "यह सम्राट् हजारों ऋषियों द्वारा बलशाली किया गया, समुद्रवत् फैलता है। वेदानुसार ब्रह्माण्डशरीर पिण्ड-शरीर, तथा राष्ट्रशरीर में ऋषियों की स्थिति दर्शाई हैं। ब्रह्माण्ड शरीर में सप्तर्षि हैं सप्तर्षितारामण्डल। इन्हें वेद में ऋक्षाः भी कहा है। यथा "अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः" (ऋ० १।२४।१०), अर्थात् ये ऋक्ष जोकि ऊंचे द्युलोक में निहित हैं वे रात्रि में तो दीखते हैं, दिन में कहां चले जाते हैं। "ऋक्षा नक्षत्राणाम्" (निरुक्त ३।४।२०)। इसी प्रकार पिण्ड शरीर में भी ऋषियों की सत्ता दर्शाई है। यथा "सप्त ऋषयः प्रहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५)। "सप्त ऋषयः="षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी, आत्मनि" (निरुक्त १२।४।३७)। तथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, रश्मय आदित्ये[2]" (निरु० १२।४।३७)। इसी प्रकार राष्ट्र शरीर में

१. स्वामी है राजा, और अमात्य है प्रधानमन्त्री। ये समग्र राष्ट्र के निरीक्षक तथा प्रवन्धक हैं शेष विभागों के अध्यक्ष अपने-अपने विभाग के प्रबन्धक हैं। प्रजापति यद्यपि राजा ही है। इस शब्द द्वारा राजा के मुख्य कर्तव्य को सूचित किया है—सब प्रजाओं की रक्षा करना। अतः प्रजापति शब्द द्वारा राजा का पुनः वर्णन किया है।

२. आदित्य की ७ रश्मियों को निरुक्त में ७ ऋषि कहा है। वर्षाकाल में बादलों में कभी-कभी सप्तरंगी इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता है। इन सप्तरंगी ७ पटलों में आदित्य की ७ रश्मियों का ही प्रक्षेप ही रहा होता है।

भी प्रबन्ध तथा शासन के लिये ऋषिकोटि के व्यक्तियों की सत्ता वेदाभिमत है] ।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ।
पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१२॥

(ये) जो (देवाः) देव (दिविषदः) द्युलोक में स्थित हैं, (च ये अन्तरिक्षसदः) और जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं । (ये) जो (शक्राः) शक्तिशाली देव (पृथिव्याम्) पृथिवी में (श्रिताः) आश्रय पाए हुए हैं, (ते) वे सब [हे परमेश्वर !] (नः) हमें (अंहसः) मरण या कष्टों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें ।

[द्युलोक और अन्तरिक्षलोक के देव अर्थात् दिव्य पदार्थ, निरुक्त में प्रदर्शित है । पृथिवी के देव हैं शासक तथा प्रबन्धक राज्याधिकारी, तथा विद्वान् आदि] ।

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः ।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१३॥

(आदित्याः, रुद्राः, वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु कोटि के ब्रह्मचारी तथा (दिवि) द्युलोक में विद्यमान (अथर्वाणः) निश्चल (देवाः) द्योतमान नक्षत्र, तारागण, तथा (मनीषिणः) मननशील मेधावी (अङ्गिरसः)[1] राष्ट्र-अङ्गी अर्थात् शरीर के रसरूप शासक—(ते) वे सब [हे परमेश्वर !] (नः) हमें (अंहसः) मरण से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

[प्राकृतिक तथा चेतन देवों द्वारा रक्षा की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है । सायणाचार्य ने अथर्वाणः तथा अङ्गिरसः पदों द्वारा अथर्वाङ्गिरस [अथर्ववेद] वेद के ऋषियों का ग्रहण किया है । "अथर्वाणः" को दिविष्ट माना है, अतः ये मनुष्य नहीं अपितु नक्षत्र आदि हैं, जोकि निश्चल रूप से अपने-अपने स्थानों में स्थित हैं] ।

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१४॥

१. अङ्गिरसः=अङ्गानां रसरूपाः, प्राणरूपाः, राष्ट्रशासकाः । राष्ट्र सप्ताङ्गी होता है, देखो (मन्त्र ११) ।

(यज्ञम्) यज्ञ, (यजमानम्) यजमान, (ऋचः) ऋचाओं, (सामानि) सामवेद के गानों, (भेषजा) विविध ओषधियों का वर्णन करने वाले अथर्ववेद का (ब्रूमः) हम कथन करते रहते हैं । (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्रों तथा (होत्राः) ऋत्विजों की क्रियाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं,—(ते) वे सब [हे परमेश्वर !) (नः) हमें (अंहसः) मरण से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें । भेषजा=अथवा "भेषज" रूपी सामग्री की ओषधियां ।

[यज्ञादि मृत्यु से रक्षा करते हैं । परन्तु यज्ञ आदि में क्षति या प्रत्यवाय के हो जाने पर आशंकित मृत्यु से बचाव के लिये परमेश्वर से प्रार्थना की गई है । ऐसी प्रार्थनाएं भी मनुष्य स्वभाव के अनुरूप तथा अनुकूल हैं । "भेषजा" पद द्वारा अथर्ववेद अभिमत है । नानाविध ओषधियों का वर्णन अथर्ववेद में है, अतः अथर्ववेद को "भेषजा" कहा है । इस प्रकार मन्त्र में चारों वेदों के नाम पठित हैं] ।

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः ।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१५॥

(सोमश्रेष्ठानि) सोम जिन में श्रेष्ठ है ऐसी (वीरुधाम्) विविध रोग रोधक ओषधियों के (पञ्च) पांच (राज्यानि) राज्यों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं,—(दर्भः, भङ्गः, यवः, सहः) दर्भ अर्थात् कुशा, भांग जौं, तथा सह, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) मृत्युकारक रोगों से [हे परमेश्वर] (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

[दर्भः=कुशा, जिसे कि पटुआ कहते हैं, जिस से रस्सियां बनाई जाती हैं । सह=सहदेवी ओषध ? । "राज्यानि" द्वारा दो अभिप्राय प्रतीत होते हैं । (१) इन में से प्रत्येक की उत्पत्ति के भूभाग पृथक्-पृथक् हैं । (२) ये ५ वर्गरूप हैं, जिन में प्रत्येक की अङ्गोपाङ्गरूप ओषधियां भी अन्तर्गत हैं । अभिप्राय यह है कि कोई भी ओषधि फल प्रदात्री नहीं होती यदि परमेश्वरीय कृपा न हो । यथा "**विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया**" अर्थात् "विष भी कहीं अमृत हो जाता है, और अमृत भी विष हो जाता है,—ईश्वर की इच्छा से" । पञ्च राज्यानि=सोम तथा दर्भ आदि चार] ।

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१६॥

(अरायन्) अदानियों, (रक्षांसि) राक्षस स्वभाव वाले क्रूरों, (सर्पान्) छिप कर घुस जाने वाले विषप्रयोक्ताओं, (पुण्यजनान्) अपने को पुण्यात्मा जताने वाले दुरात्माओं, (पितॄन्) तथा पितरों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, तथा (एकशतं मृत्यून्) एक सौ एक मृत्युओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं,—(ते) वे [हे परमेश्वर !] (नः) हमें (अंहसः) मरण से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[अरायान्=अ+रा (दाने), अदानी, स्वार्थी, कन्जूस । सर्पान्= सर्पों के से व्यवहार वाले विष द्वारा मार देने वाले। पितॄन=जननी जनकश्चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति । अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ ये पितृनामधारी, जब पितरों के समान व्यवहार न करते हुए, अपितर रूप से बर्ताव करते हैं, city-fathers आदि । एकशतं मृत्यून्=१०० वर्षों की आयु और १ वर्ष मातृगर्भवास। इन १०१ वर्षों में सम्भाव्यमान मृत्युएं। सर्पान्=(देखो अथर्व० ८।१०। पर्याय ५। मन्त्र १३)]।

ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१७॥

(ऋतून) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के पतियों, (आर्तवान्) ऋतु समूहों अर्थात् अयनों, (हायनान्) अयनों से बने (संवत्सरान्) सौर वर्षों, (समाः) चान्द्र वर्षों, (मासान्) सौर तथा चान्द्रमासों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं,—(ते) वे सब [हे परमेश्वर !] (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[ऋतून्=वसन्त आदि। ¹ऋतुपतीन्=ऋतुओं का निर्माण करने वाले चन्द्र तथा सूर्य। आर्तवान्=ऋतुओं से बने छः छः मासों के अयन, उत्तरायण तथा दक्षिणायन । हायनान् =सायनान्=अयनों वाले सौर वर्ष, संवत्सर। समाः="मा" अर्थात् चन्द्रमा की गतियों द्वारा निर्मित चान्द्र वर्ष। मासान्=सौर तथा चान्द्रमास । ऋतु आदि के रोगों से आशंकित हनन से मुक्ति की प्रार्थना मन्त्र में अभिप्रेत है]।

१. स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ (अथर्व० ६।३६।२) में चन्द्रमा को भी ऋतुस्रष्टा कहा है। तथा "ऋतूरन्यो विदधज्जायसे नवः" (अथर्व० १४।१।२३) में चन्द्रमा को भी ऋतुस्रष्टा कहा है। सूर्य और चन्द्र दोनों ऋतुपति हैं।

एतं देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेतं ।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१८॥

(प्राञ्चः, शक्राः, देवाः,) प्रगतिशील, शक्तिशाली देवो ! अर्थात् द्योतमान सूर्य रश्मियो ! तुम (दक्षिणतः) दक्षिण से, (पश्चात्) पश्चिम से, (उत्तरात्) उत्तर से, (पुरस्तात्) पूर्व से (एत) आओ, (उदेत) अर्थात् उदित होओ। (ते विश्वे देवाः) वे तुम सब देव (समेत्य) मिल कर (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चत) मुक्त करो।

[देवाः=द्योतमान सूर्यरश्मियां। प्राञ्चः=प्रकर्षेण अञ्चन्ति गतिं कुर्वन्तीति, जो सदा गतिवाली हैं। सूर्यरश्मियां सदा गतिशील हैं। ये रश्मियां दक्षिण से पश्चिम और उत्तर की ओर घूम कर, पूर्व दिशा में आतीं, और पुनः पूर्व से दक्षिण की ओर जाती हैं। यह चक्कर सूर्य रश्मियों का विना विश्राम किये सदा चलता रहता है। शक्राः=सूर्य रश्मियां शक्तिशाली हैं। अन्धकार मानो इन से भयभीत हुआ, इन के आगे आगे भागता रहता है, और सूर्यरश्मियां इस का पीछा करती रहती हैं। सूर्य रश्मियां रोगों का विनाश करतीं, भूमण्डल को शुद्ध करतीं, जल, अन्न आदि प्रदान करतीं तथा नाना प्रकार से शक्ति प्रदान करती हैं। सूर्य रश्मियों के सेवन से आयु बढ़ती है। इस प्रकार से हमें हनन से मुक्त करती हैं। सायणाचार्य ने "यूयम् का अध्याहार कर "मुञ्चन्तु" का अर्थ किया है "मुञ्चत"। यथा "सर्वे देवाः समेत्य समागत्य ते यूयम् अस्मान् अंहसः पापात् मुञ्चतेति शेषः। समेत्य=सूर्य रश्मियां सदा परस्पर मिली हुई आती जाती हैं, और कार्य करती हैं]।

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः ।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१९॥

(विश्वान् देवान्) सब दिव्यगुणी, (सत्यसन्धान्) सत्य के साथ सन्धि वाले, सत्यप्रतिज्ञ, तथा (ऋतावृधः) सत्य की या यज्ञियकर्मों¹ की वृद्धि करने वाले पुरुषों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं कि (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी-अपनी पत्नियों सहित (ते) वे [हे परमेश्वर !](नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमें हनन से बचाएं।

१. ऋतमिति सत्यस्य यज्ञस्य वा नामधेयम् (सायण)।

[ऋतम्=सत्यनाम (निघं० ३।१०)। सत्यप्रेमी तथा सत्यवर्धक दिव्यगुणी पुरुष तथा उन की पत्नियां, कृपापूर्वक, सदुपदेशों द्वारा हमें हनन से बचाने की क्षमता रखते हैं। परमेश्वर से यह प्रार्थना की गई है कि आप इन्हें इस निमित्त प्रेरणा प्रदान करते रहिये। वेद में पत्नियों का भी मान है, यह भी मन्त्र द्वारा प्रकट होता है]।

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः ।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२०॥

मन्त्रार्थ पूर्ववत् (मन्त्र १९) है। भाव पर जोर देने के लिये, विश्व शब्द की व्याख्या, सर्व शब्द द्वारा की गई है।

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी ।
भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२१॥

(भूतम्) सब सत्ता वाले, (भूतपतिम्) सत्तावाले, पञ्चभूतों को स्वामी, (उत) तथा (यः) जो (भूतानाम्) सत्ता वाले पञ्चभूतों का (वशी) वशयिता है, उसे (ब्रूमः) हम प्रार्थना करते हैं कि आप की कृपा से (सर्वा भूतानि) सब पञ्चभूत (संगत्य) मिल कर, एकमत से हो कर, (नः) हमें (अंहसः) हनन से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमारा हनन न करें।

[भूतम्=भवतीति, त्रैकालिक सत्ता वाला, सदा सद्रूप से वर्तमान, सद्रूप परमेश्वर। कर्तरि क्तः। परमेश्वर सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। मन्त्र में परमेश्वर के सद्रूप का कथन किया है। मन्त्र में "ब्रूमः" का अभिप्राय है "प्रार्थना करते हैं। पञ्चभूत=पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। ये प्रायः अपने उग्ररूप में हमारा हनन भी करते रहते हैं; पृथिवी भूचाल द्वारा, अप् जल-विप्लाव, अति वर्षा और अवर्षा द्वारा; तेज जलाने द्वारा; वायु प्रबल प्रवाह द्वारा; और आकाश कर्कश, कठोर ध्वनियों तथा शब्दों द्वारा। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि आप इन के पति हैं, स्वामी हैं, ये आप के वश में हैं, अतः इन में प्रेरणाएं दीजिये कि ये इस ढंग से वर्तें, जिस से हमारा हनन न हो। वे परस्पर मिल कर हमें हनन से मुक्त करते रहें, इन में से एक भी अपने में उग्ररूप न हो]।

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः ।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥२२॥

(या) जो (देवीः) दिव्य (पञ्चदिशः) विस्तृत दिशाएं हैं, (ये च) और जो (देवाः) दिव्य (द्वादशर्तवः) १२ मास हैं, तथा (संवत्सरस्य) सौरवर्ष की (ये) जो दाढ़ें हैं, (ते) वे (हे परमेश्वर!) (नः) हमें (सदा शिवाः सन्तु) सदा कल्याणकारी हों।

[पञ्च=पचि विस्तारे। यथा **प्रपञ्च, पञ्चास्य** अर्थात् विस्तृत मुखवाला शेर। दिशाएं और १२ मास तो देवीः और देव हैं, अतः कल्याणकारी हैं। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि ये सदा दिव्य रूप रहकर हमारे लिये कल्याणकारी हों। तथा संवत्सरकाल में जो दशनकारी सर्प वृश्चिक, मच्छर आदि हों वे भी हमारे लिये कष्टप्रद न हों। ऋतवः=मासाः, यथा "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू**" (यजु० १३-२५) में ऋतु-पद मासवाचक है]।

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् ।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥२३॥

(मातली[1]) निर्माणकार्य की आधारभूत पारमेश्वरी माता, (रथक्रीतम्) शरीररथ द्वारा खरीदी गई (यत्) जिस (अमृतं भेषजम्) मोक्षरूपी औषध को (वेद) जानती है, (तत्) उस औषध को (इन्द्रः[1]) जीवात्मा ने (अप्सु) निज रस-रक्त में (आवेशयत्) प्रविष्ट किया है, (आपः) हे रस-रक्तो! (तद्) वह (भेषजम्) औषध (दत्त) देओ।

(मातली) मा (निर्माणे)+तल (प्रतिष्ठायां, चुरादि०)+स्त्री प्रत्यय।

(१) कथानक के अनुसार मातलि (मातली) इन्द्र का रथवाहक है। मन्त्र में "इन्द्र" का भी वर्णन है। इन्द्र पद मन्त्र में जीवात्मा का वाचक है, जिस के कि उपकरणों को "इन्द्रिय" कहते हैं। जो इन्द्र अर्थात् आत्मा "अमृतभागी" हो जाता है, उस "ईश्वरप्रणिधानी" के शरीर रथ का वहन अर्थात् संचालन पारमेश्वरी माता (मातली) करने लगती है,—यह योग शास्त्र का सिद्धान्त है, तथा गीता द्वारा अनुमोदित है।

जगत् के निर्माण में पारमेश्वरी माता आधाररूप, नींवरूप है, जैसे कि मानुषी माता शिशु के निर्माण में आधाररूप होती है], वह पारमेश्वरी माता जानती है कि हनन अर्थात् मृत्यु से मुक्त होने की एकमात्र औषध है"अमृत" हो जाना, जन्म-मरण की शृङ्खला से छूटना। परन्तु उस औषध को खरीदना होगा। उस का मूल्य है "शरीररथ" । इसे मोक्ष प्राप्ति के साधनों तथा पारमेश्वरीमाता के प्रति समर्पित करना होगा । जब वस्तु खरीदी जाती है, तो उस के निमित्त दिया धन वस्तु के स्वामी को दे देना होता हैं, उस धन पर फिर खरीद करने वाले का स्वत्व नहीं रहता । यही अवस्था शरीर की हो जाती "अमृत-औषध" के खरीदने पर । रथक्रीतम् **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु"** (कठ उप० १।३।३) । परन्तु जो अभी तक शरीर रथ का स्वामी बना हुआ है (कठोप० १।३।३), उसे भी इस निमित्त परिश्रम करना होगा। वह परिश्रम है निज शरीर के रस-रक्तों में अमृत-भेषज के प्रवेश करने में। इस के लिये अष्टाङ्ग योग साधनों को अपनाना होगा। तदनन्तर शरीरस्थ आपः अर्थात् रस-रक्त, अमृत-भेषज दे सकें गे। इन रस-रक्तों का मूल स्रोत है हृदय। इस हृदय में परमेश्वर के प्रवेश पूर्वक, योगाङ्गों का सेवन करना होगा। आपः= शारीरिक रस-रक्त (अथर्व० १०।२।११) ।

मन्त्र में "अमृतत्व" अर्थात् नियत १०० वर्षों के काल से पूर्व न मरने (अमृत=न मृत होने) की भेषज= आपः जल । यथा "**अपो याचामि भेषजम्**" (अथर्व० १।५।४), "मैं जलों से भेषज की याचना करता हूं" । "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा**" (अथर्व० १।६।२) "सोम ने मुझे कहा है कि जलों के भीतर सब भेषजें हैं" । "**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**" (अथर्व० १।४।४), "जलों में अमृत है, जलों में भेषज है" । इस प्रकार दीर्घ जीवन के लिये, गौणरूप में, जल चिकित्सा का भी वर्णन मन्त्र में हुआ है ।

तीसरा अनुवाक समाप्त ॥

—:०:—

सूक्त-७

विषय प्रवेश

१—७वां सूक्त 'उच्छिष्ट सूक्त" है । सूक्त का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय "उच्छिष्ट" है, जो कि अध्यात्म है। उच्छिष्ट का अर्थ है—उत् अर्थात् "उत्कृष्ट," तथा विश्व के संहार के पश्चात् भी "शिष्ट" अर्थात् अवशिष्ट, रहने वाला। यह ब्रह्म ही हो सकता है। प्रलय में प्रकृति भी अवशिष्ट रहती है, परन्तु वह कार्योन्मुखी नहीं होती, निश्चेष्ट सी रहती हैं। अतः वह "उत् अर्थात् उत्कृष्ट नहीं। जीवात्मा भी अवशिष्ट रहते हैं, परन्तु वे भी निश्चेष्ट। साथ ही जीवात्मा नाना होते है, और "उच्छिष्ट" एक वचनान्त है, अतः इस पद के द्वारा कोई "एक" अवशिष्ट ही अभिप्रेत है। ब्रह्म प्रलयावस्था में भी प्रकृति और जीवात्माओं का नियन्त्रण कर रहा है। अतः प्रलय में ब्रह्म ही "उत्कृष्ट तथा अवशिष्ट" शक्ति रूप होता है।

२—सूक्त के मन्त्रों में भी केवल ब्रह्म ही "उच्छिष्ट रूप में वर्णित हुआ प्रतीत होता है ।

३—नामरूप, विश्व, द्यावापृथिवी, समुद्र, चन्द्रमा, वात, ऋक्, साम, यजु, छन्दांसि, उच्छिष्ट के आश्रय में रहते हैं—यह कथन उच्छिष्ट ब्रह्म में ही उपपन्न हो सकता है (१-६,२४) ।

४—मन्त्र ७ से १९ तक में नानाविध यज्ञों के नाम दिये हैं, जिन के स्वरूपों की व्याख्या अथर्ववेद में नहीं हुई । इन की विशिष्ट व्याख्याएं केवल पश्चाद्भावी ब्राह्मणग्रन्थों में और विशेषतया शतपथ ब्राह्मण में हुई है। इन ब्राह्मणग्रन्थों की व्याख्याएं,मन्त्राभिप्रेत हैं या नहीं—यह विचारणीय है।

५—ये यज्ञ मुख्य रूप में निम्न लिखित हैं—राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, जीवबर्हिः, अग्न्याधेय, कामप्र, सत्राणि, अग्निहोत्र, एकरात्र, द्विरात्र, चतूरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, अतिरात्र, द्वादशरात्र, साह्न, विषुवन्त, सद्यस्क्रीः, प्रक्रीः, उक्थ्य, षोडशी, विश्वजित्, अभिजित्, चतुर्होतारः, आप्रियः, चातुर्मास्यानि, आदि हैं (६-१९) । इन यज्ञों के मन्त्राभिमत क्या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विशिष्ट-

अभिप्राय हैं, ? या ब्राह्मण ग्रन्थोक्त इन की इतिकर्त्तव्यताएं और कर्मकलाप ही वेदाभिमत समझे जाने चाहियें,—यह प्रश्न अति गम्भीर¹ है ।

६—मन्त्र १० में "यज्ञस्याणूनि विद्यया" इन यज्ञों के सूक्ष्म अर्थात् विस्तृत व्याख्या का निर्देश हुआ है, साथ ही "विद्या" शब्द द्वारा इन के रहस्यार्थों का भी निर्देश प्रतीत होता है । परन्तु अथर्ववेद में न तो इन यज्ञों के स्वरूपों का, न सूक्ष्मांशों का, न रहस्यार्थों का वर्णन है । ये सब मुख्यरूप में शतपथ ब्राह्मण में ही वर्णित हुए हैं ।

७—मन्त्र ११ और १५ के अनुसार सब यज्ञों और 'गुहा हिताः' यज्ञों को उच्छिष्ट ही पैदा करता, तथा उन को धारण करता है । "गुहाहिता यज्ञाः"=गुहायां निगूढ़ा अज्ञायमानाः वर्तन्ते (सायणाचार्य) । यह अर्थ भी विचारणीय है ।

८—मन्त्र ८ में "उत्सन्ना यज्ञाः" का कथन हुआ है । सायणाचार्य ने इस का अर्थ किया है "विलुप्त प्राया यज्ञाः" अर्थात् वे यज्ञ जिन का कि विलोप हो गया है । क्या उत्सन्न-यज्ञों का प्रचार अथर्ववेद के आविर्भाव से पूर्व विद्यमान था, जोकि अथर्ववेद के आविर्भाव से पूर्व ही विलुप्त भी हो गया था । इस अर्थ में क्या अथर्ववेद की नित्यता उपपन्न हो सकती हैं ? "गुहाहिता यज्ञाः" तथा "उत्सन्ना यज्ञः" के सम्भावित अर्थों पर विचार किया गया है ।

९—मन्त्र १४ में "नव भूमीः" द्वारा ९ भूमियों का कथन हुआ है, और मन्त्र १८ में "षडुर्व्यः" द्वारा ६ उर्वियों का कथन हुआ है । उर्वी=पृथिवी (निघं० १।१) । इन के अभिप्रायों पर प्रकाश डाला है ।

१०—मन्त्र २४ में ऋक, साम, यजुः, छन्दांसि, तथा पुराणम्—का कथन हुआ है । पुराण का अर्थ विचारणीय है ।

११—मन्त्र २० में "श्रुतिर्मही" द्वारा वेदरूपश्रुति का वर्णन प्रतीत होता है, घोषरूपश्रुति का नहीं । श्रुतिः=वेद । यथा "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः" (मनुस्मृति) । वेद यतः गुरुमुख से श्रवण किये जाते हैं, इसलिये वेद को श्रुति कहते हैं । गुरुमुख से श्रवण किये विना, मन्त्रों के शुद्धोच्चारण का ज्ञान नहीं हो सकता ।

---

१. इन यज्ञों के अभिप्राय याज्ञिक प्रसिद्ध अर्थों के अनुकूल प्रायः कर दिये हैं । वास्तविक अभिप्राय अनुसंधेय है । वास्तविक अभिप्रायों के लिये, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित, आध्यात्मिक आदि अर्थ द्रष्टव्य हैं ।

१२—मन्त्र २७ में "गन्धर्वाप्सरसः" का कथन हुआ है । यजुर्वेदाभिमत इन के यथार्थ स्वरूपों का निर्देश किया है ।

१३—मन्त्र ७ में अग्निष्टोम को "अध्वर" कहा है । परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्निष्टोम में हिंसा का विधान है । इसलिये वेदविरुद्ध होने से ब्राह्मण ग्रन्थों की पशुहिंसा विधि त्याज्य है । अध्वर का अर्थ है "हिंसारहित", यथा "ध्वरति" हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरुक्त १।३।८) ।

१४—संख्या ५ में निर्दिष्ट यज्ञों के रहस्यार्थ भी है, जिन्हें कि मन्त्र १० में पठित "विद्यया" शब्द द्वारा सूचित किया है । सम्भवतः अथर्ववेद द्वारा प्रतिपादित इन यज्ञों के याज्ञिक अर्थों से अतिरिक्त या भिन्न रहस्यार्थ भी हैं, जोकि इन मन्त्रों में अभिप्रेत हों ।

—:०:—

ऋषिः अथर्वा । देवता अध्यात्मम्, उच्छिष्टः । अनुष्टुप्; ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराट् पथ्याबृहती ।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥१॥

(उच्छिष्टे) प्रलय में उत्कृष्ट शक्तिरूप में अवशिष्ट अर्थात् बचे हुए परमेश्वर में (नाम रूपम्) सृष्ट जगत् के नाम और रूप स्थित हैं, (च) और (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में लोक लोकान्तर (आहितः) स्थित हैं । (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (इन्द्रः च, अग्निः च) विद्युत् और अग्नि स्थित है, तथा उच्छिष्ट के (अन्तः) भीतर (विश्वम्) समग्र वस्तु जात (समाहितम्) सम्यक्तया स्थित है ।

[उच्छिष्टे=उत् (उत्कृष्ट)+शिष्ट (अवशिष्ट, बचा हुआ) । प्रलय में परमेश्वर, जीव और प्रकृति शेष रहते हैं । प्रकृति निज उत्पादकत्वरूप में नहीं होती, जीवात्मा भी निश्चेष्ट रहते हैं । परमेश्वर उस समय भी प्रकृति और जीवात्माओं का निरीक्षण तथा नियन्त्रण कर रहा होता है । अतः परमेश्वर प्रकृति और जीवात्माओं से "उत्" अर्थात् उत्कृष्ट है, जोकि प्रलय में अवशिष्ट रहता है । प्रलय में भी परमेश्वर सत्, चित् और आनन्द स्वरूप में स्थित रहता है ।

नाम रूपम्=चारों वेद नामात्मक हैं, और प्राकृतिक जगत् रूपात्मक है। ये दोनों नाम और रूप परमेश्वर द्वारा उत्पन्न हुए और परमेश्वराश्रय में आश्रित हैं, स्थित हैं। इन्द्रः=निरुक्त में इन्द्र को मध्यस्थानी देवता माना है। इसलिये इन्द्र का अर्थ "विद्युत्" किया है]।

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥

(उच्छिष्टे) उत्कृष्ट शक्तिरूप में प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर में (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी स्थित हैं, (विश्वम्) समग्र (भूतम्) भूत-भौतिक पदार्थ उच्छिष्ट में (समाहितम्) सम्यक्तया स्थित हैं। (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (आपः, समुद्रः, चन्द्रमाः, वातः) जल, समुद्र, चन्द्रमा और वायु (आहितः) स्थित हैं।

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥३॥

(सन्) अभिव्यक्त (च) और (असन्) अनभिव्यक्त (उभौ) ये दोनों, (मृत्युः) मृत्यु, (वाजः) अन्न और बल, (प्रजापतिः) मेघ (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं। (लौक्याः) लौकिक सब पदार्थ (व्रः च) वरण करने योग्य, (द्रश्च) तथा "द्र" अर्थात् कुत्सित त्यागने योग्य पदार्थ, (अपि) तथा (मयि) मुझ में वर्तमान (श्रीः) शोभा सम्पत् (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में (आयत्ताः) आश्रित हैं।

[प्रजापति=यह मध्यस्थानी देवता है। वर्षाप्रदान तथा अन्नोत्पादन द्वारा प्रजाओं का पालन तथा रक्षा करता है। अतः मेघ है। व्रः=व्री वरणे। द्रः=द्रा कुत्सने]।

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥

(दृढः) दृढ पार्थिव लोक, (दृंहस्थिरः) दृढ़ रूप से स्थिर नक्षत्र आदि (न्यः) नेतृवर्ग तथा नेयवर्ग, (ब्रह्म) महत्-प्रकृति जन्य तत्त्व, (विश्वसृजः दश) विश्व का सर्जन करने वाले दस अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश और ये ५ भूत, और पञ्च तन्मात्राएं—ये दस (देवाः) दिव्य पदार्थ,

(उच्छिष्टे) उत्कृष्ट=अवशिष्ट-परमेश्वर में (श्रिताः) आश्रय पाए हुए हैं, (इव) जैसे कि (चक्रम्) रथ का चक्र (नाभिम् सर्वतः) रथ की नाभि के सब ओर आश्रय पाता है।

[दृढः=पृथिवी लोक। यथा "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (यजु० ३२।६) दृंहस्थिरः=नक्षत्रादि, जोकि दृढ़तया अपने-अपने सापेक्ष स्थानों में स्थिर हैं। न्यः=प्रत्येक सौरमण्डल में सूर्य नेता होता है। और उस के ग्रह-उपग्रह नेय होते हैं। ब्रह्म=बृहत्-प्रकृति तत्त्व। यथा "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" (गीता १४।३)]।

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥

(ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद, (यजुः) यजुर्वेद, (उद्गीथः) उद्गाता द्वारा गेय सामभाग, (प्रस्तुतम्) प्रस्तोता द्वारा गीयमान प्रस्ताव्य सामभाग, (स्तुतम्) स्तवन कर्म, (हिङ्कारः) सामगान के आदि में किया गया "हिं" शब्द (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित है। (साम्नः स्वरः) सामगान सम्बन्धी स्वर, (मेडिः च) और सामगान में मस्ती (तत्) जो कि (मयि) मुझ में होती है वह (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित है।

[सामगान के ५ भाग होते हैं,-हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन। गान के प्रारम्भ में उद्गाता आदि सब मिल कर "हिं" शब्द का उच्चार करते हैं,यह हिङ्कार है। हिंकार="हिं" शब्द करना। सामगान का प्रारम्भ है प्रस्ताव। स्तुतम् हैं सामगान द्वारा परमेश्वर की स्तुति। उद्गीथ है उच्च स्वर में सामगान। प्रतिहार है गान की समाप्ति सम्बन्धी उपसंहार स्वर। निधन है गान की वास्तविक समाप्ति सम्बन्धी स्वर। मेडिः=मेडृ उन्मादे, अर्थात् सामगान करते समय चित्त का उल्लास, अर्थात् मस्ती। अभिप्राय यह कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ और उस की प्रत्येक क्रिया का आश्रय परमेश्वर है। इसी प्रकार सामगान सम्बन्धी सब क्रियाओं का आधार भी परमेश्वर है। ऋक् आदि वेद भी परमेश्वर में आश्रित हैं]।

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् ।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥

(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि की स्तुति में गाया जाने वाला सामगान, (पावमानम्) सोमदेवता सम्बन्धी पवित्र करने वाला सोमगान, (महानाम्नीः) सामवेद सम्बन्धी "महानाम" परमेश्वर की स्तुति सम्बन्धी ऋचाएं, (महाव्रतम्) पांच सामों द्वारा की गई स्तुति—(यज्ञस्य) यज्ञ के (अङ्गानि) ये अङ्ग (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर के आश्रय में हैं, (इव) जैसे कि (गर्भः) (मातरि अन्तः) माता के आश्रय में होता है।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥

(राजसूयम्) राजा को राज्यारूढ़ करने सम्बन्धी यज्ञ, (वाजपेयम्) द्रवीकृत अन्न के पान सम्बन्धी यज्ञ, (अग्निष्टोमः) अग्नि की स्तुति में किया गया यज्ञ, (तत्) वह यज्ञकर्म (अध्वरः) हिंसा रहित होता है। (अर्कः) अग्नि चयन में व्यापक अग्निस्वरूप परमेश्वर की उपासनारूपी यज्ञ, (अश्वमेधः) राष्ट्र शासनरूपी यज्ञ, (जीवबर्हिः) जीवन वृद्धिकारक[1] यज्ञ, तथा (मदिन्तमः) मोद तथा हर्ष प्रदायक जीवनयज्ञ (उच्छिष्टे) उत्कृष्ट तथा प्रलयावस्था में भी स्वस्वरूप में अवस्थित रहने वाले परमेश्वर में आश्रित हैं।

[जीवबर्हिः=जीव+बृह (वृद्धौ)। अध्वरः= अ+ध्वरति हिंसाकर्मा, अर्थात् हिंसारहित[2]। अर्कः=अर्चनीयः "**अर्को देवो भवति, यदेनमर्चन्ति**" (निरुक्त ५।१।४)। अश्वमेधः="**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**" (शत० ब्रा० १३।१।६।३)]।

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्त्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥८॥

---

१. यथा "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" (यजु० १८।२९)।

२. अग्निष्टोम को अध्वर अर्थात् हिंसारहित कहा है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्निष्टोम में हिंसा का विधान है।

(अग्न्याधेयम्) अग्नियों के आधान, (अथो) तथा (दीक्षा) व्रतों का ग्रहण, (छन्दसा सह) मन्त्रों की सहायतानुसार (कामप्रः) कामनाओं का पूर्तिकारी यज्ञ, (उत्सन्नाः यज्ञाः) उन्नति कारक विविधयज्ञ, (सत्त्राणि) तथा नानाविध सत्त्र वे सब (उच्छिष्टे अधि) उत्कृष्ट तथा प्रलय में भी वर्तमान परमेश्वर में, उसकी अध्यक्षता में, (समाहिताः) सम्यक्तया आश्रित हैं।

[अग्न्याधेयम्=आधेय अग्नियों का आधान, (१) यज्ञार्थ याज्ञिक अग्नियों अर्थात् गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का आधान यज्ञशाला में। इन द्वारा रोगनिवृत्ति तथा गृहस्वास्थ्य बना रहता है। (२) तथा **योतिथिनां स आहवनीयो, यो वेश्मनि स गार्हपत्यो, यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः**" (अथर्व० ९।६। पर्याय २। मन्त्र १२)। इस में अतिथिनिष्ठ जाठराग्नि को "आहवनीय" कहा है, और अन्न पकाने के लिये चुल्ले की अग्नि को दक्षिणाग्नि कहा है। ये समाजसेवार्थ अग्नियां हैं।

कामप्रः=काम+प्रा (पूरणे)। कामनाओं को पूर्ण करने वाला यज्ञ। कामनाएं वेदानुकूल भी होती हैं, प्रतिकूल भी। "कामप्रद-यज्ञ" छन्दों अर्थात् मन्त्रों के उच्चारण के साथ होने चाहियें। इस से ज्ञात हो जायगा कि की गई कामना वेदानुकूल है या नहीं। सुरापान, मांसभक्षण, पशुहिंसा, द्यूतकर्म आदि वेद-विरुद्ध हैं। परन्तु याज्ञिक सम्प्रदायानुसार यज्ञों में ये कर्म किये जाते हैं। इन के निषेध के लिये "छन्दसा सह"=यह कथन हुआ है। उत्सन्नाः यज्ञाः="**लुप्तप्राया यज्ञा उत्सन्नयज्ञा इत्युच्यन्ते**" (सायण), अर्थात् जो यज्ञ लुप्त प्राय हो गए हैं वे उत्सन्न यज्ञ हैं। इस अर्थ में नित्यवेद की दृष्टि में वेदाविर्भाव से पूर्व उन यज्ञों की सत्ता माननी पड़ेगी, जो कि वेदाविर्भाव काल से भी पूर्व विद्यमान तो थे, परन्तु वेदाविर्भाव से पूर्व ही लुप्त हो चुके थे। वेदों को नित्य मानने वाले सायणाचार्य की दृष्टि से यह व्याख्या उस के मन्तव्य की विरोधिनी है।

"उत्सन्न" का अर्थ केवल उच्छिन्न ही नहीं होता। उत्सन्न=उद्+सद्+क्त; "उत्कर्षत्वेन स्थिताः; उद्गतिका वा", ये अर्थ भी "उत्सन्न" के सम्भव हैं। "सत्त्राणि" बहुकाल साध्य हैं, ये काल की दृष्टि से उत्कर्ष अर्थात् बहुत काल की अपेक्षा करते हैं; तथा ये "उद्गति" वाले हैं, सत्त्र यज्ञों द्वारा ऊंची-गति प्राप्त होती है। सत्त्र यज्ञ १३ दिनों से १०० दिनों

में साध्य हैं (आप्टे)। याज्ञिक दृष्टि में "सत्र", १७ से २४ यजमानों वाले होते हैं]।

अ॒ग्नि॒हो॒त्रं च॑ श्र॒द्धा च॑ वषट्का॒रो व्र॒तं तप॑: ।
दक्षि॑णे॒ष्टं पू॒र्तं चोच्छि॑ष्टेऽधि॒ समा॑हिताः ॥९॥

(अग्निहोत्रं च श्रद्धा च) अग्निहोत्र तथा श्रद्धा, (वषट्कार:) याज्यामन्त्रों के अन्त में, हवि के प्रदान के लिए, उच्चार्यमाण "वौषट्" शब्द, (व्रतं तपः) व्रतग्रहण तथा तप, (दक्षिणा) ऋत्विजों को देय धन, (इष्टम्) याग होम आदि, (पूर्तं च) समाजोपकार के लिये धर्मशाला, कूप आदि का निर्माण (उच्छिष्टे अधि) उच्छिष्ट परमेश्वर में (समाहिताः) समाश्रित हैं। अर्थात् ये सब कृत्य परमेश्वरार्पित कर करने चाहियें।

ए॒क॒रा॒त्रो द्वि॑रा॒त्रः स॑द्य॒:क्रीः प्र॒क्रीरु॒क्थ्य॑: ।
ओतं॒ निहि॑तमु॒च्छिष्टे य॒ज्ञस्या॒णूनि॑ वि॒द्यया॑ ॥१०॥

(एकरात्र:) एक रात्रिसाध्य यज्ञ (द्विरात्र:) दो रात्रियों में साध्य यज्ञ, (सद्यःक्रीः) उसी दिन खरीदे गए सोम द्वारा साध्य यज्ञ, (प्रक्रीः) पहिले खरीदे हुए सोम द्वारा साध्य यज्ञ, (उक्थ्यः) उक्थनामक तीन स्तोत्र-शस्त्रों द्वारा साध्य यज्ञ, (विद्यया) तथा रहस्यार्थों सहित (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगोपाङ्ग (उच्छिष्टे) सर्वोत्कृष्ट तथा प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर में (ओतम्) ओत-प्रोत हैं, (निहितम्) तथा स्थित हैं।

च॒तू॒रा॒त्रः प॑ञ्चरा॒त्रः ष॑ड्रा॒त्रश्चो॒भय॑: स॒ह ।
षो॒ड॒शी स॑प्तरा॒त्रश्चोच्छि॑ष्टाज्जज्ञि॒रे सर्वे॒ ये य॒ज्ञा अ॒मृते॑ हि॒ताः ॥११॥

(चतूरात्रः) चार रात्रियों द्वारा साध्य सोमयाग, (पञ्चरात्रः) पांच रात्रियों द्वारा साध्य सोमयाग, (षड्रात्रः) ६ रात्रियों द्वारा साध्य सोमयाग:, (उभयः सह) चतूरात्र आदि की द्विगुणित रात्रियों द्वारा साध्य याग अर्थात् ८, १०, १२ रात्रियों में साध्य सोमयाग ये दो प्रकार के याग साथ-साथ किये गए, तथा (षोडशी) षोडशी-संज्ञक स्तोत्र और शस्त्र द्वारा साध्य सोमयाग, (सप्तरात्रः च) और ७ रात्रियों में साध्य सोमयाग, (सर्वे) ये सब (उच्छिष्टात्) उच्छिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) प्रादुर्भूत हुए हैं, (ये)

जो (यज्ञाः) यज्ञ कि (अमृते) अमृत परमेश्वर में (हिताः) निहित हैं, या जो अमृत फल प्रदाता हैं।

[द्विरात्र से ११ रात्रियों में सम्पाद्य सोमयज्ञों को 'अहीन' कहते हैं। और १३ तथा इन से अधिक दिनों में सम्पाद्य यज्ञों को 'सत्र' कहते हैं। अहीन का अर्थ है दिनों के समूह द्वारा सम्पाद्य यज्ञ। द्वादश दिनों द्वारा सम्पाद्य यज्ञ मन्त्र (१२) में वर्णित है]।

प्र॒ती॒हा॒रो नि॒धनं॑ विश्व॒जिच्चा॑भि॒जिच्च॒ यः ।
सा॒ह्णा॒ति॒रा॒त्रावु॒च्छिष्टे द्वाद॒शा॒होऽपि॒ तन्मयि॑ ॥१२॥

(प्रतीहारः) सामगान का चतुर्थभाग जोकि प्रतिहर्ता द्वारा गाया जाता है, (निधनम्) सामगान का पंचम भाग जिस में सामगान समाप्त होता है और जिसे सब उद्गाता मिलकर गाते हैं, (विश्वजित्, अभिजित् च) इन नामों वाले दो सोमयाग, (साह्णातिरात्रौ) एक दिन में समाप्य तीन सवनों वाला सोमयाग, तथा अतिरात्र सोमयाग,—ये (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट ब्रह्म में निहित हैं, (द्वादशाहः अपि) तथा १२ दिनों में समाप्त होने वाला सोमयाग भी उस परमेश्वर में आश्रित है। (तत्) वह सब (मयि) मुझ में हो, अर्थात् सब का मैं सम्पादन कर सकूं।

[(द्वादशाहः) १२ दिनों में समाप्त होने वाला सोमयाग अहीनात्मक भी है और सत्रात्मक भी अर्थात् यह उभयात्मक है]।

सू॒नृता॒ संन॑तिः क्षेम॑: स्व॒धोर्जा॒मृतं॒ सह॑: ।
उ॒च्छिष्टे॒ सर्वे॑ प्र॒त्यञ्च॒: कामा॒: कामे॑न ता॒तृपुः ॥१३॥

(सूनृता) सत्यप्रियवाणी, (संनतिः) नम्रता तथा फल प्राप्ति, (क्षेम) कल्याण, (स्वधा) अन्न तथा स्वधारण सामर्थ्य, (ऊर्जा) बल और प्राणन, (अमृतम्) मोक्ष, (सहः) सहनशक्ति, सहिष्णुता,—(सर्वे) ये सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर (प्रत्यञ्चः) के प्रति समर्पित हैं। (कामाः) यतः सब कामनाएं (कामेन) परमेश्वर की कामना अर्थात् इच्छा द्वारा (तातृपुः) तृप्त होती हैं।

नव॒ भूमी॑: समु॒द्रा उ॒च्छिष्टेऽधि॒ श्रि॒ता दिव॑: ।
आ सूर्यो॑ भा॒त्युच्छि॑ष्टेऽहोरा॒त्रे अपि॒ तन्मयि॑ ॥१४॥

(नव भूमीः) ९ भूमियां, (समुद्राः) सब समुद्र, (दिवः) तीन द्युलोक या द्युलोक के ३ खण्ड, (उच्छिष्टे अधि) प्रलय में अवशिष्ट ब्रह्म में (श्रिताः) आश्रित हैं। (सूर्यः) सूर्य (उच्छिष्टे) प्रलय में अवशिष्ट रहने वाले ब्रह्म में (आ भाति) प्रदीप्त होता है, (अहोरात्रे अपि) दिन और रात भी उच्छिष्ट में भासित होते हैं, परन्तु (तत्) वह ब्रह्म (मयि) मुझ में भासित होता है।

[नव भूमीः=इस के दो अभिप्राय हैं । एक यह कि पृथिवी एक अविभाज्य इकाई नहीं। यह ९ खण्डों में विभक्त है । ये खण्ड चलायमान हैं, और अपने स्थान बदलते रहते हैं, ऐसा वर्तमान वैज्ञानिक मानते हैं। सायण ने भी नवभूमीः का अर्थ किया है। "नवखण्डात्मिकाः पृथिव्यः, ९ खण्डरूप पृथिवियां, अर्थात् पृथिवी के ९ खण्ड । अथवा सौरमण्डल की ९ भूमियां; बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, युरेनस (वरुण), नेपचून, चन्द्रमा। दिवः=तीन द्यौः, अथवा द्यौः के तीन भाग (देखो मत्कृत-अथर्ववेद-भाष्य १९।१।१०; १३।३।२१; १९।२७।३)।

"नव भूमीः" के सम्बन्ध में, "हिन्दुस्तान टाईम्ज" अक्टूबर ४, १९८२ में प्रकाशित एक लेख में से निम्नलिखित उद्धरण विशेष प्रकाश डालते हैं—

North-east India is gently moving eastward and is dipping under Burma,according to an analysis of the data of earthquakes that had taken place in the region during the last 75 years.

Scientists claim to have found a belt where the Indian plate is dipping to 200 K. M gently beneath the Burmese plate at an angle of 35 to 69 degrees. Academy of sciences carried out the investigations on the background of tectonic condition of the region. According to tectonic Theory, the crustal plates of the continents are broken and quakes are produced along plate boundrie rubbing each other.

अर्थात् भारत का उत्तर-पूर्व भाग, शनैः-शनैः पूर्व की ओर सरक रहा है, और बर्मा के नीचे घुस रहा है। गत ७५ वर्षों में जो इस भाग में

भूचाल आए हैं, उन के आधार पर यह परिणाम निकलता है। वैज्ञानिकों ने इस भू-भाग में ऐसा भाग पाया है जहां कि भारत भू-भाग, ३५ से ६९ डिग्री पर, २०० किलो मीटर, शनैः-शनैः, बर्मा के भूभाग में घुसता जा रहा है। पृथिवी के स्तरों की रचनानुसार, पृथिवी के भिन्न भिन्न महाखण्ड परस्पर विभक्त हैं, और जब ये खण्ड परस्पर रगड़ खाते हैं तो भूचाल पैदा होते हैं।

वैज्ञानिकों की इस खोज के अनुसार मन्त्रगत "नव भूमीः" का अर्थ नवखण्डात्मिकाः पृथिव्यः" ठीक प्रतीत होता है]।

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥१५॥

(उपहव्यम्) उपहव्य [सोमयाग ?], (विषूवन्तम्) संवत्सर के उत्तरायण और दक्षिणायन के मध्यवर्ती दिन में किया जाने वाला सोमयाग, (ये च) और जो (यज्ञाः) यज्ञ (गुहाः हिताः) हृद्गुहा में (हिताः) निहित हैं,—(विश्वस्य भर्ता) विश्व का भरण-पोषण करने वाला (जनितुः पिता) पिता का भी पिता, (उच्छिष्टः) प्रलय में भी अवशिष्ट रहने वाला परमेश्वर,—उन सब का (बिभर्त्ति) भरण-पोषण करता है।

['गुहा यज्ञाः"=गुहायां निगूढा अविज्ञायमानाः (सायणाचार्य)। यज्ञा गुहा=स्तुति, प्रार्थना, उपासना योग, परमेश्वर का ध्यान आदि भी यज्ञकर्म हैं, जिन्हें कि हृदय की यज्ञशाला में किया जाता है । गुहा शब्द का प्रयोग हृदय गुहा के लिये भी होता है । शरीर भी यज्ञशाला है, देखो (अथर्व० ११।८।२९)]।

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥१६॥

(उच्छिष्टः) प्रलय में भी अवशिष्ट रहने वाला परमेश्वर (जनितुः) उत्पादक पिता का (पिता) पिता है, (असोः) प्राण का (पौत्रः) पौत्र है, तो भी (पितामहः) हमारा पितामह है, हमारे पिताओं का भी पिता है। (विश्वस्य) विश्व का (ईशानः) अधीश्वर, (अतिघ्न्यः) हननातीत, अघ्न्य, अहन्तव्य, अविनाश्य, (वृषा) सुखवर्षी (सः) वह परमेश्वर (भूम्याम्) भूमि में (क्षियति) निवास करता है।

[असोः पौत्रः=प्राणायाम से संयम का परिपोषण होता है। संयम पूर्वक समाप्ति में परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है। अतः परमेश्वर प्राण अर्थात् प्राणायाम का पौत्र है। आठ योगाङ्गों में प्राणायाम के अनन्तर तीन अङ्ग होते हैं,-धारण, ध्यान और समाधि। ये तीनों जब एक ध्येय में एकत्र होते हैं तो इन का नाम हो जाता है "संयम"। यथा "त्रयमेकत्र संयमः" (योग ३।४)। इस प्रकार "प्राणायाम, संयम, और परमेश्वर का साक्षात्कार", इस क्रम से परमेश्वर है "असु अर्थात् प्राण का पौत्र]।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥१७॥

(ऋतम्) मन द्वारा यथार्थ संकल्प करना, (सत्यम्) यथार्थ भाषण (तपः) द्वन्द्व-सहिष्णुता तथा संयम आदि, (राष्ट्रम्) राज्य, (श्रमः) धर्म-कार्य में परिश्रम, (धर्मः) धर्म, (कर्म च) और धर्मानुरूप कर्म, (भूतम्) उत्पन्न जगत्, (भविष्यत्) उत्पन्न होने वाला जगत्, (वीर्यम्) वीरता, (लक्ष्मीः) सम्पत्ति, तथा (बले) बलवान् में (बलम्) शारीरिक मानसिक, आध्यात्मिक बल (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित है।

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥१८॥

(समृद्धिः) सफलता, (ओजः) शारीरिक बल, (आकूतिः) संकल्प (क्षत्रम्) क्षात्रतेज, (राष्ट्रम्) राज्य, (षट्उर्व्यः) ६ विस्तार वाली पृथिवियां, (संवत्सरः) अर्थात् पृथिवी द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा, (इडा) वेदवाणी, (प्रैषाः) प्रेरणाएँ, (ग्रहाः) विषयों का ग्रहण करने वाली इन्द्रियां, (हविः) तथा दानादान के व्यवहार (उच्छिष्टे अधि) प्रलय में भी अवशिष्ट रहने वाले परमेश्वर में आश्रित हैं।

[षड् उर्व्यः=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा दिशाएं या पृथिवी से लेकर नेपच्यून तक के ६ ग्रह। ये ६ अतिविस्तृत हैं, बुध, शुक्र परिणाम में अत्यल्प है, चन्द्रमा ग्रह नहीं, और परिणाम में भी अत्यल्प है। पृथिवी यह नाम दर्शा रहा है कि बुध, शुक्र की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत है। पृथिवी=प्रथ विस्तारे।

संवत्सरः=सूर्य के चारों ओर पृथिवी की एक प्रदक्षिणा का काल। इडा=वाङ्नाम (निघं० १।७)। प्रैषः=गुरु द्वारा शिष्य को, स्वामी द्वारा भृत्य को, मातापिता द्वारा सन्तानों को, राजा द्वारा प्रजा को प्रेरणाएं। ग्रहाः=इन्द्रियाणि organs (आप्टे)। हविः=हु दाने, आदाने, अदने।

याज्ञिक पक्ष में:—इडा=देवता के लिये यज्ञशेष में से भाग दिया जाता है। प्रैषाः=ऋत्विजों को प्रेरित करने वाले मन्त्र भाग। ग्रहाः—सोम को ग्रहण करने के ऊर्ध्वाकार पात्र]।

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥१९॥

(चतुर्होतारः) चतुर्होतृसंज्ञक मन्त्र, (आप्रियः) इध्म आदि १२ पदार्थ तथा एतत्सम्बन्धी १२ आप्री मन्त्र (अथर्व० काण्ड ५, सूक्त १२, २७), निरुक्त ८।२।४-१५; तथा ८।३।१६-२३)। आप्री मन्त्रों द्वारा देवताओं को प्रीणित अर्थात् प्रसन्न किया जाता है, (चातुर्मास्यानि) चार मासों में किये जाने वाले ४ यज्ञ, (नीविदः) स्तोतव्य देवों के गुणप्रकर्षों का निवेदन करने वाले मन्त्र, तथा (यज्ञाः) याग, (होत्राः) होता के समेत ७ ऋत्विक जो कि "वषट्" शब्द का उच्चारण करते हैं और तत्पश्चात् आहुति देते हैं। (पशुबन्धाः) यज्ञ में पशुओं का बान्धना, सम्भवतः प्रदर्शनी के लिये (इष्टयः) अङ्गभूत तथा स्वतन्त्र इष्टियां—(तत्) यह सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं। मन्त्र की व्याख्या सायण भाष्यानुसार की गई है।

[चातुर्मास्यानि=कार्तिक से आरम्भ करके प्रत्येक चतुर्थमास में किये जाने वाले यज्ञ, अर्थात् वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध शुनासीरीय]।

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥२०॥

(अर्धमासाः च) चान्द्र अर्धमास, (मासाः च) और मास, (ऋतुभिः सह, आर्तवाः) ऋतुओं के साथ ऋतुसमूह, (घोषिणीः आपः) शब्द करने वाले जल [सम्भवतः नदियों में बहने वाले वर्षा के जल], (स्तनयित्नुः) गर्जते मेघ, (मही) महती (श्रुतिः) वेदवाणी (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित हैं।

[श्रुतिः=वेदवाणी गुरुमुख से सुनी जाती है, अतः घोषमयी है। इसलिये श्रुति का वर्णन घोषिणीः आपः, तथा स्तनयित्नु के साथ हुआ है]।

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिताः श्रिता ॥२१॥

(शर्कराः) पथरीली रेता अर्थात् बजरी, (सिकताः) रेता, (अश्मानः) पत्थर, (ओषधयः वीरुधः, तृणाः तृणानि,) ओषधियां, लताएं तथा घास, (अभ्राणि) मेघ, (विद्युतः) बिजलियां, (वर्षम्) तथा वर्षा (उच्छिष्टे) प्रलय में अवशिष्ट परमेश्वर में (श्रिताः) आश्रय पाए हुए (संश्रिता) सम्यक् आश्रयवान् हुए हुए हैं।

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥२२॥

(राद्धिः) सिद्धि, (प्राप्तिः) अभीष्ट की प्राप्ति, (समाप्तिः) क्रियमाण कर्म का पूरा होना, (व्याप्तिः) विविध कर्मों में व्यापृत रहना, (महः) महत्त्व, (एधतुः) वृद्धि, (अत्याप्तिः) आशातीत की प्राप्ति, (भूति) तथा सम्पत्ति, (उच्छिष्टे) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर में (आहिता) स्थित हैं, (निहिता) निधिवत् सुरक्षित हैं, (हिता) स्थिरतया स्थित हैं।

["आहिता, निहिता, हिता" इन सब में विसर्ग लोप छान्दस है। हिता=हिताः=अथवा ये सब हमारे हितकर हैं]।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२३॥

(यत् च) जो प्राणिवर्ग (प्राणेन) प्राणवायु द्वारा (प्राणति) प्राण धारण करता है, (यत् च) और जो (चक्षुषा) आंख द्वारा (पश्यति) देखता है, तथा (सर्वे देवाः) सब देव (दिवि) जो कि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक जिन का आश्रय है,—(उच्छिष्टात्) वे प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[दिविश्रितः=दिवि+श्रि+क्विप्+तुक्]।

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥

(ऋचः) ऋचाएं अर्थात् ऋग्वेद, (सामानि) साममन्त्र अर्थात् सामवेद, (छन्दांसि) आह्लादप्रद अथर्वमन्त्र अथर्ववेद, (यजुषा सह) यजुर्वेद के साथ (पुराणम्) पुराण अर्थात् भूमि की प्रागवस्था की विद्या या प्रकृति, तथा (सर्वे देवाः) सब देव (दिवि) जोकि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिन का आश्रय है,—(उच्छिष्टात्) वे प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[छन्दांसि="चन्देरादेश्च छः" (उण० ४।२१०), चदि आह्लादने आह्लाद=अथर्ववेद, पुराणम्=भूमि की प्रागवस्था की विद्या (अथर्व० ११।८।७)। तथा पुराण=प्रकृति (अथर्व० १०।७।२३)। देवाः=द्योतमानाः सूर्यतारा नक्षत्रादयः]।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२५॥

(प्राणापानौ) प्राण और अपान, (चक्षुः श्रोत्रम्) आंख, कान; (अक्षितिः) न क्षीण होने वाला मन, (क्षितिः) और क्षय होने वाला शरीर, तथा (सर्वे देवाः) सब देव (दिवि) जोकि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिन का आश्रय है,—(उच्छिष्टात्) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

[उत्पन्न-मन तब तक स्थिर रहता है, विनष्ट नहीं होता, जब तक कि जीवात्मा का मोक्ष नहीं होता। अतः मन को अक्षिति कहा है, और इसे वेदों में अमृत भी कहा है। मन्त्र में प्राणापान आदि की उत्पत्ति कही है, इसलिये ११।८।४ के मन्त्र में, और इस मन्त्र में प्रतिपादित, अक्षिति और क्षिति के अर्थों में कुछ भेद हुआ है]।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२६॥

(आनन्दाः) समृद्धि के द्वारा उत्पन्न सुख विशेष या ब्रह्मोपासना द्वारा उत्पन्न आनन्दमयी चित्तवृत्तियां, (मोदाः प्रमोदाः) मानसिक मोद प्रमोद अर्थात् हर्ष, (ये) जो (अभीमोदमुदः च) और संमुखप्राप्तविषयजन्य हर्षातिरेक, (सर्वे देवाः) तथा सब देव (दिवि) जो कि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिन का आश्रय है—(उच्छिष्टात्) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२७॥

(देवाः) विद्वान्लोग, (पितरः) गृहस्थी, (मनुष्याः) साधारण मनुष्य (ये गन्धर्वाः) जो गो अर्थात् पृथिवी का धारण करने वाले राजा आदि, (अप्सरसः च) और विस्तृत प्रजा में [उन की देख-भाल के लिये] सरण करने वाली उन की स्त्रियां, (सर्वे देवाः) तथा सब देव अर्थात् ज्योतियां दिवि) जोकि द्युलोक में हैं, (दिविश्रितः) और द्युलोक में जिन का आश्रय है,—(उच्छिष्टात्) प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से (जज्ञिरे) पैदा हुए है।

[देवाः=विद्वांसः । अप्सरसः=आपः (विस्तृत प्रजाः)+सर सः (सरण करने वालीं) । अथवा गन्धर्वाप्सरसः=अग्निर्गन्धर्वः, ओषधयोऽप्सरसः । सूर्यो गन्धर्वः, मरीचयोऽप्सरसः । चन्द्रमाः गन्धर्वः, नक्षत्राण्यप्सरसः । वातो गन्धर्वः, आपः अप्सरसः । यज्ञो गन्धर्वः, दक्षिणा अप्सरसः । मनो गन्धर्वः, ऋक्सामान्यप्सरसः (यजु० १८।३८-४३)] ।

सातवां सूक्त समाप्त

सूक्त ८

विषय प्रवेश

१—मननशील ब्रह्म का विवाह प्रकृति के साथ (१)।
२—विवाह में वरपक्ष के बराती, और कन्यापक्ष के घराती=तपः और कर्म (२)।
३—दस देव (३)।
४—कर्म से तपः की उत्पत्ति (६)।
५—पुराणवित् का स्वरूप (७)।
६—समष्टिदेवों से व्यष्टि देवों की उत्पत्ति (६)।
७—संसिचः देवाः, उन द्वारा शरीर का सेचन (१३)।
८—"कः" ऋषि द्वारा शरीर सन्धान (१४)।
९—सन्धान का स्वरूप (१५)।
१०—ईशा द्वारा शरीर मे वर्णाभरण (१७)।
११—देवों का घर, मर्त्यदेह (१८)।
१२—पापमय देवताः (१६)।
१३—शरीर में ब्रह्म तथा ऋक्, साम यजुः का प्रवेश (२३)।
१४—शरीरस्थ आठ प्रकार के जल (२८)।
१५—शरीररूपी यज्ञशाला (२६)।
१६—शरीर का अधिपति=प्रजापति जीव (३०)।
१७—मृतशरीर का दाहकर्म (३१)।
१८—इदं ब्रह्मेति मन्यते (३२)।
१९—कर्मों द्वारा त्रिविध गति (३३)।
२०—शरीर की उत्पत्ति और उसका अधिष्ठाता बलस्वरूप जीवात्मा (३४)।

—:०:—

ऋषिः कौरुपथिः । अध्यात्मं मन्युर्देवतम् । आनुष्टुभम्; ३३ पथ्यापंक्तिः ।

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसन् जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥

(यत्) जब (मन्युः) मननशील परमेश्वर ने (संकल्पस्य गृहात् अधि) संकल्परूपी घर से (जायाम्) जाया को (आवहत्) प्राप्त किया, तब, (जन्याः) जायापक्ष के लोग (के आसन्) कौन थे, (के वराः) वर पक्ष के कौन थे, (क उ) और कौन (ज्येष्ठवरः) मुखिया वर, अर्थात् जिस ने वरण करना हैं (अभवत्) हुआ था।

[प्रथम मनन, तदनन्तर वस्तु को प्राप्त करने का संकल्प, और तत्पश्चात् वस्तु को प्राप्त करने का कर्म अर्थात् प्रयत्न होता हैं,-यह नियम सर्वत्र लागू होता है। "मन्यु" शब्द द्वारा,-जाया प्राप्त करने से पूर्व,- परमेश्वरीय मनन का निर्देश किया है। यह मनन आलोचनारूप है कि सृष्टि को पैदा करूं तो प्रकार, किस काल, और किस क्रम से करूं। इस मानुष स्वभाव का आरोप, परमेश्वर के सृष्ट्युत्पादन में, परमेश्वर में किया गया है। "संकल्पस्य गृहात्" में षष्ठी विकल्प रूप हैं संकल्प-और-गृह भिन्न-भिन्न नहीं। यद्यपि अस्मदादि में संकल्प का घर "मन" होता है। तभी कहा है "**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**" (यजु० ३४।१-६)। मन्युः= **मन्यते सर्वं जानातीति, ईश्वरः** (सायण)।

संकल्पस्य="**सोऽकामयत**[1]" (बृहद्. उप० ६।४-७) द्वारा परमेश्वर में भी कामना की सत्ता का कथन हुआ है। यही कामना जब फलोन्मुखी हो जाती है तो इसे संकल्प कहते है। परमेश्वरनिष्ठ कामना सदा संकल्परूपी होती है, वह सदा फलोन्मुखी होती है अस्मदादि की कामना सदा फलोन्मुखी नहीं होती। इस लिये अस्मदादि की कामना और संकल्प में भेद पाया जाता है।

विवाह में कई लोग तो जनी-पक्ष के होते हैं, और कई वर-पक्ष के। वर-पक्ष के लोग कन्या का वरण करते हैं, चुनाव करते हैं, अतः मन्त्र में उन सब को "वरा" कहा है। परन्तु अन्तिम चुनाव जिसने करना है।

१. 'सोऽकामयत् बहु स्यां प्रजायेय' (तै० आ० ८।६।१)।

उसे "ज्येष्ठवरः" कहा है, और वह है जिस ने कि कन्या को विवाहित कर प्राप्त करना है। आवहत्=आ+वह (प्रापणे)]।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
त आसन् जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥

(महति अर्णवे अन्तः) प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर, (तपः च, कर्म च एव) तप और कर्म हो (आस्ताम्) विद्यमान थे। (ते) वे दो (जन्याः) जनीपक्ष के घराती[1] (आसन्) थे, (ते) वे दो (वराः) वरपक्ष के बराती थे (ब्रह्म) ब्रह्म (ज्येष्ठवरः) मुखिया वर (अभवत्) हुआ था।

[तपः-कर्म=जनीपक्ष के तप और कर्म, और वरपक्ष के तपः और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि जानीपक्ष के लोग और वर पक्ष के लोग भिन्न-भिन्न होते हैं, चाहे वे मनुष्यरूप में समान ही हैं। परमेश्वर के सम्बन्ध में तपः है, ज्ञानमय। यथा "**यस्य ज्ञानमयं तपः**" [मुण्डक १।१।६], अर्थात् "प्राणियों के कर्मों और तदनुरूप सृष्टि की रचना का पर्यालोचनरूपी तपः। परमेश्वर के सम्बन्ध में कर्म वह कर्म नहीं, जिस में कि स्थान परिवर्तन करना होता हैं। व्यापक के लिये स्थान परिवर्तन असम्भव है। परमेश्वर में कर्म या किया स्वाभाविकी है। यथा "**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" (श्वेताश्वर, अध्या० ६, मन्त्र ८)। इसकी व्याख्या में महर्षि दयानन्द, सप्तम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि "जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति न कर सकता। इसलिये वह विभू तथापि चेतन होने से उस में क्रिया भी हैं। "**तदेजति तन्नैजति**" (यजु० ४०।५) में भी, परमेश्वर में स्थान परिवर्तन रूप क्रिया का निषेधपूर्वक क्रियाविशेष का समर्थन हुआ है। कर्म मानसिक भी कहे हैं, चाहे उन कर्मों के करने में मन, शरीर से बाहिर गति नहीं करता। और परमेश्वर के कर्म राग-द्वेष से प्रेरित भी नहीं होते।

सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग के लिये होती है, "**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग २।१८), मनुष्येतर प्राणियों के लिये भोगार्थ, और मनुष्यों के लिये भोगार्थ और अपवर्गार्थ। अतः मनुष्यों के कर्म इस प्रकार के होने चाहिये जोकि मनुष्यों को अपवर्ग की ओर बढ़ाने वाले हों। दुरित कर्मों

१. कन्यापक्ष के घर के लोग।

का त्याग और भद्रकर्मों का उपादान करते हुए मनुष्य अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। भद्रकर्म यद्यपि सकाम हैं, क्योंकि भद्रकर्मों में भी अपवर्ग की कामना बनी रहती है। भद्रकर्म परिणाम में सुखदायक और कल्याणकारी होते हैं (भदि कल्याणे सुखे च)। परन्तु भद्रकर्म अपवर्ग की प्राप्ति में सहायक होते हैं, बाधक नहीं। ऐसे भद्रकर्मों के सम्बन्ध में कहा है कि:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु० ४०।२॥

अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन भर भद्रकर्मों को करता रहे। भद्र कर्म मनुष्य को संसार में लिप्त नहीं करते।

तपः अर्थात् तपोमय जीवन भी अपवर्ग में सहायक होता है। "तपः" तो, यम-नियमों आदि में एक अंग है, जो कि योगाङ्ग है। तपः द्वारा शरीर और इन्द्रियों को शुद्धि होती है, इन के तमोगुण और रजोगुण का ह्रास होता है "**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**" (योग २।४३)। परमेश्वर के तपः और कर्म द्वारा परमेश्वर और प्रकृति का सम्बन्ध पति-पत्नी रूप में होकर प्रकृति में पत्नीत्व धर्म प्रकट करता है, जायत्वरूप नहीं। प्रकृति में जायात्वरूप तब प्रकट होगा जबकि प्रकृति में परमेश्वर की शक्ति के आधान द्वारा सृष्टि पैदा होगी। जैसे कहा है कि "**जायायास्तद्धि जायात्वं[1] यदस्यां जायते पुनः**"। अतः जनिक्रिया के सम्बन्ध से प्रकृति में जायात्वधर्म प्रकट होता है। सृष्टि दो प्रकार की होती है, जड़ और चेतन। जड़-जगत् चेतनजगत् के भोग और अपवर्ग के लिये ही है। अतः चेतन-जगत् के तप और कर्म, प्रकृति में, जायात्व के उत्पादक हैं। अतः सृष्टि रचना के लये, परमेश्वर और प्रकृति के सम्बन्ध के लिये, परमेश्वर के तप और कर्म हेतुभूत होकर वरपक्ष के "वराः" अर्थात् बरात का निर्माण करते हैं, और प्राणियों और मनुष्यों के तप और कर्म प्रकृति में जायात्वोत्पादन द्वारा "जन्या" अर्थात् कन्यापक्ष के घरातियों अर्थात् घर वालों का निर्माण करते हैं। मन्त्र में ब्रह्म और प्रकृति के परस्पर विवाह का वर्णन हुआ है। इसके द्वारा गृहस्थ जीवन की उपादेयता प्रतीत होती है[2]]।

१. मन्त्र १ में विवाह काल में जो प्रकृति को जाया कहा है वह भावी जायात्व की दृष्टि से है।

२. सारांश मन्त्र २; तपः, कर्म=बराती और घराती। ब्रह्म के सम्बन्ध में

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत्॥३॥

(पुरः) पहिले अर्थात् सृष्ट्यारम्भकाल में, (देवेभ्यः) व्यापक दिव्य तत्त्वों से, (दश देवाः) दस व्यष्टि दिव्य शक्तियां (साकम्) साथ-साथ (अजायन्त) पैदा हुई। (यः) जो कोई (वै) निश्चयपूर्वक (तान् विद्यात्) उन्हें जानें, (सः) वह (वै) निश्चयपूर्वक (अद्य) आज (महद् वदेत्) बड़ी बात कहेगा।

[इन व्यष्टिरूप दस देवों का वर्णन मन्त्र ४ में हुआ प्रतीत होता है सायणाचार्य ने १० व्यष्टि देवों का वर्णन इस प्रकार किया है:—

(१) **दीव्यन्ति स्वस्वविषयं प्रकाशयन्तीति देवा ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि। (२) यद्वा सप्त शीर्षण्याः[1] प्राणाः, द्वौ अवाञ्चौ, मुख्यः प्राण एकः। (३) अथवा "प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम्" इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणा दश संख्याका देवाः।** तथा "महत्" का अर्थ सायणाचार्य ने "ब्रह्म" किया है, जो कि महत् अर्थात् देशकालकृत परिच्छेद रहित तथा सर्वगत है]।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥४॥

(प्राणापानौ) प्राण और अपान, (चक्षुः) दृष्टि शक्ति, (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति, (च अक्षितिः) और न क्षीण होने वाली आत्मनिष्ठा ज्ञानशक्ति, (च क्षितिः) तथा क्षीण होने वाली कर्मशक्ति, (व्यानोदानौ) व्यान और उदान, (वाक्) वाणी (मनः) मन (ते) वे (वै) निश्चय से (आकूतिम्) जीवित मनुष्य को संकल्प शक्ति (आवहत्) प्राप्त कराते हैं।

[प्राणापानौ=नासिकागत दो वायु वृत्तियां। अक्षिति=मोक्ष मिलने पर लिङ्ग शरीर के न होते भी आत्मा में ज्ञान विद्यमान रहता है। ज्ञान

तपः=ज्ञानमय, पर्यालोचन, स्वाभाविक ज्ञान। कर्म=स्वाभाविकी क्रिया, सृष्टिरचना में। प्राणियों के सम्बन्ध में तपः=इन्द्रियसंयम। कर्म=सात्त्विक, राजस, तामस—शारीरिक तथा मानसिक कर्म।

१. "कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्" (अथर्व० १०।२।६)। अवाञ्चौ=गुदायां लिङ्गे च। मुख्यः=मुखस्य प्राण, जिस द्वारा भोजन खाया जाता है।

आत्मा का नित्यधर्म है, वह क्षीण नहीं होता, कर्मशक्ति क्षीण शक्ति है। व्यान द्वारा अन्नरस विविध नाड़ियों में पहुंचता है। **"अन्नरसं सर्वासु नाडीषु विविधम् अनिति प्रेरयतीति व्यानः"**। उदान द्वारा उद्गार आदि व्यापार होते हैं। **"उत् ऊर्ध्वम् अनिति उद्गारादिव्यापारं करोतीति, उदानः**। मनः सब इन्द्रियों को प्रेरित करने वाला सुखादि ज्ञान का साधन। दस देव (मन्त्र ३) =प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति,व्यान, उदान, वाक्, मन। अजायन्त (मन्त्र ३) द्वारा इन दस की उत्पत्ति कही है अक्षिति पद यद्यपि आत्मनिष्ठ स्वाभाविक ज्ञान, अर्थात् चैतन्य को नित्य कहता है, तथापि आत्मा को जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है वह अनित्य है, उस की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से आत्मा के ऐन्द्रियिक ज्ञान का, जनन के साथ, सम्बन्ध जानना चाहिये। इस प्रकार एकांश में आत्मा का ज्ञान अनित्य है, और एकांश में नित्य। मन यद्यपि महत्तत्व का परिणाम है, इस लिये उत्पत्ति धर्मा है, परन्तु जब तक, मोक्ष नहीं होता तब तक, जन्म जन्मान्तरों में भी मन की स्थिति कायम रहती है, इस दृष्टि से **"अमृतेन[1] सर्वम्"** (यजु. ३४।४) द्वारा मन को नित्य कहा है। आकूतिः=मानुष संकल्प]।

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥

जब (ऋतवः) ऋतुएं, (अथो) तथा (धाता, बृहस्पतिः, इन्द्राग्नी, अश्विना) धारण पोषण करने वाला मेघ, वायु, विद्युत्-और-अग्नि, सूर्य-चान्द (अजाताः आसन्) प्रादुर्भूत नहीं हुए थे, (तर्हि) उस समय (ते) वे (कम्) किस (ज्येष्ठम्) बड़ी शक्ति की (उपासत) उपासना करते थे। [उत्पत्ति के लिये प्रतीक्षा करते थे]।

[निरुक्त में धाता और बृहस्पति को मध्यमस्थानी देवता कहा है, और यथाक्रम इन का सम्बन्ध अन्न की उत्पत्ति तथा प्रजापालन के साथ वर्णित किया है। धाता (धाञ् धारणपोषणयोः) अर्थात् मेघ। बृहस्पतिः =**बृहतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य प्राणिजातस्य पतिः रक्षकः पालकः**= वायु[2]। इन्द्र और अग्नि यथाक्रम विद्युत-और-उस की चमक, या विद्युत

१. तथा "ज्योतिरन्तरमृतम्" (यजु० ३४।३)।

२. वायु प्राणधार है। विना वायु के जीवन कतिपय क्षणों में समाप्त हो जाता है, अतः वायु महापालक है, बृहस्पति है।

और उस के प्रपात द्वारा वृक्षों में लगी अग्नि। अश्विना=**द्यावापृथिव्यौ, सूर्याचन्द्रमसौ, अहोरात्रे**। ऋतवः=प्रसिद्ध ६ ऋतुएं। उपासत=वेद सत्कार्यवाद का समर्थक है (अथर्व. १७।१।१९)। वैदिक दृष्टि में वस्तु का प्रादुर्भाव अर्थात् अपने कारण में सूक्ष्मरूप में स्थित का प्रकाशमात्र होता है, कोई नई उत्पत्ति नहीं होती। इस लिये अपने-अपने कारणों में स्थित और अनभिव्यक्त ऋतु आदि के सम्बन्ध में उपासना का वर्णन हुआ है। ऋतु आदि जड़ हैं, परन्तु कविता में इन्हें चेतनरूप देकर इन की उपासना क्रिया का वर्णन हुआ है। सारांश यह है कि अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के लिये किसी शक्ति की प्रतीक्षा में ये थे। अजाताः=अ+जनीप्रादुर्भावे+क्त]।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

(महति अर्णवे अन्तः) प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर (तपः च, कर्म च एव, आस्ताम्) तप और कर्म ही विद्यमान थे। (तपः) तप (ह) निश्चय से (कर्मणः) कर्म से (जज्ञे) उत्पन्न हुआ, (ते) वे ऋतु आदि (तत्) उस कर्मरूपी (ज्येष्ठम्) बड़ी शक्ति की (उपासत) उपासना करते थे, प्रार्थना या प्रतीक्षा करते थे [स्वोत्पत्ति के लिये]। अथवा उपासना=समीप स्थित होना। ऋतु आदि मानुष और अन्य प्राणियों के कर्मों के सान्निध्य में थे, स्वोत्पत्ति के लिये।

[ब्रह्म, सृष्ट्युत्पादन में पूर्वसृष्टि में किये जीवों के कर्मों के परिपाक की प्रतीक्षा करता है। ब्रह्म का, स्रष्टव्य जगत् सम्बन्धी जो पर्यालोचन रूपी तप अर्थात् ज्ञान है, उस का प्रादुर्भाव भी जीवात्माओं के कर्मों के परिपाक के कारण ही है। इसलिये जीवात्माओं के सामूहिक कर्म, सृष्ट्युत्पादन में, ज्येष्ठशक्तिरूप हैं। अर्थात् ब्रह्म के तप और कर्म में, जीवात्माओं के कर्मों का प्राधान्य है। **"कर्मप्रधान विश्वकरि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा"**]।

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥

(या भूमिः) जो भूमि (इतः) इस प्रत्यक्ष दृष्ट भूमि से (पूर्वा) पूर्वावस्था की (आसीत्) थी, (याम्) जिसे कि (अद्धातयः) सत्यान्वेषी या सत्यज्ञानी (इत्) ही (विदुः) जानते हैं। (यः) जो (वै) निश्चय से अर्थात् यथार्थरूप में (ताम्) उस पूर्वावस्था की भूमि को (नामथा) नाम प्रकार से (विद्यात्) जाने (सः) वह अपने को (पुराणवित्) पुरातत्त्ववित् या प्रकृतितत्त्ववित् (मन्येत) माने या जाने।

[भूमिः=जिस में कि प्राणी आदि पैदा होते हैं **"भवन्ति पदार्था अस्यामिति"** (उणा० ४।४६, महर्षि दयानन्द)। भूमि की पूर्वावस्था उत्पादिकावस्था में न थी, वह अपने कारणों में केवल प्रथितावस्था में थी, अतः उस का नाम उस अवस्था में "पृथिवी" था, भूमि नहीं। अद्धातयः, **अद्धा सत्यनाम** (निघं० ३।७)+अत (गमने) गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। अतः अद्धातयः में "अत्" का अर्थ है ज्ञान। भूमि की पूर्वावस्था में उस का नाम था "पृथिवी"। इसी नाम से प्रत्यक्ष में फैली अर्थात् प्रथित हुई, भूमि को पृथिवी भी कहते हैं[1]]।

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥८॥

(कुतः) कहां से (इन्द्रः) इन्द्र, (कुतः) कहां से (सोमः) सोम, (कुतः) कहां से (अग्निः) अग्नि (अजायत) प्रादुर्भूत हुई थी। (कुतः) कहां से (त्वष्टा) त्वष्टा (समभवत्) सम्भूत हुआ, (कुतः) कहां से (धाता) धाता (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ था।

---

१. अभिप्राय यह कि भूमि की वर्तमानावस्था में इस पर प्राणिजात तथा वृक्ष-वनस्पतियां पैदा हो रही हैं, इसलिये इस का नाम है 'भूमि'। परन्तु इस अवस्था से पूर्व की अवस्थाओं में भूमि उत्पादिकावस्था में न थी। सूर्य से जब यह पृथक् हुई तो यह आग्नेयावस्था में थी। शनैः शनैः यह ठण्डी हुई तो वायव्यावस्था में, तदनन्तर जलीयावस्था में, और बहुकाल पश्चात् दृढ़ावस्था में आई। **'पृथिवी च दृढ़ा'** (यजु० ३२।६)। इस दृढ़ावस्था से पूर्व की अवस्थाओं में भूमि अपनी पूर्व-पूर्व की अवस्थाओं में परिणामों में अधिकाधिक विस्तृत थी, फैली हुई थी, प्रथितावस्था में थी। इसलिये इन प्रथितावस्थाओं में इसे, नाम द्वारा, पृथिवी कह सकते हैं। पृथिवी=प्रथ विस्तारे। जैसे-जैसे आग्नेयावस्था से उत्तरोत्तर की अवस्थाएं आती गईं, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर अवस्थाएं अपेक्षया परिणामों में अल्पाल्प होती गईं। भूमिष्ठ पर्वतादि की अपेक्षया, भूमि, वर्तमान अवस्था में अधिक प्रथित है। अतः इसे पृथिवी कहा जाता है।

[मन्त्र में शरीर निष्ठ शक्तियों के उत्पत्ति कारणों के सम्बन्ध में प्रश्न किये गए हैं। ये व्यष्टि शक्तियां निम्न लिखित हैं:— इन्द्र=शरीरस्थ[1] विद्युत्। सोम=जल। अग्नि=कौष्ठ्य अग्नि या शरीर का तापमान। त्वष्टा=विविध रूपों की निर्माण शक्ति। धाता=मूत्र। (देखो मन्त्र ९)]।

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥९॥

(इन्द्रात्) समष्टि विद्युत् से (इन्द्रः) शरीरस्थ[1] व्यष्टि विद्युत्, (सोमात्) समष्टि जल से (सोमः) शरीरस्थ व्यष्टि जल अर्थात् रस-रक्त, (अग्नेः) समष्टि अग्नि से (अग्निः) शरीरस्थ व्यष्टि अग्नि (अजायत) प्रादुर्भूत हुई। (त्वष्टुः) रूपनिर्माण करने वाले सूर्य से (ह) निश्चय से (त्वष्टा) रूपों के निर्माण करने की व्यष्टि शक्ति, (धातुः) धारण करने वाले समष्टि मेघ से (धाता) शरीरस्थ मूत्र (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ।

[निरुक्त के अनुसार इन्द्र मध्यमस्थानी देवता है, सम्भवतः विद्युत्। अग्नि है सूर्य की अग्नि। सोम है सामान्य जल; सोमः=water (आप्टे)। त्वष्टा है सूर्य, सूर्य के प्रकाश से वस्तुओं में विविध रूप उत्पन्न होते हैं, त्वष्टा=रूपकृत्, **"य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशत् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्"** (ऋ० १०।११०।९) में त्वष्टा के सम्बन्ध में **"रूपैरपिंशत्"** का वर्णन हुआ है। अतः त्वष्टा है सूर्य। धाता है मेघ,—ये समष्टि जगत् के तत्त्व हैं। इन से इन्हीं नामों वाले शरीरस्थ व्यष्टि तत्त्व प्रकट हुए। मन्त्र में समष्टि जगत् और व्यष्टि जगत् में साम्य दर्शाया है। मेघ, जलवृष्टि द्वारा, अन्नोत्पादक होने से सब प्राणियों का धारण-पोषण करता है, अतः धाता है।

---

१. महात्माओं के सिरों के चारों ओर प्रभामण्डल में शरीरस्थ विद्युत् ही चमकती है। इसी प्रकार हाथ की अङ्गुलियों द्वारा रोगी के रुग्णस्थान में विद्युत्प्रवेश कर रोगनिवृत्ति में भी शरीरस्थ विद्युत् का प्रयोग किया जाता है। चिकित्सा की इस विधि को **"हस्त द्वारा शिवाभिमर्शन"** कहते हैं, देखो (११।४।१६ की व्याख्या)। यद्यपि इन्द्र शब्द जीवात्मा के लिये भी प्रयुक्त होता है, परन्तु वह पैदा नहीं होता। मन्त्र में 'अजायत' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः मध्यस्थानी 'समष्टि विद्युत्' ही व्यष्टि शरीरस्थ विद्युत् प्रतीत होती है।

बृहदा० उप० अध्याय १, ब्राह्मण १ में वर्षा और मूत्र में एकता दर्शाई है "यन्मेहति तद्वर्षति" । मेहन का अर्थ है, मूत्र-करना । मूत्र भी शरीर का धारक होने से व्यष्टि रूप में अधिष्ठाता है । मूत्रोत्पत्ति और मूत्रस्राव न होने से नाना रोग पैदा हो जाते हैं । मूत्रचिकित्सक तो शरीर के लिये मूत्र को महौषध कहते हैं । अथर्व. ६।४४।३ में **"रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः"** द्वारा रुद्र के मूत्र को "अमृत" कहा है । रुद्र का अर्थ है विद्युत् । उस के द्वारा बरसे वर्षा जल को मूत्र सदृश लाभकारी कहा है । अमृतम् उदकनाम (निघं० १।१२) । वर्षा जल स्वच्छ तथा गुणकारी होने से अमृतरूप है] ।

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥

(ये ते दश देवाः) वे जो १० देव (मन्त्र ३-४), (पुरा) पूर्वकाल में (देवेभ्यः) देवों से (जाताः) उत्पन्न हुये थे, (ते) वे (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (लोकं दत्वा) स्थान या यह लोक देकर (कस्मिन्) किस (लोके) लोक में (आसते) रहते हैं ।

यदा केशानस्थि स्नावं मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥११॥

(यदा) जब (केशान्, अस्थि, स्नाव, मांसम्, मज्जानम्) केशों, हड्डियों, कण्डराओं, मांस, मज्जा को (आ भरत्) उस ने शरीर में भर दिया, और (शरीरम्) शरीर को (पादवत् कृत्वा) पैरों समेत कर के [वह कारीगर] (अनु) तत्पश्चात् (कम् लोकम्) किस लोक में (प्राविशत्) प्रविष्ट हो गया ।

[स्नाव=वे मांसतन्तु जिन के द्वारा मांस हड्डियों के साथ बन्धा पड़ा है । इन तन्तुओं को कण्डराएं कहते हैं । नाली वाली हड्डी में जो स्नेह भाग विद्यमान होता है वह मज्जा है] ।

कुत केशान् कुतः स्नाव कुतोऽस्थीन्याभरत् ।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥१२॥

(कुतः) कहां ने [और किस ने] (केशान्) केशों को, (कुतः) कहां से [और किस ने] (स्नाव) मांस तन्तुओं को, (कुतः) कहाँ से [और किस ने] (अस्थीनि) हड्डियों को (आ भरत्) शरीर में भर दिया । (अङ्गा, पर्वाणि, मज्जानम्, मांसम्) अंगों को, जोड़ों को, मज्जा को; माँस को (कः) किस ने (कुतः) कहां से (आ भरत्) शरीर में भर दिया ।

संसिचो नाम ते देवा ये सम्भारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥

(ते देवाः) वे देव (संसिचः नाम) संसिच् नाम वाले हैं, (ये) जिन्होंने (सम्भारान्) केश आदि सामग्री को (समभरन्) शरीर में भरा था । (सर्वम् मर्त्यम्) मरणधर्मा प्राणी को सम्पूर्णतया (संसिच्य) सींच कर (देवाः) देव (पुरुषम्) पुरुष में (आ विशन्) आ प्रविष्ट हुए ।

[संसिचः=सींचने वाले देव "आपः" प्रतीत होते हैं । रस-रक्तरूपी द्रवों को "आपः" ने ही सींचा है । वेद ने रस-रक्त को आपः कहा है । यथा **"को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः । तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ।।** (अथर्व० १०।२।११) । इस मन्त्र में आपः=रसरक्त । सिन्धु=हृदय । लोहिनीः=लाल तथा लोहे वाला लाल रक्त । ताम्रधूम्राः=काला खून । ऊर्ध्वाः आदि =शरीर में सब ओर गति करने वाले आपः । शरीर की समग्र रचना पिता के वीर्यद्रव तथा माता के रजोद्रव से होती है । ये दोनों द्रव हैं, आपः हैं, इन्हीं से केशः आदि का निर्माण हुआ है । अतः ये संसिच् देव हैं, इन्हीं से समग्र शरीर सींचा गया है, ये ही शरीर में प्रविष्ट संसि देव हैं । मन्त्राभिप्रेत "आपः" की दृष्टि से "देवाः" पद बहुवचनान्त हैं] ।

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् ।
पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥१४॥

(उरू) दो उरुओं, (पादौ) दो पांवों, (अष्ठीवन्तौ) दो घुटनों, (शिरो हस्तौ) सिर और हाथों, (अथो) तथा (मुखम्) मुख को, (पृष्टीः) पसलियों को, (बर्जह्ये) दो कन्धों या हंसलियों को, (पार्श्वे) दो कोखों को (कः ऋषिः) किस ऋषि ने (तत्) वह सब (समदधात्) जोड़ दिया ।

[उरू=Thighs, इस का अनुवाद प्रायः जंघाएँ किया जाता है। अथर्व० १६।६०।२ में "ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः" में ऊरू और जङ्घाएँ पृथक्-पृथक् पठित हैं। मन्त्र में ऋषिपद द्वारा उत्तर भी दे दिया है कि "कः ऋषिः" अर्थात् "प्रजापति ऋषि" ने ये जोड़ जोड़े हैं । कः=प्रजापतिः । यथा 'को वै नाम प्रजापतिः' (ऐ० ३।२१)] ।

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही ॥१५॥

(शिरः, हस्तौ, अथो, मुखम्) सिर, दोनों हाथों और मुख को, (जिह्वां, ग्रीवाश्च, कीकसाः) जीभ, गर्दन की नस-नाड़ियों, रीड की हड्डियों को, (तत् सर्वम्) उस सब को, (त्वचा प्रावृत्य) त्वचा द्वारा वेष्टित कर के, (मही संधा) जोड़ने वाली बड़ी शक्ति ने (समदधात्) परस्पर जोड़ दिया है।

[संधा=सन्धि पैदा करने वाली पारमेश्वरी शक्ति] ।

यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत् ।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥१६॥

(यत्, तत् महत्, शरीरम्) जो वह बड़ा शरीर (संधया संहितम्) संधा शक्ति द्वारा जोड़ा हुआ (अशयत्) सोता है, (येन) जिस द्वारा (इदम्) यह शरीर (अद्य) आज (रोचते) चमकता या रुचिकर होता है, उस (वर्णम्) वर्ण को, (अस्मिन्) इस में (कः) किस ने (आभरत्) सर्वत्र भर दिया है।

[कः=प्रश्नवाची; तथा "कः प्रजापतिः, करोति इति कः, जगत्कर्त्ता" । मन्त्र में "कः" द्वारा ही उत्तर भी सुझा दिया है। शरीरम्=सम्भवतः शेते इति; शीङ् धातु से व्युत्पन्न अशयत् के सन्निधान से] ।

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती ।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥१७॥

(सर्वे देवाः) सब देवों ने (उपाशिक्षन्) समीप होकर शक्ति लगाई, (सती वधूः) साध्वी वधू ने (तत्) उसे (अजानात्) जान लिया। वह वधू (ईशा) अधीश्वरी शक्ति है, (या) जो कि (वशस्य) जगत् को वश में

रखने वाले ब्रह्म की (जाया) उत्पादक शक्ति है। (सा) उसने (अस्मिन्) इस शरीर में (वर्णम्) वर्ण अर्थात् रूप (आ भरत्) भरा है।

[मन्त्र १ में भी "जाया" का वर्णन हुआ है। वहां जाया का अभिप्राय है,—प्रकृति। कः ऋषिः (१४); कः (१६); संधा (१५, १६) ईशा (१७),—ये सब एक ही ब्रह्म की उपादान रूप प्रकृति के, और भिन्न-भिन्न शक्तियों के नाम हैं। ईशा है शासनशक्ति (देखो ११।६।२५,२६) । अभिप्राय यह है कि ब्रह्मेतर कोई शक्ति न तो शरीर में सन्धियां कर सकती है, न कोई प्रजा का पति है, और न कोई शासक है] ।

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१८॥

(यदा) जब (त्वष्टा) कारीगर परमेश्वर ने (व्यतृणत्) शरीर में इन्द्रिय आदि के विविध छिद्र निर्मित किये, [उस त्वष्टा ने]-(यः) जो कि (त्वष्टुः) समष्टि, त्वष्टा अर्थात् सूर्य का (उत्तरः) उत्कृष्ट (पिता) पिता है, तब (देवाः) इन्द्रिय आदि देव (मर्त्यम्) मरणधर्मा शरीर को (गृह कृत्वा) घर कर के, (पुरुषम्) पुरुष में (आ विशन्) आ प्रविष्ट हुए।

[त्वष्टा=कारीगर परमेश्वर "त्विषतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः" (निरुक्त ८।२।१४) । यह परमेश्वर इन्द्रिय, आदि के निवास के लिये शरीर-गृह में छिद्रों का निर्माण करता है, अतः कारीगर है। व्यतृणत्= पराञ्चि खानि(इन्द्रियाणि) व्यतृणत्स्वयंभूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" (कठ. उप. २।१)। सन्तानें "उत्" उत्कृष्ट तब होती हैं जब कि पिता-माता, "उत्+तर", सन्तानों से अधिक उत्कृष्ट हों] ।

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥१९॥

(स्वप्नः) सोना, (वै) तथा (तन्द्रीः) आलस्य, (निर्ऋतिः) कष्ट, (जरा) बुढ़ापा, (खालत्यम्) गञ्जापन या 'चित्त-और-इन्द्रियों का स्खलन' (सायण), (पालित्यम्) केशों की सुफैदी, ये (नाम पाप्मानः[1]) प्रसिद्ध पापरूपी (देवताः[1]) देवता (अनु) पीछे (शरीरम् प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए।

१. "या तयोच्यते सा देवता",—इस दृष्टि से स्वप्न आदि भी देवता ही हैं, चाहे इन में दिव्यता हो, चाहे न हो। अगले मन्त्रों में भी देवता का यही लक्षण जानना चाहिये।

["खालित्यम्" यह पाठ सायण भाष्य में है । अन्यत्र पाठ है "खालत्यम्" । देवताः=इन पापमय स्वप्न आदि को भी देवता कहा है। सम्भवतः "दिव्" धातु के "स्वप्न" और "मद" अर्थों की दृष्टि से स्वप्न आदि को देवता कहा हो, दिव्यता की दृष्टि से नहीं। अनु=उत्पन्न शिशु में, उत्पत्ति के समय, तो देव अर्थात् दिव्य तत्त्व ही प्रवेश पाते हैं, परन्तु "अनु" अर्थात् तत्पश्चात् कुसङ्ग, नियमोल्लंघनः खान-पान में असावधानी रजस्तमोमय जीवन के कारण शरीर में पापमय तत्त्वों का भी प्रवेश हो जाता है] ।

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् ।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२०॥

(स्तेयम्) चोरी, (दुष्कृतम्) दुष्कर्म, (वृजिनम्) वर्जनीय अन्य दुराचार, (सत्यम्) सत्य अर्थात् यथार्थ ज्ञान, यथार्थ कथन, (यज्ञः) यज्ञ कर्म, (यशः) सत्कर्मों के कारण हुआ यश अर्थात् सुप्रसिद्धि, (बृहत्) बढ़प्पन, (च बलम्) और शारीरिक बल, (क्षत्रम्) क्षात्र शक्ति या क्षति-प्राप्त व्यक्तियों का त्राण, (च ओजः) और ओजस्विता,—ये (अनु) पीछे (शरीरम् प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए। अथवा "बृहत् यशः"=महा-यश । पैप्लाप शाखा में बृहत् के स्थान में "सहः" पाठ है।

[जन्म के अनन्तर, शनैः-शनैः, कई दुर्गुण तथा कई सद्गुण शरीर में प्रविष्ट होते रहते हैं] ।

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोरातयश्च याः ।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२१॥

(च भूतिः) और समृद्धि, (वै) निश्चय से (च अभूतिः) और समृद्धि का अभाव, (रातयः) दानभाव, उदारता (च अरातयः) और दान न देना अर्थात् कञ्जूसी, (च, क्षुधः) भूख, (च) और (सर्वाः तृष्णाः) सब प्रकार की तृष्णाएं, (अनु) पीछे (शरीरम्) शरीर में (प्राविशन्) प्रविष्ट हुईं ।

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च ।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणा श्रद्धा चानु प्राविशन् ॥२२॥

(च निन्दाः) और निन्दाएं, (वै) निश्चय से (च अनिन्दाः) और स्तुतियां, (च यत्) और जो (हन्त इति) "हां" यह, (च न इति) और "न" यह; (श्रद्धा, दक्षिणा अश्रद्धा च) और श्रद्धा, दक्षिणा, अश्रद्धा—(अनु) तदनन्तर (शरीरम्, प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए ।

[हन्त=स्वीकृति अर्थात् हां । हन्त=ह+न्+त=ह+न्+अ=ह+अ+न्=हान्=हां] ।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥२३॥

(च विद्याः) और ब्रह्मविद्या सम्बन्धी नानाविधज्ञान, (च अविद्याः) और नानाविध लौकिक ज्ञान, (च यत्) और जो (अन्यत् उपदेश्यम्) अन्य उपदेश योग्य वस्तु, (ब्रह्म) शब्दब्रह्म अर्थात् ओ३म् का ध्यान या ब्रह्मवेद= अथर्ववेद, (अथो) तथा (ऋचः, साम, यजुः) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (शरीरम् प्राविशम्) शरीर में प्रविष्ट हुए ।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥२४॥

(आनन्दाः) समृद्धि के कारण उत्पन्न सुख विशेष, अथवा ब्रह्मो-पासना द्वारा उत्पन्न आनन्द भरी चित्तवृत्तियां, (मोदाः प्रमुदः) मानसिक मोद-प्रमोद, (अभीमोदमुदश्च ये) और जो संमुख प्राप्त विषयजन्य हर्षा-तिरेक; (हसः) हसना, (नरिष्टाः) नरनारियों के अभीष्ट विषयों से उत्पन्न सुख, अथवा नरनारियों की इच्छाएँ, मनों की कामनाएँ, (नृत्तानि) नाच (अनु) पीछे से (शरीरम् प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हुए।

[नरिष्टाः=अथवा नरिष्टानि । पदपाठ में विसर्ग रहित पाठ है] ।

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये ।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥

(आलापाः च) और गानविद्या सम्बन्धी आलाप, (प्रलापाः च) निरर्थक भाषण, (अभीलापलपः च ये) और जो परस्पर संमुख हो कर

वार्तालाप; (आयुजः) आयोजन, (प्रयुजः) प्रयोजन (युजः) योजनाएँ— (सर्वे) ये सब (शरीरम्) शरीर में (प्राविशन् प्रविष्ट हुए ।

[मन्त्र २४ में नृत्तानि, और मन्त्र २५ में आलापाः—ये दो शब्द गानविद्या तथा नृत्य के सूचक हैं] ।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च याः ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥२६॥

प्राण, अपान, चक्षुः, श्रोत्र, अक्षिति, और जो क्षिति, व्यान, उदान, वाक् मन, (ते) वे (शरीरेण) शरीर के साथ (ईयन्ते) गति करते हैं, सक्रिय होते हैं ।

[व्याख्या देखो (मन्त्र ४) । ईयन्ते=ईङ्=ईङ् गतौ] ।

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥

(आशिषः च) और आशीर्वाद या आशाएँ, (प्रशिषः च) और प्रकृष्ट-शासन, (संशिषः) सम्यक्-शासन, (याः) जो (विशिषः च) और विविध प्रकार के शासन, (चित्तानि) नाना प्रकार के विचार या मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, या चित्तवृत्तियां, (संकल्पाः) विविध संकल्प,—(अनु) तदनन्तर (शरीरम्) शरीर में (प्राविशन्) प्रविष्ट हुए ।

आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥२८॥

(आस्तेयीः च=आस्नेयीः) असन् अर्थात् असृक् सम्बन्धी, (वास्तेयीः च) वस्ति अर्थात् मूत्राशय सम्बन्धी, (त्वरणाः) शीघ्र गति वाले, (याः च कृपणाः) और जो मन्दगति वाले, (गुह्याः) छिपे हुए अर्थात् शरीर के घटक, (शुक्राः) शुक्र अर्थात् शुक्ल वीर्य सम्बन्धी, (स्थूलाः) और स्थूल (अपः) जलों को (बीभत्सौ) कल्याणकारी तथा सुख के साधन भूत शरीर में (असादयन्) दिव्यशक्तियों ने स्थापित किया है [आस्नेयीः"] यह पाठ सायणाचार्य ने माना है । असृक् दो प्रकार का है, रक्त और नील । इस प्रकार शरीर-निष्ठ आपः आठ प्रकार के हैं, (देखो मन्त्र २९) ।

[मन्त्र में शरीरस्थ आपः अर्थात् जलों का वर्णन हुआ है । ये आपः ८ प्रकार के दर्शाए हैं । "आस्नेयीः" पद द्वारा दो प्रकार के खूनों का कथन हुआ है, लाल और नीले । शरीर में दोनों प्रकार के खून हैं । "वास्तेयीः" पद द्वारा मूत्राशयस्थ मूत्ररूपी आपः हैं । त्वरमाणाः हैं शीघ्रगतिक रक्त और मूत्र । कृपणाः द्वारा मन्दगतिक आपः का निर्देश हुआ है, यथा स्वेद, मुखस्थ स्राव, उदरस्थ पित्त, तथा अन्य सब ग्रन्थियों के रस । गुह्याः आपः हैं शरीर की रचना का निर्माण करने वाले आपः । शरीर की रचना में आपः ३/४ हैं । और पार्थिव भाग १/४ है । ये आपः अदृश्यमान है, गुह्याः हैं, छिपे हुए हैं । शुक्रः शब्द शुक्र अर्थात् वीर्य का द्योतक है । और स्थूला शब्द द्वारा नासिकामल, आंखों का मल, बलगम आदि का ग्रहण किया है । ये आपः ८ हैं, जिन्हें कि मन्त्र (२९) में "अष्ट" पद द्वारा निर्दिष्ट किया है ।

मन्त्र में "बीभत्सु" पद है । इस का प्रसिद्ध अर्थ है, घृणित । परन्तु "बीभत्सु" पद भद् धातु द्वारा भी व्युत्पन्न माना जा सकता है, भदि कल्याणे सुखे है । शरीर कल्याण का भी हेतु है, और सुख का साधन भी] ।

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥

(अस्थि) शरीर की हड्डियों को (समिधम् कृत्वा) समिधा कर के (तत्) उस शरीर में (अष्ट अपः) आठ प्रकार के जलों को (असादयन्) देवों ने स्थापित किया । और (रेतः) वीर्य को (आज्यम् कृत्वा) घृत कर के (देवाः) देव (पुरुषम्) पुरुष में (आ विशन्) आ प्रविष्ट हुए ।

[समिधम्, आपः, आज्यम्, देवाः, —पदों द्वारा शरीर को यज्ञशाला का रूप दिया है, और शारीरिक पवित्र जीवन को यज्ञमय दर्शाया है । मन्त्र २८ और २९ में "असादयन्, तथा अपः और आपः पदों के सन्निवेश से दोनों मन्त्रों को परस्पर समन्वित प्रदर्शित किया है । मन्त्र २९ में अष्ट० आपः द्वारा ८ प्रकार के जलों का निर्देश किया है, जिन का कि वर्णन मन्त्र २८ में हुआ है । "अद्भ्यः संभृतः" पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे" (यजु. ३१।१७) में शरीर की रचना जल, पृथिवी और रस द्वारा कही है । अतः "गुह्याः" पद द्वारा, शरीर के घटक जलों का ग्रहण, वेदानुमोदित है] ।

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥

(याः) जो (आपः) जल [मन्त्र २८ तथा २९] (याः च) और जो (देवताः) देवता [पूर्वमन्त्रों में कथित], (ब्रह्मणा सह या विराट्) ब्रह्म के साथ रहने वाली ब्रह्म की सहयोगिनी जो विराट् अर्थात् संसार के विविध रूपों में दीप्यमान प्रकृति है [जिसे कि मन्त्र १ में जाया कहा है] वह, (ब्रह्म) तथा ब्रह्म (शरीरम् प्राविशत्) शरीर में प्रविष्ट हुआ, (शरीरे अधि) और शरीर में अधिष्ठाता (प्रजापतिः) उत्पन्न सन्तानों का उत्पादक तथा पालक जीवात्मा हुआ ।

[विराट्=वि+राजृ (दीप्तौ) । प्रजापतिः=प्रजानां पालयिता पुत्राद्युत्पादको जीवः (सायण)] ।

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥

मृत्यु होने पर (सूर्यः) सूर्य (चक्षुः) दृष्टि शक्ति को, और (वातः) वायु (प्राणम्) श्वास-प्रश्वास की वायु को (विभेजिरे) अपने अपने भागरूप में ले लेते हैं । (अथ) तथा (अस्य) इस पुरुष के इतरम्) तद्भिन्न (आत्मानम्) शरीर को (देवाः) शेष देव, (अग्नये प्रायच्छन्) अग्नि को दे देते हैं ।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥

(तस्मात्) इस लिये (वै) निश्चय से (विद्वान्) ज्ञानी व्यक्ति, (पुरुषम्) पुरुष को, (मन्यते) मानता है कि (इदं ब्रह्म) यह ब्रह्म है । (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष-शरीर में (सर्वाः देवताः) सब देवता (आसते) निवास करते हैं, (इव) जैसे कि (गावः) गौएं (गोष्ठे) गोशाला में ।

[इदं ब्रह्म=पुरुष को "इदं ब्रह्म" कहना, नवीन वेदान्तियों के "अहं ब्रह्म" के अर्थों में नहीं । क्योंकि इस में युक्ति दी है कि पुरुष शरीर में व्यष्टिरूप में सब देवताओं का निवास है (मन्त्र ३०) जैसे कि ब्रह्म में

सब देवताओं का निवास है, इस सादृश्य से विद्वान् गौणरूप में पुरुष को ब्रह्म मानता है, न कि वस्तुतः । न केवल अन्य देवताओं का ही अपितु स्वयं ब्रह्म का भी इसमें निवास है । (मन्त्र ३०) इसलिये गौणविधि से पुरुष को को ब्रह्म कहा जाता है । अद्वैतवादी मुख्यरूप में अपने को "अहं ब्रह्म" कहते हैं] ।

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥३३॥

(विष्वङ्) सर्वत्र गति करने वाला जीवात्मा, (प्रथमेन प्रमारेण) मुख्य मारने वाले परमेश्वर द्वारा, अर्थात् उस के नियमानुसार, (त्रेधा) तीन प्रकार के (वि गच्छति) विविध स्थानों में जाता है, (अदः)[1] वहां अर्थात् मोक्ष को (एकेन) एक प्रकार के कर्मों द्वारा (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है, (अदः)[1] वहां अर्थात् नीच योनि को (एकेन) एक प्रकार के कर्मों द्वारा (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है । (इह)[2] और यहां अर्थात् मनुष्य योनि में (एकेन) एक प्रकार के कर्मों द्वारा (निषेवते) सुख-दुःख का सेवन करता है ।

[विष्वङ्=विष्लृ व्याप्तौ+अञ्च् (गतौ) । प्रमारेण=यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतम्" (अथर्व० १३।४। पर्याय ३। मन्त्र २५), अर्थात् वह परमेश्वर ही मृत्यु है, वह अमृत है] ।

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् ।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥

(वृद्धासु) बढ़े हुए, (स्तीमासु) तथा अनार्द्र गर्भ को आर्द्र करते हुए (अप्सु) जलों के (अन्तरा) मध्य में (शरीरम्) शरीर (हितम्) निहित होता है । (तस्मिन्) उस शरीर के (अन्तरा) मध्य में (अधि) अधिष्ठातृरूप में (शवः) बलस्वरूप या बली जीवात्मा होता है, (तस्मात्) इस कारण (शवः) बलस्वरूप या बली जीवात्मा (अधि) शरीर का अधिष्ठाता[3] (उच्यते) कहा जाता है ।

१. अदः=अथवा अन्तरिक्ष में स्थिति पाता है । शीघ्र जन्म न मिलने के कारण अन्तरिक्ष में घूमता रहता है ।

२. इह=इस पृथिवीलोक में । अथवा "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" प्र० ३।३।७ ।

३. मन्त्र ३० में प्रजापति रूप में जीवात्मा को शरीर में अधिष्ठाता कहा है ।

[शवः बलनाम (निघं० २।९); शवः अर्श आद्यच्=बली । मन्त्र में मातृगर्भ में विद्यमान शरीर का वर्णन हुआ है । यह भी कहा है कि उस अवस्था का शरीर निरात्मक नहीं होता, अपितु उस में बलस्वरूप या बली जीवात्मा रहता है, जोकि शरीर का अधिष्ठाता हो कर उस की रक्षा तथा वृद्धि करता है । इन मन्त्रों में स्थान-स्थान पर "शरीरम्" का वर्णन हुआ है । साथ ही मन्त्र ३३ में कर्मों द्वारा जीवात्मा की त्रिविध गति का वर्णन करते हुए भिन्न-भिन्न योनियों में जीवात्मा के जाने का भी वर्णन हुआ है । अतः इस प्रसङ्गानुसार जीवात्मा के गर्भवास का वर्णन उचित ही प्रतीत होता है । स्तीमासु=ष्टीम् आर्द्रीभावे । ष्टीम=ष्टीम्+पचाद्यच्=ष्टीमासु=स्तीमासु] ।

चौथा अनुवाक समाप्त ॥

—:०:—

विषय प्रवेश

काण्ड ११ । सूक्त ९-१०

१. ११ वें काण्ड के ९वें और १० वें सूक्त में देवों और असुरों में युद्ध का वर्णन हुआ है । सूक्त ९वें साधारण युद्ध का- तथा १० वें सूक्त में घोर युद्ध का वर्णन है । ९वें सूक्त में सेनाओं के झण्डों का वर्णन नहीं, १० वें सूक्त में "केतुभिः सह" तथा "अरुणैः केतुभिः सह" (१०।१,२) द्वारा देवों के सैनिक-झण्डों और अरुण अर्थात् लाल झण्डों का वर्णन है, ये लाल झण्डे घोर युद्ध में हुए रक्तपात के सूचक हैं ।

२. ९ वें में सूक्त में अर्बुदि और न्यर्बुदि दो सेनापति हैं । अर्बुदि तो देवसेना द्वारा आसुरी सेना के साथ साक्षात् युद्ध करता है और न्यर्बुदि सेना संचाल में उसे निर्देश देता है । इसी लिये न्यर्बुदि को "ईशान" कहा है (४) । अर्बुदिः=अर्व (अर्व हिंसायाम्)+दा (दाने), जो कि साक्षात् आसुरी सेना के लिये हिंसादायक है । न्यर्बुदिः=नितराम् अर्बुदिः, अत्यधिक हिंसा दायक । ईशान होने के कारण इसे अत्यधिक हिंसादायक कहा है ।

३. युद्ध के शीघ्र समाप्त न होने से न्यर्बुदि के स्थान में त्रिषन्धि को नियुक्त किया गया है (९।२३) । सूक्त १० वें में अर्बुदि और त्रिषन्धि ही देवासेना के अधिपति रूप में युद्ध करते हैं । (१०।२०,२१) में अर्बुदि के सहायक रूप में न्यर्बुदि को पुनः नियुक्त किया है । इस प्रकार (१०।२०, २१) में तीन अधिपति युद्ध में संलग्न होते हैं । त्रिषन्धि परस्पर की सन्धि में बन्धे तीन मित्रराष्ट्रों का प्रतिनिधि होकर सेनासंचालन करता है । अतः तीन राष्ट्रों के मेल के कारण देव सेना प्रबल हो जाती है । त्रिषन्धि के स्वरूप पर (९।२३; तथा १०।२) में विशेष प्रकाश डाला है ।

४. युद्ध में नाना प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग देव सेना की ओर से हुआ है । परन्तु साथ ही उदार भावों का प्रदर्शन भी अनुमोदित हुआ है, ताकि आसुरी-सेना उदार भावों से प्रभावित हो कर आत्मसमर्पण कर दे और घोर युद्ध समाप्त हो सके (९।,१,६,१५,१६,२२,२४) । (१०।१) में सायणाचार्य ने भी "उदाराः" का अर्थ किया है "औदार्य गुणोपेताः सेनानायकाः" ।

५. देवसेना की युद्ध सामग्री:—

(क) श्वन्वती: सेनाएं (९।१५), अर्थात् शिकारी, खोजी या दोनों प्रकार के कुत्तों वाली सेनाएं ।

(ख) शत्रुओं के चित्तों को ज्ञानशून्य करने वाले विमोहनास्त्र (९।१३; १०।२०) ।

(ग) अग्निजिह्वा: अर्थात् आग्नेयास्त्र, तथा धूमशिखा: अर्थात् धूमास्त्र (९।१९)

(घ) तामसास्त्र अर्थात् शत्रु की सेना को अन्धकार से आवृत करने वाला अस्त्र (९।२२,१०।१९) ।

(ङ) अयोमुख, सूचीमुख, विकङ्कतीमुख (अर्थात् कङ्घी के सदृश नोकोले नानामुखों वाले) बाण (१०।३) । तथा चतुर्दंष्ट्रान, अर्थात् दाढ़ों के सदृश चबाने वाले ४ दाढ़ों वाले नोकीले बाण, श्यावदत: अर्थात् काले-लोहे के बने दान्तों वाले बाण, और असृङ्मुखान् अर्थात् खूनीमुख अर्थात् खूनी अग्रभागों वाले बाण (९।२८) ।

(च) 'शितिपदी चतुष्पदी शरव्या' सम्भवत: तोप (१०।६) तथा केवल शितिपदी, सम्भवत: विमोहनास्त्र के गुणों वाला अस्त्र (१०।२०) ।

(छ) द्रव-वज्र अर्थात् शत्रु पर द्रव के सींचने का अस्त्र (१०।१२, १३), सम्भवत: वारुणास्त्र ।

(ज) असीन् अर्थात् तलवारें, परशून् अर्थात् फरसे, कुल्हाड़े (९।१) ।

(झ) कवच और वर्म (१०।२२, २३) ।

(ञ) रथी, अश्वारोही...सादिन: (१०।२४) ।

सूक्त-९

ऋषि: काङ्कायन: । मन्त्रोक्ताऽर्बुदिर्देवत्यम् । आनुष्टुभम्; १ सप्तपदा विराट् शक्वरी त्र्यवसाना; ३ पुरोष्णिक्; ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परा त्रिष्टुप् षट् पदातिजगती; ९, ११, १४, २३, २६ पथ्या पंक्ति; १५,२२, २४,२५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १६ त्र्यवसाना पञ्चपदा विराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्; १७ त्रिपदा गायत्री ।

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च ।
असीन् परशुनायुधं चित्ताकूतं च यद् हृदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥

(ये बाहव:) जो बाहुएं, (या: इषव:) जो बाण हैं, (च धन्वनां वीर्याणि) और धनुर्धारियों की वीरता के कर्म हैं या उन के पराक्रम हैं, उन्हें, तथा (असीन्) तलवारों, (परशून्) कुल्हाड़ों, (आयुधम्) युद्ध सम्बन्धी अस्त्र शस्त्रों, (च हृदि यत् चित्ताकूतम्) और हृदय में जो विचार तथा संकल्प है, (तद् सर्वम्) उस सब को (अर्बुदे) हे हिंसा करने वाले सेनापति ! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्य:) शत्रुओं के (दृशे) देखने के लिये (कुरु) संनद्ध कर, (च) और (उदारान्) उदार भावों का भी (प्र दर्शय) प्रदर्शन कर ।

[अर्बुदि:=अर्ब् (अर्व हिंसायाम्)+उ (औणादिक प्रत्यय; १।७) +दा+कि:=हिंसा देने वाला अर्थात् हिंसा करने वाला सेनापति या सेनाध्यक्ष । "कि:" प्रत्यय उपसर्गपूर्वपदन होने पर भी घु-संज्ञक धातुओं में दृष्ट है, यथा जलधि:; इषुधि: (अष्टा० ३।३।९३) ।

बाहव:=क्षत्रिय सैनिक । यथा "बाहू राजन्य: कृत:" (यजु० ३१। ११) । परराष्ट्र द्वारा नियुक्त जो दूत अपने राष्ट्र में विद्यमान है उसे अपनी सैन्यशक्ति का प्रदर्शन करा देना चाहिये, ताकि परराष्ट्र युद्ध के लिये साहस न कर सके । साथ ही अपने राष्ट्र के हार्दिक अर्थात् स्नेहपूर्ण शान्ति के विचारों तथा संकल्पों और उदारभावों को भी प्रकट कर देना चाहिये, जिस से वह जान सके कि हम किसी प्रकार भी युद्ध नहीं चाहते, यदि युद्ध के लिये हमें बाधित ही न कर दिया जाय] ।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥२॥

(देवजनाः मित्राः) हे मित्र विजिगीषु सैनिक जनो ! (उत्तिष्ठत) उठो, (संनह्यध्वम्) अपने-आप को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करो । (अर्बुदे) हे हिंसा में कुशल सेनापति ! (नः) हमारे (या मित्राणि) मित्र हैं, और हे मित्रो ! (वः) तुम्हारे जो मित्र है, अर्थात् हमारे जो मित्रों के मित्र हैं वे, (संदृष्टा) कुछ को शत्रुओं की दृष्टि में लाओ, और कुछ को (गुप्ता सन्तु) गुप्त रखो ।

[यदि युद्ध के लिये बाधित ही होना पड़े तो युद्ध की तय्यारी करनी चाहिये । युद्ध के लिये मित्रों और मित्रों के मित्र राष्ट्रों की सहायता भी लेनी चाहिये । अपनी पूरी सैनिक शक्ति को युद्ध भूमि में न ला खड़ा करना चाहिये । कुछ युद्ध भूमि में लाने चाहियें, शेष गुप्त रखने चाहियें । संदृष्टा, गुप्ता=संदृष्टानि गुप्तानि मित्राणि । देवजनाः=दिवु विजिगीषा] ।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥३॥

(अर्बुदे) हे अर्बुदि ! और न्यर्बुदि ! (४) तुम दोनों (उत्तिष्ठतम्) उठो, (आरभेथाम्) और युद्ध आरम्भ करो, (आदानसंदानाभ्याम्) पकड़ने तथा बान्धने के द्वारा, (अमित्राणाम् सेनाः) शत्रुओं की सेनाओं को (अभिधत्तम्) रस्सियों और शृङ्खलाओं द्वारा बान्धो ।

[आदान=पकड़ना । सन्दान=बान्धना । अभिधत्तम्; अभिधानी=रस्सी, यथा "अश्वाभिधानीमादत्ते" (तै० सं० ५।१।२।१)]

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः ।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥

(अर्बुदिः नाम) अर्बुदि नाम वाला (यः देवः) जो विजिगीषु सेनापति है, (ईशानः च न्यर्बुदिः) और सेनाधीश्वर जो न्यर्बुदि है, (याभ्याम्) जिन दोनों द्वारा (अन्तरिक्षम्) युद्धभूमि का अन्तरिक्ष [वायु सेना द्वारा] (आवृतम्) घेरा गया है, (इयं च मही पृथिवी) और यह विस्तृत युद्धभूमि

घेरी गई है, (ताभ्याम् इन्द्रमेदिभ्याम्) मुझ सम्राट् के साथ स्नेह करने वाले उन अर्बुदि और न्यर्बुदि के साथ (सेनया) तथा सेना के साथ (जितम्) विजित राष्ट्र में (अनु एमि) उन के पीछे पीछे या विजित राष्ट्र के अनुकूल होकर आता हूं ।

[देवः=दिवु विजिगीषा, तद्वान् । न्यर्बुदि बड़ा आफिसर है, तभी इसे ईशान कहा है । इन्द्र=सम्राट् "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७) । सम्राट् दोनों आफिसरों तथा सेना के पीछे पीछे विजित राष्ट्र के प्रति अनुकल भावनाओं सहित, विजित राष्ट्र में पदार्पण करता है, विरोधी या बदला लेने की भावना से नहीं] ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥५॥

(देवजन अर्बुदे) हे विजिगीषु-जन, अर्बुदि ! (त्वम्) तू (सेनया सह) सेना के साथ (उत्तिष्ठ) उत्थान कर, और (अमित्राणाम्) शत्रुओं को (सेनाम्) सेना को (भञ्जन्) तोड़ता हुआ, [शत्रु को प्रजा को] (भोगेभिः) भोग की वस्तुओं के द्वारा (परिवाहय) घेर[1] ।

[सेनापति का यह कर्तव्य है कि वह जब शत्रु राष्ट्र की सेनाओं पर विजय पा ले, तो वह शत्रु राष्ट्र की प्रजा को तंग न करे, अपितु भोग की वस्तुएं दे कर, उसे अपने अनुकूल बनाने या यत्न करे] ।

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् ।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥६॥

(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि सेनाधीश्वर (४) (त्वम्) तू (उदाराणाम्) उदार भावों के (सप्त जातान्) सात उत्पत्ति स्थानों का (समीक्षयन्) सम्यक्-ईक्षण या विचार करता हुआ, (आज्ये हुते) पर राष्ट्र में प्रवेश के समय यज्ञ में आज्याहुति दे कर, (तेभिः सर्वैः) उन सब उत्पत्ति स्थानों के साथ, और (सेनया) पर राष्ट्र की सेना के साथ (उतिष्ठ) अपने राष्ट्र का उत्थान कर, समुन्नति कर ।

१. भोग्य वस्तुएं इतनी दे कि प्रजा भोग्य वस्तुओं से घिर जाय । भोगेभिः, यथा "भोगे रोगभयम्" ।

(सप्त जातान्=राज्य सप्ताङ्ग होता है, "**स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश-राष्ट्रदुर्गबलानि च**" अर्थात् राजा, मन्त्रिगण, मित्र राज्य, खजाना, राष्ट्र, किले और सैन्यबल। इन सात में से किस अङ्ग द्वारा विजित राष्ट्र के लिये उदारता प्रदर्शित करनी चाहिये इस पर सम्यक् विचार कर के, इन सब उदार भावों के साथ, पर-राष्ट्र में प्रवेश कर और शुभ-यज्ञ में घृताहुतियां देकर न्यर्बुदि, विजित राष्ट्र की सेना की भी उन्नति करता हुआ उत्थान करे, अपनी संमुन्नति करे]।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥७॥

(अर्बुदे) हे हिंसा करने वाले सेनापति ! (तव रदिते) तेरे काटने पर (पुरुषे हते) पुरुष के मर जाने पर [उस की पत्नी] (प्रतिघ्नाना) छाती पीटती हुई, (अश्रुमुखी) मुख पर आंसुओं वाली, (कृधुकर्णी) हलके कानों वाली, (विकेशी) और बिखरे केशों वाली होकर (क्रोशतु) चिल्लाए।

[कृधु=ह्रस्वनाम (निरुक्त ६।१।३), दुःख के कारण कर्णभूषण उतार लेने पर हलके कानों वाली। रदित=काटना, तलवार, कुल्हाड़े, बाण द्वारा (मन्त्र १)। रदिते=रद्=To split, rend (आप्टे)]।

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती ।
पतिं भ्रातरमात् स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥८॥

(अर्बुदे) हे हिंसा करने वाले सेनापति ! (तव रदिते) तेरे काटने पर, (करूकरम्[1]) करूकर को (संकर्षन्ती) खींचती हुई, (मनसा पुत्रम् इच्छन्ती) मन से पुत्र को चहाती हुई, तथा (पतिम् भ्रातरम् आत् स्वान्) पति, भाई तदनन्तर निज सम्बन्धियों को मन से चाहती हुई (क्रोशतु) चिल्लाए।

[करूकरम्=कुरीरम् ? (अथर्व० १४।१।८), कुरीरम् या कुरीकम्। "कुरीर" पत्नी के हाथ का आभूषण है, जिसे कि पन्जाबी भाषा में कलीरा कहते हैं। अथर्व० ६।१३८।३ में कुरीर को शिरोभूषण कहा है। यथा **कुरीमस्य शीर्षणि**"]।

१. अथवा "कृत्करम्"=कृत्करम् (सायण)। क्रियते कर्म येन सः कृत्, स चासौ करः (हस्तः), तम् संकर्षन्ती इतस्ततः चालयन्ती। अर्थात् कर्मसम्पादक हाथ को इधर-उधर पटकती हुई।

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥९॥

(अलिक्लवाः) भौरों की तरह विक्लव अर्थात् उत्तेजित हुए, (जाष्कमदाः) मदमस्त हुए (गृध्राः, श्येनाः, पतत्रिणः) गीध, बाज पक्षी, (ध्वाङ्क्षाः) कौए, (शकुनयः) तथा अन्य शक्तिशाली पक्षी (अमित्रेषु) शत्रुओं के शरीरों पर (तृप्यन्तु) तृप्त हों, (अर्बुदे तव रदिते) हे अर्बुदि ! तेरे काटने पर। (समीक्षयन्) तू इस दृश्य को देखता रह।

[अलिः=भौरे जैसे पुष्पमधु के लिये उत्तेजित होते हैं, वैसे मांस के लिये उत्तेजित हुए गीध आदि। उत्तेजना के कारण गृध्र आदि को मदमस्त कहा है। जाष्कमदाः=जष् हिंसायाम् (भ्वादि); जष्+क (कृ करणे); जाष्क=स्वार्थे अण्; अर्थात् हिंसाकारक मदवाले, अतिमदवाले]।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः ।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥१०॥

(अथ उ) तथा (श्वापदम्) कुत्तों के सदृश पैरोंवाले (सर्वम्) सब हिंस्रप्राणी, (मक्षिका) मक्खियां, (क्रिमिः) और कीड़े मकौड़े, (पौरुषेये कुणपे अधि) पुरुषों के मृतशरीरों पर (तृप्यतु) तृप्त हों, (अर्बुदे) हे हिंसक सेनापति ! (तव) तुझ द्वारा (रदिते) शत्रुओं के कटने पर।

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥

(न्यर्बुदे, अर्बुदे) हे न्यर्बुदि सेनाधीश ! और अर्बुदि सेनापति ! (प्राणापानान्) शत्रुओं के प्राणों और अपानों को (आगृह्णीतम्) जकड़ दो, (संबृहतम्) और प्राणापानों को पूर्णतया रोक दो। (अमित्रेषु) शत्रु दल में (निवाशाः) दबी-ध्वनि के (घोषाः) अनभिव्यक्त शब्द (संयन्तु) उठें, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक ! (तव) तुझ द्वारा (रदिते) शत्रुओं को काटने पर। (समीक्षयन्) और तू इस दृश्य को देखता रह।

[आगृह्णीतम्=जकड़ दो अर्थात् प्राणापान की गति को रोक दो। संबृहतम्=सम्+बृहू उद्यमने, अर्थात् उन्हें सम्यक्तया ऊपर ही ऊपर रोक दो, ताकि निकले हुए प्राणापान शरीर में पुनः प्रवेश न पाएं। उद्यमन=उद्+यम (उपरमे)]।

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज ।
उरुग्राहैः, बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥

(न्यर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनाधीश्वर ! (अमित्रान्) शत्रुओं को (उद् वेपय) कम्पा दे, (संविजन्ताम्) वे सब विचलित हो जांय, (भिया) भय के साथ (संसृज) उन का संसर्ग कर । (अमित्रान्) शत्रुओं को (उरुग्राहैः) टांगो को जकड़ने वाले अस्त्रों द्वारा, तथा (बाह्वङ्कैः) बाहुओ को अङ्कित या वक्र कर देने वाले अस्त्रों द्वारा (विध्य) बीन्ध ।

[उरुग्राहैः[1]=उरुग्राहैः ऊरूणां ग्रहणैः (सायण)। अथर्व॰ ३।२।५मे "अप्वा" द्वारा,शत्रु पक्ष के सैनिकों के अङ्गों को जकड़ने का वर्णन "गृहाणाङ्गानि" द्वारा किया हैं। यथा "अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि। अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ अप्वा=अप+वा, चलानेवाले से अपगत हो कर शत्रु की ओर गति करने वाला अस्त्र । बाह्वङ्कैः=बाहु बङ्कैः, बाहुना वक्र बन्धनैः (सायण) । बाह्वङ्कैः का पदच्छेद ="बाहू+अङ्कै अधिक स्पष्ट है । अतः इस पद के दो अर्थ सम्भव हैं,(१)बाहुओं को वक्र कर देने बाले, या टेढ़ा कर देते बाले; तथा (२) बाहुओं को अङ्कित कर देने वाले शस्त्रों या अस्त्रों द्वारा ।" अथर्व० ८।३।६ "प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम्" द्वारा प्रतिकूल चलने वाले शत्रुओं के बाहुओं को, भग्न कर देने, तोड़ देने का वर्णन हुआ है, जिसे कि "वक्र कर देना कह सकते हैं। टांगों के जकड़ जाने से शत्रुसैनिक गतिहीन हो जाते हैं, और बाहुओं के भग्न या वक्र हों जाने पर वे शस्त्रास्त्र का प्रयोग नहीं कर सकते । अतः उन पर आसानी से विजय पा सकते हैं । बाहुओं को अङ्कित अर्थात् चिन्हित करने का प्रयोजन यह है कि उन्हें पराजित कर, जब उन के राष्ट्र में प्रवेश पा लिया जाय, तो अङ्कित बाहुओं वाले सैनिकों को पहचान कर उन्हें उचित दण्ड दिया जा सके] ।

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद् हृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥१३॥

(एषाम्) इन शत्रुओं की (बाहवः) बाहुएं (मुह्यन्तु) मूढ़ हो जांय, कर्त्तव्य रहित हो जावें, इन के (हृदि) हृदयों में (यत्) जो (चित्ताकूतम्)

1. अथवा विस्तृत पकड़-करने वाले जालों द्वारा पकड़ना भी बींधने के सदृश ही है । "जाल" के लिए देखो अथर्व० (८।८।६-७) ।

विचार और संकल्त है वह (मुह्यतु) कर्तव्याकर्तव्य से शून्य हो जाय । (एषाम्) इन का (किंचन) कुछ भी (मा उच्छेषि) शेष न बचे, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (तव रदिते)तुझ द्वारा शत्रुओं के कट जाने पर ।

[मुह्यन्तु="अप्वा" द्वारा चित्तों के मूढ़ हो जाने पर, संज्ञाशून्य हो जाने पर प्रतिमोहयन्ती (मन्त्र १२ की व्याख्या] ।

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

(पुरुषे हते) पति आदि के मर जाने पर, उन की स्त्रियां (रुदत्यः) रोती हुई, (प्रतिघ्नानाः) युद्धभूमि से प्रतिमुख हो कर जाती हुई, और (उरः) छातियों को तथा (पटूरौ) पटूरों को (आघ्नानाः) हाथों द्वारा पीटती हुई, (अघारिणीः) दुःख से आर्त, तथा (विकेश्यः) बिखरे केशों वाली हुई, (संधावन्तु) मिल कर युद्ध भूमि से दौड़ जांय (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति ! (तव रदिते) तुझ द्वारा शत्रुओं के कट जाने पर ।

[पटूरौ=पटूरू=पट् (गतौ)+उरू । गति के साधन "उरू" अर्थात् कटि प्रदेश और दो घुटनों के बीच के दो भाग, पंजाबी भाषा में "दो-पट्ट" । उरू का अर्थ प्रायः जंघा किया जाता है जोकि वैदिक दृष्टि में ठीक नहीं । अथर्ववेद "ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जव" (१९।६०।२) में, उरूओं और जङ्घाओं को पृथक्-पृथक् कहा है । प्रतिघ्नानाः=प्रति+हन् (गतौ)] ।

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे ।
अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१५॥

(श्वन्वतीः) शिकारी कुत्तों वाली सैनिक टुकड़ियों अर्थात् अल्प सैनिकों वाली सेनाओं को, (अप्सरसः) अन्तरिक्ष में विचरने वाली सैनिक-टुकड़ियों को, (रूपकाः) नानारूप धारण करने वाली सैनिक टुकड़ियों को, (पात्रे अन्तः) सत्पात्रों में बैठ कर (रेरिहतीम्) पूजापाठ करने वाली, (रिशाम्) परन्तु वस्तुतः हिंसावृत्ति वाली, तथा (दुर्णिहितैषिणीम्) जिन में बुरी इच्छाएं निहित हैं ऐसी सैनिक-टुकड़ियों को—(ताः सर्वाः) उन सब टुकड़ियों को,—(अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति ! (त्वम्) तू (अमि-

त्रेभ्यः दृशे कुरु) शत्रुओं के देखने के लिए तय्यार कर, और (उदारान् च) उदारभावों को भी (प्रदर्शय) प्रदर्शित कर ।

[अप्सरसः=आपः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३), तत्र सारिण्यः । रूपकाः=नानारूपाणि कुर्वन्ति, ताः । पात्रे=सत्पात्रसमूहे, सत्पुरुष-समूहे । रेरिहतीम्=रिहति अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१४) । रिशाम्=रिश हिंसायाम् (तुदादिगण) । वेदानुयायी सम्राट् शान्तिप्रिय है, युद्धाभिलाषी नहीं । यथा "संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः" (अथर्व० ७।५२।१),अर्थात् हमारा अपनों के तथा परायों के साथ ऐकमत्य तथा समझौता हो । तथा "मा घोषा: उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते" (अथर्व० ७।५२।२), अर्थात् महा नरसंहारी युद्ध में आर्तनाद न उठें, और युद्ध का दिन आ जाने पर भी सम्राट् का बाण शत्रुओं पर न गिरे । सम्राट् के शान्तिप्रिय होने पर भी यदि शत्रु युद्ध करने से न टले तो शान्तिप्रिय सम्राट् को निज राष्ट्र रक्षा के लिये युद्धभूमि में आना ही पड़ेगा । युद्ध के जारी रहते सम्राट्, युद्ध शान्ति के लिये, यत्न करता रहे । इस निमित्त शत्रुपक्ष के शान्तिप्रिय गण्यमान्य सत्पुरुषों को सम्राट् निज राष्ट्र में आमन्त्रित कर, उन्हें अपनी विविध प्रकार की सैन्य शक्ति को दिखा कर, उन्हें समझाये कि आप लोग निज राष्ट्र में जा कर सैन्यविभाग के अधिकारियों को यह समझाएं कि सम्राट् का सैन्यबल अति शक्तिशाली है, जो कि हमारा विनाश कर सकता है । इसलिये हमें युद्ध से उपरत हो जाना चाहिये । साथ ही सम्राट् आमन्त्रियों के प्रति निज उदारभावों को भी प्रदर्शित करे । भय और उदारता,-इन दोनों उपायों का आश्रय ले कर सम्राट्, युद्धशान्ति के लिये यत्न करे । अन्तःपात्रे रेरिहताम्=अथवा शत्रुओं के साथ बैठ कर पात्र में रखे अन्न का आस्वाद लेने वाली । रिहः=लिह आस्वादने] ।

खड़ूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् ।
ये उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥१६॥

(खड़ूरे) भेदनीति और मन्थन में (अधि चङ्क्रमाम्) अधिक गति वाली सैनिक-टुकड़ी को, (खर्विकाम्) पराक्रम में गर्वीली को, तथा (खर्व-वासिनीम्) गर्वीली शत्रु सेना का छेदन करनी सैनिक-टुकड़ी को, तथा (ये) जो (उदाराः) उदारा भाव (अन्तर्हिताः) अभी छिपाए रखे हैं, अभी प्रकट नहीं

किये, (ये) तथा जो (गन्धर्वाप्सरसः च) पृथिवी-पति अपने साथी हैं, और जो अन्तरिक्ष में सरण करने वाली सैनिक-टुकड़ियां हैं, (सर्पाः) सर्पों के सदृश शत्रुओं में छिप कर, विष फैलाने वाले तथा (इतरजनाः) तत्सदृश अन्य जन हैं, (रक्षांसि) और राक्षसी स्वभाव वाले सैनिक हैं, उन्हें [प्रदर्शय (१५) प्रदर्शित कर] ।

[खड़ूरे=खडि भेदने (चुरादि); खडि मन्थे (भ्वादि) खड़ूरे=खड् +उरन् (औणादिक प्रत्यय) । खर्विकाम्=खर्व दर्पे (भ्वादि) । खर्ववासि-नाम्=खर्व (दर्प)+वस छेदने[1] (चुरादि) । गन्धर्वाः=गौः पृथिवी-नाम (निघ. १।१)+धृञ् (धारणे), पृथवी का धारण करने वाले राजा । सर्पाः =विषैले व्यक्ति (अथर्व. ८।५।१३-१६)]

चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् ।
स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥१७॥

(चतुर्दंष्ट्रान्) चार दाढ़ों वाले वाणों को, (श्यावदतः) श्याव अर्थात् काले लोहमय दान्तों अर्थात् कोनों वाले बाणों को, (कुम्भमुष्कान्[2]) कुम्भ अर्थात् घड़े के सदृश मोटे तथा बलिष्ठ योद्धाओं को, (असृङ्मुखान्) जिन के मुखों अर्थात् अग्रभाग इतने तीक्ष्ण हैं जो कि शत्रु के शरीर में घुस कर मानो उस का रक्त पीते हैं ऐसे वाणों को, (स्वभ्यसाः) जो निजस्वरूप में भयानक हैं वे योद्धा, (उद्भ्यसाः)जो उन से भी समुन्नत अवस्था के भयानक हैं वे योद्धा,—[उन्हें प्रदर्शय (१५) प्रदर्शित कर] ।

[दंष्ट्रा=चबाने वाले तीखे दान्त अर्थात् दाढ़ें । दन्त शब्द बाण के अग्रभाग का भी वाचक है । दन्तः[3]=the point of an ar.ow(आप्टे) ।

१. छेदनार्थक "वस्" धातु से "वसा" शब्द निष्पन्न है, जिसका अर्थ है चर्बी । पशु को काट कर, छिन्नभिन्न कर, चर्बी प्राप्त होती है ।

२. मुष्कः=मुष्टण्डे । मुष्कः=A muscular or robustman (आप्टे) ।

३. "इषु" के सम्बन्ध में कहा है कि "सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो:" (ऋ० ६।७५।११) । निरुक्त में कहा है कि ""मृगमयो अस्या दन्तः" (९।२।१८; खण्ड १४), अर्थात् इषु का दन्त मृगमय है, मृग के सींग द्वारा निर्मित है । इस लिये इषु के अग्र भाग में लगी तीक्ष्ण वस्तु को भी "दन्त" कहा है ।

कंघे की अग्र भागों को भी दन्त कहते हैं। अथर्व. (१४।२।६८) में "शतदन् कण्टकः" द्वारा १०० दान्तों वाले कण्टक अर्थात् कंघे का वर्णन हुआ है। अथर्व. (८।३।२) में अग्नि को "अयोदंष्ट्रः" कहा है। अयोदंष्ट्रः=लोहे से निर्मित दंष्ट्रा वाले बाणों के सदृश विघातक अग्नि। श्यावदतः=काले के दान्त वाले बाण। इन्हें "अयोमुखाः" भी कहा है (अथर्व. ११।१०।३) अर्थात् जिन के मुखों अर्थात् अग्रभागों में लोहा लगा है ऐसे बाण। लोहा काला होता है, और श्याव का अर्थ काला भी है।

कुम्भमुष्कान्=मुष्कः=Amusaular or robust man (आप्टे) अर्थात् मांसल और बलवान् मनुष्य। स्वभ्यसाः=स्व+भ्यस् (भये)+कः "(घञर्थे कविधानम्")। उद्भ्यसाः=समुन्नत-भ्यसाः, जो कि निज स्वरूप में तो भयानक है, परन्तु साथ ही शस्त्रास्त्रधारी भी हैं]।

उद् वेपय त्वमर्बुदे मित्राणाममूः सिचः।
जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥

(अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (त्वम्) तू (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः) उन (सिचः) गर्व से सिक्त हुई, सींची हुई सेनाओं को (उद्वेपय) कम्पा दे। (अमित्रान्) शत्रुओं को (जयान्=जयन्) जीतता हुआ तू, (च जिष्णुः) और जीतने के स्वभाव वाला न्यर्बुदि, तुम दोनों (इन्द्रमेदिनौ) जो कि सम्राट् के साथ स्नेह करने वाले हो, (जयताम्) विजयी होवो।

[सिचः=गर्व अर्थात् अभिमान से संसिक्त। उत्सेकः=अभिमान] सिचः का अर्थ "कपड़े के किनारे" भी होता है। यथा "ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः" (अथर्व. १४।२।५१) इस अर्थ में मन्त्रगत "सिचः" का अर्थ होगा "युद्ध भूमि के दूर के किनारों, सीमाओं तक फैली हुई सेनाएं।]

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतो३ऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥

(न्यर्बुदे) हे नितरां शत्रुघातक सेनाधीश! (अमित्रः) शत्रु गण (प्रब्लीनः) घिरा हुआ, (मृदितः) कुचला हुआ, और (हतः) मरा हुआ (शयान्) भूमि पर सो जाय। (अग्निजिह्वाः) अग्नियों की ज्वालाओं वाले

इषु, (धूमशिखाः) तथा धूएं की शिखाओं वाले इषु,[1] (जयन्तीः) विजय पाते हुए, (सेनया) हमारी सेना के साथ (यन्तु) युद्ध भूमि में चलें।

[प्रब्लीनः=प्र+ब्ली (वरणे, क्र्यादि)। अग्निजिह्वाः, धूमशिखाः ="धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वादधतां भयम्" अथर्व० (८।८।२), अर्थात् धूम और अग्नि को दूर से देख कर शत्रु, हृदयों में भय धारण करें। तथा "धूमाक्षो [सेना]अथर्व. (११।१०।७), अर्थात् धूम द्वारा आवृत आंखों वाली शत्रु सेना। अग्निजिह्वाः =अग्नेर्जिह्वाः याभ्यः ता इषवः। अग्नि को "सप्तजिह्व"[2] कहा है, (मुण्डक उप. मुण्डक १, खण्ड २, सन्दर्भ ४)। धूम शिखाः=धूमस्य शिखाः याभ्यः ताः इषवः। यह आग्नेयास्त्र तथा धूमास्त्र हैं]।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥२०॥

(अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति! (तया) उस सेना द्वारा (१९) (प्रणुत्तानाम्) धकेले गए (अमित्राणाम्) शत्रुओं के (वरंवरम्) मुखियों का (शचीपतिः इन्द्रः) सब कर्मों का अधिपति सम्राट् (हन्तु) हनन करे, (एषाम्) इन मुखियों में (कश्चन) कोई भी (मा) न (मोचि) छूटे।

[शचीपतिः=राष्ट्र के सभी कर्मों का अधिपति सम्राट् है। वह जिस जिस मुखिया के हनन के सम्बन्ध में आज्ञा दे, उस-उस का हनन अर्बुदि करे। शची कर्मनाम (निघं० २।१)।

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥

(हृदयानि) शत्रुओं के हृदय अर्थात् धैर्य (उत्कसन्तु) टूट जांय, या शरीरों से उद्गत हो जांय, निकल जांय [उत्+कसि (गतौ)] (प्राणः) प्राण (ऊर्ध्वः) उठकर (उदीषतु) ऊपर की वायु में चला जाय। (अमित्रान्) शत्रुओं को, (अनु) तत्पश्चात् (शौष्कास्यम्) मुख का सूखापन (वर्तताम्) प्राप्त हो, अर्थात् उन के मुख सूख जांय, मुरझा जाँय (उत) और (मित्रिणः) मित्रों के मुख (मा) न सूखें, अपितु प्रसन्न हों।

---

१. द्र० पृष्ठ २०१, टि० ३। २. सात जिह्वाओं सात ज्वालाओं वाली अग्नि।

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२२॥

(ये च धीराः) जो धैर्यवाले, (ये च अधीराः) और जो धैर्यरहित (पराञ्चः) जोकि युद्ध से पराङ्मुख हो कर भागे हैं, (ये बधिराः) जो युद्ध में शस्त्रास्त्रों की ध्वनियों तथा कोलाहलों के कारण बहरे हो गए हैं, (च) और (तमसा) विजयी सेना द्वारा फेंके तामसास्त्रों के कारण (ये) जो (तूपराः) शृङ्गविहीन पशुओं के सदृश पराक्रम रहित हो गये हैं, (अथो) और जो (बस्ताभिवासिनः) बकरों की खाल के वस्त्र [कवचों के रूप में] धारण किये हुए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब को, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति ! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के (दृशे) देखने के लिये (कुरु) उपस्थित कर, (उदारान् च) और उदार भावों को भी (प्रदर्शय) प्रदर्शित कर।

[जब अर्बुदि शत्रुओं पर विजय पा ले, तदनन्तर वह शत्रुपक्ष के धीर आदि पुरुषों को एकत्रित करके, शत्रु पक्ष के अधिकारियों के संमुख उन्हें उपस्थित करे, और कहे कि तुम्हें क्या लाभ हुआ युद्ध करके, देखो इन दीन सैनिकों की अवस्था को । परन्तु अधिकारियों के प्रति उदारभावों को भी दर्शाए जिस से उन्हें निश्चय हो जाय कि युद्ध लड़ने के कारण, विजयी राष्ट्र हमारे साथ निर्दयता का व्यवहार न करेगा।

तमसा तूपराः; तूपरः=शृङ्गहीनः पशुः (सायण)। तमसा=तमस् फैलाकर अर्थात् तामसास्त्रों के द्वारा शत्रुओं को अन्धकारावृत करके। यथा "प्राह्यमित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्" (अथर्व० ३।२।५); तथा "तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्" (अथर्व० ३।२।६), अर्थात् "अंगों को जकड़ देने वाले "अप्वास्त्र" के द्वारा, तथा "तामसास्त्र" के द्वारा शत्रुओं को बीन्ध"। तथा "उस शत्रुसेना को कर्मरहित कर देने वाले "तामसास्त्र" द्वारा बीन्ध, ताकि इन में से वे परस्पर एक-दूसरे को न पहचान सकें। "विध्य और विध्यत" में व्यध् धातु के प्रयोग के कारण, "अप्वा और तमसा" द्वारा अस्त्रों का ही ग्रहण किया जाना उचित प्रतीत होता है। देखो (यजु० १७।४४) तथा (ऋक् १०।१०३।१२)]।

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥२३॥

(अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्च)[1] शत्रुघातक सेनापति, तथा त्रिषन्धि नामक सेना संचालक (नः अमित्रान्) हमारे शत्रुओं को (विविध्यताम्) विशेषतया बीन्धें। (यथा) जिस प्रकार की (वृत्रहन्) हे आवरण डाले हुए अर्थात् घेरा डाले हुए शत्रुओं का हनन करने वाले ! (शचीपते) राष्ट्रिय कर्मों के स्वामी (इन्द्र) हे सम्राट् ! (एषाम् अमित्राणाम्) इन शत्रुओं के (सहस्रशः) हज़ार-हजार सैनिकों को (हनाम) हम एक दम मारें।

[हजार-हजार शत्रुओं को एक-एक उद्योग में मारने के लिये अधिक शक्ति की आवश्यकता है। इसलिये न्युर्बुदि के स्थान में "त्रिषन्धि" सेना-संचालक का वर्णन हुआ है। परस्पर सन्धि में बन्धे तीन राष्ट्रों के प्रतिनिधित्वरूप सेनासंचालक को "त्रिषन्धि" कहा है। ये तीन राष्ट्र हैं। (१) स्वराष्ट्र, (२) मित्रराष्ट्र, (३) मित्र के मित्र का राष्ट्र। इन तीनों की परस्पर सन्धि, त्रिषन्धि है इस त्रिषन्धि के प्रतिनिधि को भी मन्त्र में त्रिषन्धि कहा है। त्रिषन्धि की व्याख्या (११।१०।२) में विशेष की गई है।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरुदारांश्च प्र दर्शय ॥२४॥

(वनस्पतीन्) निज राष्ट्र की वनस्पतियों को, (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों के फलों को, (ओषधीः) ओषधियों तथा व्रीहि-यव आदि को, (उत) और (वीरुधः) लताओं को, (गन्धर्वाप्सरसः) पृथिवी-पतियों और अन्तरिक्ष में सरण करने वाले सैनिकों को, (सर्पान्) सर्पसदृश विष प्रयोक्ताओं को, (देवान्) तथा शत्रुओं के विद्वानों को; (पुण्यजनान्) उन के पुण्यात्मा महात्माओं को, (पितॄन्) उन के माता।पिताओं को, (तान् सर्वान्) उन सब को [उपस्थित करके] (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः

1. त्रिषन्धिः—"कश्चित् सेनामोहको देवः, सन्धित्रयोपेतवज्रायुधाभिमानी वा" (सायण)। इस लेख से प्रतीत होता है कि सायणाचार्य भी त्रिषन्धि को चेतन तत्त्व मानता है, केवल जड़ वज्र नहीं।

दृशे) अमित्रों के लिये दृष्टिगोचर (कुरु) कर, (उदारान् च) और उस समय उदार भावों को भी (प्रदर्शय) प्रदर्शित कर ।

[मन्त्र २३ में हजार-हजार सैनिकों को एक बार में मार देने का वर्णन हुआ है । यह दो प्रकार से सम्भव है । (१) तीन राष्ट्र मिलकर बढ़ी हुई शक्ति के द्वारा यह कार्य कर सकें; या (२) त्रिषन्धिवज्र इतना घातक-वज्र हो कि इस के प्रयोग द्वारा हजारों सैनिक एक बार में मारे जा सकें ।

मन्त्र २३ के अनुसार शत्रुओं के हजार-हजार सैनिकों के एक बार मारे जाने पर यह सम्भावना हो सकती है कि शत्रुपक्ष युद्ध से उपरत होने को तय्यार हो जाय । ऐसी अवस्था में अर्बुदि, शत्रुपक्ष के बुजुर्गों और शान्तिप्रिय सज्जनों को आमन्त्रित कर, उन्हें शत्रुपक्ष के सैनिकों के संमुख उपस्थित कर, उन द्वारा युद्धशान्ति के लिये शत्रु सेना को प्रेरित करे, और साथ ही उदार भावों को भी प्रकट करे । साथ ही यह कहे कि शान्ति की अवस्था में हमारा राष्ट्र वनस्पतियों आदि के कारण कितना हरा भरा है । युद्धशान्ति पर तुम्हारा राष्ट्र भी ऐसा ही हरा-भरा हो जायेगा] ।

शत्रु पर विजय पा लेने के पश्चात्, शत्रुराष्ट्र में शासन के लिये त्रिषन्धि, निज उदार अधिकारियों के नाम आमन्त्रितों के समक्ष उपस्थित करता है । यथाः—

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥२५॥

(मरुतः) हमारे सैनिक (वः) तुम्हारे राष्ट्र पर (ईशां चक्रुः) शासन करें, (देवः आदित्यः) दिव्य आदित्य ब्रह्मचारी जैसा व्यक्ति, तथा (ब्रह्मणस्पतिः) वैदिक विद्वान् शासन करे । (इन्द्रः) हमारा सम्राट् (च अग्निः) और हमारे राष्ट्र का अग्रणी प्रधानमन्त्री, (धाता) धारण-पोषण कर सकने वाला व्यक्ति, (मित्रः) तथा तुम्हारे साथ मित्र बन कर रहने वाला, (प्रजापतिः) तथा तुम्हारी प्रजा की रक्षा करने वाला (वः) तुम्हारे राष्ट्र पर(ईशाम् चक्रुः) शासन करें । (वः)तुम्हारे राष्ट्र पर(ऋषयः) ऋषि लोग (ईशाम्, चक्रुः) शासन करे, (अर्बुदे) हे शत्रुघातक सेनापति ! (तव रदिते) तुझ द्वारा शत्रुओं के कट जाने पर, (समीक्षयन्) तू इस अव-

वस्था का समीक्षण करता रह, अर्थात् सम्यक् प्रकार से निरीक्षण और प्रबन्ध करता रह ।

[मरुतः=सैनिक । यथा "यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभिप्रेत मृणत सहध्वम्" (अथर्व० ३।१।२), अर्थात् हे उग्रमरुतो ! तुम ऐसे कर्म करने वाले हो, शत्रु की ओर जाओ, मारो और पराभव करो" । आदित्य ब्रह्मचारी तथा वैदिक विद्वान् तुम्हारे राष्ट्र में सदाचार और वैदिक शिक्षा के लिये हों । ऋषयः=ऋषि कोटि के लोग पक्षपाती तथा अत्याचार करने वाले नहीं होते, ऐसे व्यक्तियों की देख भाल में तुम्हारे राष्ट्र का प्रबन्ध चले । विजित राष्ट्र के शासन में यह कितना ऊंचा और सहानुभूतिपूर्ण आदर्श है ।]

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥

(मित्राः, देवजनाः) हे मैत्री पूर्वक व्यवहार करने वाले दिव्यजनो ! (यूयम्) तुम (तेषां सर्वेषाम्) पराजित हुए उन सब लोगों पर (ईशानाः) शासन करने वाले हो, (उत्तिष्ठत) उठो, (संनह्यध्वम्) अपना अपना सामान बान्ध कर तय्यार हो जाओ । (इमं संग्रामम्) इस युद्ध को (संजित्य) जीत कर (यथालोकम्) नियत किये स्थानों में(वि तिष्ठध्वम्) अलग-अलग जा बैठो ।

[त्रिषन्धि, नियत-किये अपने अधिकारियों को कहता है कि तय्यारी करो, और पराजित राष्ट्र में अपने-अपने नियत किये स्थानों में जा बैठो, और मैत्री पूर्वक तथा दिव्यभावनाओं के साथ उन पर शासन करो] ।

नवमां सूक्त समाप्त ॥

—:०:—

सूक्त १०

ऋषिः भृग्वंगिराः । देवता त्रिषन्धिः । आनुष्टुभम्; १ विराट् पथ्या बृहती; २ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्गर्भातिजगती; ३ विराडास्तारपंक्तिः; ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुप्; ९ पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्; १२ पंचपदा पथ्यापंक्तिः;, १३ षट्पदा जगती; १६ त्र्यवसाना षट्पदा ककुम्मत्यनुष्टुप्त्रिष्टुब्गर्भा शक्करी; १७ पथ्यापंक्तिः; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताद् बृहती; २५ ककुप्; २६ प्रस्तारपंक्तिः ।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥

(उदाराः) हे उदार सैनिको ! (उत्तिष्ठत) उठो (केतुभिः सह) झण्डों के साथ । (संनह्यध्वम्) कवचादि बान्ध कर तैय्यार हो जाओ । (सर्पाः) हे सर्पवत् विष प्रयोग करने वालो !, (इतरजनाः) हे तत्सदृश अन्यजनो !, (रक्षांसि) तथा राक्षसी स्वभाव वालो ! (अमित्रान् अनु धावत) शत्रुओं का पीछा करो ।

[उदाराः=औदार्यगुणोपेताः (सायणा) सूक्त ९ के मन्त्र २५, २६ से युद्ध-समाप्ति प्रतीत होती है । यदि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् शत्रु पक्ष पुनः युद्धोद्यत हो जाय, या कोई नया युद्ध उपस्थित हो जाय, तो ऐसे युद्ध का वर्णन सूक्त १० में जानना चाहिये] ।

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥२॥

सम्राट् कहता है कि हे शत्रुओ ! (वः) तुम्हारी (ईशाम्) शासन-पद्धति को, तथा (राज्यम्) राज्य को (वेद) त्रिषन्धि जानता है, (त्रिषन्धे) हे त्रिषन्धि[1] ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डों के साथ [उत्तिष्ठ[1]] ।

१. मन्त्र ११।९।२३ से अर्बुदि और त्रिषन्धि का वर्णन हुआ है जो कि ११।१०।१-२७ के मन्त्रों में स्थान-स्थान पर भी वर्णित है । ११।९।२३ से पूर्व के मन्त्रों में अर्बुदि और न्यर्बुदि का ही वर्णन हुआ है, त्रिषन्धि का नहीं ।

उठ । (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में, (ये दिवि) जो द्युलोक में, (च ये पृथिव्याम्) और जो पृथिवी में (दुर्णामानः मानवाः) बदनाम मनुष्य हैं (ते) वे (त्रिषन्धेः चेतसि) त्रिषन्धि के चित्त में (उपासताम्) स्थित रहें, अर्थात् त्रिषन्धि के मन में रहें ।

[लाल झण्डे खून की निशानी हैं, जिन द्वारा यह दर्शाया है कि खूनी युद्ध होने वाला है । अन्तरिक्ष में मानव, वायुयानों वाले सैनिक हैं । पृथिवी के मानव तो प्रसिद्ध ही हैं । वेद की दृष्टि में द्युलोक में भी मानव सदृश सृष्टि है । महर्षि दयानन्द की दृष्टि में "ये सब भूगोल, लोक और इन में मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं । जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह । असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि नहीं, तो क्या........परमेश्वर का काम सफल कभी हो सकता है । इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है । जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है वैसी जाति ही की सृष्टि अन्य लोकों में भी है" (सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० ३६० सन्दर्भ ५-२० रामलाल कपूर ट्रस्ट) । तथा महर्षि ने यह भी माना है कि जैसे वेदों का इस लोक में प्रकाश है उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है" । इस लोक से यह सूचित होता है कि लोक लोकान्तरों में भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य हैं; तभी तो वेदों की सत्ता लोकों में प्रयोजनवती हो सकती है । इन दूरवर्ती दुर्णाम-प्रजाओं के साथ, मानव सैनिकों द्वारा युद्ध सम्भव है,—यह विचारणीय है । अथवा वर्तमान काल में हम देखते है कि अमरीका और एशिया द्वारा ऐसे Rockets तथा missiles आकाश में छोड़े गए हैं जो कि सूर्य को भी पार कर आगे-आगे बढ़ते जा रहे हैं । यद्यपि इन में मनुष्य नहीं, तो भी कभी ऐसा समय आ सकता है जब कि इन Rockets में मनुष्यों को भी इतनी दूरी तक भेजा जा सके । चान्द तक तो इन वायुयानों में मनुष्य पहुंच ही चुके हैं, जिन का पहुंचना असम्भव समझा जाता था । और समाचार पत्रों द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि चान्द में जमीन खरीदने तक की चर्चा भी हुई है । महर्षि दयानन्द की दृष्टि में जब इन लोक लोकान्तरों में भी मानुष-सृष्टि है तो इन में रहने वाले दुर्णाम-प्रजा के साथ युद्ध की सम्भावना भी किसी समय वास्तविक हो सकती है । वेद तो वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् की घटनाओं का भी वर्णन करते हैं ।]

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥३॥

(अयोमुखाः) जिन के मुख अर्थात् अग्र भाग में लोहा लगा है ऐसे बाण; (सूचिमुखाः) मुख अर्थात् अग्रभाग में सूची सदृश पैने नोकों वाले बाण, (अथो) तथा (विकङ्कतीमुखाः) विशेष प्रकार की कङ्घी के सदृश नाना पैने मुखों वाले बाण,-(क्रव्यादः) शत्रुओं के कच्चे मांसों को मानो खाने वाले ये बाण, (वातरंहसः) तथा वायु के वेग वाले ये बाण, (अमित्रान्) शत्रुओं को (आसजन्तु) आ लगें, (त्रिषन्धिना[1] वज्रेण) वज्ररूप त्रिषन्धि नामक सेनाधिपति द्वारा प्रेरित हुए।

[कङ्कती=Acomb nair comb (आप्टे)]

---

१. ११।१०।१-२७ में भी कहीं-कहीं न्यर्बुदि का वर्णन हुआ है (देखो मन्त्र २०,२१), परन्तु त्रिषन्धि के सहायक रूप में ही। ११।९।२३ में दर्शाया जा चुका है कि त्रिषन्धि कोई शस्त्रास्त्र विशेष नहीं, अपितु शत्रु सेना के साथ युद्ध के लिये "तीन राष्ट्रों में पारस्परिक सन्धिरूप" है। इस सन्धि को मन्त्र (९।२५) में "सन्धा" कहा है। सन्धा और सन्धि समानार्थक हैं। सन्धा= Union, association, intimate, union, agreement, promise (आप्टे)। इस त्रिषन्धि को "युद्ध-समिति" कह सकते हैं (military alliance या war alliance)। मन्त्रों में त्रिषन्धि के वर्णन से प्रतीत होता है कि त्रिषन्धि चेतन पुरुष है, कोई जड़ शस्त्रास्त्र नहीं। घोर युद्ध लड़ने के लिये "संन्धिबद्ध तीन मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधिरूप में त्रिषन्धि, सेनासंचालक आफिसर है। त्रिषन्धि अर्थात् युद्ध-समिति के प्रतिनिधि होने के कारण इसे त्रिषन्धि कहा है। इसी लिये "त्रिषन्धेरियं सेना" (४), तथा "त्रिसन्धेः सेनया" (६,७) में सेना को त्रिषन्धि-सम्बन्धी कहा है। मन्त्र (३,२७) में "वज्रेण त्रिषन्धिना" द्वारा त्रिषन्धि को वज्र कहा है। "शक्तिशाली तीन राष्ट्रों का प्रतिनिधि होने के कारण "त्रिषन्धि" जड़ वज्र सदृश, महती शक्ति है, इस लिये त्रिषन्धि को वज्ररूपता दी गई है। गीता १०।२८ में आयुधों में वज्र के सदृश महा-संहारी होने के कारण श्री कृष्ण ने "आयुधानामहं वज्रम्" द्वारा अपने-आप को वज्र कहा है। इसी प्रकार (३,२७) में त्रिषन्धिनामक सेना-संचालक को वज्र कहा है। शस्त्रास्त्र आदि शब्दों का गोणरूप से प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है यथा "असङ्ग-शस्त्रेण दृढेन छित्वा" (गीता) में असङ्ग अर्थात् अनाशक्ति को "दृढ़ शस्त्र" कहा है। तथा मुण्डक उपनिषद् में प्रणव को धनुः (मुण्डक २, खण्ड २, सन्दर्भ ४) कहा,

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु ।
त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥४॥

(जातवेदः) हे उत्पन्न संग्राम की विद्या को जानने वाले! (आदित्य) हे शत्रुओं का आदान करने वाले, उन्हें पकड़ने वाले अर्बुदि! (बहु कुणपम्) शत्रुओं के बहुसंख्यक मृत शरीरों को (अन्तः) भूमि के अन्दर (धेहि) गाड़ दे। (त्रिषन्धेः इयं सेना) त्रिषन्धि की यह सेना (मे) मुझ सम्राट् के लिये (सुहिता अस्तु) उत्तम हित करने वाली हो, तथा (वशे) मेरे वश में हो।

[जातवेदः=जातसंग्रामस्य वेदितः!। आदित्य="आदत्ते" इति (निरुक्त २।४।१३)। तथा अथर्व. ११।९।३ में "आदानसन्दानाभ्याम्" द्वारा शत्रु के आदान अर्थात् पकड़ने, तथा उसे बांधने का वर्णन हुआ हैं। सम्राट् त्रिषन्धि को कहता है निज सेना के साथ प्रेम से वर्ताव करना जिस से सेना मेरे वश में रहे, और मेरे लिये उत्तम हितकारिणी हो। कहीं युद्ध में बलवा या युद्धबन्दी न कर दे] सुहिता=अथवा सुपुष्टा=सु+धा (धारण पोषणयोः)+हि (दधातेर्हिः; अष्टा. ७।४।४२)]।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥

(देवजन अर्बुदे) हे विजिगीषु[1] जन! शत्रुघातक सेनापति! (त्वम्) तू (उत्तिष्ठ) उठ (सेनया सह) निज सेना के साथ। (वः) तुम सब की (अयं बलिः) यह बलि अर्थात् आत्मसर्पण (आहुतः) युद्धाग्नि में आहुतिरूप हुआ है। (आहुतिः) यह आहुति (त्रिषन्धेः) तुम्हारे सेनासंचालक को (प्रिया) प्रिय है, अभीष्ट है।

[मन्त्रवर्णन से प्रतीत होता है कि युद्ध में साक्षात् युद्ध करने वाला अर्बुदि है। त्रिषन्धि सेना का संचालक है]।

शितिपदी सं द्यतु शरव्येयं चतुष्पदी ।
कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥६॥

तथा मुण्डक (२।२।३) में प्रणव धनुः को महास्त्र कहा है। तथा "शरो ह्यात्मा" द्वारा मुण्डक में जीवात्मा को शर अर्थात् बाण कहा है]।

१. देवः=विजिगीषुः दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार आदि।

(शितिपदी) काले लोहे के पैरों वाली, (चतुष्पदी) चार पैरों वाली (इयम् शरव्या) यह शरव्या (सं द्यतु) सम्यक् प्रकार से शत्रु का क्षय करे। (कृत्ये) हे शत्रुदल का छेदन करने वाली शरव्ये ! (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुओं के [संहार के] लिये तू हो, (त्रिषन्धेः सेनया सह) त्रिषन्धि की सेना के साथ।

[शिति=शुक्ल तथा कृष्ण। मन्त्र में कृष्ण अर्थ अभिप्रेत है। शरव्या के चार पैर अर्थात् पहिये हों, जोकि कृष्गायस् अर्थात् काले लोहे के हों। शयव्या द्वारा शत्रु को शरों द्वारा घेरा जाता है। शरव्या=शर (बाण)+व्येञ् संवरणें। सायणाचार्य ने शरव्या का अर्थ किया है "शरसमूहः" "पाशादिभ्यो: य" (अष्टा० ४।२।४९) इति समूहार्थे यः) कृत्या=कृती छेदने। संद्यतु=सम्+दीङ् क्षये। त्रिषन्धि की सेना के साथ, शरव्या युद्ध भूमि में चलती है, अतः इस के चार पैरों अर्थात् पहियों का वर्णन हुआ है। शरव्या चार पैरों वाली तोप प्रतीत होती है]।

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु।
त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥७॥

(धूमाक्षी) धूमपीड़ित आंखों वाली शत्रुसेना (संपततु) पृथिवी पर गिर पड़े, (च कृधुकर्णी) और चिल्लाहट तथा शोर द्वारा कटे कानों वाली अर्थात् बहरे कानों वाली हो कर (क्रोशतु) चिल्लाए। (त्रिषन्धेः सेनया जितें) त्रिषन्धि की सेना द्वारा विजय पाने पर (अरुणाः केतवः सन्तु) शत्रु के राज्य में हमारे लाल झंडे लहराएं।

[धूमाक्षी="धूमेन आवृतानि अक्षीणि यस्याः (सायण) कृधुकर्णी="अल्पश्रोत्रा, पटहध्वनिना हतश्रवणसामर्थ्या" (सायण)। अरुणाः=रुधिरेणाक्ताः अरुणवर्णाः (सायण)। वस्तुतः झण्डों का अरुण वर्ण घोर युद्ध में प्रस्रवित रक्त-खून का द्योतक है]।

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥

(ये) जो (वयांसि पक्षिणः) कौवे तथा अन्य पक्षी हैं, (ये) जोकि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (दिवि) दिन के समय (चरन्ति) विचरते हैं, वे (अवायन्तु) शव भक्षणार्थ नीचे आएँ। (श्वापदः) कुत्तों के सदश पैरों वाले

हिंस्रपशु, (मक्षिकाः) तथा मक्खियां (संरभन्ताम्) मिलकर खाना आरम्भ करें। (आमादः गृध्राः) कच्चा मांस खाने वाले गीध (कुणपे) शव पर (रदन्ताम्) चीर-फाड़ करें।

[संरभन्ताम्=अथवा खाने के लिये तीव्र वेग वाले हों। दिवि=दिन में। दिवेदिवे अहर्नाम (निघ० १।९)। रदन्ताम्=रद विलेखने]।

यामिन्द्रेण समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥

(बृहस्पते) हे सेना के अधिपति त्रिषन्धि ! तूने (इन्द्रेण) मुझ सम्राट् के साथ (च) और (ब्रह्मणा) हमारे महामन्त्री के साथ (याम्) जिस (संधाम्) सन्धि को किया है, (तया) उस (इन्द्रसंधया) 'इन्द्रसन्धि के द्वारा (अहम्) मैं इन्द्र (सर्वान् देवान्) सन्धि वाले तीन राष्ट्रों के सब विजिगीषु योद्धाओं को (इह) इस युद्ध में (हुवे) बुलाता हूं, और उन्हें कहता हूं कि (इतः जयत) इस ओर से विजय प्राप्त करो, (अमुतः मा) उस शत्रु पक्ष से नहीं, अर्थात् शत्रु के साथ मिलकर उन की विजय न कराना। अथवा देखो मन्त्र (१४) की व्याख्या।

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः।
असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन् ॥१०॥

(आङ्गिरसः) युद्धविद्या के अङ्गों के सार को जानने वाले (बृहस्पतिः) महती सेना के अधिपति हमारे सेनाधीश ने तथा (ब्रह्मसंशिताः) वेद विद्या में निष्णात (ऋषयः) हमारे ऋषियों ने, (असुरक्षयणम्) प्राणपोषी तथा धनलुब्ध शत्रुओं के क्षयकारी, (वधम् त्रिषन्धिम्) घातक आयुधरूपी त्रिषन्धि को (दिवि) विजिगीषा के निमित्त (आश्रयन्) आश्रय रूप में ग्रहण किया है।

[ब्रह्म संशिताः,=ब्रह्मणा मन्त्रेण स्वभ्यस्तेन तीक्ष्णीकृताः (सायण) संशिताः=Accomplished (आप्टे)। असुर=असुः प्राणनाम (निरुक्त ३।२।८)। तथा असुरत्वमादिलुप्तम् असु के आदि में "व" का लोप हुआ है, अतः असु=वसु अर्थात् धन (निरुक्त १०।३।३४)। दिवि=दिव् विजिगीषा+निमित्त सप्तमी। त्रिषन्धि अर्थात् सेना संचालक आफिसर, उग्र आयुधरूप है (देखो मन्त्र २ की टिप्पणी)]।

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥११॥

(येन) जिस त्रिषन्धि द्वारा (गुप्तः) सुरक्षित हुआ (असौ) वह पूर्वोक्त (आदित्यः) शत्रुओं को पकड़ने वाला अर्बुदि (४), (इन्द्रः च) और सुरक्षित हुआ सम्राट्, (उभौ) ये दोनों, (तिष्ठतः) अपने-अपने स्थानों में स्थिति बनाए रखते हैं, (त्रिषन्धिम्) उस त्रिषन्धिनामक सेनासंचालन की (देवाः) राष्ट्रिय सब दिव्यजन (अभजन्त) सेवा करते हैं, (ओजसे च बलाय च) राष्ट्रिय ओज और बल की सुरक्षा के लिये ।

[अभजन्त=भज सेवायाम् । ओजः=उब्ज आर्जवे । राष्ट्रिय ओजः वह सामर्थ्य है जिस के होते परराष्ट्र आक्रमण के लिये साहस नहीं कर सकता । और ऋजु बना रहता है । बल=कोशबल और सैनिक बल, प्रजाजन बल आदि] ।

सर्वांल्लोकान् समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥१२॥

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥१३॥

(देवाः) विजिगीषु योद्धाओं ने (अनया आहुत्या) संग्रामाग्नि में इस निज आहुति द्वारा, समर्पण द्वारा (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (समजयन्) मिल कर या सम्यक् प्रकार से जीता है । (आङ्गिरसः) युद्ध विद्या के अङ्गों के सार को जानने वाले (बृहस्पतिः) महती सेना के अधिपति त्रिषन्धि ने, (यम्) जिस (असुरक्षयणं वधम्) असुरों के क्षय करने वाले तथा वध करने वाले (वज्रम्) वज्र को (असिञ्चत) सींचा है ॥१२॥

बृहस्पति आङ्गिरस ने जिस असुरों के क्षय करने वाले तथा वध करने वाले वज्र को सींचा है (मन्त्र १२ का उत्तरार्ध) (तेन) उस वज्र द्वारा (अहम्) मैं अर्बुदि, (अमूं सेनाम्) उस सेना को (निलिम्पामि) नितरां अर्थात् पूर्णतया लीपता हूं, और (बृहस्पतेः अमित्रान्) बृहस्पति अर्थात् त्रिषन्धि के शत्रुओं को (ओजसा) पराक्रम द्वारा (हन्मि) मार डालता हूं ॥१३॥

[आहुत्या=योद्धाओं के निज शरीरों की आहुति । वज्रम् असिञ्चत =यह वज्र द्रवरूप प्रतीत होता है "असिञ्चत" के प्रयोग द्वारा । सींचना द्रव द्वारा सम्भव है, ठोस वस्तु द्वारा नहीं । यह रसायनिक-द्रव या जल सम्भव है । बृहस्पति द्वारा आज्ञापित अर्बुदि ने, प्रथम द्रव का प्रयोग किया, तदनन्तर या तो इस द्रवरूपी ओज द्वारा, या सींचने के पश्चात् निज पराक्रम रूपी ओज द्वारा, उस ने शत्रुओं का वध किया । असुर=प्राण पोषण तत्पर और धनलोभी शत्रगण । द्रव का सींचना किसी मशीन द्वारा ही सम्भव है । संस्कृत साहित्य में "वारुणास्त्र" का भी वर्णन हुआ है, जिस द्वारा जल सींचा जाता है । द्रव-आयुध सम्भवतः जल की वर्षा करना हो] ।

सर्वे देवा अत्यायन्ति ते अश्नन्ति वषट्कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥१४॥

(सर्वे) सब (देवाः) विजिगीषु-सैन्याधिकारी, (अति) निज स्थानों को छोड़ कर, (आयन्ति) युद्धार्थ आते हैं, (ये) जोकि (वषट्-कृतम्) राष्ट्र रक्षा-यज्ञ में "वषट्" शब्दोच्चारण पूर्वक दी गई आहुति का (अश्नन्ति) भोजन करते हैं । हे सैन्याधिकारी-देवो ! (इमाम् आहुतिम्) इस आहुति का (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो, (इतः) इधर से अर्थात् अपनी राष्ट्र भूमि की ओर से (जयत) विजय प्राप्त करो, (अमुतः) उस शत्रु की भूमि की ओर से (मा) नहीं ।

[देवाः=विजिगीषु, सैन्यविभागों के अधिकारी, "दिवु क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार आदि" ।

वषट्कृतमश्नन्ति=यज्ञों में याज्या मन्त्र के अन्त में "वषट्" शब्द का उच्चारण कर आहुति दी जाती है, अग्निहोत्र आदि में "स्वाहा" का उच्चारण कर के आहुति दी जाती है । अभिप्राय यह कि जो सैन्य विभागाधिकारी अल्प वेतन लेकर अपना निर्वाह करते हैं, जितने परिमाण की आहुति यज्ञाग्नि में दी जाती है अर्थात् जोकि राष्ट्रसेवा करने में धनार्जन की भावना से प्रेरित नहीं होते, वे इस युद्ध के निमित्त आवें ।

मा, अमुतः=शत्रुराष्ट्र की भूमि में घुस कर उधर से, और अपने राष्ट्र की भूमि से, अर्थात् दोनों ओर से, शत्रु को घेर कर युद्ध करने का निषेध किया है । शत्रुराष्ट्र की भूमि में युद्ध के समय घुसने पर अपनी प्रविष्ट हुई सेना के घिर जाने की आशङ्का रहती है । तथा देखो मन्त्र (९)]

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ।
सधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥१५॥

(सर्वे देवाः) सब देव (१४), (अति) निज, स्थानों को छोड़कर, (आयन्तु) युद्धार्थ आ जांय, (त्रिषन्धेः) तीन राष्ट्रों के प्रतिनिधिरूप-सेना संचालक को (आहुतिः) युद्ध की यज्ञाग्नि में सब को अपनी आहुति देना (प्रिया) प्रिय है अभीष्ट है। (महतीं संधाम्) तीनों राष्ट्रों की महतीसन्धि की (रक्षत) रक्षा करो, (यया) जिस महती सन्धि द्वारा (अग्रे) पहिले[1] भी (असुराः जिताः) असुरों पर विजय पाई है।

[महतीं संधाम्=तीन राष्ट्रों ने मिल कर प्रतीज्ञा की है कि हम मिलकर असुरों पर विजय पायेंगे, इस प्रतिज्ञा की रक्षा करो, और इस की रक्षा के लिये अपनी-अपनी आहुति दो।

अग्रे असुराः=अथवा "सेना के आगे युद्धार्थ आने वाले शत्रु असुर" अग्रे=In front of; at the head (आप्टे),] अर्थात् जो आसुरी सेना के अग्रभाग में स्थित हो कर युद्ध करें। ऐसे योद्धाओं को यजुर्वेद में "मरुतः" कहा है। मरुतः जोकि मारने में सिद्धहस्त हों और स्वयं की मृत्यु से भय-भीत न हों। यथा "इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः। देवसेनानामभि भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतः यन्त्वग्रम् ॥ यजु० १७।४०॥" मरुतः यन्तु अग्रम्—ये शब्द विशेष ध्यान के योग्य हैं। मरुत्=म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः (उणा० १।९४, महर्षि दयानन्द)]।

वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु ।
इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥१६॥

(वायुः) वायुयानाध्यक्ष (अमित्राणाम्) शत्रुओं के (इष्वग्राणि) इषुओं के अग्रभागों को (आ अञ्चतु) पूर्णतया कुण्ठित कर दे; (इन्द्रः)[2]

1. अथर्व. ११।९।२६ में "संजित्य" शब्द के अनुसार देव विजय पहिले पा चुके हैं। ११।१०।१ से युद्ध पुनः आरम्भ हुआ है।

2. इन्द्रः=सम्राट् "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७) बृहस्पतिः=बृहती सेना तस्याः पतिः। यज्ञः=यज् संगतिकरणे। शत्रुसेनया सह युद्धार्थं स्वसेनायाः संगमकर्ता सेनाध्यक्षः। सोमः=सेनाप्रेरकः (षू प्रेरणे)। देवसेना=विजिगीषूणां स्वसैनिकानां सेना।

सम्राट् (एषाम्) इन में से (प्रति) प्रत्येक की (बाहून्) बाहुओं को (भनक्तु) तोड़ दे, ताकि ये (इषुम्) बाण को (प्रतिधाम्) धनुष् पर रखने को (मा शकन्) सशक्त न हो सकें, (आदित्यः) आदान करने वाला अर्बुदि (एषाम्) इन के (अस्त्रम्) अस्त्रागार को (विनाशयतु) विनष्ट कर दे, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा के सदृश शीत स्वभाव वाला सेनाधिकारी (अगतस्य) जो अभी अपने राष्ट्र में वापिस नहीं गए उन के (पन्थाम्) मार्ग को (युताम्) खोल दे।

[वायुः=वायुयानों का अध्यक्ष, वायु से ऐसे अस्त्र फैंके,—जैसे कि तामसास्त्र या वारुणास्त्र आदि,—जिस से शत्रुओं के इषु कुण्ठित हो जांय, मानो कि शत्रुओं के इषुओं के अग्र भाग कुण्ठित हो गए हैं।

इन्द्रः=सम्राट्। सम्राट् की आज्ञानुसार अर्बुदि शत्रुओं की बाहुओं को तोड़ दे, कुटिल कर दे। आदित्यः=शत्रुओं का आदान कर, उन्हें पकड़ कर उन्हें बान्धने वाला अर्बुदि (११।१०।४), इन के अस्त्रागार को विनष्ट कर दे।

चन्द्रमाः=शीतल स्वभाव वाला सेनाध्यक्ष जिसे कि चन्द्रमा कहा है, वह उन शत्रु योद्धाओं के लिये, जो कि निज राष्ट्र में वापिस जाना चाहते हैं, मार्ग खोल दे]।

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥

(यदि देवपुराः) यदि हम देवों के पुरां अर्थात् नगरों या दुर्गों में (प्रेयुः) शत्रु अर्थात् असुर पहुंच गए हैं, और (ब्रह्म) हमारे धनों और अन्नों को उन्होंने (वर्माणि) अपने कवच रूप में (चक्रिरे) कर लिया है, और (तनूपानम्) अपने देहों की रक्षा तथा (परिपाणम्) सब प्रकार के खान पान को (कृण्वानाः) करते हुए (यद्) जो वे (उप ऊचिरे) गुप्त बातें करते हैं (तत् सर्वम्) उस सब को हे अर्बुदि! तू (अरसम्) रस रहित कर, विफल कर।

[देवपुराः=देव पुर्+टाप् (टापं चैव हलन्तानाम्)+द्वि. वि. बहुवचन। तनूपानम्=तनू+पा (रक्षणे)। परिपाणम्=परि+पा (पाने),

खाना-पीना। असुर भक्ष्या-भक्ष्य का विचार न कर सब कुछ खाते-पीते हैं। ब्रह्म=धननाम (निघं० २।१०); अन्ननाम (निघं० २।७)। अरसम्=रस रहित वृक्ष, सूख कर फलविहीन हो जाता है इसी प्रकार असुरों को विफल कर देना। मन्त्र में त्रिषन्धि, अर्बुदि को आदेश देता है। प्रेयुः=तीन मित्र-राष्ट्रों की संयुक्त सेना, त्रिषन्धि के संचालन में, असुरों के साथ युद्ध में व्यापृत है। संयुक्त सेना को भेद कर आसुरी सेना देवपुरों में प्रवेश नहीं पा सकती। युद्धव्यापृत संयुक्त सेना से रहित हुए देवपुरों को जान कर, किसी छद्म प्रकार से किसी मार्ग द्वारा यदि आसुरी सेना देवपुरों में पहुंच गई है तो उस अवस्था का वर्णन मन्त्र में हुआ है]।

क्रव्यादांनुवर्तयंन् मृत्युना च पुरोहितम्।
त्रिषन्धे प्रेहि सेनंया जयामित्रान् प्र पंद्यस्व ॥१८॥

(त्रिषन्धे) हे त्रिषन्धि! (क्रव्यादा) शत्रु के कच्चे मांस अर्थात् शरीर को खा जाने वाले आग्नेयास्त्र के साथ, (च) और (मृत्युना) मारक शस्त्रों के साथ, (पुरोहितम्) संमुखस्थ शत्रु का (अनुवर्तयन्) पीछा करता हुआ तू, (सेनया) सेना सहित (प्रेहि) आगे बढ़, (अमित्रान्) अमित्रों को (जय) जीत, (प्र पद्यस्व) आगे कदम बढ़ा।

[सम्राट्, त्रिषन्धि को आज्ञा देता है। पुरोहितम्=पुरस्तात् स्थितं शत्रुम् (सायण)। क्रव्याद् श्मशानाग्नि है। आग्नेयास्त्र अग्निरूप है।

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परिं वारय।
पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥१९॥

(त्रिषन्धे) हे त्रिषन्धि! (त्वम्) तू (तमसा) तामसास्त्र द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (परिवारय) सब ओर से आवृत कर, ढांप, घेर। (पृषदाज्यप्रणुत्तानाम्) दधि, और घृत की आहुतियों द्वारा धकेले गए रोगोत्पादक जीवाणुओं के सदृश, धकेले गये (अमीषाम्) इन शत्रुओं में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूट पाए।

[तमसा="प्राह्णामित्रान् तमसा विध्य शत्रून्" (अथर्व० ३।२।५), अर्थात् तामसास्त्र द्वारा शत्रुओं को बींध। तथा 'असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानेत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो-अन्यं न जानात्॥ (अथर्व० ३।२।६), अर्थात् वह जो सेना, हे मरुतः! परायों की, स्पर्धा करती हुई हमारी ओर ओज से आती है उसे बींधो, कार्य से हीन कर देने वाले तमः से, तामसास्त्र से, ताकि इन में से योद्धा एक-दूसरे को जान-पहचान न पाएं। मरुतः=सेना के अग्रभाग के योद्धा जो कि शत्रुओं को मार सकने में कुशल हों, और स्वयं मृत्यु से भयभीत न हों। पृषदाज्यप्रणुत्तानाम्=दधि और घृत की आहुतियां रोगकीटाणुओं का निराकरण करती हैं]।

शितिपदी सं पंतत्वमित्राणाममूः सिचः।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥२०॥

(शितिपदी) काले लोहे के पैरों वाली शरव्या (६), (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः सिचः) उन सीमावर्ती सेनाओं पर (संपततु) संपात करे। (न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि! (११।९।४), (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः सेनाः) वे सेनाएँ (अद्य) आज (मुह्यन्तु) कर्तव्याकर्तव्य विवेक से रहित हो जांय।

[शितिपदी=शरव्या, तोप? (६)। न्यर्बुदि (११।९।४)। सिचः, (११।९।१८)]।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम्।
अनया जहि सेनया ॥२१॥

(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि! (अमित्राः) शत्रु (मूढाः) मोहग्रस्त अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान शून्य हो गये हैं, संज्ञारहित हो गए हैं, (एषाम्) इन में से (वरंवरम्) प्रत्येक मुखिया का (जहि) तू हनन कर। (अनया सेनया) इस सेना की सहायता से (जहि) हनन कर।

[अथर्व० ११।९ के मन्त्रों में अर्बुदि तो साक्षात् लड़ने वाला है, और न्यर्बुदि है सेनासंचालक, सेनाधीश। अथर्व० ११।१० के सूक्त में त्रिषन्धि हैं सेनासंचालक, और अर्बुदि है साक्षात् लड़ने वाला, और मन्त्र २१ से न्यर्बुदि है अर्बुदि का सहायक। वैदिक युद्धनीति में सैनिकों का वध जहां तक सम्भव हो अनुमोदित नहीं। मुखियों के हनन का ही विधान किया है, जब कि शत्रुसेना पराजित हो जाय]।

यश्च कवची यश्चाकवचो३ऽमित्रो यश्चाज्मनि।
ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥२२॥

(यः च) और जो (अमित्रः) शत्रु (कवची) कवच वाला, (यः च) और जो (अकवचः) विना कवच वाला, (यः च) और जो भी (अज्मनि) संग्राम में भृत्य आदि है वह,—(ज्यापाशैः कवचपाशैः) धनुष् की डोरीरूपी तथा कवचरूपी पाशों से बन्धा हुआ (अज्मना) संग्राम द्वारा (अभिहतः) मारा हुआ (शयाम्) युद्धभूमि में सो जाय ।

[अज्म संग्रामनाम (निघं० २।१७) । शयाम्,=शेताम् त् का लोप "लोपस्त- आत्मनेपदेषु" (अष्ट ७।१।४१)द्वारा, तथा 'शे' के ए को अय्] ।

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥२३॥

(ये) जो (अमित्राः) शत्रु (वर्मिणः) वर्म वाले हैं, (ये) जो (अवर्माणः) वर्म रहित हैं, (ये च) और जो (वर्मिणः) शत्रु के भृत्य आदि वर्म वाले हैं, (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मरे हुओं को (श्वानः) कुत्ते आदि (भूम्याम्) भूमि पर (अदन्तु) खाएं ।

(मन्त्र २२ में कवच का वर्णन है, २३ में वर्म का । सम्भवतः कवच लोहनिर्मित हो (कवच=कुङ् शब्दे भ्वादि), हिलने तथा गति करने पर जिस से शब्द पैदा हो; और वर्म चमड़े आदि द्वारा निर्मित हो, जैसे कि "बस्ताभिवासिनः" (११।९।२२) में बकरे के चर्म के वस्त्रों वाले कहा है। तभी "बस्तवासिनः" (अथर्व० ८।६।१२) में, बस्तवासियों को "दुर्गन्धीन्" भी कहा है, चमड़े से दुर्गन्ध आती ही है] ।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥

(ये रथिनः) जो रथारोही हैं, (ये अरथाः) जो रथरहित हैं, (असादाः) जो पदाति हैं, (ये च सादिनः) और जो अश्वारोही है, (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे गयों को (गृध्राः, श्येनाः, पतत्रिणः) गीध, बाज आदि पक्षी (अदन्तु) खाएं ।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् ।
विविद्धा ककजाकृता ॥२५॥

(सहस्रकुणपा) हजारों मुर्दों वाली, (वधानाम्) वधकारी आयुधों के

(समरे) युद्ध में (विविद्धा) विविध प्रकार से बींधी गई, (ककजाकृता) कुत्सित अर्थात् विकृत केशों की आकृति वाली (आमित्री सेना) शत्रु सम्बन्धिनी सेना (शेताम्) युद्धभूमि में सो जाय ।

[कुणप=कुण् (शब्दे, तुदादि)+अप (अपगत), शब्दादि के ज्ञान से रहित, अर्थात् मृत । आमित्री=अमित्रसम्बन्धिनी, अथवा "अमित्री आशेताम्" । ककजाकृता=क(कुत्सित)+कज (कच)+आकृता] ।

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥

(सुपर्णैः) उत्तम प्रकार से पतन करने वाले अर्थात् शत्रुदल पर गिरने वाले बाणों द्वारा (मर्माविधम्) मर्म स्थलों में सर्वत्र बींधे गए, (रोरुवतम्) इसलिये रोते-चिल्लाते हुए, (दुश्चितम्) दुःखों से भरे हुए, या दुःखी चित्तों वाले (मृदितम्) कुचले हुए, (शयानम्) युद्धभूमि में शयन किये हुए शत्रु दल को, (अदन्तु) गृध आदि पक्षी (२४) खाएं, (यः अमित्रः) जो शत्रुदल कि (नः) हमारी (इमाम्, प्रतीचीम्, आहुतिम्) इस शत्रु दल के "प्रति-जाने-वाली"[1] आहुति के साथ (युयुत्सति) युद्ध करना चाहता है।

[मर्माविधम्=मर्मा ("नहिवृतिवृषिव्यधि"—अष्टा० ६।३।११६) द्वारा दीर्घ ; तथा "ग्रहिज्यावयिव्यधि"........अष्टा. (६।१।१६) द्वारा विधम् (सम्प्रसारण) । विध्यते इति विधम् (कर्मणि क्विप्) अथवा मर्म +आविधम् प्रतीचीम्=शत्रु प्रति अञ्चन्तीम्] ।

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥२७॥

(देवाः) देव अर्थात् दिव्य विचारों वाले या विजिगीषु सैनिक (याम्) जिस आहुति का (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान् करते हैं, (यस्याः न अस्ति विराधनम्) जिस की कि विफलता नहीं होती, (तया) उस आहुति द्वारा (वृत्रहा) वृत्रघाती (इन्द्रः) सम्राट्-(त्रिषन्धिना वज्रेण) त्रिषन्धि रूपी वज्र द्वारा, (हन्तु) असुर-वृत्रों का हनन करे।

[तया आहुत्या==देखो (११।१०।५, १२,१४,१५) ।

१. मन्त्र (११।१०।५,१२,१५) ।

विराधनम्=वि+राध् (संसिद्धौ); संसिद्धि=सफलता, विराधनम्= विफलता । वज्रेण=देखो (मन्त्र ११।१०।२ की व्याख्या) त्रिषन्धि वज्र =सेनासंचालक, त्रिषन्धि नामक सेनाधीश । देवाः=दिव्य विचारों वाले, या दिव् विजिगीषा । वृत्रघाती=असुर-वृत्रघाती] ।

दसवां सूक्त समाप्त

॥ ग्यारहवां काण्ड समाप्त ॥

बारहवां काण्ड

सूक्त-1

विषय प्रवेश

काण्ड १२, सूक्त १ को पृथिवी सूक्त कहते हैं। समग्र पृथिवी का धारण और पोषण किन उपायों द्वारा हो सकता है—इस का वर्णन इस सूक्त में हुआ है । यह सूक्त राष्ट्रपरक नहीं । राष्ट्र तो पृथिवी के अङ्गरूप हैं, समग्र पृथिवीरूप नहीं । पृथिवी को इस सूक्त में माता कहा है। पृथिवी समग्र-पृथिवीरूप में तो माता हो सकती है, किसी अङ्गविशेषरूप में नहीं । माता, समुचित-शरीररूप में माता होती है, हाथ-पैर-पेट-टांग आदि अलग-अलग अवयवरूप में नहीं । भूमि माता है (मन्त्र १०,१२) । पृथक्-पृथक् राष्ट्रों में मातृभावना के कारण परस्पर युद्ध होते, और एक राष्ट्र समृद्ध तथा दूसरा निर्धन बना रहता है । इस लिये १२।१ में हमें यह उपदेश मिलता है कि समग्र-पृथिवी के सम्बन्ध में समग्र प्रजाजनों की मातृभावना होनी चाहिये। तथा समग्र-पृथिवी की समुन्नति में, सब को मिल कर, यत्नशील होना चाहिये। यह नहीं कि १२।१ में राष्ट्रभावना का परित्याग है, अपितु इस सूक्त में यह दर्शाया है कि राष्ट्रभावना और सार्वभौमभावना में परस्पर समन्वय होना चाहिये, परस्पर विरोध नहीं ।

पृथिवी सूक्त में विशिष्ट भावनाएं निम्नलिखित हैं,—

१. बृहत्सत्य, कड़े नियम, पृथिवीमाता की समुन्नति के लिये व्रत (दीक्षा): तपोमय जीवन, आस्तिकता, तथा शासन में ब्राह्मणत्व का प्राधान्य, द्रव्ययज्ञों का करना, देवकोटि के लोगों की पूजा, उन का सत्संग तथा उन के प्रति दान,—पृथिवी का धारण-और पोषण करते हैं (१) ।

२. पृथिवी विश्वम्भरा तथा विश्वधायस् है, अर्थात् सब का भरण-पोषण करने वाली तथा सब की धाया है (६,२७) । इस का मुख्य शासक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होना चाहिये (इन्द्रऋषभा), तथा अन्य राज्याधिकारी देवकोटि के तथा अप्रमादी होने चाहियें (६,७) ।

३. प्रजाजनों तथा अधिकारियों के हृदय परमेश्वरार्पित तथा सत्य से आवृत होने चाहियें (८) ।

४. प्रजाजनों को मधुरभाषी होना चाहिये (१६) ।

५. पृथिवी "असितज्ञू" अर्थात् बन्धन को न जानने वाली, स्वातन्त्र्य-प्रिया है (२१)। अत्याचारियों तथा आततायियों को पृथिवी कम्पा फेंकती है (५७)।

६. समग्रपृथिवी को माता जान कर इसे नमस्कार करना चाहिये, इस के प्रति नतमस्तक होना चाहिये (२६)।

७. प्रजाजन पवित्र विचारों द्वारा अपने—आप को पवित्र तथा उत्कृष्ट बनाते रहें (३०)ताकि इनका पतन न हो (३१)।

८. पृथिवी पर महावध तथा महाघाती शस्त्रास्त्र न होने चाहियें (३२)।

९. पृथिवी परम-ऐश्वर्य वाले व्यक्ति का, शासक रूप में, वरण करती है, वृत्र का नहीं (३७)।

१०. पृथिवी पर नाचना,गाना आदि भी होते रहने चाहियें (४१)।

११. दिव्यकोटि के शिल्पियों द्वारा नगरों का निर्माण करना चाहिये (४३), तथा दिशाओं को रमणीय बनाना चाहिये (४३)।

१२. भिन्न-भिन्न भाषाभाषियों तथा नाना धर्मियों को एक परिवार के सदृश परस्पर प्रेमपूर्वक रहना चाहिये (यथौकसम्, ४५)।

१३. पृथिवी पर के मार्ग भद्र और पापी दोनों के विचरने के लिये हैं (४७)।

१४. पृथिवी माता के सब पुत्रों-पुत्रियों को पृथिवी माता की सम्पत्ति के भोग में समानाधिकार है (६०)।

१५. राज्य-कर स्वेच्छापूर्वक देना चाहिये (६२)। मधुर बोलो, सत्यासत्य की परीक्षा कर के बोलो (५८)।

—:०:—

मातृभूमि

१-६३ अथर्वा । भूमिः । त्रिष्टुप् ; २ भुरिक् ; ४-६,१०,३८ त्र्यवसानाषट्पदाजगती; ७ प्रस्तार पंक्तिः; ८,११ त्र्यव० षट्पदा विराडष्टिः; ९ अनुष्टुप्; १२,१३,१५ पंचपदा शक्वरी, १२,१३ त्र्यवसाना; १४ महाबृहती; १६,२१ एकाव०साम्नी त्रिष्टुप्, १८ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी; १९,२० उरोबृहती (२० विराट्); २२ त्र्यव० षट्पदा विराडतिजगती; २३ पंचपदा विराडतिजगती; २४ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती; २५ त्र्यव० सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भाशक्वरी; २६-२८,३३, ५, ३९,४१,५०,५३,५४,५६,५९,६३ अनुष्टुप् (५३ पुरोवार्हता; ३० विराड्गायत्री; ३२ पुरस्ताज्ज्योति ; ३४ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती; ३६ विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः; ३७ त्र्यव० पंचपदा शक्वरी; ४१ त्र्यव० षट्पदा ककुम्मती शक्वरी; ४२ स्वराडनुष्टुप्; ४३ विराडास्तारपंक्तिः; ४४, ४५,४९ जगती; ४६ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराशक्वरी; ४७ षट्पदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा परातिशक्वरी; ४८ पुरोष्णिक्; ५१ त्र्यव० षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुमती शक्वरी; ५२ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती; ५७ पुरोतिजागती जगती; ५८ पुरस्ताद् बृहती; ६१ पुरोबार्हता; ६२ पराविराट्।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

(बृहत् सत्यम्) व्यापी सत्य, (उग्रम् ऋतम्) कड़े नियम (दीक्षा) समग्र पृथिवी की सेवा के लिये व्रतग्रहण, (तपः) तपश्चर्या का जीवन, (ब्रह्म) शासन में ब्राह्मणत्व का प्राधान्य तथा आस्तिकता, (यज्ञः) द्रव्ययज्ञ तथा दिव्यजनों की पूजा, उन का सत्संग, तथा त्यागभावना (पृथिवीम्) समग्र पृथिवी का (धारयन्ति) धारण करते हैं। (सा) वह पृथिवी (नः) हमारे (भूतस्य, भव्यस्य) भूत और भविष्य का (पत्नी) निर्माण करती है। (पृथिवीः नः) पृथिवी हमारे लिये (उरुम्, लोकम्) विस्तृत प्रदेश प्रदान करे।

[काण्ड १२। सूक्त १ भूमि माता का वर्णन करता है, संकुचित राष्ट्र-भूमियों का नहीं। माता निज समग्र शरीर रूप में माता है, उस का प्रत्येक

अलग-अलग अंग मात्र नहीं । इसी समुच्चित-इकाई रूप-पृथिवी का वर्णन समग्र सूक्त में हुआ है । बीच-बीच में राष्ट्रों का भी वर्णन हुआ है, परन्तु समग्र पृथिवी के अङ्ग रूप में, न कि स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में। वेदानुसार राष्ट्रों और समग्र पृथिवी में पारस्परिक वही सम्बन्ध है जो कि देहावयवों और देह में है। इस समग्र पृथिवी के धारण के लिये प्रजाओं और शासकों में जिन-जिन गुणों का होना आवश्यक है, उनका वर्णन मन्त्र के पूर्वार्ध में किया है। परस्पर विरोध तथा संकुचित राष्ट्र-भावनाओं के रहते, पृथिवी, युद्धों तथा परस्पर विद्वेषों की स्थली बन कर, विनाश का कारण बनी रहती है । पृथिवी के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के भिन्न-भिन्न जल-वायु, तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण उस-उस प्रदेश के निवासियों के भूत तथा भावी जीवनों में भेद तथा वैषम्य का होना स्वाभाविक है ।

असंबाधं वध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

(मानवानाम्) मननशील मनुष्यों[1] की (असंबाधम्[2]) अल्प-भी-सामूहिक-बाधा का (वध्यतः) वध करने वाली, हटा देने वाली (यस्याः) जिस पृथिवी के (उद्वतः) ऊंचे (प्रवतः) ढलवे, तथा (समम्) समतल प्रदेश (बहु) बहुत हैं। (या) जो (नानावीर्याः ओषधीः) विविध शक्तियों वाली ओषधियों को (बिभर्ति) धारण करती है (पृथिवी) वह पृथिवी, (नः) हमारा (प्रथताम्) विस्तार करे, (न) और हमारे प्रयत्नों को (राध्यताम्) सिद्ध तथा सफल करे ।

[जो मननशील मनुष्य हैं, उन के सामूहिक प्रयत्नों में यदि कोई बाधा उपस्थित होती है तो वे, निज मनन शक्ति द्वारा, उस बाधा का निराकरण कर सकते हैं, और पार्थिव साधनों के सहारे सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से पृथिवी, उन की बाधाओं के निराकरण में, सहायक होती है। पृथिवी में ऊंचे, नीचे तथा समतल प्रदेश बहुत हैं, अतः इन प्रदेशों में रहने वाले मनुष्य-समुदायों में, परिस्थितियों के भेद के कारण, सभ्यता में भेद का होना भी अनिवार्य है]।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

१. मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरुक्त ३।१।७)।
२. अ (नञ्, अल्पार्थे), यथा "अनुदरी कन्या ।

(यस्याम्) जिस पृथिवी में (समुद्रः, उत, सिन्धुः, आपः) समुद्र और स्यन्दन करने वाली नदियां, तथा कूप, झीलें तथा वर्षा जल हैं, (यस्याम्) जिस में (अन्नम्) अन्न तथा (कृष्टयः[1]) खेतियां (संबभूवुः) पर्याप्त होती रही हैं। (यस्याम्) जिस में (इदम् एजत् प्राणत्) यह चलता फिरता प्राण-धारी जगत् (जिन्वति) संतुष्ट हुआ विचरता है, (सा भूमिः) वह उत्पादिका भूमि (नः) हमें (पूर्वपेये) सम्पूर्ण प्रकार के खाद्य पेय अन्नों में (दधातु) स्थापित करे ।

[मन्त्र ३ में भूमि में समुद्र आदि की सत्ता के वर्णन से भूमि का अभिप्राय समग्र पृथिवी हैं, न कि संकुचित राष्ट्र भूमियां । मन्त्र २ में भी ऊंचे, नीचे तथा सम प्रदेशों के बाहुल्य के वर्णन द्वारा समग्र पृथिवी ही अभिप्रेत है । जिन्वति = जिवि प्रीणने । पूर्वपेये; पूर्व = पूर्व पूरणे] ।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

(यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी की (चतस्रः प्रदिशः) चार विस्तृत दिशाएं हैं, (यस्याम्) जिस में (अन्नम्, कृष्टयः) अन्न और खेतियां या नाना विध कृषि कर्म (संबभूवुः) होते रहे हैं, (सा) वह (बहुधा) बहुत प्रकार के (प्राणत् एजत्) चलते फिरते प्राणी जगत् का (बिभर्त्ति) धारण पोषण करती है, (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (गोषु) गौओं में (अपि अन्ने) तथा अन्न में (दधातु) स्थापित करे ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

(यस्याम्) जिस पृथिवी में (पूर्वे) पूर्व काल में (पूर्वजनाः) पूर्वजों ने (विचक्रिरे) विविध प्रकार के श्रेष्ठ कर्म किये हैं, (यस्याम्) जिस पृथिवी में (देवाः) दिव्यकोटि के मनुष्य (असुरान्) आसुर स्वभाव वाले लोगों को (अभ्यवर्तयन्) परास्त करते रहे हैं। (गवाम्, अश्वानाम्, वयसश्च) गौओं, अश्वों, पक्षियों का (विष्ठा) स्थिति स्थान (पृथिवी) पृथिवी, (नः) हमें (भगम्) ऐश्वर्य तथा (वर्चः) तेज (दधातु) प्रदान करे।

१. तथा कृष्टयः मनुष्यनाम (निघं. १।३), सम्भवतः कृषकाः ।

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥

(विश्वम्भरा) सब का भरण-पोषण करने वाली, (वसुधानी) सम्पत्तियों को धारण करने वाली, (प्रतिष्ठा) प्रत्येक भौम पदार्थ का स्थिति स्थान रूप, (हिरण्यवक्षा) छाती में हिरण्य धारण करने वाली, (जगत:) जंगम प्राणियों को (निवेशनी) वसाने वाली, (वैश्वानरम्, अग्निम्, बिभ्रती) सब नर-नारियों को हितकारी अग्नि को धारण करती हुई, (इन्द्रऋषभा) श्रेष्ठ सूर्य वाली, (भूमि:) उत्पादिका पृथिवी (न:) हमें (द्रविणे) धन तथा बल में (दधातु) स्थापित करे।

[इन्द्र ऋषभा=या, अर्थात् श्रेष्ठ सम्राट् वाली (इन्द्र:=इन्द्रश्च सम्राट् (यजु० ८।३७)।

द्रविणम्="धनं द्रविणमुच्यते, बलं वा" (निरुक्त ८।१।१)]

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥७॥

(अस्वप्ना:) निद्रा आलस्य से रहित, (देवा:) दिव्य कोटि के शासक, (अप्रमादम्) प्रमाद रहित हो कर, (विश्वदानीम्) सदा या सब को निज सम्पत्तियों का दान करने वाली (याम्) जिस (भूमिम्) उत्पादिका तथा (पृथिवीम्) विशाल पृथिवी की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (सा) वह पृथिवी (न:) हमें (मधु प्रियम्) मधुर और प्रिय वस्तुएं (दुहाम्) गौ की तरह देती रहे, (अथो) और (वर्चसा[1]) तेज से (उक्षतु) सींचती रहे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिण: ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्या: ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

(या) जो पृथिवी (अग्रे) पुराकाल में, (अर्णवेऽधि) जलवत् द्रवीभूत जगदावस्था में (सलिलम्) जलवत् द्रवीभूत अवस्था में (आसीत्) थी,

1. वर्चस् है तेज, जिस में गम्भीरता और सात्त्विकता का अंश है। त्विषि भी तेज है, इस में उग्रता का अंश है। हाथी में और ब्राह्मण (अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति) में वर्चस् की सत्ता है। व्याघ्र, चीता आदि में त्विषि की सत्ता है।

(याम्) जिस पृथिवी में (मनीषिण:) मननशील मनुष्य (मायाभि:) निज प्रज्ञाओं के अनुसार (अनु अचरन्) निरन्तर विचरते रहे, (यस्या: पृथिव्या:) जिस पृथिवी [के प्रजाजनों] का (हृदयम्) एकीभूत हृदय, (परमे व्योमन्) परमरक्षक तथा आकाशवत् व्यापक परमेश्वर में (आसीत्) था, तथा (अमृतम्) वह अमृत हृदय (सत्येन आवृतम्) सच्चाई से घिरा हुआ था, (सा भूमि:) वह उपजाऊ पृथिवी (न:) हमारे (उत्तमे राष्ट्रे) उत्तम राष्ट्र में (त्विषिम्, बलम्) तेज और बल (दधातु) स्थापित करे।

[**अर्णवे, सलिलम्**=तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली के अनुसार सृष्ट्युत्पतिक्रम है "आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप:, आप: से पृथिवी", यथा "**तस्माद्वा एतमादात्मन आकाश: सम्भूत:, आकाशाद्वायु:, वायोरग्नि:, अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथिवी**"। "**तस्माद् वै एतस्मात् आत्मन:**" द्वारा "उस" अर्थात् दूरस्थ, तथा "इस" अर्थात् समीपस्थ आत्मा से,—इस द्वारा परमेश्वर की सर्वव्यापकता सूचित की है। यजुर्वेद में भी कहा है कि "**तद् दूरे तद्वन्तिके**" (४०।५)] इस सृष्टि क्रमानुसार जगत् की "आप:" अवस्था को "**अग्नेराप:**" द्वारा दर्शाया है। मन्त्र में इस अवस्था को "अर्णवे" पद द्वारा दर्शाया है। इस अवस्था में पृथिवी भी "सलिल" रूप थी, "आप:" रूप थी। अर्णव में सलिल रूप थी। कालान्तर में सलिल रूपा पृथिवी दृढ़ावस्था में आई। "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा**" (यजु० ३२।६) अथर्व० १२।१।६० में भी पृथिवी का जल में प्रवेश "**अर्णवे रजसि**" द्वारा दर्शाया है।

मायाभि:; **माया प्रज्ञानाम्** (निघं० ३।९)। यह अद्वैतवादियों की माया नहीं, न ही प्रकृतिरूपा। हृदयम्=पृथिवी जड़ है चेतन नहीं। जड़ में हृदय नहीं होता। यह हृदय, पृथिवी से उत्पन्न मनुष्य जाति का हृदय है। जब पृथिवी निवासी मनुष्य जाति के हृदय, विचारों और भावनाओं की दृष्टि से एकरूप हो जांय, परस्पर समन्वय और सामञ्जस्य में हो जांय, तो इस एकीभूत हृदय को मन्त्र में हृदयम् कहा है। यथा "**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि व:। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥** (अथर्व० ३।३०।१) में "सहृदयम्" द्वारा "एकीभूत हृदय" को सूचित किया है। तथा हृदय परस्पर एकीभूत किस प्रकार होने चाहियें इस के लिये कहा है कि "**समञ्जन्तु विश्वेदेवा: समापो हृदयानि नौ**" (ऋ० १०।८५।४७), अर्थात् हृदय इस प्रकार एकीभूत होने चाहियें

जैसे कि भिन्न भिन्न जल परस्पर मिल कर एकीभूत हो जाते हैं। इस एकीभाव को "सामञ्जस्य" कहा हैं।

परमे व्योमन्="ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (ऋ० १।१६४।३९) में "परमे व्योमन्" का अर्थ है "सर्वोत्कृष्ट व्यापक परमेश्वर" मनुष्य जाति का एकीभूत हृदय परमेश्वर के प्रति लगा हुआ होना चाहिये, सांसारिक भोगों में नहीं, और "सत्येनावृतम्" सच्चाई से घिरा होना चाहिये। ऐसा एकीभूत हृदय अमृत होता है, मरा हुआ सा नहीं होता, सदा उन्नतिशील, प्रसन्न, तथा नई-नई उमङ्गों वाला होता है। ऐसी मनुष्यजाति का राष्ट्र उत्तम-राष्ट्र होता हैं।

भूमिः, राष्ट्रे=मन्त्र में कहा है कि "भूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में त्विषि और बल प्रदान करे"। इस से प्रतीत होता है कि "सार्वभौमशासन" और "राष्ट्रशासन" पृथक्-पृथक् सत्ताएं रखते हैं, परन्तु हैं परस्पर समन्वित रूप में। राष्ट्रशासन अङ्गरूप है सार्वभौमशासन का, और सार्वभौम शासन "अङ्गी" रूप है। इस प्रकार वैदिकशासन पद्धति के अनुसार, समग्र पृथिवी में, अङ्गाङ्गिभाव से शासन व्यवस्था के होने पर पारस्परिक संघर्ष, तथा युद्ध समाप्त हो सकते हैं]।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

(यस्याम्) जिस भूमि में (समानीः)[1] समानरूप में (परिचराः) सब ओर विचरने वाले (आपः) जल, (अहोरात्रे) दिन-रात (अप्रमादम्) विना प्रमाद के (क्षरन्ति) प्रवाहित हो रहे हैं, (सा) वह (भूरि धारा) प्रभूत जल धाराओं वाली या प्रभूतरूप में धारण-पोषण करने वाली (भूमिः) भूमि, (नः) हमें, (पयः) दूध आदि (दुहाम्) प्रदान करे, (अथो) तथा (वर्चसा) वर्चस् द्वारा (उक्षतु) सींचे।

[दुहाम् और पयः शब्दों द्वारा भूमि को गोरूप में वर्णित किया है, आपः=नदियों के जल]।

---

१. समानीः=समा (वर्ष)+नी (णीञ् प्रापणे)=वार्षिक वर्षा जल, जोकि नदियों के रूप में रात-दिन प्रवाहित होते रहते हैं।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥

(याम्) जिस भूमि को (अश्विनौ) रात-और-दिन ने (अमिमाताम्) मापा है, (यस्याम्) जिस में (विष्णुः) रश्मियों से व्याप्त सूर्य ने (विचक्रमे) विशेषतया या विविध स्थानों में पादविक्षेप[1] किया है। (शचीपतिः) प्रज्ञा तथा कर्मों के अधिपति (इन्द्रः=इन्द्रेन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सम्राटों:[2] के सम्राट् ने (याम्) जिस भूमि को (आत्मने) अपने लिये (अनमित्राम्) शत्रुरहित (चक्रे) किया है (सा नः भूमिः माता) वह हमारी भूमिमाता (मे पुत्राय) मुझ प्रत्येक पुत्र के लिये (पयः) दुग्ध आदि पदार्थ (विसृजताम्) प्रदान करे।

[अश्विनौ—अहोरात्रावित्येके (निरुक्त १२।१।१)। दिन-और-रात चक्कर लगा रहे हैं मानो भूमि को माप रहे हैं। भूमिः माता=समग्र अखण्डित भूमि माता है, खण्डित भूमियां अर्थात् राष्ट्र, मातृ भूमि नहीं कही जा सकतीं। अखण्डित भूमि का सार्वभौमशासन ही भूमि माता के प्रत्येक पुत्र को दुग्ध आदि पदार्थ प्रदान कर सकता है। दूध पिलाने वाली माता, निज समग्र शरीर रूप में माता है, निज खण्डित अवयवों में माता नहीं। मन्त्र में "अमिमाताम्" द्वारा भूगोल शास्त्र के एक विषय का निर्देश किया है। शचीपतिः; शची=प्रज्ञा तथा कर्म (निघं० ३।९; तथा ८।१)।

तथा

अश्विनौ=अश्वारोही दो survey officers, जो कि भूमि को नापते हैं। इन्द्रः=सम्राट्। यथा "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। इन्द्र अर्थात् सम्राट्[3] है, संयुक्त राष्ट्रशासक; तथा वरुण है प्रदेशशासक, राष्ट्रशासक]।

---

१. पाद विक्षेप=चरणन्यास, रश्मिपात।

२. इन्द्रः=इन्द्रेन्द्रः, सम्राटों का सम्राट्। मन्त्रों में जहां समग्र भूमि के सम्बन्ध में सार्वभौम शासक का वर्णन प्रतीत हों वहां इन्द्र पद द्वारा इन्द्रेन्द्र का वर्णन जानना चाहिये। इन्द्रेन्द्र=इन्द्रः, यथा देवदत्तः=देवः या दत्तः। इन्द्रेन्द्र=यथा "इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि" (अथर्व. ३।४।६) मन्त्र में इन्द्रेन्द्र को मनुष्य कहा है।

३. इन्द्र का अर्थ यद्यपि सम्राट् है, परन्तु "सार्वभौम शासन के प्रकरण में इन्द्र

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥११॥

(पृथिवि) हे पृथिवी ! (ते) तेरे (गिरयः) पहाड़, तथा (हिमवन्तः पर्वताः) हिमाच्छादित पर्वत, (ते) तेरे (अरण्यम्) वन-जङ्गल, (स्योनम् अस्तु) सुखकारी हों। (बभ्रुम्) भरण-पोषण करने वाली या भूरे रंग-वाली, (कृष्णाम्) कृषियोग्य या काले रंगवाली, (रोहिणीम्) ओषधियों वनस्पतियों के रोहण अर्थात् उत्पत्ति के योग्य या लालरंगवाली, (विश्वरूपाम्) इस प्रकार विविधरूपों वाली, (ध्रुवाम्) ध्रुव, निश्चल (भूमिम्) उत्पादिका, तथा (इन्द्रगुप्ताम्) सम्राटों द्वारा सुरक्षित (पृथिवीम्) पृथिवी का,—(अजीतः) हानि रहित, (अहत) हननरहित, (अक्षतः) घावरहित मैं, (पृथिवीम्) उक्त गुणों वाली पृथिवी का,—(अध्यष्ठाम्) अधिष्ठाता हुआ हूं।

[मन्त्रोक्तगुणों वाली पृथिवी, कोई एकराष्ट्र या एकसंयुक्तराष्ट्र नहीं हो सकता, अपितु इन गुणों वाली समग्र पृथिवी ही हो सकती है। ऐन्द्रराज्य, ऐन्द्रन्द्रराज्य, अधिष्ठातृराज्य, वारुणराज्य,—इन के परिज्ञान के लिये मन्त्र १० और ११ की टिप्पणी देखो। रोहिणाम्=तथा लोहिनीम्]।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

द्वारा इन्द्रेन्द्र का वर्णन अभिप्रेत है। सम्राट्=सम्(संयुक्त राष्ट्र)+राट्(राजा)। अतः साम्राज्य=संयुक्त-राष्ट्र शासन। Federation या confederation। पृथिवी में संयुक्तराष्ट्र नाना हो सकते हैं। मन्त्रों के अनुसार नाना राष्ट्रशासनों पर एक "सार्वभौमशासन" चाहिये। इस के शासक को "इन्द्रेन्द्र" कहा है (अथर्व. ३।४।६)। अतः संयुक्त राष्ट्रशासन को साम्राज्य, सम्राट्शासन, तथा ऐन्द्रशासन कह सकते हैं, और सार्वभौमशासन को "ऐन्द्रेन्द्रशासन। मन्त्र ११ में इन्द्रगुप्ताम्, तथा अध्यष्ठाम् द्वारा सम्राटों के सम्राट् को अधिष्ठाता भी कहा है। अधिष्ठाता=अधिराट्, यथा "अधिराजो राजसु राजयातै" (अथर्व. ६।९८।१, २)। इसे "एकराट्" (अथर्व. ३।४।१) भी कहा है, तथा "विशांपतिः" भी।

(पृथिवि) हे पृथिवि! (ते) तेरे (मध्यम्) मध्य में अर्थात् ऊपर के समतल के नीचे, (यत् च) और जो (नभ्यम्) केन्द्र भाग में खनिज पदार्थ हैं, तथा (याः ऊर्जः) जो बल-तथा-प्राणप्रद अन्न (ते तन्वः) तेरे विस्तृत समतल भाग से (संबभूवुः) पैदा होते हैं, (तासु) उनमें (नः) हमें (धेहि) स्थापित कर, (नः) हमें (अभि पवस्व) पवित्र कर, (भूमिः) उत्पादिका पृथिवी (माता) माता है, (अहम्) मैं (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवी का पुत्र हूं, (पर्जन्यः) मेघ (पिता) पिता है, (स उ) वह (नः) हमारा (पिपर्तु) पालन करे।

[मध्यम् नभ्यम्=पृथिवी तल के नीचे के स्तर में खनिज पदार्थ हैं उन्हें मध्यम् कहा है, और जो गहरे स्तरों में हैं उन्हें नभ्यम् कहा है। मध्यम् स्तरों के खनिज पदार्थ को "हिरण्यवक्षा," द्वारा भी सूचित किया है (६)। पवस्व=मध्य, नभ्य, तथा ऊर्जस्-अन्नों का सेवन करते हुए, अपने शरीर, मन और आत्मा को पवित्र बनाना चाहिये।

अहम्=प्रत्येक पृथिवीवासी को चाहिये कि वह पृथिवी को निज माता जान कर, पवित्र भावना से, पृथिवी माता की सेवा तथा रक्षा करने में तत्पर रहे। पृथिवी माता है, इस के पार्थिव अंशो से प्रत्येक का शरीर बना है तथा यही माता खाद्य-पेय पदार्थ दे कर हमारी रक्षा कर रही है। इस पृथिवी माता में पर्जन्य अर्थात् मेघ निज जल रूपी वीर्य सींचता है, इस लिये पर्जन्य पिता है। इस के जल रूपी वीर्य से अन्नोत्पत्ति तथा पीने के लिये हमें जल प्राप्त होता है। मन्त्र में समग्र अर्थात् अखण्ड-पृथिवी को माता तथा पर्जन्य को पिता कह कर राष्ट्रिय संकुचित भावनाओं से पृथक् रहने का सन्देश दिया है। निज राष्ट्रिय भावनाओं को, सार्वभौम भावनाओं के साथ समन्वित करना चाहिये]।

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥१३॥

(विश्वकर्माणः) विविध प्रकार के कर्मों को करने वाले कारीगर (यस्याम् भूम्याम्) जिस भूमि में (वेदिम्) वेदि [के निर्माण के लिये भूमि] को घेरते हैं, तथा (यस्याम्) जिस भूमि में (यज्ञम्) यज्ञों का (तन्वते)

विस्तार करते हैं। (यस्याम् पृथिव्याम्) जिस पृथिवी में (आहुत्याः पुरस्तात्) आहुति से पहिले, (ऊर्ध्वाः) ऊंचे तथा (शुक्राः) चमकीले (स्वरवः) यूपस्तम्भ (मीयन्ते) गाड़े या निर्मित किये जाते हैं, (सा) वह पृथिवी (वर्धमाना) बढ़ती हुई, बृद्धि को प्राप्त होती हुई (नः वर्धयत्) हम प्रजाजनों को बढ़ाए, समुन्नत करे ।

[जिस पृथिवी पर यज्ञ, तथा दिव्यजनों की पूजा अर्थात् मान-सत्कार, उन का सत्संग, तथा उन के प्रति दान, और द्रव्ययज्ञों में आहुतियां होती रहती हैं, वहां वृद्धि, समुन्नति तथा प्रजा का स्वास्थ्य बढ़ता रहता हैं। परिगृह्णन्ति; परिग्रहः Surrounding, Fencing, enclosing, encircling (आप्टे)]।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

(पृथिवि) हे पृथिवि ! (यः) जो राजा (नः द्वेषत्) हमारे साथ द्वेष करता है, (यः) जो (पृतन्यात्) सेना द्वारा आक्रमण करता हैं, (यः) जो (मनसा) मानसिक शिक्षा द्वारा, (यः) जो (वधेन) मारक शस्त्रास्त्र द्वारा (अभिदासात्) हमें दास बनाता है, (पूर्वकृत्वरि भूमे) हे पूर्व अर्थात् पहले काम करने में त्वरा[1] वाली या पूर्णतया काट देने में श्रेष्ठ भूमि ! (नः तम्) हमारे उस शत्रु को (रन्धय) वशीभूत कर।

[यदि कोई राष्ट्र या संयुक्तराष्ट्र अन्यराष्ट्र के साथ द्वेष करे, या उस पर आक्रमण आदि करे तो सार्वभौम-संगठन उसे अपने वश में रखे । रन्धयेति रध्यतिर्वशगमने (निरुक्त ६।६।३२) । पूर्वकृत्वरि पूर्व+कृ+त्वरा (शीघ्रता); या पूर्व (पूर्व पूरणे)+कृत् (छेदने)+वरि (श्रेष्ठ)]।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

(पृथिवि) हे पृथिवि ! (त्वत् जाताः) तुझ से पैदा हुए (मर्त्याः) मरणधर्मा प्राणी (त्वयि चरन्ति) तुझ में विचरते हैं, (त्वम्) तू (द्विपदः)

१. देखो अथर्व० (१२।१।१) २—पृथिवी वासियों को चाहिये कि जो काम करना हो उसे शीघ्र करें, आलस्य और प्रमाद न करें।

दो पैरों वाले मनुष्यों और पक्षियों का धारण-पोषण करती है, (त्वम्) तू (चतुष्पदः) चार पैरों वाले पशुओं का धारण-पोषण करती है। (इमे) ये (पञ्च मानवाः) विस्तृत मनुष्य (तव) तेरे हैं, (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मरणधर्मा मनुष्यों के लिये (उद्यन् सूर्यः) उदित होता हुआ सूर्य, (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा, (अमृतम्) अमृतरूपी (ज्योतिः) ज्योति का (आ तनोति) सर्वत्र विस्तार करता है ।

[पञ्च पचि विस्तारे, विस्तृत मनुष्य या प्रजाजन, यथा पञ्चास्य = शेर, विस्तृत मुख वाला] ।

ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥

(ताः समग्राः प्रजाः) वे सब प्रजाएँ, (नः) हम सब के लिये, (सं दुहताम्) परस्पर मिल कर, हे पृथिवी ! तेरा दोहन करें, (पृथिवि) हे पृथिवी ! (मह्यम्) मुझ प्रत्येक को (वाचः मधु) वाणी का मिठास (धेहि) प्रदान कर।

[सभी मनुष्य परस्पर मिल कर, सहोद्योग द्वारा, पृथिवी का दोहन करें, पृथिवी से अन्न तथा नाना विध सम्पत्तियों को परस्पर मिल कर प्राप्त करें। प्रत्येक मनुष्य में वाणी का माधुर्य होना चाहिये, तभी संगठन सुदृढ़ हो सकता है। परस्पर की निन्दा, कटु आलोचना, तथा तीखी वाणी होने पर दिल फट जाते, मनोमालिन्य हो जाता है, संगठन टूट जाता है] ।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

(विश्वस्वम्) सब प्रकार के पदार्थों की उत्पादिका, (ओषधीनां मातरम) ओषधियों की माता, (ध्रुवाम्) स्थिर, (भूमिम्) अन्नोत्पादिका, (धर्मणा धृताम्) बृहत्सत्य आदि धारकगुणों या धर्मों द्वारा धारित-पोषित, (शिवाम्) कल्याणकारिणी, (स्योनाम्) तथा सुखदायिनी (पृथिवीम्) विस्तृत पृथिवी पर, (विश्वहा) सब दिन, (अनु) परस्पर की अनुकूलता में (चरेम) हम विचरें ।

[धर्मणा=अथर्व० (१२।१।१) । धर्म का परिणाम है; पृथिवी का शिवरूपा तथा स्योनरूपा होना । विश्वहा=विश्वाहा] ।

म॒हत्स॒धस्थं॑ मह॒ती ब॑भूविथ म॒हान्वेग॑ ए॒जथु॑र्वे॒पथु॑ष्टे
म॒हांस्त्वेन्द्रो॑ रक्ष॒त्यप्र॑मादम् ।
सा नो॑ भूमे॒ प्र रो॑चय॒ हिर॑ण्यस्येव सं॒दृशि॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥१८॥

(सधस्थम्) तुझ पर साथ-साथ बैठने का स्थान (महत्) बड़ा है, (महती) तू परिमाण में बड़ी (बभूविथ) हुई है, (ते) तेरा (वेगः) सूर्य की प्रदक्षिणा करने का वेग, (एजथु[1]: वेपथुः) कम्पन और वेपन (महान्) महान् है, (महान् इन्द्रः) महान् परमेश्वर या महान् इन्द्रेन्द्र (त्वा) तेरी (रक्षति) रक्षा करता है (अप्रमादम्) सदा सावधान हो कर। (भूमे) हे भूमि! (सा) वह तू (नः) हमें (पुरोचय) रुचिरूप वाले कर, (इव) जैसे कि (हिरण्यस्य) सुवर्ण का (संदृशि) दर्शन रुचिकर होता है, ताकि (कश्चन) कोई भी (नः) हमारे प्रति (मा द्विक्षत्) न द्वेष करे।

[महान् इन्द्रः=इन्द्रेन्द्र=सम्राटों का सम्राट्, समग्र भौमशासन का अधिष्ठाता। (मन्त्र ११) भूमि के निवासियों के पारस्परिक व्यवहार ऐसे होने चाहियें जिन से कि वे परस्पर एक दूसरे के प्रति रुचिकर हो जाएं, और पारस्परिक द्वेषभाव स्वयं समाप्त हो जाएं। "वाचो मधु" (मन्त्र १६) इस भावना का पोषक है]।

अ॒ग्निर्भूम्या॒मोष॑धीष्व॒ग्निमापो॑ बिभ्रत्य॒ग्निरश्म॑सु ।
अ॒ग्निर॒न्तः पुरु॑षेषु॒ गोष्वश्वे॑ष्व॒ग्नयः॑ ॥१९॥

(अग्निः) अग्नि (भूम्याम्, ओषधीषु) भूमि में और ओषधियों में है, (अग्निम्) अग्नि को (आपः) जल (बिभ्रति) धारण करते हैं, (अग्निः) अग्नि (अश्मसु) पत्थरों और मेघों में है। (अग्निः) अग्नि (पुरुषेषु अन्तः) पुरुषों के अन्दर है, (गोषु, अश्वेषु, अग्नयः) गौओं और अश्वों में अग्नियां है।

[मन्त्र में अग्नि का व्यापक स्वरूप प्रदर्शित किया है। मन्त्र १८ में "प्ररोचय" में रुच् धातु दीप्त्यर्थक है। दीप्ति है अग्निकर्म। इस सम्बन्ध से "प्ररोचय" के पश्चात् अग्नि का वर्णन स्वाभाविक है। अश्मसु=पत्थर; तथा अश्मा मेघनाम (निघं० १।१०)]।

---

१ ये दो पद क्या भूचालों के सूचक है, या इन का कोई अन्य अभिप्राय है,—यह विचारणीय है।

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षम् ।
अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते हव्य॒वाहं॑ घृत॒प्रिय॑म् ॥२०॥
अ॒ग्निवा॑साः पृथि॒व्य॑सित॒ज्ञूस्त्विषी॑मन्तं॒ संशि॑तं मा कृणोतु ॥२१॥

(अग्निः, दिवः, आ तपति) अग्नि अर्थात् सौराग्नि द्युलोक से आ कर ताप देती है, (उरु, अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष (देवस्य अग्नेः) द्योतमान अग्नि अर्थात् विद्युत् का स्थान हैं, (हव्यवाहम्) हवियों को वहन करने वाली, (घृतप्रियम्) घृत की प्यारी अग्नि को (मर्तासः) मनुष्य (इन्धते) यज्ञों में प्रदीप्त करते हैं ॥२०॥ (पृथिवी अग्निवासाः) पृथिवी में अग्नि बसी हुई है, (असितज्ञूः) यह पृथिवी बन्धन को नहीं जानती, पृथिवी (मा) मुझ प्रत्येक पृथिवी वासी के (त्विषीमन्तम्) दीप्तिमान् तथा (संशितम्) सम्यक् उग्ररूप (कृणोतु) करे।

[मन्त्र १९-२१; भूम्याम्=पार्थिव अग्नि ज्वालामुखी पर्वतों में प्रायः प्रकट होती है। ओषधियों में निहित अग्नि ओषधियों के जलाने पर प्रकट होती है। आपः अर्थात् जल में अग्नि रहती है, यथा "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्" (अथर्व० १।६।२)। विश्वशम्भुवम्=सब रोगों को शान्त करने वाली अग्नि। अश्मा अर्थात् पत्थर पर पत्थर की चोट मारने पर अग्नि प्रकट होती है, और मेघों में विद्युत् रूप में अग्नि प्रकट होती है। पुरुषों, अश्वों तथा गौओं में जाठराग्नि तथा शारीरिक तापमान के रूप में organic अग्नियां होती हैं (मन्त्र १९)।

अग्नेः, देवस्य=अन्तरिक्ष व्यापी Ionic sphere; असितज्ञूः=अ+षिञ् बन्धने+ज्ञा अव=बोधने। पृथिवी स्वतन्त्रता को जानती है, बन्धन को नहीं। परतन्त्र हुए देश भी समय पा कर स्वतन्त्र हो जाते हैं। संशितम्=स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये उग्रता। अन्तरिक्ष के अल्पस्थान में वायु और जल विद्यमान हैं। शेष विस्तृत अन्तरिक्ष में सूर्य से निकले विद्युत् से आविष्ट सौर-कण व्याप्त हैं, जिन्हें कि आयोनिकस्तर कहते हैं]।

भूम्यां॑ दे॒वेभ्यो॑ ददति य॒ज्ञं ह॒व्यमरं॑कृतम् ।
भूम्यां॑ मनु॒ष्या॑ जीवन्ति स्व॒धयान्ने॑न॒ मर्त्याः॑ ।
सा नो॒ भूमिः॑ प्रा॒णमायु॑र्दधातु ज॒रद॑ष्टिं मा पृथि॒वी कृ॑णोतु ॥२२

(भूम्याम्) भूमि में (देवेभ्यः[1]) देवों के प्रति (यज्ञम्) यज्ञक्रियाएं (अरंकृतम्, हव्यम्) तथा अलंकृत हवियां (ददति) भेंट में देते हैं। (भूम्याम्) भूमि में (मर्त्याः) मरणधर्मा (मनुष्याः) मनुष्य (स्वधया) निज का धारण तथा पोषण करने वाले (अन्नेन) अन्न द्वारा (जीवन्ति) जीवित होते हैं। (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (प्राणम्, आयुः) प्राण शक्ति और दीर्घायु (दधातु) प्रदान करे, (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझ प्रत्येक को जरदष्टिम्) जरावस्था तक पहुंचने वाला (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में देवों के प्रति आहुति-प्रदान और उन द्वारा प्राप्त अन्न का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। यथा—

अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

गीता में भी इस पारस्परिक सम्बन्ध को निम्नलिखित श्लोक द्वारा दर्शाया है। यथा—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (३।११) ॥

भूमिः, पृथिवी=उत्पादन की दृष्टि से पृथिवी भूमि है, और विस्तार की दृष्टि से वह पृथिवी है। आदित्य द्वारा वर्षा होने पर पृथिवी उत्पादिका होती है। स्वधया, अन्नेन=दीर्घजीवन के लिये ऐसे अन्न का सेवन करना चाहिये जिस से शरीर का दीर्घकाल तक धारण हो सके तथा शरीर और मन परिपुष्ट हो सकें, तथा शरीर में प्राणों का ठीक संचार होता रहे; मांस मदिरा आदि का प्रयोग विघातक हैं। स्वधया=स्व+धा (धारणपोषणयोः अन्नेन[2]=अन् प्राणने]।

---

१. तथा "भूमि में अतिथि देवों के प्रति यज्ञ अर्थात् पूजा-संस्कार तथा दान और सुसंस्कृत अन्न प्रदान करते हैं"। अवशिष्ट मन्त्रार्थ दोनों अर्थों में समान है। हव्यम्=हु अदने, खाने योग्य अन्न।

२. अनिति जीवयतीति अन्नम् (उणा० ३।१०, महर्षि दयानन्द)। अथवा अन्नम्=अद् (भक्षणे)+ क्तः।

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२३॥

(पृथिवी) हे विस्तृत पृथिवी! (यः गन्धः) जो गन्ध (ते) तेरा (संबभूव) तुझ में मिश्रित सत्ता वाला है: (यम्) जिस को (ओषधयः) ओषधियां, (यम्) और जिस को (आपः) जल (बिभ्रति) धारण करते हैं। (यम्) जिसे कि (गन्धर्वाः, अप्सराः च) गन्धर्व और अप्सराएं (भेजिरे) सेवन करती हैं, (तेन) उस गन्ध द्वारा (मा) मुझ प्रत्येक पृथिवीवासी को (सुरभिम्) सुरभित (कृणु) कर, ताकि (नः) हम में से (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत्) परस्पर द्वेष न करे।

[पृथिवी का स्वाभाविक गुण है गन्ध। गन्धवती पृथिवी (तर्क संग्रह ३)। ओषधियों में, तथा उत्सों, अर्थात् चश्मों के जलों में गन्ध नैमित्तिक है, पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण है। गन्धर्वाः अर्थात् गो (पृथिवी) पर, धर्वाः (धृत) पदार्थों में, तथा अप्सरसः अर्थात् जलों में विचरने वाले जलचर प्राणियों में जो गन्ध हैं वे भी उन के पृथिवी से पैदा होने के कारण हैं। प्रत्येक पृथिवीवासी पृथिवी से यशःसौरभ की याचना करता है, जो यशःसौरभ पृथिवीवासी के क्षमाशील होने के कारण होता है, और जिस के होने पर पृथिवीवासी परस्पर में द्वेष नहीं करते। पृथिवी में एक विचित्र गन्ध भी है, वह है क्षमा शीलता, सहन शीलता, इसी लिये पृथिवी का नाम है क्षमा। क्षमा पृथिवीनाम (निघं० १।१)।

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥

हे पृथिवी! (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुष्करम्) अन्तरिक्ष में (आ विवेश) आविष्ट हुआ है, (यम्) जिस (अग्रे) श्रेष्ठ गन्ध को (अमर्त्याः) अमानुष अर्थात् दिव्य शक्तियों ने, (सूर्यायाः विवाहे) सूर्या के विवाह में (संजभ्रुः) परस्पर मिल कर हरण अर्थात् प्राप्त किया है, (तेन) उस गन्ध द्वारा (मा) मुझ प्रत्येक पृथिवीवासी को (सुरभिम्) यशःसौरभ से सुरभित (कृणु) कर, ताकि (नः) हम में से (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) परस्पर द्वेष न करे।

[पुष्करम्=अन्तरिक्षम् (निघं० १।३) । सूर्यायाः विवाहे=सूर्या अर्थात् सूर्य की दुहिता अर्थात् रश्मि के विवाह में । अमावास्या में सूर्य और चन्द्रमा इकट्ठे अर्थात् परस्पर साथ रहते हैं, "अमा सह वसतः सूर्या-चन्द्रमसौ यस्यां तिथौ सा अमावास्या । प्रतिपद्-तिथि में सूर्य की अल्प-रश्मियां चन्द्रमा पर पड़ती हैं जिस से चन्द्रमा अमावास्या की रात्रि के पश्चात् प्रकाशित होता है । इस घटना को सूर्या का विवाह कहा है, मानो रश्मिरूपी सूर्यकन्या विवाहित हो कर चन्द्रमा के घर गई है । इस घटना को निम्नलिखित मन्त्र में भी दर्शाया है । यथा—

अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे । (ऋ० १।८४।१५) ॥

अर्थात् "चन्द्रमा के इस घर में सूर्यरश्मि का नमन अर्थात् गमन, अवशिष्ट सूर्यरश्मियों ने मान लिया, स्वीकार कर लिया । यह नमन है त्वष्टा अर्थात् रूपाधिपति सूर्य से सौररश्मि का अपीच्य अर्थात् अपगत होना, सूर्य से हट का चन्द्रमा के घर जाना" । अथवा "पुष्करम्" कमल । अथर्ववेद में, माघमास में विवाह सम्बन्धी वचन प्रदान और फाल्गुन अर्थात् वसन्त में विवाह करने का निर्देश किया है, यथा "मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते" (२८।१।१३); गावः हन्यन्ते वचनानि दीयन्ते । वसन्त में प्राकृतिकदृश्य अतिसुहावने हो जाते हैं । वृक्षों में नव किसलय तथा पुष्प विकसित होते और पुष्पों की गन्ध को लेकर वायु प्रवाहित होने लगती है,— यह दृश्य पृथिवी के कारण होता है । इस लिये मानुष्य तथा सूर्या के विवाह के इस काल में सर्वत्र पृथिवी के सौरभ का विस्तार होता है] ।

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२५॥

(यः ते गन्धः) जो तेरा गन्ध (पुरुषेषु) पौरुषशक्ति सम्पन्न मनुष्यों में, (स्त्रीषु) स्त्रियों में, (पुंसु) तथा वृद्धिशील मनुष्यों में है, तथा जो (भगः) तेरा भग और (रुचिः) दीप्ति या रोचकता है, (यः) जो (अश्वेषु) अश्वों में, (वीरेषु) वीर योद्धाओं में, (यः) जो (मृगेषु) मृगों में (उत) और (हस्तिषु) हाथियों में है, (यद्) जो (वर्चः) दीप्ति (कन्यायाम्) कन्या में है, (भूमे) हे उत्पादिका पृथिवी ! (तेन) उसके साथ (अस्मान् अपि) हमारा भी (संसृज) संसर्ग कर, ताकि (नः) हमारे साथ (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) न द्वेष करे ।

[मन्त्र में गन्ध पद, घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य "पृथिवी के गन्ध गुणमात्र" का निर्देश नहीं करता, अपितु सामान्य रूप से उस के "अंश" का निर्देश करता है इस लिये भगः, रुचिः, तथा वर्चः—इन का समन्वय सम्भव हो सकता है । "पुरुषेषु" आदि में भिन्न-भिन्न पार्थिव अंशों का सम्बन्ध है, इन अंशों के सम्बन्ध से पुरुष आदि में भिन्न-भिन्न शक्तियां प्रकट होती हैं । जैसे कि एक ही माता से उत्पन्न सन्तानों में, माता के भिन्न-भिन्न अंशों के समावेश द्वारा, सन्तानों में भिन्न-भिन्न आकृतियां तथा गुण प्रकट होते हैं ।

पुरुषों, स्त्रियों, वृद्धिशील मनुष्यों, अश्वों, वीरों, मृगों, हस्तियों, तथा कन्या में, पृथक्-पृथक् पार्थिव अंशों के होने से, उन में भग, रुचि तथा वर्चस् आदि गुणों का भी पार्थक्य है । किसी भी एक पुरुष में इन भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का एकत्रीकरण सम्भव नहीं । अतः मन्त्र में इन गुणों और शक्तियों के संसर्ग की जो इच्छा प्रकट की गई है उस का यह अभिप्राय है कि हमारे सामाजिक जीवनों में इन भिन्न-भिन्न गुणों वाले व्यक्ति हों, ताकि ऐसे व्यक्तियों की सत्ता होने पर, किसी को हमारे साथ राजनैतिक द्वेष करने का साहस न हो ।

पुंसु=पुंस् अभिवर्धने । भगः=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा । रुचिः=रुच् दीप्तौ । वर्चस्=वर्च् दीप्तौ । रुचि में रोचकता, तथा वर्चस् में कान्ति की विशेष भावना है] ।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

(शिला) पत्थर, (अश्मा) कीमती पत्थर, (पांसुः) रेता और धूल, (भूमिः) भूमि है । (सा भूमिः) वह भूमि (संधृता) सम्यक् साधनों द्वारा धारित हुई (धृता) धारित होती है । (हिरण्यवक्षसे) छाती में सुवर्ण वाली (तस्यै पृथिव्यै) उस पृथिवी के लिये (नमः अकरम्) मैंने नमस्कार किया है ।

[भूमिः=यह शब्द पृथिवी की उत्पादक शक्ति को सूचित करता है। शिला=वे पत्त्थर जिन से शैल अर्थात् पर्वत बने हैं। संवृता सम्यक् साधन, देखो (अथर्व० १२।१।१)। हिरण्यवक्षसे द्वारा यह दर्शाया है कि हिरण्य की खानें बहुत गहरी नहीं होतीं]।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

(यस्याम्) जिस में (वृक्षाः) नानाविध वृक्ष, तथा (वानस्पत्याः) वनों के पेड़ या फलदार वृक्ष (ध्रुवाः) स्थिररूप में (विश्वहा) सदा (तिष्ठन्ति) स्थित रहते हैं, उस (विश्वधायसम्) सर्वपालिका तथा (धृताम्) सत्यादिसाधनों द्वारा धारित हुई (अथर्व० १२।१।१,२६) (पृथिवीम्) पृथिवी के प्रति, (अच्छ आवदामसि) हम सब अच्छे अर्थात् प्रशंसा के वचन सर्वत्र कहते हैं।

[अच्छ Pure (आप्टे); स्वच्छ। तथा अच्छाभी आभिमुख्ये। किश्वहा विश्वाहा]।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

(उदीराणाः) उठते हुए, (उत) और (आसीनाः) बैठते हुए, (तिष्ठन्तः) खड़े होते हुए, या (दक्षिणसव्याभ्याम् पद्भ्याम्) दाहिने और बाएँ पैरों द्वारा (प्रक्रामन्तः) चलते हुए, (भूम्याम्) भूमि में, (मा व्यथिष्महि) हम व्यथा अर्थात् कष्ट न पाएँ।

[पृथिवी पर ऐसा राज्य होना चाहिये कि किसी अवस्था में भी, किसी से, हमें व्यथा न प्राप्त हो]।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥२९॥

(विमृग्वरीम्) विशुद्ध, शोधयोग्य, या विशिष्टगति में श्रेष्ठ, (क्षमाम्) क्षमावृत्तिवाली अर्थात् सहनशील, (ब्रह्मणा) परमेश्वर या ब्रह्मोपासक तथा वेदज्ञ व्यक्ति द्वारा (अथर्व० १२।१।१) (वावृधानाम्) वृद्धि को प्राप्त होती हुई, (ऊर्जम्) बलप्रद तथा प्राणप्रद, (पुष्टम्) तथा पुष्टिदायक (अन्नभागम्) भजनीय अर्थात् सेवनीय अन्न को (घृतम्) तथा घृत को (बिभ्रतीम्) धारण करती हुई (भूमिम्) उत्पादिका पृथिवी के प्रति (आवदामि) आदरपूर्वक मैं कहता हूं कि (भूमे) हे भूमि! (त्वा) तुझ पर (अभि नि षीदेम) हम सब एक-दूसरे के अभिमुख हो कर सदा बैठें।

[विमृग्वरीम्[1]=वि+मृज् (शुद्धौ) +वरीम्; अथवा शोध[1] अर्थात् खोजने योग्य, या वि+मृग (आर्ष्टेगतिकर्मणः, निरु० १।६।२०),+वरीम् =पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती हुई भी हम में हलचल पैदा नहीं करती अतः यह "वरी" श्रेष्ठ है। अभि=परस्पर के अभिमुख बैठने में पारस्परिक प्रेम सूचित होता है। अच्छाभी आभिमुख्ये]।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥३०॥

(शुद्धाः आपः) शुद्ध जल (नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (क्षरन्तु) बहें, (नः) हमारा (यः) जो (सेदुः) अपवित्र विनाशकारी कर्म है उसे (अप्रिये) अप्रियपक्ष में (नि दध्मः) हम स्थापित करते हैं, (पृथिवि) हे पृथिवी! (पवित्रेण) पवित्र कर्म द्वारा (मा) अपने-आप को (उत्पुनामि) मैं पवित्र करता हूं, और उत्कृष्ट बनता हूं।

[तन्वे=स्नान तथा पीने के लिये। अप्रिये=अपवित्र कर्मों के साथ अनुराग न करें, उन के प्रति उपेक्षा करनी चाहिए। सेदुः=षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु]।

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

(याः) जो (ते) तेरी (प्राचीः प्रदिशः) पूर्व की फैली दिशाएं हैं, (याः उदीचीः) जो उत्तर की, (भूमे) हे पृथिवी! (याः ते अधराद) जो तेरी दक्षिण कीं (च याः पश्चात्) और जो कि पश्चिम की फैली दिशाएं हैं, (ताः) वे सब (चरते मह्यम्) चलते फिरते मेरे लिये (स्योनाः भवन्तु) सुखकारी हों। (भुवने) उत्पन्न जगत् में (शिश्रियाणः) आश्रय पाया हुआ मैं (मा निपप्तम्) अधः पतित न होऊं।

---

१. शोधकार्य=Research वि+मृग् (अन्वेषणे)+क्वनिप्+र+ङीप् (वनो र च, अष्टा० ४।१।७)।

[स्योनाः, स्योनं सुखनाम (निघं० ३।६) । मा प्राचीः=प्राची आदि दिशाओं में बहुवचन है। प्रत्येक दिशा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपेक्षा से नाना हो जाती हैं। मा नि पप्तम्=मन्त्र ३०में पवित्र कर्मों द्वारा पवित्र होने का वर्णन है, उसी की पुष्टि "मा निपप्तम्" द्वारा की है। अतः पादस्खलन द्वारा पतन का वर्णन मन्त्र में नहीं]।

मा नः पुश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तुरादंधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विंदन् परिपुन्थिनो वरींयो यावया वुधम् ॥

(भूमे) हे पृथिवी ! (पश्चात्) पश्चिम् से (नः) हमें (मा नुदिष्ठाः) न धकेल, (मा) न (पुरस्तात्) पूर्व से, (मा उत्तरात्) न उत्तर से, (उत) और (अधरात्) न दक्षिण से धकेल। (नः) हमारे लिये (स्वस्ति भव) कल्याणमयी तू हो, (परिपन्थिनः) चोर डाकू आदि (मा विदन्) हम में विद्यमान न हों, (वधम्) युद्धों में हुए वध को तथा मारक शस्त्रास्त्र को (वरीयः) अति दूर (यावय) कर।

[युद्धों में प्रजाजनों को सुरक्षित स्थान के लिये अपना पहिला निवास स्थान छोड़ना पड़ता है। मन्त्र में यह भावना प्रकट की गई है कि पृथिवी पर युद्ध न हों ताकि सब पृथिवीवासियों का कल्याण हो सके, और न ही पृथिवीवासियों में चोर और डाकू ही विद्यमान हों। कश्मीरस्थ केकय प्रदेश के राजा अश्वपति के आदर्श राज्य के सम्बन्ध में राजा अश्वपति कहता है कि:—

न मे स्तेनो जनपदे न मद्यपो न कदर्यः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरणी कुतः ॥

कैसा उत्तम आदर्श राज्य है अश्वपति का]।

यावंत् तेऽभि विपश्यांमि भूमे सूर्येण मेदिनां ।
तावंन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तंरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

(भूमे) हे भूमि ! (सूर्येण मेदिना) स्नेही सूर्य की सहायता से (यावत्) जब तक (अभि) तेरी ओर (विपश्यामि) मैं विवेक पूर्वक देखता रहूं, (तावत्) तब तक (मे चक्षुः) मेरी आंख, (उत्तराम् उत्तराम समाम्) उत्तरोतर वर्षों में, (मा मेष्ट) नष्ट न हो।

[सांसारिक जीवन विवेक सम्पन्न होना चाहिये, भोग प्रेरित नहीं। चक्षु प्रायः मनुष्य को सांसारिक भोगों की ओर ले जाती है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि चक्षु यदि विवेकी जीवन में सहायक है तो इस की सत्ता शुभ है, अन्यथा इस की सत्ता अनावश्यक है। सूर्य तो मानो स्नेहपूर्वक सांसारिक दृश्यों का दर्शन हमें कराता है, परन्तु उनकी उपादेयता और अनुपादेयता में हमें विवेकदृष्टि का प्रयोग करना चाहिये, तभी दृष्टि की सार्थकता होगी। मेदी=मिद् स्नेहने। यावत्, तावत्=यावत् कालम्, तावत् कालम्]।

अथवा "हे भूमि ! स्नेही सूर्य की सहायता से तेरे अभिमुख हो कर, तेरे जितने भाग को विविध रूपों में मैं देख रहा हूं तेरे उतने भाग को देखने के लिये मेरी चक्षु उत्तरोत्तर वर्षों में भी बनी रहे"। "पश्येम शरदः शतम्" के लिये यह स्वात्मबोधन (Auto-suggestion) है।

यच्छयानः पुर्यावर्ते दाक्षिणं सुव्यमुभि भूमे पार्श्वम् ।
उुत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमंहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

(भूमे) हे भूमि ! (शयानः) सोता हुआ मैं (यत्)जो (दक्षिणं सव्यं पार्श्वम् अभि) दाएँ-बाएँ पासों को (पर्यावर्ते) बदलता हूं, तथा (उत्तानाः) ऊर्ध्वमुख हो कर (यत्) जो (प्रतीचीं त्वा) पीठ की ओर वर्तमान तुझ पर (पृष्टीभिः) पीठ की अस्थियों द्वारा (अधिशेमहे) हम सोते हैं, (तत्र) उस अवस्था में, (सर्वस्य प्रतिशीवरि भूमे) सब को सुलाने वाली हे भूमि ! (नः)हमारी (मा हिंसीः) तू हिंसा न कर।

[करवटों पर तथा ऊर्ध्वमुख की अवस्था में सोने पर व्यक्ति स्वस्थ रहता है। अधोमुख अवस्था में सोने पर नासिका द्वारा श्वास प्रश्वास की गति ठीक नहीं रहती, और छाती के दबे रहने से फेफड़ों का संकोच-विकास भी उचित अवस्था में नहीं रहता। इस से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है,—यह ही हिंसा है]।

यत् तें भूमे विखनांमि क्षिप्रं तदपिं रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदंयमर्पिपम् ॥३५॥

(भूमे) हे भूमि ! (ते) तेरा (यत्) जो भाग [हल द्वारा] (विखनामि) खोदता हूं (तदपि) वह भाग भी (क्षिप्रम्)शीघ्र (रोहतु) पुनः प्ररो-

हरणयोग्य हो जाय । (विमृग्वरि) हे विमृग्वरी (मन्त्र २९) भूमि ! (ते) तेरे (मर्म) मर्म को (मा) न (अर्पिपम्) मैं हानि पहुंचाऊँ, (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (मा) न हानि पहुंचाऊँ।

[हल चला कर बीज बोया जाता है। बीज भूमि के उत्पादक तत्त्वों की सहायता से अङ्कुरित होता, तथा कालान्तर में फल प्राप्ति होती है। इस प्रकार भूमि के उत्पादक तत्त्व क्षीण होते रहते हैं। वायु के द्वारा तथा उचित खाद के द्वारा उस क्षति की पूर्ति करते रहना चाहिये। यह उत्पादक-तत्त्व भूमि का मर्म है, इस की हानि न होनी चाहिये। जलस्रोत पृथिवी का हृदयरूप है। जैसे कि हृदय द्वारा शरीर, रक्त से सींचा जाता है, वैसे जल स्रोत द्वारा भूमि सींची जाती है। खाद और जलस्रोत भूमि के मर्म और हृदयरूप हैं]।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

(भूमे पृथिवी) हे उत्पादिका पृथिवी ! (विहिताः) विधि पूर्वक स्थापित (ते) तेरी (ते) वे (ग्रीष्मः, वर्षाणि, शरद्, हेमन्तः, शिशिरः, वसन्तः ऋतवः) ग्रीष्म, वर्षा, शरद् अर्थात् शीत, हेमन्त[1] अर्थात् घातक शीत, शिशिर अर्थात् पतझड़ और वसन्त ऋतुएँ, (हायनीः) तथा अयन-कालों की वर्षाएँ, (अहोरात्रे) तथा दिन और रातें (नः) हमें (दुहाताम्) अन्न आदि का दोहन करते रहें।

[ग्रीष्म=ज्येष्ठ और अषाढ। वर्षा=श्रावण और भाद्र। शरद्=आश्विन और कार्तिक। हेमन्त=मार्गशीर्ष और पौष। शिशिर=माघ और फाल्गुण। वसन्त=चैत्र और वैशाख। हायनीः=स+अयनीः; स के स्थान में ह]।

यापं सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥३७॥

(या विमृग्वरी) जो विमृग्वरी (मन्त्र २९) (अप सर्पम्) हट-हट कर सर्पण करती हुई (विजमाना) मानो भयपूर्वक चलती है, (यस्याम्) जिस

१. हेमन्तः="हन्तेर्मुट् हि च" (उणा० ३।१२९), "यो हन्ति शीतेन स हेमन्तः महर्षि दयानन्द।

में कि (अग्नयः आसन्) अग्नियां थीं (ये) जो कि (अप्सु अन्तः) मेघीय जलों में हैं। (देवपीयून् दस्यून्) देवों की हिंसा करने वाले, उपक्षयकारी लोगों को (परा ददती) दूर करती हुई (पृथिवी) पृथिवी, (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (वृणाना) वरण करती है, (वृत्रम् न) उन्नति पर आवरण डालने वाले का नहीं। वह पृथिवी (शक्राय) शक्तिशाली, (वृषभाय) श्रेष्ठ, (वृष्णे) सुखों और सम्पत्तियों की वर्षा करने वाले के लिए (दध्रे) परमेश्वर द्वारा धारित की हुई है।

[अपसर्पम्=पृथिवी सूर्य की परिक्रमा कर रही है। परिक्रमा करते समय आगे की ओर बढ़ती हुई पृथिवी बीच-बीच में पीछे की ओर हट जा जाती है, और पुनः आगे की ओर बढ़ती है,—पीछे की ओर हटते रहना "अपसर्पम्"[1] है।

विजमाना="विजी भयचलनयोः" पृथिवी के चलने में भय का होना इसलिये कहा है क्योंकि लगातार पृथिवी आगे को नहीं बढ़ती जाती, वह बीच-बीच में पीछे की ओर हट-हट कर चलती हैं, मानो आगे बढ़ते रहने में उसे भय प्रतीत होता है। भयपूर्वक परिक्रमा का वर्णन कवितामय है।

इसी प्रकार पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती हुई कभी तो सूर्य के समीप हो जाती है, और कभी उस से दूर हट जाती है। शीतकाल में सूर्य समीप होती है, और ग्रीष्मकाल में उस से परे हट कर दूर हो जाती है,—यह भी "अपसर्पम्" है।

अग्नयः अप्स्वन्तः=मेघीय जलों में अग्नि विद्युत्-रूप में चमकती है। पृथिवी जब द्रवावस्था में थी उस समय पृथिवी स्वयं प्रकाश रूपा थी। उस समय पृथिवी में आग्नेय ज्वालाएँ उठती थीं,—इन्हें "अग्नयः" कहा है—

पराददती=जगत् जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिये है। देव कोटि के लोग मोक्ष के अधिकारी होते हैं, वृत्र कोटि के नहीं। जगत् का अन्तिम प्रयोजन है मोक्ष। यह तभी सम्भव है जबकि पृथिवी वृत्रों का परादान अर्थात् संहार करती रहे, और देवों का उद्धार

१. सर्प अर्थात् सर्पण है मन्दगति से चलना। पृथिवी यद्यपि महावेग से चलती है (मन्त्र १८), परन्तु इस के वेग पूर्वक चलने की अनुभूति हमें नहीं होती, इस लिये इस के चलने को सर्प अर्थात् सर्पण कहा है।

करती रहे । इसलिये पृथिवी मानो इन्द्रकोटि के व्यक्ति को अपना स्वामी बनाती है, वृत्र को नहीं, "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)। इन्द्रः=परमैश्वर्यवान् "इदि परमैश्वर्ये", सम्राट्=सम्यक्-राजा] ।

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

(यस्याम्) जिस भूमि में (सदः-हविर्धाने) परस्पर मिलकर बैठने तथा अतिथि देवों के लिये कमरे, और खाद्य-पेय वस्तुओं के रखने का कमरा है, (यस्याम्) जिस में (यूपः) यज्ञस्तम्भ (निमीयते) गाड़ा जाता है। (यस्याम्) जिस में (ब्रह्माणः) वेदज्ञ (ऋग्भिः, साम्ना) ऋचाओं और सामगानों द्वारा (अर्चन्ति) परमेश्वर की स्तुतियां करते हैं, तथा (यजुर्विदः ऋत्विजः) यजुर्वेद के जानने वाले ऋत्विक् (इन्द्राय पातवे) इन्द्र क पीने के लिये (सोमम्) सोमरस को (युज्यन्ते) जुटाते हैं। अथवा "यजुर्वेद के जानने वाले नियुक्त किये जाते हैं, इन्द्र को सोमरस पिलाने के लिये"।

[इन्द्राय=मन्त्र ३७ में इन्द्र द्वारा सम्राट् का कथन हुआ है। प्रकरणानुसार तथा राजनैतिक दृष्टि से भी (१२।१) भी इन्द्र द्वारा सम्राट् का ही वर्णन समझना चाहिये। सोमपान द्वारा सम्राट् शक्ति सम्पन्न होता है शक्राय (मन्त्र ३७)। सदोहविर्धाने=शालानिर्माण में अथर्ववेद का मन्त्र इस सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। यथा—

"हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले" (अथर्व० ९।३।७)। मन्त्र में शाला में हविर्धान, अग्निशाल अर्थात् पाक के लिये कमरा या यज्ञशाला, पत्नीनां सदः, तथा देवानां सदः का वर्णन हुआ है]।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥

(यस्याम्) जिस पृथिवी में (पूर्वे) अनादि काल से (भूतकृतः) सत्यानुष्ठाता (सप्त) सात (वेधसः) शरीर के विधाता, (ऋषयः) ऋषि कोटि के हो कर (सत्रेण) जीवन-सत्र द्वारा (यज्ञेन, तपसा, सह) यज्ञ और तपश्चर्या के साथ (गाः) वेदवाणियों का (उदानृचुः) उत्कृष्टरूप में स्तवन करते रहे हैं।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥

(सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (आदिशतु) दे, (यत् धनम्, कामयामहे) जिस धन की हम कामना करते हैं। (भगः) भगरूपी धन (अनुप्रयुङ्क्ताम्) पीछे लगे, और (इन्द्रः) सम्राट् (पुरोगवः) आगे चलने वाला हो कर (एतु) चले।

[शरीर के वेधस् अर्थात् अर्थात् विधाता ७ हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, और बुद्धि। ये जब सत्यमार्ग के अनुगामी हो जाते हैं तो ये ७ ऋषिरूप हो कर, यज्ञ और तपश्चर्या के साथ, जीवन-सत्र के द्वारा, वेदवाणियों का उत्कृष्टरूप में गान कर, परमेश्वर की आराधना करते हैं। ये सात असत्यमार्ग के अनुगामी होकर न तो शरीर के विधाता बनते, और न ऋषि पदवी को पाते हैं। उस अवस्था में ये वृत्ररूप हो जाते हैं। ये ७ ऋषि शरीर की ही ७ शक्तियां हैं,—यह निम्न लिखित मन्त्र द्वारा ज्ञात होता हैं। यथा—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्" (यजु० ३४।५५)। सत्र भी एक प्रकार के यज्ञ हैं जोकि "१३ दिनों से ले कर १०० दिनों में"[1] सम्पादित होते हैं। पुरुष का १०० वर्षों का धार्मिक जीवन भी यज्ञरूप है, "पुरुषो वाव यज्ञः" (छान्दोग्य ३।१६)। १०० वर्षों का जीवन दीर्घसत्र रूप है। इस दीर्घसत्रमें यज्ञिय विचारों और तपश्चर्या के साथ परमेश्वर का उत्कृष्ट स्तवन करना चाहिये। भूतकृतः; भूत=Right, Proper, true (आप्टे) गाः; गौः वाङ्नाम (निघं० १।११); (३९), ऐसी भूमि (३९), हम भूमिवासियों के लिये काम्य धन प्रदान करती है, वह काम्य धन है भग; अर्थात् "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य, यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ ये ६ भग हैं, जिस धन की कामना मन्त्र में कथित है। अर्थात् सब प्रकार का ऐश्वर्य, मकान, वस्त्र, अन्न, पशु सम्पत्ति आदि; धर्म; धर्म सम्पाद्य यश; शोभा; ज्ञान और वैराग्य अर्थात् त्यागमय जीवन। मन्त्र में कहा है कि इन भगों के उपार्जन में सम्राट् को अगुआ होना चाहिये, तब प्रजाजन भी इन भगों के अनुसार जीवनों को ढालेंगे]।

१. आप्टे। सत्र १००० दिनों द्वारा भी सम्पादित होते हैं।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ॥
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

(यस्यां, भूम्याम्) जिस भूमि में (व्यैलवाः) विविध प्रकार की क्रीड़ाओं को करने वाले (मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति, नृत्यन्ति) गाते और नाचते हैं, (यस्याम्) जिस में (युध्यन्ते, आक्रन्दः) युद्ध करते और युद्ध में परस्पर ललकारते हैं, (यस्याम्) जिस में (दुन्दुभिः वदति) युद्ध के समय तथा खुशी के समय नगाड़े बजते हैं, (सा भूमिः) वह भूमि (नः सपत्नान्) हमारे शत्रुओं को (प्रणुदताम्) परे धकेले, और (मा) मुझे (पृथिवी) पृथिवी (असपत्नम्) शत्रुरहित करे ।

[मन्त्र में मनुष्यों के स्वाभाविक जीवनों को चित्रित किया है । सम्राट् अपने लिये पृथिवी को शत्रुरहित चाहता है । व्यैलवाः=वि+ एला (विलासे)+वाः (वाले), यथा एला केला खेला विलासे (कण्ड्वादिगण) । विलासः=Sport, Play, pastime (आप्टे) । आक्रन्दः=क्रदि आह्वाने; यथा "मल्लो मल्लमाह्वयते] ।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

(यस्याम्) जिस भूमि में (अन्नम्, व्रीहियवौ) नानाविध अन्न[1], तथा धान और जौ होते हैं; (यस्याः) जिस के (इमाः पञ्च कृष्टयः) विस्तृत ये कृषिकर्म होते हैं । (वर्षमेदसे) वर्षा द्वारा स्निग्ध हुई, (पर्जन्यपत्न्यै) मेघ की पत्नीरूपा (भूम्यै) भूमि के लिये, (नमः अस्तु) नमस्कार हो ।

[व्रीहि=धान; जिस के कूटने पर तण्डुल प्राप्त होते हैं । पञ्च= पचि विस्तारे । कृष्टयः; कृष्टि=कृषि; कृष्+क्तिन् । भूमि का पति मेघ कहा है । मेघ जल रूपी वीर्य का सिञ्चन पृथिवी में करता है जिस से अन्न आदि पैदा होते है । भूमि द्वारा संकुचित राष्ट्र का ग्रहण नहीं होता, अपितु समग्र पृथिवी का ग्रहण होता हैं । समग्र पृथिवी को माता मान कर उस के प्रति नमस्कार का विधान किया है । "पर्जन्यपत्न्यै" कविता रूप में कहा है । कृष्टि=Plouging, cultivating the soil (आप्टे)] ।

१. यजुर्वेद १८।१२ में विविध अन्नों का वर्णन हुआ है । वे हैं "व्रीहयः, यवाः, माषाः, तिलाः, मुद्गाः, खल्वाः, प्रियङ्गवः, अणवः, श्यामाकाः, नीवाराः, गोधूमाः, मसूराः ।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

(यस्याः) जिस पृथिवी के (पुरः) नगर (देवकृताः) दिव्यशिल्पियों द्वारा निर्मित हैं, (यस्याः क्षेत्रे) जिस के खेतों में (विकुर्वते) देवलोग विविध कर्मों को करते हैं । (प्रजापतिः) समग्र प्रजाओं का स्वामी या रक्षक अर्थात् परमेश्वर या अधिष्ठाता (मन्त्र ११), (विश्वगर्भाम् पृथिवीम्) सब पदार्थों की उत्पादिका पृथिवी को (नः) हमारे लिये (आशाम्, आशाम्) प्रत्येक दिशा में (रण्याम्) रमणीय अर्थात् सुन्दररूपा (कृणोतु) करे ।

[समग्र पृथिवी का अधिष्ठाता इन्द्रेन्द्र अर्थात् सम्राटों का सम्राट्, पृथिवी को शोभा[1] सम्पन्न करे । पृथिवी पर नगर उत्तमशिल्पियों द्वारा निर्मित होने चाहियें] ।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

(गुहा) खानों में (बहुधा) बहुत प्रकार की (निधिम्) निधियों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) पृथिवी, (मे) मुझ (वसु) धन, (मणिम्) रत्न, (हिरण्यम्) सुवर्ण (ददातु) प्रदान करे । (वसुदा) धन देने वाली (वसूनि) धनों को (रासमाना) देती हुई, (सुमनस्यमाना) प्रसन्नमन हुई, (देवी) दिव्यगुणों वाली पृथिवी (नः) हमारा (दधातु) धारण-पोषण करें ।

[मे, नः=प्रत्येक पृथिवीवासी यदि वसु आदि से सम्पन्न होगा तभी समग्र प्रजा प्रसन्नचित्त हो सकती है । कतिपय लोगों के सम्पत्तिशाली होने से, और अवशिष्ट प्रजाजनों के निर्धन होने से पृथिवी पर सौमनस्य नहीं हो सकता, और न पृथिवी माता सुप्रसन्नचित्त हो सकती है । पृथिवी यद्यपि जड़ है, अतः इस की प्रसन्नचित्तता असम्भव है । परन्तु यतः इस पृथिवी-सूक्त में पृथिवी को माता कहा है (मन्त्र १२), अतः कविता में इस पर

१. स्थान-स्थान पर उद्यान, कूप, तालाब, क्रीड़ा भूमियां आदि होनी चाहियें ।

प्रसन्नचित्तता का आरोप किया है। जैसे सन्तानों के प्रसन्नचित्त होने पर उन की माता प्रसन्नचित्ता होती है, इसी प्रकार पृथिवीवासियों के प्रसन्नचित्त होने पर पृथिवी माता प्रसन्नचित्त होती हैं,—यह गौण वर्णन है। गुहा =गुफ़ारूप खानें, mines। रासमाना=रासति दानकर्मा (निघं० ३।२०]।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

(यथौकसम्) जैसे एक घर में रहने वालों का समानरूप में भरण-पोषण होता है, वैसे (पृथिवी) पृथिवी (बहुधा) बहुत प्रकार के (विवाचसम्) विविध भाषाओं वाले, (नानाधर्माणम्) और भिन्न-भिन्न धर्मों और कर्मों वाले (जनम्) जनसमुदाय का (बिभ्रती) भरण-पोषण करती हुई, (मे) मुझ सम्राट् को, (द्रविणस्य सहस्रम्) हजारों प्रकार के धन (दुहाम्) प्रदान करे, (इव) जैसे (ध्रुवा) स्थिर खड़ी हुई और (अनपस्फुरन्ती) उछल कूद न करती हुई (धेनुः) दुधार गौ, (सहस्रं धाराः दुहाम्) दूध की हजारों धाराएं देती है।

[मनुष्यों के मनोविज्ञान तथा स्वभाव के कारण, तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण भाषाओं में भेद आ जाना, तथा विचार-भेद के कारण धर्मों और कर्मों में भेद का हो जाना अनिवार्य है,–इन का पूर्व विचार कर के मन्त्र में "विवाचसम्, तथा नानाधर्माणम्" का कथन हुआ है, और सदुपदेश दिया है "यथौकसम्" द्वारा]।

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

(तृष्टदंश्मा) जिस का काटना प्यास लगाता है, (हेमन्तजब्धः) अतिशीत से ठिठुरा हुआ, (भृमलः) भरमाया हुआ (यः) जो (सर्पः, वृश्चिकः) सांप और बिच्छु (ते गुहा) तेरी गुफा में (शये) शयन करता है। (पृथिवि) हे पृथिवी! (प्रावृषि) वर्षा के आरम्भ में (यत् यत्) जो जो (जिन्वत्) प्रसन्न होता (क्रिमिः) कीड़ा (एजति) चलता-फिरता है (तत्) वह (सर्पत्) सर्पण करता हुआ (नः उप) हमारे समीप (मा सृपत्)

न सर्पण करे। हे पृथिवि! (यत्) जो (शिवम्) कल्याणकारी है (तेन) उस द्वारा (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

[सांप बिच्छु आदि से अपने आप को सुरक्षित रखने का उपदेश दिया है। वर्षाकाल में सुरक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये]।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

हे पृथिवी! (ये) जो (ते) तेरे (बहवः) बहुत (पन्थानः) मार्ग हैं, (जनायनाः) जिन पर जन आते जाते या चलते हैं; जो (रथस्य) रथ के (अनसः च) और बैल गाड़ी के (यातवे) जाने के लिये (वर्त्म) मार्ग हैं, (यैः) जिन द्वारा (भद्रपापाः) भद्र लोग और पापी (उभये) दोनों (संचरन्ति) मिल कर चलते हैं, (तं पन्थानम्) उस मार्ग को (अनमित्रम्) शत्रुरहित, (अतस्करम्) और चोरों डाकुओं से रहित (कृषि) कर, (जयेम) उस मार्ग पर हम विजय पा लें, उसे अपने अधीन कर लें। (यत्) जो (शिवम्) कल्याणकारी है (तेन) उस द्वारा (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

[(१) पृथिवी पर बहुत मार्ग होने चाहियें मनुष्यों के जाने आने के लिये। (२) रथों के मार्ग अलग होने चाहियें। (३) बैल गाड़ी के मार्ग भी अलग होने चाहियें। (४) जनायन मार्गों पर भले बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य मिल कर चल सकने चाहियें। (५) अपने मार्गों की सुरक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये ताकि शत्रु उन पर स्वामित्व न कर सके, उन पर विजय न पा सके। (६) मार्ग चोरों डाकुओं से रहित होने चाहियें। (७) जीवन के लिये कल्याकारी मार्ग का अवलम्बन कर सुख प्राप्त करना चाहिये। यह सब प्रबन्ध पृथिवी के राज्याधिकारियों को करना चाहिये। अतस्करम्=देखो मन्त्र ३२ की व्याख्या]।

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

(मल्वम्) मलिन व्यक्ति का (बिभ्रती) भरण-पोषण करती हुई, तथा (गुरुभृत्) गौरवशाली व्यक्ति का भरण-पोषण करने वाली, (भद्र-

पापस्य) भद्रों-और-पापियों के (निधनम्) परिवारों और कुलों का (तितिशुः) सहन करने वाली (पृथिवी) पृथिवीं, (वराहेण) मेघ के साथ (संविदाना) ऐकमत्य को प्राप्त हुई, (सूकराय) उत्तम किरणों वाले (मृगाय) शोधक सूर्य के लिये (वि जिहीते) विशेषतया गति कर रही है।

[निधनम्=family race (आप्टे)। वराहेण; वराहः मेघनाम (निघं १।१०)। सूकराय=सु+उ+कर(A ray of light, beam,(आप्टे) मृगाय=मृजूष् शुद्धौ। जिहीते=ओहाङ् गतौ। संविदाना=पृथिवी जल देती हैं मेघ को, और मेघ जल देता है पृथिवी को। मानो ये दोनों इस दृष्टि से ऐकमत्य को प्राप्त हैं। मृगाय विजिहीते=मृगं अर्थात् सूर्यं प्राप्तुं सेवितुं वा विजिहीते गच्छति ("क्रियार्थोपपदस्य" अष्टा. २।३।१४) इति कर्मणि चतुर्थी)। पृथिवी सूर्य की ओर क्यों प्रयाण कर रही है,—यह निम्नलिखित मन्त्र द्वारा स्पष्ट हो सकेगा। यथा "आयं गौः पृश्निरक्रमीद-सदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः (यजु० ३।६)। इस मन्त्र में "गौ" का अर्थ है पृथिवीगोलक, इस की माता है अन्तरिक्ष, जिस की कि गोदी में यह बैठी हुई हैं। यह "पुरः" अर्थात् पूर्व की ओर "अक्रमीत्" पग बढ़ा रही है, गति कर रही हैं, "स्वः पितरम्" प्रकाशमान पिता अर्थात् सूर्य की ओर "प्रयन्" प्रयाण करती हुई। इस मन्त्र में लौकिक व्यवहार का भी निर्देश किया है। पृथिवी को बेटी कहा है और सूर्य को पिता। बेटियां पिता को मिलने या उस की सेवा के लिये पितृगृह में जाया ही करती हैं]।

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत्॥४९॥

(पृथिवि) हे पृथिवि ! (ते) तेरे (ये) जो (आरण्याः पशवः) अरण्यवासी पशु हैं, तथा (वने हिताः मृगाः) वन में निहित मृग हैं, तथा (पुरुषादः) पुरुषों को खाने वाले (सिंहः व्याघ्राः) शेर और व्याघ्र (चरन्ति) तुझ पर विचरते हैं। (उलम्[1] वृकम्) गर्म स्वभाव वाले भेड़िये को, (दुच्छुनाम्[2] ऋक्षीकाम्) दुःखदायिनी रिच्छनी को, तथा (रक्षः) राक्षसी

१. उलम्=उष् दाहे। षकारस्य लकारः। यथा उल्का, उल्मुकम् में ष् को ल हुआ है (उणा० १।४२; १।८४)।

२. दुच्छुनाम्=दुः+शुनम् (सुखनाम, निघं० ३।६) अर्थात् दुःखदायिनी। अथवा दुःशुनी=बुरी कुतिया के सदृश।

स्वभाव वाले मनुष्य को हे पृथिवी ! (इतः) इस हमारे निवासस्थान से (अपबाधय) दूर कर दे।

[समग्र-पृथिवी के शासक का यह कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यघातक पशुओं, तथा खेतों को खा जाने मृगों को, तथा चोरों डाकुओं आदि मनुष्यों को, नगरों और बस्तियों में न आने देने का प्रबन्ध करे। अरण्यम्=अरमणीयम् अर्थात् घने जङ्गल, जिन में जाना भयप्रद है। ऋग्वेद में बड़े अरण्य के साथ भय का वर्णन है। यथा "अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती३॥ (ऋ० १०।१४६।१)।

बने=वन में मृगों का वर्णन है, अतः वन भद्र नहीं। वन=वनु याचने, तथा वन संभक्तौ। वानप्रस्थी वन की याचना करते हैं, तथा इन का सेवन करते हैं]।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥५०॥

(ये) जो (गन्धर्वाः) हिंसा करने के निमित्त घूमते रहते हैं, (अप्सरसः) तथा धर्मापितगतिवाले हैं, (ये च) और जो (अरायाः) अदानी, अर्थात् कंजूस स्वार्थी हैं, तथा (किमीदिनः) "किम्, इदानीमिति चरते; किमिदं किमिदमिति वा" (निरु० ६।३।११), कि "अब क्या होगा, यह क्या हैं, यह क्या है",—इस प्रकार प्रश्नपूर्वक दूसरों की गतिविधि की टोह में बिचरते रहते हैं (तान्) उन्हें; तथा (पिशाचान्) मांस-भक्षकों और (सर्वा रक्षांसि) सब राक्षसी स्वभावों वाले मनुष्यों को (भूमे) हे भूमि (अस्मत्) हम से (यावय) पृथक् कर।

[समग्र पृथिवी के अधिष्ठाता (मन्त्र ११) से यह याचना की गई है। गन्धर्वाः=गन्ध अर्दने+अर्व (गतौ)। अप्सरसः;—यह पद स्त्रीलिङ्ग नहीं। क्योंकि इन का भी "ये" पद द्वारा निर्देश किया है। अरायाः अ+रा (दाने)। पिशाचाः=पिश=पिशित (मांस)+अच[1] (याचने या अञ्च् गतौ)। रक्षांसि=रक्षितव्यमस्मादिति रक्षः (निरुक्त ४।३।१८); रहसि क्षणोतीति वा (निरुक्त ४।३।१८)]।

१. जो मांस की याचना करते या मांस के लिये विचरते रहते हैं।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥५१॥

(याम्) जिस की ओर (द्विपादः पक्षिणः) दो पैरों वाले पक्षी, अर्थात् (हंसाः) हंस, (सुपर्णाः) गरुड़, (शकुनाः) शक्तिशाली गीध-चील, (वयांसि) कौए (सं पतन्ति) संपात करते हैं। (यस्याम्) जिस में (मातरिश्वा) वायु, माता अर्थात् अन्तरिक्ष में बढ़ने वाली वायु,-(रजांसि कृण्वन्) धूलि उड़ाती हुई, (वृक्षान् च च्यावयन्) और वृक्षों को गिराती हुई (ईयते) गति करती है, तथा (वातस्य) वायु के (प्रवाम, उपवाम्, अनु) परे-हटने और समीप-आने के अनुसार (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला (वाति) परे-हटती और समीप-आती है।

[प्रबल वायु के प्रवाह में वृक्षों में रगड़ के कारण अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर वायु के अनुसार ज्वाला की गति का वर्णन हुआ है। संपतन्ति =पक्षी स्वच्छन्दता से अन्तरिक्ष में विहार करते हैं, परन्तु थक कर पुनः पृथिवी पर संपात करते हैं। इस प्रकार पृथिवी पक्षियों के लिये भी विश्राम भूमि है]।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये
धामनि धामनि ॥५२॥

(यस्याम्, भूम्याम्, अधि) जिस उत्पादिका-भूमि में (कृष्णं] च अरुणम्) काले और चमकीले (अहोरात्रे) रात और दिन (संहिते) परस्पर में मिले हुए (विहिते) विहित हैं, (सा) वह (भूमिः पृथिवी) उत्पादिका तथा विस्तृत पृथिवी, (वर्षेण) वर्षा द्वारा (वृता, आवृता) लिपटी और ढकी हुई, (भद्रया) भद्रबुद्धि के साथ (नः) हमें (प्रिये धामनि धामनि) प्रिय स्थानों में (दधातु) स्थापित करे।

[मन्त्र ५१ में ग्रीष्म ऋतु के वर्णन के पश्चात् मन्त्र ५२ में वर्षा ऋतु का वर्णन हुआ है। वर्षा ऋतु में प्रत्येक स्थान प्रिय प्रतीत होने लगता है। अरुणम्=अरुणः आरोचनः (निरुक्त ५।४।२०)। दिन आरोचन होता है, रुचिकर तथा चमकीला होता है']।

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

(द्यौः च, पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी ने (मे) मुझे (इदम् व्यचः) यह विस्तार, (अन्तरिक्षम्, च) तथा अन्तरिक्ष ने (मे) मुझे यह विस्तार (सं ददुः) दिया है। (अग्निः, सूर्यः, आपः, विश्वेदेवाः च) अग्नि, सूर्य, जल तथा सब देवों ने (मेधाम्) मुझे मेधा (संददुः) दी है।

[मन्त्र ५१ में अतिगर्मी का वर्णन है, अतः बुद्धि निज कार्य में शिथिल पड़ जाती है। मन्त्र ५२ के अनुसार वर्षा ऋतु में गर्मी कम हो जाने से बुद्धि भद्रावस्था में हो जाती है, परन्तु स्थान-स्थान पर कीचड़ और जल की सत्ता के कारण मार्ग रुक जाते हैं, अतः कार्यक्षेत्र संकुचित हो जाता है। परन्तु मन्त्र ५३ के अनुसार शरद् ऋतु के आगमन के कारण कार्यक्षेत्र विस्तृत हो जाता; द्यौ-पृथिवी-अन्तरिक्ष, बादलों के अभाव से स्वच्छ हो जाते, सूखा इन्धन प्राप्त हो जाने के कारण गृह्याग्नि प्रचण्ड होने लगती, सूर्य भी चमकने लगता, जल स्वच्छ हो जाता—इस प्रकार सब देव]मिल कर कार्यक्षेत्र के लिये बुद्धि को अधिक विकसित कर देते हैं]।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

(अहम्) मैं (सहमानः अस्मि) पराभव करने वाला हूं, (भूम्याम्) पृथिवी में (उत्तरः) उत्कृष्ट शक्ति वाला (नाम) प्रसिद्ध हूं। (अभीषाट् अस्मि) संमुख आए का मैं पराभाव करता हूं, (विश्वाषाट्) सब का मैं पराभव करता हूं, (आशाम् आशाम् विषासहिः) प्रत्येक दिशा में पराजित करता हूं।

[शरद् ऋतु में विजिगीषु राजा, विजय-यात्रा के निमित्त, निज-शक्ति का अभिमान करता है]।

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

(देवि) [दिव्यगुणियों के निवास द्वारा] दिव्यगुणवती हे पृथिवी ! (अदः) उस (पुरस्तात्) पुराकाल में (यद्) जो (प्रथमाना) कीर्ति द्वारा विस्तार को प्राप्त हुई तू—(देवैः) दिव्यगुणों वाले व्यवहार कुशल व्यापारियों द्वारा (उक्ता) निर्दिष्टमार्गा हुई,-(महित्वम्) महिमा की ओर (व्यसर्पः) विशेषतया सरकी है-(तदानीम्) तब (त्वा) तुझ में (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य ने (आ अविशत्) आ कर प्रवेश किया, और (चतस्रः दिशः) चारों दिशाओं [के निवासियों] को (अकल्पयथाः) तू ने सामर्थ्ययुक्त किया।

[अकल्पयथाः=कृपू सामर्थ्ये। पुरस्तात्=formerly preveously (आप्टे)। अदः पुरस्तात्=उस पुराकाल में। यह किसी अनित्य ऐतिहासिक काल की घटना की ओर निर्देश नहीं, अपितु नित्य सिद्धान्त सम्बन्धी वर्णन है कि पूर्वकाल के कल्प-कल्पान्तरों में भी जब भी पृथिवी पर दिव्यगुणी व्यवहार कुशल, निःस्वार्थी और परोपकारियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से व्यापार होता रहा है, तब पृथिवी ऐश्वर्य वाली होती रही है, और इस ऐश्वर्य के समुचित संविभाग द्वारा पृथिवी के समग्र प्रजाजन समृद्धिशाली बन कर सामर्थ्य सम्पन्न होते रहे हैं। मन्त्र ६० में भी इसी प्रकार की भावना का निर्देश हुआ है। कल्प-कल्पान्तरों में एक सदृश या समान घटनाएं होती रहती हैं, इस में प्रमाण है "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" (ऋ० १०।१९०।३)। इस मन्त्र में "यथापूर्वम्" पद विशेष महत्त्व का है]।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

(भूम्याम् अधि) पृथिवी पर (ये ग्रामाः) जो ग्राम, (यद् अरण्यम्) जो अरण्य, (ये संग्रामाः) जो ग्राम संगठन, (समितयः) तथा राजसभाएं हैं, (तेषु) उन में हे पृथिवी ! (ते) तेरे सम्बन्ध में (चारु वदेम) प्रशंसा वचन हम बोलें।

[ग्रामाः, संग्रामाः=अलग-अलग ग्राम; तथा परस्पर संगठित ग्राम। सभाः, समितयः=लोकसभाएं, तथा राजसभाएं। "समितयः" के सम्बन्ध में कहा है कि "यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः" (यजु० १२।८०), अर्थात् "जिस मनुष्य में ओषधियों का संगम होता है, जैसे कि राजाओं का समिति में, वह मेधावी "भिषक्" कहा जाता है, जो कि रोग कीटाणुओं और रोगों का हनन और विनाश करता है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि समितयः का अर्थ "राजसभाएं" हैं। जिस पृथिवी का शासन उत्तम हो, जिस से कि प्रत्येक पृथिवीनिवासी समृद्ध तथा सामर्थ्य सम्पन्न हो, उस शासन की प्रशंसा तो सर्वत्र होती ही है (मन्त्र ५५,५६)]।

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

(ये) जिन्होंने (पृथिवीम्) पृथिवी का (आक्षियन्) क्षय किया है, (यात्) जब से (अजायत) पैदा हुई है पृथिवी (तान् जनान्) उन जनों को (वि दुधुवे) विविध कालों में कम्पाती रही है, (इव) जैसे कि (अश्वः) घोड़ा (रजः) धूली को कम्पाता है। (मन्द्रा)[1] पृथिवी मन्दगति वाली है, परन्तु है (अग्रेत्वरी) आगे-आगे बढ़ने वाली, (भुवनस्य) उत्पन्न प्राणिजगत् की (गोपाः) रक्षिका है, (वनस्पतीनाम्, ओषधीनाम्) वनस्पतियों और ओषधियों को (गृभिः) ग्रहण किये हुई है।

[यह स्वाभाविक नियम है कि आततायिओं का अन्ततोगत्वा पराजय होता है। "सत्यमेव जयते", सत्य की ही विजय होती है। परक्षय,—सदाचार, धर्म, न्याय के विरुद्ध है, अतः सत्य नहीं। संसार की उत्पत्ति का अन्तिम उद्देश्य है जीवात्माओं का मोक्ष। भोग द्वारा प्राणियों का सुधार होता रहता है ताकि प्राणी मोक्ष के लिये अग्रसर होते रहें। पृथिवी पर यह क्रिया मन्द गति से हो रही है, परन्तु हो रही है आगे की ओर, उन्नति की ओर, मोक्ष की ओर; क्योंकि पृथिवी प्राणियों की रक्षिका है, विनाशिका नहीं। रक्षिका होने के कारण ही प्राणियों के लिये पृथिवी वनस्पतियों तथा ओषधियों को ग्रहण किये हुए है। यात्=यस्मात् कालात्, छान्दस-प्रयोग। अग्रेत्वरी; त्वरा=पंजाबी भाषा में "टुरना" या 'तुरना' चलना, गति करना। अश्व जैसे शरीरलग्न धूली को, शरीर कम्पा कर, झाड़ फैंकता है, वैसे पृथिवी अपने पर बसे आततायिओं को, भूचाल आदि द्वारा झाड़ फैंकती है। आक्षियन्=क्षि क्षये। दुधुवे=धूञ् कम्पने]।

---

१. "भूगोल विद्या" की दृष्टि से पृथिवी अपने कक्षावृत्त पर आगे-आगे गति करती रहती है। परन्तु उस की गति हमें अनुभूत नहीं होती, अतः उसकी गति को मन्द्रा अर्थात् मन्द कहा है।

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥५८॥

(यद्) जो (वदामि) मैं बोलता हूं (मधुमत्) मधुर बोलता हूं, (तद्) वही मैं (वदामि) बोलता हूं (यद्) जोकि मैं (ईक्षे) प्रत्यक्ष देखता हूं, (तद्) यह शिक्षा (मा) मुझे (वनन्ति) गुरुजन अर्थात् माता, पिता, आचार्य आदि देते हैं । इस से (त्विषीमान् अस्मि) तेजस्वी मैं हुआ हूं, (जूतिमान्) शक्तिशाली हुआ हूं, और (अन्यान् दोधतः) अन्य क्रोधी व्यक्तियों को (अव हन्मि) पिछाड़ देता हूं ।

[दोधतः, दोधति क्रुध्यतिकर्मा (निघं० २।१२) । अव हन्मि = अव (नीचे)+हन् गतौ । मधुर बोलने, परन्तु छानबीन कर सदा सत्य बोलने से व्यक्ति, तेजस्वी तथा शक्तिशाली हो कर, क्रोधी और अनृतभाषियों को लोगों की दृष्टि में नीचा करता है । गुरुजन बच्चों को मधुरभाषी होने तथा सदा सत्य बोलने की शिक्षा दिया करें] ।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

(शन्तिवा) शान्तिवाली, (सुरभिः) फुलवाड़ियों द्वारा सुगन्धित, (स्योना) सुखस्वरूपा, (कीलालोध्नी) स्तनों में दुग्धरूपी अन्नों वाली गौ के सदृश अन्नों वाली, (पयस्वती) जलसम्पन्ना, (भूमिः) उत्पादिका (पृथिवी) पृथिवी (मे) मुझे (अधि ब्रवीतु) अधिकार पूर्वक सदुपदेश किया करे, जैसेकि माता (पयसा सह) दूध पिलाने के साथ साथ शिशु को सदुपदेश सुनाती है ।

[कीलालम् अन्ननाम (निघं० २।७) । पृथिवी पर शान्ति, फुलवाड़ियां, प्रभूत अन्न, तथा जल हो तो पृथिवी सुख देती है । तथा बच्चों की सदाचार-शिक्षा शिशुकाल से ही प्रारम्भ हो जानी चाहिये] ।

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥६०

(अर्णवे अन्तः) जलीय समुद्र के अन्दर (रजसि) जल में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट अर्थात् डबी हुई (याम्) जिस पृथिवी को, (विश्वकर्मा) विश्व के

कर्त्ता ने, (हविषा) प्रजाजनों के अन्न और जल की दृष्टि से, (अन्वैच्छत्) ढूंड निकाला और (यत्) जो (भुजिष्यम्) भोजन योग्य तथा (पात्रम्) पीने और त्राण योग्य पदार्थ (गुहा) पृथिवी की गुफा में छिपा हुआ (निहितम्) रखा हुआ है, वह (मातृमदभ्यः) पृथिवी माता से उत्पन्न सभी प्राणियों के (भोगे) भोग के निमित्त (आविः अभवत्) आविर्भूत हुआ है ।

[अर्णवे=अर्णः उदकनाम (निघं० १।१२)+वः (उणा० ४।११८) । रजसि; "उदकं रज उच्यते" (निरुक्त ४।३।१९) । पात्रम्=पा (पाने+त्रैङ् (पालने) ।

पृथिवी जब सूर्य से पृथक् हुई तब यह चमकती वायुरूपा थी, शनैः-शनैः द्रवावस्था में तथा दृढ़ावस्था में आई । तब भी अतितप्तावस्था में थी, वनस्पतियों-ओषधियों की उत्पत्ति के योग्य न थी । इस पर लगातार वर्षा होती रही । इस से समुद्रमयी पृथिवी होती गई । "ततः समुद्रो अर्णवः" (ऋ० १०।१९०।१) । इस अवस्था को "अन्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्" द्वारा सूचित किया है । समुद्र में प्रवेश द्वारा पृथिवी ठण्डी होती गई, और तब विश्वकर्मा ने इसे जल से अनावृत किया, और अन्न पैदा हुआ, और अन्न का भोग करने वाले प्राणी उत्पन्न हुए । वेद के समाजशास्त्र के अनुसार, पृथिवी सब प्राणियों की माता है, अतः मातृसम्पत्ति पर, इस माता की सब सन्तानों का,—भोजन, पालन-पोषण तथा त्राण की वस्तुओं पर समान अधिकार है] ।

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

हे पृथिवी ! (त्वम्) तू (जनानाम्) प्रजाजनों की, (आवपनी) बीज बोने और कृषि काटने की, स्थली हैं; (अदितिः) अखण्डरूपा तू (कामदुघा) प्रजाजनों की कामनाओं को पूर्ण करती है, (पप्रथाना) और तेरा यश की दृष्टि से विस्तार होता हैं । (यत) जो (ते) तेरी (ऊनम्) न्यूनता है । (ते) तेरी (तत्) उस न्यूनता को (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक राजा या अधिष्ठाता (मन्त्र ११), (आ पूरयाति) पूर्णतया पूरित करता रहे, (ऋतस्य) जो प्रजापति कि ऋत का, (प्रथमजाः) सर्वश्रेष्ठ या मुखिया होता हुआ, जनयिता है ।

[आवपनी=आ+डुवप् बीजसन्ताने छेदने च । अदितिः=अ+ +दो (अवखण्डने)+तिः। अखण्डरूपा समग्र पृथिवी, सभी प्रजाजनों की कामनाओं को पूर्ण कर सकती है, परन्तु भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों में खण्डित या विभक्त हो कर नहीं, क्योंकि इससे खण्डित हुए राष्ट्रों की प्रजाओं के स्वार्थ बाधक हो जाते हैं । ऊनम्=सततकृषि द्वारा पृथिवी की उपजाऊ शक्ति में न्यूनता आ जाती है। तथा बंजर भूमियों में उपजाऊ शक्ति नहीं होती । इस न्यूनता को खाद तथा अन्य उपायों द्वारा राजा लोग पूरित करते रहें । जल का न होना भी कृषिकर्म में बाधक होता है। हैं। इस न्यूनता की पूर्ति राज्याधिकारियों को करनी चाहिये । ऋतस्य उदकनाम (निघं० १।१२) । तथा ऋतस्य=नियमों का । प्रजा के लिये नियमों का निर्माण भी राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य है । प्रजापतिः=A King (आप्टे); तथा (मन्त्र ४३)]।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

(ते) तेरे (उपस्थाः) समीप-बैठने के स्थान, (अस्मभ्यम्) हमारे लिये; (अनमीवाः, अयक्ष्माः) रोग रहित तथा यक्ष्मा से रहित (सन्तु) हों, (पृथिवि) हे पृथिवी! (प्रसूताः) हम तेरे उत्पन्न किये पुत्र हैं । (नः) हमारी (आयुः) आयु (दीर्घम्) बड़ी हो । (वयम्) हम (प्रतिबुध्यमानाः) प्रतिबोध को प्राप्त हुए, (तुभ्यम) तेरे लिये, (बलिहृतः) राज्य-कर देने वाले (स्याम) हों ।

[पृथिवी के रोग रहित होने पर पृथिवी के पुत्रों की आयु बढ़ जाती है । प्रत्येक पृथिवीवासी को प्रतिबोध प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये । बोध और प्रतिबोध मानो जीवन में दो ऋषि हैं, जो कि सन्मार्ग दर्शाते हैं। यथा "ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ! तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्" ॥ (अथर्व० ५।३०।१०) । बोध है ऐन्द्रियिक ज्ञान, सांसारिक ज्ञान, और प्रतिबोध या प्रतीबोध है आध्यात्मिक ज्ञान। यथा "प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।

बलिहृतः=बलिः=Tax, tribute, import, "प्रजानामेव भूत्यर्थं

स ताभ्यो बलिमग्रहीत्" (रघुवंश १।१८) । मन्त्र में पृथिवी[1] माता के निमित्त स्वेच्छापूर्वक राज्य-कर देने का विधान है। स्वेच्छया राज्यकर के दान में, जीवन में आध्यात्मिकता चाहिये । सांसारिकवृत्ति, स्वेच्छया राज्य कर देने में बाधिका होती है]।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६२॥

(भूमे मातः) हे सर्वोत्पादिके माता ! (भद्रया) कल्याणकारिणी और सुखदायिनी बुद्धि के कारण उत्तमप्रतिष्ठा वाले या उत्तमदृढ़ स्थिति वाले (मा) मुझ को, (निधेहि) अपनी निधि जानकर, धारित तथा परिपुष्ट कर। (कवे)[2] हे वेद-काव्य की कवि ! (संविदाना) सम्यक् ज्ञान वाली तू (दिवा) प्रतिदिन (मा) मुझे (श्रियाम्) शोभा में तथा (भूत्याम्) सम्पत्ति में (धेहि) स्थापित कर।

[भूमिः, संविदाना, माता,—ये तीनों पद स्त्रीलिङ्ग में हैं । स्त्रीलिङ्ग पदों द्वारा वाच्य व्यक्ति को "कवि" कहा है । वर्तमान प्रचलित हिन्दी साहित्य में, स्त्री कवि के लिये, कवि शब्द का प्रयोग न कर "कवयित्री" शब्द का प्रयोग किया जाता है, जोकि अग्राह्य है]।

॥ प्रथम सूक्त समाप्त ॥

—:o:—

१. वैदिक भावनानुसार "राज्यकर" भूमिमाता की सेवा तथा प्रजा की समुन्नति के लिये है, राज्यकर्मचारियों के भोगविलास के लिये नहीं।

२. कविपद के संनिधान से मन्त्र में पारमेश्वरी माता का वर्णन प्रतीत होता है । अथवा भूमिष्ठ कवियों के कारण, गौणरूप में भूमि को कवि कहा है ।

सूक्त-२

विषय प्रवेश

१—काण्ड १२ सूक्त २ यक्ष्मरोग निवारणपरक है। नड अर्थात् सरकण्डे पर अग्नि प्रदीप्त कर, सीस अर्थात् सिक्के (Lead) को उस अग्नि पर रख कर सीस को भस्म बना कर, उस का प्रयोग यक्ष्मरोग के निवारण के लिये कथित किया है, गौओं और पुरुषों के यक्ष्मरोग के लिये सीसभस्म का प्रयोग कहा है (मन्त्र १)।

२—नड की अग्नि को 'अक्रव्याद्' अर्थात् न-मांसभक्षक कहा है, क्योंकि इस द्वारा निर्मित सीसभस्म, यक्ष्म का निवारण कर, रोगी के मांस की सुरक्षा करती है (३)।

३—क्रव्याद् अर्थात् मांसभक्षक अग्नि, तथा व्याघ्र¹ सदृश यक्ष्म के निवारणार्थ "माषाज्य" का कथन हुआ है । माषाज्य का अर्थ है "उरद और घृत" । घृत, सम्भवतः अजा (बकरी) के दूध का घृत । अजा नानाविध ओषधियां खाती है अतः उन ओषधियों के गुण अजा-दुग्ध द्वारा अजाघृत में भी विद्यमान होते हैं (४) । माषाज्य का भक्षण तथा इस की आहुतियां देनी चाहियें, साथ ही जलनिष्ठ अग्नियों को भी यक्ष्मनिवृत्ति का उपाय कहा है "अप्सुषदोऽग्नीन् (४) ।

४—गार्हपत्य अग्नि द्वारा (९), तथा देवयान मार्ग द्वारा (१०), क्रव्याद्-अग्नि के संहार का, और मन्त्र ११ से १३ में संकसुक-अग्नि द्वारा शुद्धि तथा आयुवृद्धि का वर्णन हुआ है।

५—संकसुक, विकसुक, निर्ऋथ, निस्वर,—इन अग्नियों द्वारा यक्ष्म का निवारण (१४)।

६—सीस (सीसभस्म), नड, संकसुक-अग्नि, रामा अर्थात् कृष्णवर्णा अवि [अर्थात् इस भेड़ के दूध] द्वारा यक्ष्म की विशुद्धि, तथा उपबर्हण [सौर रश्मियां] द्वारा सिर-दर्द की चिकित्सा (१९, २०)।

७—१०० वर्षों तक जीवित रहने के लिये 'परिधि' का कथन (२३)।

१. "यदि वा व्याघ्रः" (१२।२।४) । व्याघ्रः=Tiger like (ह्विटनी)।

८—अश्मन्वती अर्थात् संसाररूपी पथरीली नदी से तैर कर पार होना (२६, २७)।

९—यक्ष्मनिवारणार्थ 'वैश्वदेवी' ओषधि का (२८), तथा २१ प्राणायामों द्वारा ऋषियों ने मृत्यु को खदेड़ा (२९) का वर्णन।

१०—हृदयप्रविष्ट अग्नि (३३) का, तथा क्रव्याद् के दुष्परिणामों का, और क्रव्याद् के निराकरणार्थ विद्वान् ब्रह्मा की सहायता (३४ से ३९) का वर्णन।

११—जलचिकित्सा द्वारा रिप्र और दुष्कृत के निवारण का (४०, ४१), तथा क्रव्याद् नामक यक्ष्मरोग का (४२), तथा दो व्याघ्रों¹ का, और अशिव व्याघ्ररूपी यक्ष्म के निवारण का कथन (४३)।

१२—'इन्द्र' नाम से परमेश्वर की उपासना द्वारा कष्ट विनाश का (४७), तथा 'अनड्वान्' नामक परमेश्वरीय नौका का अवलम्बन (४८)।

१३—यक्ष्मनिवारण के साधनों का वर्णनः—(१) अविकृष्णा, (२) सीसभस्म, (३) चान्दी अथवा सुवर्ण या दोनों, (४) पिसे उरद, (५) अरण्यानी सेवन, (६) जीर्ण इषीका का होम, (७) तिल, (८) पिञ्ज अर्थात् तिलों के पीडन द्वारा तैल निकाल कर बची खली। (९) दण्डन और नड के इध्म की अग्नि पर इन की आहुतियां, तथा इन में से भक्ष्य पदार्थों का भक्षण (५३,५४)। आहुतियां रोगी के समीप देनी चाहियें, ताकि यज्ञोत्थ धूम रोगी के फेफड़ों में जा सके।

१४—रोगोन्मुक्त हो कर परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर, सन्मार्ग पर जीवन यात्रा (५५)।

१५—मन्त्रों में अक्रव्याद्, जातवेदस्, गार्हपत्य, सुगार्हपत्य, देवयजन,—पर्यायवाची हैं।

१६—मन्त्रों में कहीं-कहीं यक्ष्म और क्रव्याद् को पर्यायवाची रूप में वर्णित किया है, क्योंकि ये दोनों मांसभक्षी हैं। क्रव्याद्-अग्नि है श्मशानाग्नि, जोकि शव का मांस खाती है, और यक्ष्म जीवित रोगी के मांस को खाता है।

१. "यदि वा व्याघ्रः" (१२।२।४) । व्याघ्र=Tiger-lika (ह्विटनी)।

ऋषिः भृगुः। देवता अग्निः, मन्त्रोक्ता २१-३३ मृत्युः । त्रिष्टुप् २,५, १२-२०, ३४-३६, ३८-४१, ४३, ५१, ५४; अनुष्टुप् (१६ ककुम्मती पराबृहती; १८ निचृत्; ४० पुरस्तात् ककुम्मती); ३ आस्तार पंक्ति; ६ भुरिगार्षी पंक्तिः; ७, ४५ जगती; ८, ४८, ४९ भुरिक्; ९ अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः; ३७ पुरस्ताद् बृहती; ४२ त्रिपदा एकावसाना भुरिगार्ची गायत्री; ४४ एकावसाना द्विपदा आर्ची बृहती; ४६ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; ४७ पञ्चपदा बार्हतवैराज-गर्भा जगती; ५० उपरिष्टाद् विराड् बृहती; ५२ पुरस्ताद्विराड् बृहती; ५५ बृहतीगर्भा ।

नुडमा रौह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥१॥

हे अग्नि ! (नडम्) नड पर (आ रोह) तू आरोहण कर, (अत्र) इस नड पर (ते) तेरा (लोकः न) घर नहीं, (इदं सीसम्) यह सिक्का (ते) तेरा (भागधेयम्) भाग है, (एहि) तू आ। (यः) जो (गोषु यक्ष्मः) गौओं में यक्ष्मरोग है, (पुरुषेषु यक्ष्मः) और पुरुषों में यक्ष्मरोग है (तेन साकम्[1]) उस यक्ष्म के साथ (त्वम्) हे अग्नि ! तू (अधराङ्) नीचे आ, (परेहि) और परे चली जा।

[वर्णन कविता के ढंग का है। अभिप्राय है सीस अर्थात् सिक्के की भस्म का निर्माण। सीस भस्म के निर्माण के लिये नड अर्थात् नड़े की आग चाहिये। नड (Reed) दलदली भूमि में पैदा होता है। सीस शीघ्र पिघल जाता है इसलिये तीव्र ज्वाला न चाहिये, नड की अल्पकालिक और नर्म ज्वाला सीस भस्म के लिये उपयुक्त है। सीसभस्म यक्ष्मरोग की औषध है। नड पर अग्नि देर तक जलती न रहनी चाहिये, इसे "न ते अत्र लोकः" द्वारा सूचित किया है।

१. तेन साकम्=यक्ष्मरोग तथा नड़ की अग्नि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाने के लिये कहा है कि नड पर की अग्नि के शान्त होते ही [निर्मित सीसभस्म के सेवन से] यक्ष्म रोग भी शीघ्र शान्त हो जायगा, अर्थात् नड पर से अग्नि के उतरते ही मानो यक्ष्म का भी निवारण हो जायगा। इस द्वारा सीसभस्म की अद्भुत शक्ति को सूचित किया हैं।

चन्द्रराज भण्डारी विशारद द्वारा "वनौषधि-चन्द्रोदय" की हिन्दी टीका में, सीस के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण विशेष प्रकाश डालता है—

"हिन्दी सीसा, नाग। अंग्रेजी Lead। लेटिन Glumbum। जो सीसा आग पर रखने से शीघ्र गल जाय, तोड़ने से काला और भीतर उज्ज्वल हो और बाहर से काला हो वह उत्तम होता है। सीसा क्षयरोग, वातविकार, गुल्म, पाण्डुरोग, भ्रम, क्रिमि, कफ, शूल, प्रमेह, खांसी, संग्रहणी और गुदा के रोगों में लाभदायक होता है। यह जीवन-शक्तिवर्धक, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, बलवर्द्धक होता है। इसे मन्दाग्नि में पकाएं। सोंठ के चूर्ण और पुराने गुड़ के साथ नागभस्म अर्थात् सीसाभस्म खाने से सिर का दर्द और कमर का दर्द मिटता है"]।

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च ।
यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥२॥

(अघशंस-दुःशंसाभ्याम्[1]) पापों की प्रशंसा और उस के दुष्परिणामों की प्रशंसा से, (च अनुकरेण करेण) (च) तथा तदनुरूप कर्मों के करने और बार-बार करने से उत्पन्न (सर्वं यक्ष्मम्) सब प्रकार के यक्ष्म रोग को, (तेन) उस सीसाभस्म द्वारा (इतः) इस शरीर से (मृत्युम्) तथा अप-मृत्यु को, (निरजामसि) हम निर्गत करते हैं, निकाल फेंकते हैं।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि ।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥३॥

(इतः) इस शरीर से (मृत्युम्) अपमृत्यु को (निर्) हम निकाल देते हैं, (निर् ऋतिम्) दुःखों और कष्टों को निकाल देते हैं, (अरातिम्) अदान भावना को (निर् अजामसि) निर्गत करते तथा निकाल फेंकते हैं। (यः) जो यक्ष्मरोग (नः) हमारे साथ (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उसे (अक्रव्याद् अग्ने) शरीर के कच्चे मांस को न खाने देने वाली हे अग्नि ! (अद्धि) तू खा जा, (उ) तथा (यम्) जिस यक्ष्मरोग के साथ (द्विष्मः) हम

१. अघशंसदुःशंसाभ्याम्=पापों और उनके परिणामों की प्रशंसा करने से, तदनुरूप कर्मों के करने में प्रवृत्ति होती है, और इससे यक्ष्मरोग और अपमृत्यु होती है। निरजामसि=निर्+अज (गतिक्षेपणयोः)।

द्वेष करते हैं, अप्रीति करते हैं (तम् उ) उस यक्ष्मरोग को (ते) हे अग्नि ! तेरे प्रति (प्र सुवामसि) हम भेज देते हैं, प्रेरित करते है ।

["द्वेष्टि" के स्थान में पैप्पलाद शाखा में "यक्ष्मः" पाठ है, जो कि द्वेष्टि की व्याख्या रूप हैं। अक्रव्याद् अग्नि=मन्त्र १ में प्रोक्त अग्नि। क्रव्याद् अग्नि रूप यक्ष्मरोग, कच्चे अर्थात् आयु की दृष्टि से न पके, अल्पायुओं के भी शारीरिक मांसों को खा जाता है। द्विष्मः=द्विष् अप्रीतौ। यक्ष्म के साथ यदि हम अप्रीति करेंगे, तो इस रोग के उत्पादक कारणों के ग्रहण से भी हम अप्रीति करने लगेंगे। यक्ष्मरोग दान नहीं करने देता। इस रोग को दूर करने में ही सामान्य व्यक्ति का धन लग जाता है, तो वह दान देने का सामर्थ्य ही नहीं रखता]।

यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥४॥

(यदि क्रव्याद् अग्निः) यदि मांसभक्षक अग्नि, (यदि वा) अथवा (अन्योकाः[1]) अन्य घर वाला (व्याघ्रः) क्रव्याद् अग्निरूपी व्याघ्र, (इमं गोष्ठम्) इस इन्द्रियों के निवास स्थान शरीर में (प्रविवेश) प्रविष्ट हो गया है, तो (तम्) उस क्रव्याद् अग्निरूपी व्याघ्र को, (माषाज्यम्) उर्द और घृतयुक्त या उर्द और अजाघृत युक्त करके (दूरं प्रहिणोमि) मैं दूर करता हूं। (सः) वह क्रव्याद् अग्नि (अप्सु सदः अपि अग्नीन् गच्छतु) जलों में स्थित अग्नियों को भी प्राप्त हो ।

[क्रव्याद्-अग्नि है, यक्ष्मरोग। यह शरीर को खा जाती है, भस्मीभूत कर देती है। यह व्याघ्र रूप हैं। इस का घर अन्य है, यक्ष्मरोग के कीटाणु[1]। गोष्ठम्=गावः इन्द्रियाणि+स्थ। माषाज्यम्=उर्द और शुद्ध घृत या अजाघृत के सेवन से यक्ष्मरोगाग्नि दूर हो जाती हैं। कौशिकसूत्र ७१।६ के अनुसार माष, आज्य और शुक्ति (सीपी) की आहुतियों का विधान हैं। आहुतियां बाह्य अग्नि में तथा जाठराग्नि में देनी चाहियें।

१. अथवा क्रव्याद्-अग्नि को यतः व्याघ्र कहा है, परन्तु व्याघ्रों का ओकः अर्थात् घर होता है जङ्गल, न कि प्राणियों के शरीर, अतः व्याघ्राग्नि को अन्योकाः कहा है। वेदों में रोग के कीटाणुओं को पिशाच कहा है, अर्थात् पिशित (मांस) की याचना करने वाले। अच=याचने (भ्वादि)।

यक्ष्माग्नि की निवृत्ति के लिये जल चिकित्सा तथा जलों द्वारा प्राप्त वैद्युताग्नि का भी विधान प्रतीत होता है। यथा "अप्सुषदोऽप्यग्नीन्। व्याघ्रः= अथर्ववेद में व्याघ्र पद गौणार्थक भी है। यथा (१२।२।४३)। तथा चबाने की दो दाढ़ें=व्याघ्रौ (६।१४०।१)। व्याघ्रः=राजा (अथर्व० ४।८।४; ८।५।१२) इत्यादि]।

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते ।
सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥५॥

(पुरुषे मृते) पुरुष के मर जाने पर, (मन्युना) रोष के कारण (क्रुद्धाः) कुपित होकर [हे अग्नि !] (यत् त्वा) जो तुझे (प्रचक्रुः) प्रकृतिरूप कर देते हैं, समाप्त कर देते हैं, (अग्ने) हे अग्नि ! (तत्) वह (त्वया) तुझ द्वारा (सुकल्पम्) उत्तम प्रकार से सामर्थ्यवान् कर दिया जाता है, अतः (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (उद् दीपयामसि) हम उद्दीप्त करते हैं। (देखो मन्त्र ६)।

[गार्हपत्याग्नि या आहवनीयाग्नि के सम्बन्ध में वर्णन हुआ है। गार्हपत्याग्नि गृहपति की रक्षा के लिये आहित की जाती हैं, ताकि उस द्वारा धार्मिक कृत्य किये जा कर गृहवासियों की रक्षा हो सके। परन्तु इन कर्मों भी यदि गृहवासी की मृत्यु हो जाती है तो अश्रद्धालु गृहवासी क्रुद्ध होकर के करते हुए अग्नि को यदि प्रकृतिस्थ कर दें, समाप्त कर दें, तो इस सम्बन्ध में कहा है कि अग्नि तो स्वास्थ्य सम्पादन करने में सामर्थ्यवान् हैं ही, अतः गृहवासी उसे पुनः उद्दीपित करते हैं। प्रचक्रुः=प्र+कृ+लिट्। प्रकृतिस्थ करना। यथा "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः" (रघुवंश, ८।८७)।

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥६॥

(अग्ने) हे गार्हपत्याग्नि ! या आहवनीयाग्नि ! (त्वा) तुझे (पुनः) फिर (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु कोटि के विद्वान्, या (पुनः) फिर (वसुनीतिः ब्रह्मा) वसु ब्रह्मचारी विद्वानों का नेता चतुर्वेदविद् ऋत्विक्, या (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (ब्रह्मणस्पतिः) कोई वेदरक्षक विद्वान् (आधात्) स्थापित करे, तेरा आधान करे, (दीर्घायुत्वाय, शतशारदाय) दीर्घ आयु के लिये १०० वर्षों तक जीवित रहते के लिए।

[यदि प्रथमाग्न्याधान, विधि के प्रतिकूल हुआ है, जिस का परिणाम हुआ है,—अकाल मृत्यु; तो उस का पुनः आधान विद्वान्-ऋत्विक् करें, ताकि गृहवासियों की १०० वर्षों की दीर्घायु हो सके] ।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥७॥

(यः) जो (क्रव्याद् अग्निः) मांसभक्षक अग्नि (इतरम् जातवेदसम् पश्यन्) दूसरी जातवेदस् को देखती हुई भी (इमम्) इस (नः गृहम्) हमारे घर में (प्र विवेश) प्रविष्ट हो गई है, (तम्) उसे (पितृयज्ञाय) पितृयज्ञ के लिये (दूरम् हरामि) मैं दूर ले जाता हूं। (सः) वह क्रव्याद् अग्नि (परमे) बहुत लक्ष्मी वाले (सधस्थे) सहवास स्थान अर्थात् गृहस्थ में (घर्मम्) दूध की बटलोही को (इन्धाम्) गर्म करती रहे ।

[मन्त्र वर्णन कवितामय है । अभिप्राय यह है कि अग्नियां दो प्रकार की हैं, जातवेदस् तथा क्रव्याद् । जातवेदस् अग्नि तो देवयान मार्ग की है, और क्रव्याद् अग्नि पितृयान मार्ग की। देवयान मार्ग तो देवपथिकों का है जिसमें ब्रह्मचर्य, सत्य और तप आदि का सेवन करना होता है । और पितृयान मार्ग उनका है जोकि सन्तानोत्पत्ति द्वारा मातापिता बनना चाहते हैं। इस मार्ग में गृहस्थी के चुल्ले में दूध आदि पक्ते रहते है, पितृयज्ञ होते रहते हैं तथा गृहस्थियों के लिये निश्चित यज्ञ होते रहते हैं । इस मार्ग में यतः शक्ति क्षीण होती रहती हैं, अतः इस मार्ग पर क्रव्याद् अग्नि का का राज्य होता है। शक्ति के क्षीण होते रहने के कारण इस मार्ग के के पथिकों की १०० वर्षों से पहिले ही मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः इन्हें क्रव्याद् अग्नि का शिकार बनना पड़ता है। जातवेदस् अग्नि वाले देव व्यक्ति क्रव्याद् अग्नि को दूर करते रहते हैं, अतः क्रव्याद् अग्नि श्मशान पर अधिकार जमाती है । सधस्थ का अर्थ है "साथ-साथ बैठने का स्थान" जोकि पारिवारिक व्यक्तियों का स्थान है । परमे=पर+मा (लक्ष्मी=बहुत लक्ष्मी वाले गृहस्थ में] ।

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ।८॥

(क्रव्यादम् अग्निम्) क्रव्याद् अग्नि को (दूरम् प्रहिणोमि) मैं दूर भेज देता हूं, (रिप्रवाहः) रिप्र अर्थात् पाप का वहन करने वाली क्रव्याद्

अग्नि, (यमराज्ञः) यमराजा की प्रजा को (गच्छतु) जाय, प्राप्त हो । (इह) यहां हमारे घर में (अयम् इतरः जातवेदाः) यह उस से भिन्न जातवेदस् (देवः) दिव्य अग्नि, (प्रजानन्) मानो जानते हुए के सदृश, (देवेभ्यः) देवों के प्रति (हव्यम्) हवियोग्य वस्तु (वहतु) ले जाय, उन्हें प्राप्त कराए ।

[यमराज्ञः=यमराजा की प्रजा है, गृहस्थजन । गृहस्थ पितृयाण मार्ग है जहां कि मृत्युएं होती रहती हैं और पुनर्जन्म होते रहते हैं। अतः गृहस्थ मानो यमराजा के अधीन है, उस की प्रजा है। गृहस्थ में रिप्र की अधिक सम्भावना है। रिप्र=पापकर्म । अतः गृहस्थ में क्रव्याद् अग्नि की भी अधिक सम्भावना है । परन्तु जो सद्गृहस्थ जातवेदस् अग्नि की परिचर्या करते रहते है, वहां क्रव्याद् अग्नि की सम्भावना नहीं होती] ।

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् ।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥९॥

(इषितः) दृढ़संकल्प वाला मैं (क्रव्यादम् अग्निम्) कच्चा मांस भक्षक अग्नि का (हरामि) संहार करता हूं, जोकि (मृत्युम्) मृत्युरूप है, और (वज्रेण) वज्र द्वारा (जनान्) जनों को (दृंहन्तम्) निश्चल कर देती है। (विद्वान्) संहार विधि को जानता हुआ (गार्हपत्येन) गार्हपत्याग्नि द्वारा (तम्) उस क्रव्याद् को (नि शास्मि) मैं नितरां अनुशासित करता हूं, (अपि=अपि च) तथा (पितॄणाम् लोके) माता पिता के लोक अर्थात् गृहस्थ में (भागः) उस का भाग (अस्तु) हो ।

[दृंहन्तम् =मृत्यु होने पर शरीर पत्थर समान निश्चल हो जाता है] ।

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः ।
मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥१०॥

(शशमानम्) प्लुतगति से चलती हुई, (उक्थ्यम्) वैदिक सूक्तों में वर्णित (क्रव्यादम् अग्निम्) जीवितों के मांस के भक्षक अग्नि को (प्र हिणोमि) मैं दूर करता हूं। (पितृयाणैः पथिभिः) मातापिता जिन मार्गों पर चलते हैं उन मार्गों द्वारा । (देवयानैः) देवों अर्थात् सत्य मार्गों पर चलने

वाले दिव्य जनों के मार्गों द्वारा तू ते क्रव्याद् (पुनः) बार-बार (मा आगाः) न आ, (अत्र एव) इस पितृमार्ग में ही (एधि) तू बनी रह, (पितृषु) माता पिताओं में (त्वम्) तू (जागृहि) जागरूक रह ।

[शशमानम्:—भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ मृत्युएं होती रहती हैं, क्रव्याद् मानो प्लुतगति से सर्वत्र पहुंच जाती है तथा प्लुतगति से बार-बार, आक्रमण करती है । पुनः=देवयानमार्गियों की मृत्यु एक बार होती है, वार बार नहीं, क्योंकि वे चिरकाल के लिये मुक्त हो जाते हैं । शशमानम्=शश प्लुतगतौ]।

समिन्धते सङ्कसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥११॥

(स्वस्तये) कल्याण के लिये [मृतक के सम्बन्धी] (संकसुकम्) सम्यक् अर्थात् पूर्णरूप में शासन करने वाली श्मशानाग्नि को (समिन्धते) सम्यक्तया प्रदीप्त करते हैं, तदनन्तर (शुद्धाः भवन्तः) स्नान द्वारा शुद्ध होते, और (शुचयः पावकाः) पवित्र करने वाली यज्ञिय अग्नियों के सदृश पवित्र होते हैं । [गृहशुद्धि के लिये] (समिद्धः अग्निः) प्रदीप्त किया यज्ञिय अग्नि (रिप्रम्) अशुद्धिरूपी मल को (जहाति) दूर करती या छुड़ाती है, (एनः अत्येति) पापी रोगकीटाणु का अतिक्रमण करती, तथा (सुपुना) उत्तमतया पवित्र करने वाली ज्वाला द्वारा (पुनाति) पवित्र कर देती है ।

[सङ्कसुकम्=सम्+कस् (शासने, कसि गतिशासनयोः), मृत्यु होने पर क्रव्याद्—अग्नि अर्थात् श्मशानाग्नि सम्यक् शिक्षा देती है । समिन्धते=इन्धन तथा यथोचित सामग्री के द्वारा प्रदीप्त करते हैं । शव को अन्त्येष्टि के पश्चात् स्नान द्वारा तथा मन्त्र जाप द्वारा शुद्ध और पवित्र हो कर, यज्ञाग्नि को प्रदीप्त कर, गृहशुद्धि करनी चाहिये । इस द्वारा रोग द्वारा उत्पन्न हुए मलादि दूर जाते हैं । मृत्यु बड़ा शिक्षा गुरु[1] है, जिसे देख कर कई बार जीवन में सुधार होता है, और व्यक्ति ऐसे कर्मों के करने से उपरत हो जाता है जो कि यक्ष्म के उत्पादक हों, और शुद्धाचरण वाला हो जाता है] ।

---

१. इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् में नचिकेता और मृत्यु का संवाद द्रष्टव्य है ।

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् ।
मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः ॥१२॥

(देवः) देवरूपी (संकसुकः अग्निः) संकसुक अग्नि, (दिवः पृष्ठानि) द्युलोक की पीठों पर, (आरुहत्) आरुढ़ हुई है । (निरेनसः) एनस् "अर्थात् पाप कर्म से "निर्" छुड़ाने वाली वह अग्नि, (मुच्यमानः) द्युलोक से छूट कर, (अस्मान्) हमें (अशस्त्याः) अप्रशस्त कर्मों से (अमोक्) मुक्त कर देती है ।

[देवः=संकसुक अर्थात् श्मशानाग्नि यतः हमें पवित्र जीवनों के लिये प्रेरणा प्रद है, इस लिये इसे देव कहा है, साथ ही शव को भस्मी भूत कर के, शव के घर में ही रहने पर जो घर की अशुद्धि होती है उसे दूर कर देती है, इस लिये भी संकसुक अग्नि देव है, दिव्य शक्ति से सम्पन्न है ।

पृथिवी पर जितनी भी अग्नियां हैं उन का मूल स्रोत द्युलोक ही है । संकसुक अग्नि का भी मूल स्रोत द्युलोक ही है । इस लिये "इस का वर्णन" "दिवस्पृष्ठान्यारुहत्" द्वारा हुआ है । अन्त्येष्टि के पश्चात् संकसुक अग्नि श्मशान में नहीं दीखती, मानो वह निज कर्म का सम्पादन कर निज स्रोत में जा मिली है । "पृष्ठानि" में बहुवचन वेदोक्त "तिस्रः दिवः" का समर्थन करता है (अथर्व० १६।२७।३, १६।३२।४)] ।

अस्मिन् वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे ।
अभूम यज्ञियाः शुद्धा प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१३॥

(अस्मिन्) इस (संकसुके अग्नौ) संकसुक अग्नि में (रिप्राणि) कुत्सित मलों को (मृज्महे) हम शुद्ध करते है, और (यज्ञियाः[1] शुद्धाः अभूम) यज्ञ करने योग्य शुद्ध हुए हैं, (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) संकसुक अग्नि बढ़ाए ।

[शव को संकसुक अर्थात् श्मशानाग्नि में जला देने पर शव के कारण होने वाले गुह्य कुत्सित मल दूर हो जाते हैं । तदन्तर स्नान द्वारा शुद्ध हो

---

१. यज्ञयोग्य हो कर यज्ञियाग्नि में यक्ष्मरोगनाशक ओषधियों की आहुतियां दे कर (मन्त्र ११) दीर्घायु को प्राप्त करना ।

कर गृह वासी यज्ञ करने के योग्य होते हैं, और यज्ञ द्वारा निज आयुओं को बढ़ाते हैं। रिप्रम्=कुत्सितम् (उणा. ५।५५, महर्षि दयानन्द)]।

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः ।
ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद् दूरमनीनशन् ॥१४॥

(संकसुकः) सामूहिक अर्थात् परिवार में व्याप्त, घातक यक्ष्म रोग निवारक अग्नि, (विकसुकः) व्यक्ति गत, घातक यक्ष्मरोग की निवारक अग्नि, (निर्ऋथः) निकृष्ट आर्ति अर्थात् कष्ट दायक यक्ष्मरोग की निवारक अग्नि, (यः चः) और जो (निस्वरः) स्वरभङ्ग करने वाले यक्ष्मरोग की निवारक अग्नि है,। (ते) वे अग्नियां (सवेदसः) मानो ऐकमत्य को प्राप्त हुई, (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्मरोग को (दूरात् दूरम्) दूर से भी दूर करें, और (अनीनशन्) उसे नष्ट करें।

[संकसुकः=सम् (समूह)+कस (शासनम्); कसि गति शासनयोः (अदादि)। शासनम्=killer, destroyer (आप्टे)। अर्थात् समूह में व्याप्त, घातक यक्ष्मरोग सम्बन्धी। विकसुकः=व्यक्तिगत घातक यक्ष्मरोग सम्बन्धी। निर्ऋथः="निः शेषेण ऋच्छति पीड़यतीति" (सायण, अथर्व० ६।९३।१) तथा "निकृष्टाम् आर्तिम् नाशम्" (सायण अथर्व. ८।४।१४)। अतः "निर्ऋथः"=पीड़ादायक और विनाश करने वाला यक्ष्मरोग, तत्सम्बन्धी निस्वरः=स्वरभङ्ग करने वाले स्वरयन्त्र सम्बन्धी यक्ष्मरोग तथा जिह्वा सम्बन्धी यक्ष्मरोग निवारक अग्नि (अथर्व० २।३३।१)। ये चारों प्रकार के यक्ष्मरोग अग्निरूप हैं। अग्नि की तरह रोगी को खाते रहते हैं। इसलिये दाहक अग्नि और यक्ष्मरूपी अग्नि को, कहीं-कहीं मन्त्रों में अभेदरूप से भी वर्णित किया है, और भिन्न-भिन्न रूप में भी।

वेद में "यक्ष्म" शब्द व्यापी अर्थ रखता है। अङ्ग की विकृतिमात्र में यक्ष्म शब्द का प्रयोग हुआ है। आंख, नाक, कान, मस्तिष्क, जिह्वा, ग्रीवा, रक्तनाड़ी, बाहु, हृदय, आन्त, गुदा, टांगों, घुटनों, अस्थि, मज्जा, हाथ, अङ्गुलियों, लोमं, नख आदि किसी भी शरीराङ्ग के विकार में यक्ष्म शब्द प्रयुक्त हुआ है (अथर्व० २।३३।१-७); तथा (अथर्व० ९।८।१-२२)]।

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु ।
क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥१५॥

(यः) जो अग्नि, अर्थात् अग्नि के समान नाशक यक्ष्मरोग, (नः) हमारे (अश्वेषु) अश्वों में, (वीरेषु) और वीर योद्धाओं में है, (यः) जो (नः) हमारी (गोषु अजाविषु) गौओं-बकरियों-भेड़ो में है, तथा (यः अग्निः) अग्नि सदृश यक्ष्मरोग (जनयोपनः) जनों को व्याकुल कर देता है उस (क्रव्यादम्) कच्चे अर्थात् जीवित के मांस के भक्षी यक्ष्म को (निर्णुदामसि) हम निकाल फेंकते हैं।

[अग्नि शब्द द्वारा यक्ष्मरोग अभिप्रेत है। उसे ही क्रव्याद् भी कहा है। योपनः=युप विमोहने। विमोहन=मूढता, कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान-शून्यता, अर्थात् व्याकुलता। मन्त्र में पशुचिकित्सा का भी निर्देश किया है]।

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।
निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥१६॥

(त्वा) तुझे (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः) अन्य पुरुषों से, (त्वा) तुझे (गोभ्यः अश्वेभ्यः) गौओं और अश्वों से, (क्रव्यादम्) अर्थात् तुझ क्रव्याद् को (निः नुदामसि) हम निकाल फेंकते हैं, (यः) जो तू कि (जीवितयोपनः) जीवितों को व्याकुल कर देता है।

[क्रव्याद् से अभिप्रेत है यक्ष्मरोग, जोकि रोगी के मांस को खाता रहता है, और जीवितों को व्याकुल कर देता है। मन्त्र १५ में "नः" द्वारा अपनों के यक्ष्मरोगों की चिकित्सा का वर्णन हुआ है, और मन्त्र १६ में अन्यों की चिकित्सा का। अन्यों को सेवा, धर्मकार्य है। मन्त्र में अन्यों की सेवा के लिये प्रेरणा दी है]।

यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत ।
तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥१७॥

(यस्मिन्) जिस यज्ञाग्नि में (देवाः) विद्वानों ने (अमृजत) अपने-आप को शुद्ध किया, (उत) तथा (मनुष्याः) सामान्य मनुष्यों ने (यस्मिन्) जिस यज्ञाग्नि में अपने आप को शुद्ध किया, (तस्मिन्) उस यज्ञाग्नि में (घृतस्तावः) घृताहुतियों द्वारा परमेश्वर का स्तवन करने वाले हे रोगिन्! (मृष्ट्वा) अपने को शुद्ध करके, (अग्ने) हे अग्नि के समान शुद्ध हुआ हुआ (त्वम्) तू (दिवम्) मोद और कान्ति के [शिखर पर] (रुह) आरोहण कर।

[परमेश्वर की स्तुति पूर्वक शुद्ध घृताहुतियां देने का वर्णन है। इस से गृहशुद्धि होती है और व्यक्ति सुखी होता और शारीरिक कान्ति प्राप्त करता है। दिव्=मोद, कान्ति (धातुपाठ)]।

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः।
अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥१८॥

(आहुत अग्ने) आहुति प्राप्त हे अग्नि! (सः) वह तू (नः) हमारे (मा अभि अपक्रमीः) अभिमुख होकर क्रव्याद् रूप में निन्दनीय आक्रमण मत कर। (द्यवि) प्रतिदिन (अत्र) इस पृथिवी पर (एव) ही (दीदिहि) प्रकाशित हो, ताकि (ज्योक्) चिरकाल तक (सूर्यम् दृशे) सूर्य को हम देखें।

[द्यवि=द्यवि द्यवि अहर्नाम (निघं० १।९); तथा द्युः अहर्नाम (निघं० १।९); अग्नि में यदि यथोचित आहुतियां दी जांय तो यक्ष्म आदि से हमारी अकालमृत्युएं नहीं होती। अन्यथा क्रव्याद् का निन्दनीय अवाञ्छित आक्रमण होता रहता हैं। इसी लिये गार्हपत्याग्नि सदा घर में रहनी चाहिये,—ऐसा विधान है]।

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥१९॥

(यत् शीर्षक्तिम्) जो शिरोवेदना है उस को (सीसे) सीसभस्म में (मृड्ढ्वम्) धो डालो, (नडे) नड में (मृड्ढ्वम्) धो डालो, (च संकसुके अग्नौ) और संकसुक अग्नि में धो डालो। (अथो) तथा (रामायाम् अव्याम्) अभिराम तथा रक्षक सूर्य में धो डालो, (उपबर्हणे) तथा उपबर्हण में धो डालो।

[सीसभस्म द्वारा शिरोवेदना दूर होती हैं। यथा "सोंठ के चूर्ण और पुराने गुड़ के साथ नागभस्म अर्थात् सीस भस्म को खाने से सिर का दर्द और कमर का दर्द मिटता हैं" (वनौषधि चन्द्रोदय "सीस" शीर्षक में)। नडे=सीसभस्म नड पर तय्यार की जाती हैं, अतः शीर्षक्ति रोग में नड का वर्णन हुआ है। संकसुक अग्नि नडाग्नि प्रतीत होती है, जिसे नड पर प्रदीप्त कर के सीसभस्म तय्यार होती है। संकसुक अग्नि शवाग्नि है, परन्तु नड तथा सीस के दाहक होने के कारण नडाग्नि को भी संकुसक अग्नि कहा

प्रतीत होता है। यह शव का भी दहन करती है तथा नड और सीस का भी।

अव्याम् रामायाम्=रमणीय गुणों वाला रक्षक सूर्य (अव रक्षणे)। यथा "अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥ (अथर्व० १०।८।३१)। इस मन्त्र में "अवि" द्वारा रक्षक सूर्य का वर्णन हुआ है, जिस द्वारा कि वृक्ष हरे होते हैं, और लतारूपी हरी मालाएं धारण करते हैं। "अव्यां रामायाम्[1]" "काली भेड़ के दूध में"—ऐसा अर्थ भी सम्भव है। परीक्षणों द्वारा यह देखना चाहिये कि इस दूध का यक्ष्मरोग, यक्ष्मरोग-जन्य शिरोवेदना या सामान्य शिरोवेदना के साथ सम्बन्ध है या नहीं।

उपबर्हणे—उपबर्हण का अर्थ प्रायः सिरहाना अर्थात् तकिया होता है। इस का सामान्य अभिप्राय यह हो सकता है कि शिरोवेदना में तकिये पर सिर रख कर सो जाओ तो सोने से आराम मिल जायेगा। परन्तु इस का अन्य अर्थ भी सम्भव है। शीर्षक्तिरोग यक्ष्मा का भी परिणाम होता है, देखो (अथर्व० ९।८।१,१०)। सिर के रोगों की निवृत्ति "उदित होते हुए आदित्य की रश्मियों" द्वारा भी होती है, और यक्ष्मरोग का भी विनाश होता है। यथा "सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः" (अथर्व० ९।८।२२)।

तथा "शीर्षण्ययक्ष्मा को मस्तिष्क से निकाल देने का वर्णन", तथा तदर्थ "कश्यप के वीवर्हण" के प्रयोग का भी वर्णन मिलता है। यथा "यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते" (अथर्व० २।३३।१); तथा "कश्यपस्य वीवर्हेण विष्वञ्चं विवृहामि ते" (अथर्व० २।३३।७)। "कश्यप" का अभिप्राय है आदित्य। यथा "कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च" (अथर्व० १७।१।२८)। ज्योति और वर्चस् से सम्पन्न आदित्य हो है। २।३३।७,२८ में "विवृहामि", "वीवर्हेण", तथा "उपवर्हणे" में एक ही "वृह्" धातु का प्रयोग है, जिस का अर्थ है—हिंसा (चुरादि, भ्वादिगण)। इस प्रकार "उपवर्हण" का अर्थ है "हिंसा करने वाली आदित्य की रश्मि"; हिंसा=

---

१. रामा=कृष्णा, काली! यथा "अधोरामः सावित्रः" इति पशुसमाम्नाये (यजु० २९।२८) विज्ञायते, कस्मात् सामान्यादित्यधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात् सामान्यात्, अधस्ताद् रामोऽधस्तात् कृष्णः (निरुक्त १२।२-४; सविता की व्याख्या में)।

रोग की हिंसा अर्थात् विनाश। इस प्रकार "अवि", और "कश्यप" समानाभिप्रायक हैं]।

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे ।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥२०॥

(मलम्) यक्ष्मरूपी मल को (सीसे) सीसभस्म में (सादयित्वा) स्थापित करके अथवा विशीर्ण करके, (शीर्षक्तिम्) शिरोवेदना को (उपबर्हणे) उपबर्हण में स्थापित या विशीर्ण करके, तथा (असिक्न्याम् अव्याम्) काली भेड़ के दूध में, या काले धब्बों वाले रक्षक सूर्य में (मृष्ट्वा) धो कर (शुद्धाः भवत) शुद्ध हो जाओ, (यज्ञियाः) और यज्ञकर्मों के करने योग्य हो जाओ।

[अव्याम्, असिक्न्याम्=अवि=सूर्य (मन्त्र १९), असिक्नी=काली। सूर्य में काले धब्बे हैं । अविः=भेड़ (मन्त्र १९)। शेष पदों के व्याख्या के लिये देखो (मन्त्र १९)]।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥२१॥

(मृत्यो) हे मृत्यु ! (अनु) निरन्तर (परम् पन्थाम्) दूर के मार्ग पर (परेहि) तू परे चली जा, (यः ते एषः) जो यह तेरा मार्ग (देवयानात् इतरः) देवों के मार्ग से भिन्न है। मानो (ते चक्षुष्मते शृण्वते) तुझ देखते हुए तथा सुनते हुए के प्रति (ब्रवीमि) मैं कहता हूं। (इह) इस देवों के मार्ग में (इमे) ये (वीराः) धर्मवीर तथा शूरवीर (बहवः) बहुत से (भवन्तु) हों।

[जीवन के दो मार्ग हैं—पितृयाण तथा देवयान । देवयान सत्यमय है और पितृयाण सत्तावधर्मियों का। पितृयाण में मृत्यु का राज्य होता है, व्यक्ति मृत्यु और पुनर्जन्म की शृङ्खला में बन्धे रहते हैं, और देवयानी मोक्ष प्राप्त कर मृत्यु की मार से बच जाते हैं। "सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः"]।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥२२॥

(इमे जीवाः) ये जीवित मनुष्य, (मृतैः) मृतों से (वि) वियुक्त अर्थात् अलग हो कर, (आ ववृत्रन्) लौट आए हैं, (अद्य) आज (नः) हमारी (देवहूतिः) परमेश्वर देव के प्रति पुकार या प्रार्थना (भद्रा) कल्याणकारिणी तथा सुखप्रदा (अभूत्) हुई है। (प्राञ्चः) आगे की ओर (अगाम) हम बढ़े है, (नृतये हसाय) नाचने और हंसी-खुशी के लिये। (सुवीरासः) उत्तम धर्मवीर तथा शूरवीर हो कर (विदथम्) ज्ञान गोष्ठियों में (आवदेम) हम परस्पर ज्ञानचर्चा करें।

[संक्रामक रोग में कतिपय सम्बन्धियों की मृत्यु हो जाय तो उन की जीवित अन्त्येष्टि के पश्चात् शेष सम्बन्धी वापिस आ कर दुःख या शोक में ग्रस्त न हो जांय, अपितु परमेश्वर के उपासक होते हुए प्रसन्नता पूर्वक उन्नति पथ पर चलते रहें, और परस्पर मिल कर ज्ञान बढ़ाते रहें। भद्रा=भद्र कल्याणे सुखे च। विदथम्=विदथानि वेदनानि (ज्ञानानि); यथा "विदथानि प्रचोदयन्" (ऋ० ३।२७।७); (निरुक्त ६।२।७)]।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२३॥

(जीवेभ्यः) जीवित मनुष्यों के लिये (इमं परिधिम्) इस मर्यादा को (दधामि) मैं परमेश्वर स्थापित अर्थात् निश्चित करता हूं, (एषाम्) इन मनुष्यों से (अपरः) कोई (नु) निश्चय से (एतम् अर्थम्) इस अभ्यर्थनीय परिधि अर्थात् मर्यादा का (मा गात्) उल्लंघन न करे। (पुरूचीः) बहुविध कर्मों से व्याप्त (शतं शरदः) सौ वर्षों तक (जीवन्तः) जीवित रहते हुए (मृत्युम्) मृत्यु को (तिरः दधताम्) तिरोहित करो, रोके रखो (पर्वतेन) जैसे कि पर्वत द्वारा पर्वत पारवर्ती शत्रु को रोका जाता है।

[वेद द्वारा जीवन के लिये जो मर्यादाएं उपदिष्ट हुई हैं, उन में चलते हुए, तथा सत्कर्मों में व्याप्त होते हुए, अकाल मृत्यु पर विजय पानी चाहिये। वेद में ७ मर्यादाओं का कथन हुआ है, "सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः" (ऋ. १०।५।६)। इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार ने ७ मर्यादाएं निम्नलिखित दर्शाई है। यथा:—

स्तेयम्, तल्पारोहणम् अर्थात् व्यभिचार, ब्रह्महत्याम्, भ्रूणहत्याम् अर्थात् गर्भनाशः, सुरापानम् दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्, पातकेऽनृतोद्यम्" (६।५।२७) मन्त्र २३ में परिधि शब्द पठित है परन्तु परिधि या मर्यादा,—

इन दोनों का अभिप्राय एक ही है। मृत्यु सम्बन्धी परिधि के सम्बन्ध में, अथर्व. ८।२।९ निम्नलिखित मन्त्र भी है। यथा:—"सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः। यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्", अर्थात् जब जीवन को सुखी बनाने के लिये इस ब्रह्म (वेद) को, अर्थात् समग्र वेद के उपदेश को, परिधि रूप मर्यादा रूप किया जाता है, तब गौ, अश्व, पुरुष तथा अन्य पशु भी अपनी-अपनी पूर्ण आयु तक जीवित रहते हैं, क्योंकि वेदों में प्रत्येक जाति के प्राणियों के सम्बन्ध में दीर्घ जीवन के उपाय दर्शाएं हैं।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥२४॥

(यति स्थ) जितने तुम हो, (अनुपूर्वम्) एक के पीछे दूसरा,-इस प्रकार (यतमानाः) प्रयत्न करते हुए, (जरसम् वृणानाः) और जरावस्था को प्राप्त हो कर, (आयुः) आयु के शिखर तक (आरोहत) आरोहण करो, चढ़ो! (सुजनिमा) उत्तम मनुष्य-जीवन देना वाला, तथा (सजोषाः) प्रीति करने वाला (त्वष्टा) जगत् का कारीगर परमेश्वर, (तान् वः) उन तुम को, (जीवनाय) जीवित रहने के लिये, (सर्वम् आयुः) पूर्ण आयु तक (नयतु) ले चले या पहुंचाए।

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥२५॥

(यथा) जैसे (अहानि) दिन और रात (अनुपूर्वम्) एक के पीछे दूसरा, (भवन्ति) होते रहते हैं, (यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुभिः साकम्) अन्य ऋतुओं के साथ, एक के पीछे दूसरी (यन्ति) चलती हैं, (यथा) जैसे (पूर्वम्) पूर्व के दिन को या पूर्व की ऋतु को (अपरः) अगला दिन या अगली ऋतु (न जहाति) नहीं छोड़ती, (एवा) इसी प्रकार (धातः) हे विधाता! (एषाम्) इन प्रजाजनों की (आयूंषि) आयुओं को (कल्पय) तू संयोजित कर, या सामर्थ्ययुक्त कर।

[अहानि—"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० ६।९।१) में अहः को कृष्ण और अर्जुन अर्थात् शुक्ल कहा है। इसलिये अहः का अर्थ रात्रि भी है, और दिन भी]।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२६॥

(अश्मन्वती) पथरीली नदी (रीयते) बह रही है, (सखायः) हे मित्रो! (संरभध्वम्) परस्पर मिल कर कार्यारम्भ करो, (वीरयध्वम्) वीरता का प्रदर्शन करो, (प्रतरता) और तर जाओ। (अत्रा) यहीं, या इसी समय या इसी जन्म में (जहीत) छोड़ दो (ये असन् दुरेवाः) जो हैं दुःखदायी कर्म, (अनमीवान्) रोग रहित (वाजान्) अन्नों को (अभि) लक्ष्य कर के (उत्तरेम) हम उत्तीर्ण हो जांय।

[पूर्वमन्त्रों में यक्ष्म और उस के निराकरण के उपायों का वर्णन हुआ है। इस मन्त्र में भी "अनमीवान्" द्वारा रोग रहित होने का निर्देश हुआ हैं। अतः प्रकरणानुसार अश्मन्वती नदी का अभिप्राय "रोग और रोगजन्य कष्टों वाला जीवन" प्रतीत होता है। इसी लिये कहा हैं कि हम "अनमीवान् वाजान्" अर्थात् रोग रहित अन्नों को लक्ष्य करके रोगजन्य कष्टमय नदी को तैर जांय। रोग और रोगजन्यकष्ट तथा अकाल मृत्यु हैं जीवन के अश्मन् अर्थात् पत्थर। परस्पर मिल कर सहोद्योग द्वारा रोगप्रद कर्मों के परित्याग का वर्णन मन्त्र में हुआ है, संसार नदी से वैराग्यपूर्वक छूटने या मोक्ष प्राप्ति का नहीं। इसीलिये अगले मन्त्र (२८) में १०० वर्षों तक जीवित रहने के संकल्पों का वर्णन हुआ है। मन्त्र में "रोगनिवारक संगठन" का निर्देश मिलता है जिस में कि मिल कर व्यक्ति प्रण करें कि हम इस संगठन में रोगों को दूर करने का सम्मिलित प्रयत्न करेंगे और ऐसे अन्नों का सेवन करेंगे जिस से यक्ष्म का उन्मूलन हो सके। वाजान्=वाजः अन्ननाम (निघं० २।७)]।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७॥

(सखायः) हे मित्रो! (उत्तिष्ठत) उठो, (प्रतरता) और तैरो, (इयम्) यह (अश्मन्वती) पथरीली (नदी) रोगाक्रान्त जीवनरूप नदी (स्यन्दते) बह रही है। (अत्रा) यहीं अर्थात् इस संगठन में ही (जहीत)

छोड़ दो, त्याग दो (ये) जो कि (अशिवाः असन्) अकल्याणकारी कर्म हैं, (शिवान्) कल्याणकारी (स्योनान्) और सुखदायक (वाजान्) अन्नों को (अभि) लक्ष्य करके (उत्तरेम) हम तैर जायें, पार हो जायें।

[अशिवाः=रोग और तज्जन्य कर्म । शिवान्=स्वास्थ्यकारी अन्न; औषध, तथा कर्म । तरेम=रोग के कष्टों से पार हो जायें]।

वैश्वदेवीं वर्चसे आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥२८॥

(वर्चसे) शरीर की कान्ति के लिये (वैश्वदेवीम्) वैश्वदेवनाम वाली ओषधि [का सेवन] (आरभध्वम्) आरम्भ करो, (शुद्धाः भवन्तः)यक्ष्मरोग के मल से शुद्ध होते हुए (पावकाः) पवित्र करने वाली, अग्नि के सदृश (शुचयः) पवित्र हो जाओ । (दुरिता) दुःखदायी या दुष्परिणामी (पदानि) चालों का (अतिक्रामन्तः) अतिक्रमण करते हुए (सर्ववीराः) सब वीर हो कर (शतं हिमाः) सौ वर्ष (मदेम) हम मोद-प्रमोद अनुभव करते रहें।

[प्रकरणानुसार यह अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है । अथर्व० ८।७।४ का मन्त्रांश इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है । यथाः—"ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुष जीवनीः", अर्थात् वैश्वदेवी वीरुधें, ओषधियां, रोग के विनाशन में उग्र हैं, और पुरुषों को जीवन प्रदान करती हैं । वे ओषधियां यक्ष्म का विनाश करती है देखो (अथर्व० ८।७।२-५आदि) । वीरुधः=वि+रुध्, विविध रोगों को अवरुद्ध करने वाली; या रोगविरोधिनी ओषधियां । पदानि= पद् गतौ]।

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान् परेभिः ।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥२९॥

(उदीचीनैः) ऊपर को चढ़ते हुए, (वायुमद्भिः) वायु सम्बन्धी (परेभिः) परले या श्रेष्ठ (पथिभिः) मार्गों द्वारा, (अवरान्) नीचे के या अश्रेष्ठ मार्गों का (अतिक्रामन्तः) अतिक्रमण करते हुए (ऋषयः) ऋषि लोग, (त्रिः सप्त कृत्वः) तीन बार सात और २१ बार [प्राणायामों द्वारा] (परेताः) परले या श्रेष्ठ स्थान पर पहुंचे हैं । उन्होंने (पदयोपनेन) मृत्यु के पैरों को व्यामोहित कर के (मृत्युम्) मृत्यु को (प्रत्यौहन्) दूर कर दिया।

[प्रत्यौहन्=प्रति+वह् । प्रतिवाहनम्=Leading back (आप्टे), वापिस करना, प्रतिकूल दिशा की ओर करना । मन्त्र में मृत्यु पर विजय पा कर मोक्षधाम को जाने, तथा प्रकरणानुसार अकाल मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का भी वर्णन है।

त्रिः सप्त कृत्वः=कईयों को २१ वार तपश्चर्या द्वारा—यह अर्थ अभिमत है । परन्तु २१ तपश्चर्याएं कौन सी है इस पर उन्होंने प्रकाश नहीं डाला । प्रकरणानुसार ३×७ प्राणायाम प्रतीत होते हैं, जिन्हें कि प्रतिदिन करना होता है । इस अर्थ की पुष्टि में "आसीनाः" पद अर्थात् आसन लगा कर,—यह भाव विशेष महत्त्व का है, देखो मन्त्र (३०) । "प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य" (योग १।३४) की व्याख्या में, योगी स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ "पातञ्जल योग प्रदीप" में लिखते हैं कि "आरम्भ में इस प्राणायाम को इक्कीस वार अथवा यथा सामर्थ्य करना चाहिये । शनैः शनैः अभ्यास बढ़ावें । इस लेख से "त्रिः सप्त कृत्वः" का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । अकालमृत्यु पर विजय पाने के पक्ष में "परेभिः पथिभिः" का अर्थ है श्रेष्ठ योगमार्ग तथा त्याग भावना से जीवनयात्रा का मार्ग, और "अवरान्" का अर्थ है अश्रेष्ठ सांसारिक मार्ग तथा भोग-प्रधान जीवन यात्रा का मार्ग।

उदीचीनैः वायुमद्भिः पथिभिः="किसी सुखासन से बैठ कर...... कोष्ठ स्थित वायु को नाभि से उठा कर दोनों नासिका पुटों द्वारा वमन की भान्ति एक दम बाहर फेंक देना चाहिये" ("पातञ्जल योगप्रदीप", योग १।३४) । इस प्रकार नाभि से उठी वायु, जिस मार्ग से नासिका पुटों तक पहुंचती है, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर जाती है, उसे "उदीचीनैः वायुमद्भिः पथिभिः" द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ।

अतिक्रामन्तः अवरान् परेभिः=प्राणायाम करते समय, नाभि से अर्थात् नीचे से (अवरान्); वायु को ऊपर की ओर (परेभिः) ले जाते हुए, अवरमार्गों का परमार्गों की दृष्टि से अतिक्रमण करना होता है]।

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥३०॥

(द्राघीयः आयुः) दीर्घ आयु को (प्रतरम्) अधिक प्रकृष्ट कर के (दधानाः) धारण करते हुए (मृत्योः पदं योपयन्तः) और मृत्यु के पैर को

व्यामोहित करते हुए (एत) योगमार्ग की ओर आओ। (सधस्थे) उपासना के लिये इकट्ठे बैठने के स्थान में (आसीनाः) योगासन में बैठ कर (मृत्युम्) अकालमृत्यु को (नुदत) धकेलो, (अथ) तत्पश्चात् (जीवासः) जीवित हम (विदथम् आ वदेम) ज्ञानगोष्ठी में ज्ञान चर्चा करें।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥३१॥

(अविधवाः) न विधवा अर्थात् जीवित पतियों वाली, (सुपत्नीः) उत्तम-पत्नियां,—(इमाः नारीः) अर्थात् ये नारियां (आञ्जनेन = अञ्जनेन) अञ्जन, (सर्पिषा) और पिघले घृत के साथ (संस्पृशन्ताम्) संस्पर्श किया करें। (अनश्रवः) आंसुवों से रहित अर्थात् सदा सुप्रसन्न, (अनमीवाः) रोगरहित, (सुरत्नाः) आभूषणों द्वारा सुभूषित, (जनयः) सन्तानोत्पादिका ये नारियां, (योनिम्) घर में (अग्रे) पतियों के आगे-आगे होकर (आरोहन्तु) चढ़ा करें, प्रवेश पाया करें।

[आरोहन्तु = घर की नींव पृथिवीतल से ऊंची और सीढ़ियों वाली होनी चाहिये। योनिः गृहनाम (निघण्टु ३।४)। संस्पृशन्ताम् = अञ्जन द्वारा आंखों का तथा सर्पिः द्वारा शरीर का स्पर्श]।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥३२॥

(एतौ) इन दो को, (हविषा) हविः की दृष्टि से (अहम्) मैं (व्याकरोमि) विभक्त करता हूं, (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अहम्) मैं (वि कल्पयामि) इन दो को विशेषतया समर्थित करता हूं। अर्थात् (पितृभ्यः) पितरों के लिये (अजराम् स्वधाम्) अजर तथा स्वधारण योग्य अन्न को (कृणोमि) नियत करता हूं, और (इमान्) पितरों से भिन्न इन व्यक्तियों को (दीर्घेण) दीर्घ आयु देने वाले (आयुषा) अन्न के साथ (सृजामि) सम्बद्ध करता हूं।

[प्रकरण यक्ष्मरोग तथा अकाल मृत्यु के अपाकरण का है। परमेश्वर कहता है कि वृद्धों और अवृद्धों के जीवनों के लिये उपादेय अन्न का, वेद द्वारा विभाग मैं दर्शाता हूं। पितरों के लिये तो अन्न "स्वधा" रूप नियत करता हूं जो कि उन के स्वधारण के योग्य हो (स्वधा = स्वधारणायोग्य) और अजरा हो, उन्हें शीघ्र जीर्ण करने वाला न हो, सुपाच्य हो। और

अवशिष्ट व्यक्तियों का सम्बन्ध ऐसे अन्न के साथ करता हूं जो कि उन की आयुओं का दीर्घ करे। परन्तु इन दोनों विभागों को अन्न का सेवन, हविः रूप में, करना चाहिये। जीवन को यज्ञ समझते हुए ऐसे अन्न का सेवन करते रहना चाहिये जिस से जीवन यज्ञ सफलता पूर्वक समाप्त हो। आयुषा = आयुः अन्ननाम (निघण्टु २।७) "आयुषा" पद द्व्यर्थक हैं, दो अर्थ हैं आयु और अन्न। स्वधा अन्ननाम (निघण्टु २।७)। कल्पयामि = क्लृप् सामर्थ्ये। ब्रह्मणा = वेदेन। ब्रह्म का अर्थ है वेद। अथर्व वेद का तो नाम ही है "ब्रह्मवेद", क्योंकि अथर्ववेद साक्षात् रूप से अन्य वेदों की अपेक्षया अधिकरूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करता हैं, शेष वेद प्रायः परम्परया ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये ऋग्वेद में कहा है कि "यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋग्वेद) अर्थात् ऋचाओं का अध्ययन कर के भी जो ब्रह्म को नहीं जानता उसे ऋचाओं के अध्ययन से प्राप्त ही क्या हुआ? अतः साक्षात् तथा परम्परया ब्रह्म का प्रतिपादन करने से सभी वेदों को ब्रह्म कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने भी कहा है कि "ब्रह्म = ईश्वरो, वेदः, तत्त्वं, तपो वा" (उणाः ४।१४७)]।

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥३३॥

(पितरः) हे पितरो! (मर्त्येषु अमृतः) मरण धर्मा पदार्थों में (अमृत) अमर (यः अग्निः) जो अग्नि (नः हृत्सु अन्तः) हमारे हृदयों के भीतर (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है (तम्) उस (देवम्) देव को (अहम्) मैं (मयि) अपने में (परिगृह्णामि) पूर्णतया ग्रहण किये रखता हूं, (सः) वह (अस्मान्) हमारे साथ (मा द्विक्षत) अप्रीति न करे अर्थात् हमारा त्याग न करे, (मा) और न (वयम्) हम (तम्) उस से अप्रीति करें, उसे त्यागें।

[मन्त्र में अग्नि पद परमेश्वर वाचक है,—इस में कोई सन्देह नहीं। मन्त्र ३२ में "अहम्" द्वारा "प्रवक्ता" का स्वरूप क्या हैं,—इसे दर्शाने के लिये मन्त्र ३३ पठित है। द्विक्षत = द्विष् अप्रीतौ। परस्पर अप्रीति होने पर त्याग की सम्भावना रहती है]।

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥३४॥

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य कुण्ड से (अपावृत्य) हट कर, (क्रव्यादा) मांस भक्षक अग्नि के साथ (दक्षिणा) दक्षिण दिशा को (प्रेत) जाओ। और

(पितृभ्यः आत्मने) पितरों के लिये तथा अपने लिये (प्रियम्) प्रिय कर्म (कृणुत) करो, (ब्रह्मभ्यः) वेद-वेत्ताओं के लिये (प्रियम्) प्रिय कर्म करो।

[प्रिय कर्म है अन्त्येष्टि संस्कार। इस निमित्त गार्हपत्य कुण्ड से अग्नि का उद्धरण करो। अभी तक तो गार्हपत्य-अग्नि देव रूप थी, परन्तु जब इस का अन्त्येष्टि के लिये उद्धरण किया तो यह क्रव्याद् रूप हो गई, क्योंकि इस ने शव के मांस का भक्षण करना है। क्रव्याद् अग्नि को ले कर बस्ती के दक्षिण की ओर जाना चाहिये। दक्षिण में अन्त्येष्टि कर्म होना चाहिये। दक्षिण दिशा ह्रास को, शक्ति के ह्रास को, सूचित करती हैं। जैसे जैसे सूर्य दक्षिण की ओर ढलता जाता है वैसे-वैसे उस की शक्ति का ह्रास होता जाता है, अतः ह्रास क्रिया का अर्थात् अन्त्येष्टि का करना, दक्षिण दिशा में विहित है। अन्त्येष्टि, जीवनीय शक्ति के अत्यन्ततम ह्रास को सूचित करती है।

जीवित अवस्था में व्यक्ति सब सम्बन्धियों को प्रिय होता है, परन्तु मृत होने पर सभी को उस की शवक्रिया ही प्रिय होती है। वेद-वेत्ताओं को भी उस अवस्था में शवक्रिया प्रिय होती है, माता पिता को भी और अपने-आप को भी यही क्रिया प्रिय होती है।

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या ।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥३५॥

(यः) जो (क्रव्याद् अग्निः) मांस-भक्षक अग्नि (अनिराहितः) निराहित नहीं की गई, हटाई नहीं गई, वह (ज्येष्ठस्य पुत्रस्य) बड़े पुत्र के (द्विभागधनम्) दो भागों के धन को (आदाय) छीन कर, (अवर्त्या) वृत्ति के अभाव द्वारा (प्रक्षिणाति) उसे क्षीण करती रहती है।

[अनिराहितः; निर्+आहितः=आहित अग्नि को निकाल देना। अ+निराहितः=आहित अग्नि को न निकालना, न पृथक् करना। मन्त्र में "क्रव्याद्" द्वारा, क्रव्याद् के हेतुभूत यक्ष्मरोग का वर्णन किया है। दोनों ही क्रव्याद् हैं मांसभक्षक हैं। क्रव्याद् अर्थात् शवाग्नि तो स्पष्टतया मांसभक्षक है ही, जोकि हमारे संमुख ही शव का भक्षण कर रही होती है। यही अवस्था यक्ष्मरोग की है। यक्ष्म रोग शनैः-शनैः रोगी के मांस को खाता जाता है इस लिये मन्त्र में यक्ष्म को भी क्रव्याद् कहा है। यक्ष्मरोग भयानक होता है। उग्रा-वस्था में यह रोग रोगी के समग्र धन का भी व्यय करा देता है। यदि बड़े

भाई को यह रोग हो जाय तो दायभाग में मिले उस के दुगने धन को भी चिकित्सा में व्यतीत करा कर, उसे वृत्तिरहित कर, क्षीण कर देता है। अतः अग्निरूप, इस भक्षक यक्ष्मरोग को, शरीर से यथासम्भव अनुग्रावस्था में ही पृथक् करने का यत्न करना चाहिये। मन्त्र में पिता की जायदाद के बटवारे में ज्येष्ठ पुत्र को दो भाग देने का विधान किया है, और अन्यों को एक-एक भाग। अवर्तिः=अ+वर्तिः (उणा० ४।१४२)]।

यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते ।
सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥३६॥

(चेत्) यदि (क्रव्याद्) मांसभक्षक अग्नि (अनिराहितः) घर से निकाली नहीं गई तो (मर्त्यस्य) मरने वाले का (तत् सर्वम्) वह सब कुछ (न अस्ति) नहीं होता, अर्थात् (यत्) जो (कृषते) खेती से वह प्राप्त करता है, (यद्) जो (वनुते) दायभाग से प्राप्त करता है, (यत् च) और जो (वस्नेन) धन द्वारा (विन्दते) प्राप्त करता है, खरीदता है।

[मन्त्र में "क्रव्याद्" अर्थात् मांसभक्षक रूप में यक्ष्मरोग का वर्णन अग्नि पद द्वारा हुआ है, शवाग्नि का नहीं। व्यक्ति जब यक्ष्म के कारण मर गया, तो उस का सर्वस्व, उस के लिये न रहा। वनुते=वन संभक्तौ। वस्नः=वसति येन सः=मूल्यम् (उणा० ३।६)]।

अयज्ञियो हुतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे ।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥३७॥

(यम्, क्रव्याद्, अनुवर्तते) क्रव्याद् अग्नि जिस का पीछा करती है वह (अयज्ञियः) यज्ञ करने योग्य नहीं रहता, (हुतवर्चाः, भवति) और कान्तिरहित हो जाता है, (एनेन) इस द्वारा (हविः) अन्न (न अत्तवे) नहीं खाया जाता। वह (कृष्याः, गोः, धनात्) कृषि कर्म से, गौओं और धन से (छिनत्ति) अपने आप को काट लेता है, वञ्चित कर लेता है।

[जिसे यक्ष्म रोग हुआ मानो शवाग्नि उस का पीछा कर रही है। वह न यज्ञ करने में शक्त होता, न खा-पी सकता, कान्ति से रहित हो जाता, और सम्पत्ति से भी वञ्चित हो जाता है]।

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य ।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥३८॥

(मर्त्यः) मरणधर्मा रोगी (आर्तिम्) कष्ट को (नीत्य) प्राप्त हो कर, (गृध्यैः) लोभी उत्तमर्णों के साथ (मुहुः) बार-बार धन प्राप्ति के लिये (प्र वदति) व्यर्थ में बात करता है, (यान्) जिस-जिस का किं (अग्निः) क्रव्याद् अग्नि, (विद्वान्) मानो जानती हुई सी, (अन्तिकात्) समीप होकर (अनु वितावति) अनुगमन करती रहती है।

[यक्ष्मरोगी, यक्ष्मरोग से पीड़ित हुआ, उत्तमर्णों से धन के लिये व्यर्थ में बातचीत करता है, परन्तु लोभी उत्तमर्ण, उस की आसन्न मृत्यु जान कर, सूद पर उसे धन नहीं देते । नीत्य=नि+इण्+ल्यप् । अनु वितावपि=अनु+वि+तु (गतौ)] ।

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः ।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥३९॥

(यत्) जब (स्त्रियाः) स्त्री का (पतिः म्रियते) पति मर जाता है तब (गृहाः) गृहवासी (ग्राह्या संसृज्यन्ते) पीड़ा से सम्बद्ध हो जाते हैं । अतः (विद्वान् ब्रह्मैव) चारों वेदों का विद्वान् ही (एष्यः) ढूंढना चाहिये यः) जोकि (क्रव्यादम्) मांसभक्षक अग्नि को (निरादधत्) निकाल दे ।

[ब्रह्मा=चारों वेदों का ज्ञाता, या ब्रह्मवेदज्ञ, अथर्ववेदज्ञ । क्रव्यादम्=अभिप्राय है यक्ष्मरोग । यक्ष्मरोग के रहते क्रव्याद् की भी सत्ता बनी रहेगी । यक्ष्मरोग के अभाव में क्रव्याद् का भी अभाव स्वतः सिद्ध है] ।

यद् रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम् ।
आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ॥४०॥

(यत्) जो (रिप्रम्) कुत्सित कर्म, (शमलम्) चित्त की शान्ति को समाप्त कर देने वाला कर्म, (यत् च) और जो (दुष्कृतम्) दुराचार (चकृम) हमने किया है, तथा (यत्) जो (संकसुकात् अग्नेः) शवाग्नि की चञ्चल ज्वाला या यक्ष्म से कष्ट हुआ है (तस्मात्) उस सब से छुड़ा कर (आपः) व्यापक परमेश्वर तथा जल (मा) मुझे (शुम्भन्तु) पुनः सुशोभित कर दें ।

[रिप्रम्=कुत्सितम्, "लीरीङोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः" (उणा० ५।५५) । शमलम्=शम् (शान्ति)+अलम् । आपः=परमेश्वर यथा "ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) आपः=जल । अर्थात्

परमेश्वरीय उपासना तथा जल चिकित्सा द्वारा यथासम्भव मन्त्र निर्दिष्ट दोषों का उपचार करना चाहिये । शवाग्नि की गर्मी की चञ्चल ज्वाला के कारण यदि कोई शारीरिक कष्ट प्राप्त हुआ है तो उसे जलचिकित्सा द्वारा स्वस्थ करना चाहिये । संकसुक;=चञ्चलः (उणा० २।३०=महर्षि दयानन्द); अस्थिर (उणा० २।३०; भट्टोजी दीक्षित) क्रव्याद्=मांस भक्षक अग्नि; संकसुक=चञ्चल शवाग्नि, वायु के झोंकों के कारण शवाग्नि की चञ्चल हुई ज्वाला । संकसुकः=सम्+कसि (गतौ)] ।

ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन् प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः ।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः ॥४१॥

(ताः) वे आपः [अर्थात् जल] (प्रजानतीः) मानों पंथों को जानती हुई सी (देवयानैः पथिभिः) वायुदेव के जाने-आने के पथों द्वारा (अधरात्) नीचे से (उदीचीः) ऊपर की ओर अञ्चन अर्थात् गति करतीं, और ऊपर से नीचे की ओर (आववृत्रन्) आवर्तन करती हैं, आती हैं । (पर्वतस्य) पर्वत की ओर (वृषभस्य) वर्षाकारी मेघ के (पृष्ठे अधि) पीठ पर मानो (पुराणीः सरितः) पुरानी नदियां (नवाः) नया नया रूप धारण करके (चरन्ति) विचरती हैं ।

[वृषभस्य=वृषु वर्षणे । देवयानैः=वायु देव जिस ओर गति करता है, मेघस्थ आपः भी उसी ओर गति करते हैं । मन्त्र ४० में आपः का वर्णन हुआ है । पीने तथा जलचिकित्सा के लिये वर्षा जल तथा पर्वत से उतरता जल उत्तम होता है । पृथिवी पर बहता बहता मलिन हो जाता है] ।

अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥४२॥

(अक्रव्याद्) हे अक्रव्याद् अर्थात् मांस भक्षक अग्नि से भिन्न अग्नि ! तू (क्रव्यादम् निः नुद) मांस भक्षक अग्नि को निकाल फेंक, और (देवयजनम् आ वह) देवयजन अग्नि को हमें प्राप्त करा।

[मन्त्र में तीन अग्नियों का वर्णन किया है, (१) अक्रव्याद्, (२) क्रव्याद्, (३) देवयजन ! यक्ष्मरोग के निवारण के प्रकरणानुसार, यक्ष्म अतः शारीरिक रोग है, इसलिये इसका परिणाम है मांसभक्षक क्रव्याद्

अर्थात् श्मशानाग्नि । सूक्तोक्त अग्नियों में शारीरिक अग्नि जाठराग्नि तथा शरीर के तापमान को बनाए रखने वाली रक्तगत "आप्य-अग्नि" । यह सम्भवतः अक्रव्याद् अभिप्रेत है। देवयजन का अर्थ है "देवों का यजन", अर्थात् शारीरिक देवों,—ऐन्द्रियिक तथा बौद्धिक दिव्य शक्तियों का, संगठन अर्थात् शरीर के साथ संगति बनाए रखने वाली अग्नि । यह दिव्य-अग्नि है आत्माग्नि, जीवात्माग्नि तथा परमात्माग्नि । यजन=यज् देवपूजा, संगतिकरण, दान । अथवा देवयजन=गार्हपत्य या आहवनीय अग्नि (मन्त्र ४४)] ।

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात् ।
व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥४३॥

(इमम्) इस रोगी में (क्रव्याद्) मांसभक्षक-अग्नि (आ विवेश) आ प्रविष्ट हुई है, (अयम्) यह रोगी (क्रव्यादम्) मांसभक्षक-अग्नि का (अनु अगात्) स्वयं अनुगामी बना है । इन दोनों को (नानानम्) भिन्न भिन्न प्राणशक्तियों वाले (व्याघ्रौ कृत्वा) दो व्याघ्ररूप कर के, (तम्) उस का (हरामि) मैं संहार करता हूं, (शिवापरम्) जो शिव से अपर अर्थात् भिन्न है, अशिव है ।

[क्रव्याद्,—यक्ष्मरोगरूप में रोगी में प्रविष्ट हुई है, जो कि रोगी के मांस का भक्षण करती रहती है, श्मशानाग्नि के रूप में प्रविष्ट नहीं हुई । वस्तुतः रोगी ने स्वयं क्रव्याद् अर्थात् यक्ष्मरोग का आह्वान किया है, स्वास्थ्य के नियमों के भंग द्वारा। रोगी और यक्ष्मरूपी क्रव्याद्—इन दोनों में यक्ष्म तो व्याघ्ररूप स्वयं हैं, जो कि रोगी को खाता जाता है । यक्ष्म का वैद्य नाना उपचारों द्वारा रोगो की प्राणशक्ति का उद्धार करके रोगी को शनैःशनैः प्रबल व्याघ्र बना देता हैं, और इस व्याघ्र द्वारा अशिव यक्ष्मरूपी व्याघ्र का संहार कहता हैं । व्याघ्रौ, पशुव्याघ्र नहीं; अपितु दो परस्पर विरोधी शक्तियां हैं,—स्वास्थ्यशक्ति और रोगशक्ति । नानानम्=नाना (भिन्न-भिन्न)+अनम् (अन् प्राणने, प्राणशक्तियां)। रोग में भी निज प्राणशक्ति होतीं है, जिस द्वारा वह अपने स्वरूप को बनाए रखने तथा विजयी करने में सशक्त होता है । वर्णन कवितामय हैं] ।

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥४४॥

(अग्निः गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि (देवानाम्) देवों के (अन्तर्धिः) भीतर अर्थात् जीवन या आत्मा में स्थित होकर उनका धारण-पोषण करती है, और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के (परिधिः) बाहर स्थिर होकर उन का धारण-पोषण करती है, और (उभयान् अन्तरा) दोनों—रोगी होने वाले मनुष्य और रोग,—को व्यवहित करती हुई (श्रितः) रहती है ।

[गार्हपत्य अग्नि में पुष्टिप्रद और रोगविनाशक पदार्थों की नियमपूर्वक आहुतियों द्वारा रोग, मनुष्य से दूर रहता हैं। संन्यासी हैं, देवकोटि के लोग । गार्हपत्य अग्नि इन की आत्माओं में आरोपित रहती है । यथाः— "आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्" । "ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मोपासक वेदानुसारी जीवन वाला व्यक्ति, निज आत्मा में अग्नियों को आरोपित कर गृहजीवन से ही प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास धारण करले"] ।

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥४५॥

(अग्ने) हे गार्हपत्य अग्नि ! (त्वम्) तू (जीवानाम्) प्राणधारियों, जीवितों की (आयुः प्रतिर) आयु को बढ़ा (ये मृताः) जो मर गए हैं वे (अपि) भी (पितॄणाम् लोकम्) माता-पिता के लोक अर्थात् पृथिवी-लोक को (गच्छन्तु) प्राप्त हों। (सुगार्हपत्यः) उत्तम तथा श्रेष्ठ गार्हपत्य तू (अरातिम्) रोगरूपी शत्रु को (वितपन्) तपा देती हुई (उषाम् उषाम्) प्रत्येक उषा को (श्रेयसीम्) कल्याणकारी रूप में (अस्मै) इस रोगोन्मुक्त के लिये (धेहि) प्रदान कर ।

[गच्छन्तु=गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम् गतिः, प्राप्तिश्चेति । यहां प्राप्ति अर्थ लिया गया है । सुगार्हपत्यः=गार्हपत्य-अग्नि की उत्तमता तथा श्रेष्ठता इतने में है कि इस में दी गई, पौष्टिक तथा आरोग्यकारी आहुतियों को वह सुफल कर देती है] ।

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥४७॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (सर्वान् सपत्नान्) सब शत्रुओं का (सहमानः)

पराभव करता हुआ तू, (एषाम्) इन के (ऊर्जम्) बल और-प्राणशक्ति को तथा (रयिम्) वेगरूपी-सम्पत्ति को (अस्मासु) हम में (आ धेहि) स्थापित कर।

[प्रत्येक रोगरूपी शत्रु में अपना-अपना स्वाभाविक बल तथा शक्ति और वेग होता हैं । गार्हपत्य-अग्नि के यथोचित सेवन से रोग के बल आदि घटते जाते हैं, और तादृश बल आदि रोग से उन्मुच्यमान व्यक्ति में शनैः शनैः आते जाते हैं (४६)] ।

(वह्निम्) रोग को प्रवाहित करने वाले, (पप्रिम्) रोग द्वारा उत्पन्न क्षति को पूरित करने वाले (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (अनु आरभध्वम्) निरन्तर आलम्बन करो, (सः) वह (वः) तुम्हें (अवद्यात्) गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय (दुरितान्) दुःखफलक रोग से (निर्वक्षत्) छुड़ाएगा, निर्मुक्त करेगा। (तेन) उस की कृपा द्वारा (आपतन्तम्) आक्रमणकारी (शरुम्) जीर्ण-शीर्ण कर देने वाले रोग को (अपहत) दूर करो या उस का पूर्णतया हनन करो, (तेन) उस की कृपा द्वारा (रुद्रस्य) रुद्ररूपी रोग-कीटाणु के (अस्ताम्) फेंके (शरुम्) विनाशक बाण को (अपहत) दूर करो या उस का पूर्णतया हनन करो, और (परि पात) अपनी सब ओर से रक्षा करो (४७) ।

[पप्रिम्=प्रा पूरणे । शरुम्=शृ हिंसायाम् । परमेश्वरोपासना द्वारा-उसकी कृपा का आह्वान कर, दुःखों से छुटकारा पाने का यत्न करते रहना चाहिये] ।

अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥४८॥

(अनड्वाहम्) संसाररूपी शकट का वहन करने वाली, (प्लवम्) भवसागर से तैराने वाली नौका रूप परमेश्वर का (अनु) निरन्तर (आरभध्वम्) आलम्बन लो, (सः) वह (वः) तुम्हारा (निर्वक्षत्) निर्वहन करेगा (अवद्यात्) गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय (दुरितात्) तथा दुष्परिणामी पाप से । (सवितुः) संसार के उत्पादक परमेश्वर रूपी (एतां नावम्) इस नौका पर (आ रोहत) आरोहण करो ताकि (षड्भिः) छः (उर्वीभिः) विस्तृत षट्–सम्पत्ति रूपी नौकाओं द्वारा (अमतिम्) अध्यात्म-अज्ञानरूपी नद को (तरेम) हम तैर जांय।

[अनड्वाहम्; अनस्=शकट, उस का वहन करने वाला, अर्थात् संसार रूपी शकट का वहन करने वाला परमेश्वर । प्लवम्=नौका । परमेश्वर को ब्रह्मोडुप[1] भी कहा है, अर्थात् ब्रह्म रूपी डोंगी या नौका (श्वेता० उप० अध्या० २, खं० ८) । सवितुः नावम्=सविता रूपी नौका (विकल्पे षष्ठी) । भव-सागर से तैराने वाली नौका है परमेश्वर, और जिस अध्यात्म-अज्ञानरूपी नद में हम गोते खा रहे हैं, या डूबे जा रहे हैं, उस अज्ञानरूपी नद से तैराने वाली हैं षट्-सम्पत्ति रूपी छः नौकाएँ[2]] ।

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यास्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥४९॥

(अहोरात्रे) दिन–और–रात (बिभ्रत्) सब का भरण-पोषण करता हुआ तू (अनु एषि) निरन्तर सक्रिय हो रहा है, (क्षेम्यः तिष्ठन्) सब का क्षेम करता हुआ तू जगत् में स्थिर हो रहा है, (प्रतरणः) कष्टों से तैराने वाला, तथा (सुवीरः) श्रेष्ठ वीर या सर्वप्रेरक तू है। (तल्प) हे शय्यारूप ! (अनातुरान्, सुमनसः, बिभ्रत्) आरोग्यसम्पन्नों और शिव-संकल्पी मनों वालों को सदा परिपुष्ट करता हुआ तू (ज्योग् एव) सदा ही (पुरुषगन्धिः) पौरुषरूपी सुगन्ध से सुगन्धित हुआ (नः) हमें (एधि) प्राप्त हो ।

[सुवीरः=परमेश्वर सर्वतः श्रेष्ठ वीर है, सब की रक्षा करता और किसी का भी विनाशक नहीं है, सब को न्यायानुसार फल देता है ; या सु+वि+ईर् (गतौ) अर्थात् सर्वप्रेरक है । तल्प=शय्या, शयन करने का पलङ्ग । जैसे रात्रि के समय थके मनुष्य पलङ्ग पर आराम पाते हैं, वैसे सांसारिक धन्धों से विमुख हो कर विरक्त, परमेश्वराश्रय में विश्राम पाते हैं । इसी भावना के अनुसार वैदिक साहित्य में परमेश्वर को "उपस्तरण" (बिछौना), तथा "अपिधान (ओढ़नी) भी कहा है । पुरुषगन्धिः=परमेश्वर सदा पौरुष कर्म तथा पुरुषार्थ में तत्पर रहता है] ।

देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा ।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥५०॥

---

१. "ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" ।
२. एक सात्त्विक मन और सात्त्विक ५ ज्ञानेन्द्रियां रूपी नौकाएं ।

(ते) वे (देवेभ्यः) दिव्य शक्तियों से अपने-आप को (आ वृश्चन्ते) पूर्णतया काट लेते हैं, वञ्चित कर लेते हैं, और (सर्वदा पापम्) सदा कष्ट-मय (जीवन्ति) जीवन व्यतीत करते हैं, (यान्) जिन्हें कि (क्रव्याद् अग्निः) मांस भक्षक अग्नि, (अन्तिकात्) समीप हो कर (अनु वपते) निरन्तर छिन्न भिन्न कर देती है (इव) जैसे कि (अश्वः) घोड़ा (नडम्) नड को छिन्न-भिन्न कर देता है।

[मन्त्र में यक्ष्म रोग को क्रव्याद् अग्नि कहा है। यक्ष्म, रोगी के मांस को खाता रहता है, और रोगी को अन्त से श्मशानाग्नि के सुपुर्द कर देता है]।

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते ।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥५१॥

(ये) जो (अश्रद्धाः) श्रद्धा विहीन व्यक्ति (क्रव्याद्) क्रव्याद् के साथ (समासते) रल-मिल कर रहते हैं। (धनकाम्याः) और धन की कामना वाले होते हैं, (ते वै) वे निश्चय से (सर्वदा) सब जीवन काल तक (अन्येषाम्) दूसरों की (कुम्भीम्) हंडियां को (पर्यादधति) अग्नि पर चढ़ाते रहते हैं।

[जो वेदोपदिष्ट कर्त्तव्यों पर श्रद्धा नहीं रखते, वे कुकर्मों के मार्ग पर चलते हुए, क्रव्याद् के संगी-साथी बन कर, धन का अपव्यय कर धन-विहीन हो जाते, और धनप्राप्ति की कामना से दूसरों की पाकशालाओं में पाचक बने रहते हैं। कुमार्ग पर चलने से व्यक्ति अल्पायु हो जाता है, मानो क्रव्याद् उस पर शीघ्र आक्रमण कर देती है]।

प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्त्तते पुनः।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनु विद्वान् वितावति ॥५२॥

(इव) मानो कुकर्मी व्यक्ति (मनसा) मन द्वारा (प्र) आगे की ओर (पिपतिषति) उड़ना चाहता है, परन्तु (मुहुः) बार-बार (पुनः) फिर (आ वर्त्तते) वापिस लौट आता है, (यान्) जिन्हें कि (क्रव्याद् अग्निः) मांसभक्षक अग्नि, (विद्वान्) मानों जानता हुआ सा, (अन्तिकात्) उन के समीप होकर, (अनु) निरन्तर (वितावति) वृद्धि या उन्नति से विगत करती रहती है। वितावति=वि+तु (वृद्धौ)।

[कुकर्मी व्यक्ति उन्नति की केवल मानसिक इच्छा करता है, परन्तु

निःशक्त हो जाने से उसे सफलता प्राप्त नहीं होती। वह क्रव्याद् अग्नि का शिकार बना रहता है और उन्नति नहीं कर सकता।

अन्तिकात्=जिन में रोग निरोधशक्ति (Immunity) कम होती है उन के समीप रोग रहते हैं। कुकर्मों द्वारा रोगनिरोध शक्ति कम हो जाती है]।

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः ।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥५३॥

(क्रव्याद्) हे मांसभक्षक यक्ष्मरोग! (पशूनां कृष्णा अविः) पशुओं में काली भेड़ (ते भागधेयम्) तेरे भाग्य में है। (सीसम्) सीसभस्म को, (चन्द्रम्) चन्द्र अर्थात् चान्दी तथा सुवर्ण को (अपि) भी (ते भागधेयम् आहुः) तेरे भाग्यरूप में [वैद्यलोग] कहते हैं। (पिष्टाः माषाः) पीसे हुए उरद जोकि (हव्यम्) खाने योग्य हवि (ते भागधेयम्) तेरे भाग्य में है, (अरण्यान्याः) बड़े अरण्य के (गह्वरम्) घने प्रदेश का (सचस्व) तू सेवन कर।

[क्रव्याद् यद्यपि मांस-भक्षक शवाग्नि है। यतः यक्ष्मरोग और शवाग्नि का परस्पर सहचार है (मन्त्र ५१), अतः साहचर्य के कारण यक्ष्मरोग को क्रव्याद् कहा है। यक्ष्मरोग के लिये, (१) काली भेड़ का दूध, (२) सीसभस्म, (३) चान्दी तथा सुर्वण निर्मित औषधें, (४) पिसे उरद का भोजन तथा उस की आहुतियां, (५) तथा बड़े अरण्यों के घने प्रदेशों का सेवन उपकारी है। चन्द्रम्=चान्दी; तथा चन्द्रम् हिरण्यनाम (निघं० १।२)। हव्यम्=हु दानादनयोः, अर्थात् अग्नि के प्रति दान, तथा अदन अर्थात् भक्षण। अरण्यान्याः=महदरण्यम्। बड़े अरण्यों के घने प्रदेशों की वायु स्वच्छ होती है। भागधेयम्=Fortune, destiny, luck (आप्टे)]।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम् ।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥५४॥

(जरतीम्) जीर्ण हुई (इषीकाम्) मूंज की, (तिल्पिञ्जम्) तिलों और तिल की खली की, (दण्डनम्, नडम्) दण्डन और नड की (इष्ट्वा) इष्टि कर के, इन की आहुतियां दे कर, (तम्, इध्मम्,

कृत्वा) और इन्हें ही इध्म बना कर, (इन्द्रः) इन्द्र ने (यमस्य अग्निम्) मृत्यु की अग्निरूप यक्ष्म को, या शवाग्नि को, (निरादधौ) शरीर से, या घर से, निकाल धरा।

[इषीका=Reed, Rush (आप्टे)। इन्द्रः=यक्ष्मरोग से मुक्त हुआ, ऐश्वर्य सम्पन्न जीवात्मा वाला, व्यक्ति]।

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्र विद्वान् पन्थां वि ह्याविवेश।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५॥

(प्रत्यञ्चम्) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, (अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर के (प्रति अर्पयित्वा) प्रति अपने आप को समर्पित कर के, (पन्थाम्) स्वास्थ्य के मार्ग को (प्र विद्वान्) ठीक प्रकार से जानता हुआ मैं, (हि) निश्चय पूर्वक, (वि आविवेश) शरीरगृह में, मृत्यु से विमुख हो कर, प्रविष्ट हुआ हूं। (अमीषाम्) जीवन विरोधी इन शक्तियों के (असून्) प्राणों को (परा दिदेश) मैंने अपने से परे रहने का निर्देश किया है, अब (इमान्) इन निज शक्तियों को, (दीर्घेण आयुषा) दीर्घ आयु के साथ, (सं सृजामि) मैं सम्बद्ध करता हूं।

[यक्ष्म प्रकरण के अनुसार मन्त्रार्थ किया है। रोगोन्मुक्त व्यक्ति, ५४ मन्त्रोक्त इष्टियां कर के, परमेश्वर के प्रति अपने-आप को समर्पित कर के वेदनिदिष्ट जीवन मार्ग को जान कर, शरीर गृह में मानो पुनः प्रविष्ट हुआ है। वह पवित्रजीवन-विरोधी कर्मों का परित्याग करता है, और दीर्घायु सम्बन्धी कर्मों को करने का संकल्प करता है। मन्त्र में रोगोन्मुक्त स्वस्थ जीवात्मा (इन्द्र ५४) के वचन हैं। प्रत्यञ्चम्; प्रत्यक्=परमेश्वर, यथाः—"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत" (कठ. उप० २।१)। अर्कम्; अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति" (निरुक्त ५।१।४)।

॥ दूसरा सूक्त समाप्त ॥

सूक्त ३

विषय प्रवेश

भूतपूर्व विवाह सम्बन्धी अति संक्षिप्त निर्देश। गृहस्थी के कर्तव्य। ६० वर्षों की आयु पर आश्रम परिवर्तन। ६० वर्षों की आयु पर "गृही" संन्यासी। "गृही" संन्यासी के कर्तव्य। "गृही" संन्यासी की अन्त्येष्टि। यथाः—पतिपत्नी का एकासन पर बैठना; भूतपूर्व विवाह सम्बन्धी आयुओं की राज्य द्वारा स्वीकृति (१) विवाह से पूर्व पारस्परिक अभिरुचि आदि (२)। देवयान सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन (३-१२)। गृह्य उपकरणों की शुद्धि (१३-१५)। गृहस्थ को स्वर्ग बनाना (१६)। पाणिग्रहण तथा पत्नी का पति के अनुव्रता होना (१७)।

व्रीहि अर्थात् धान से तण्डुलों का निर्माण (१८-२०)। रजो गुण का गृहस्थ में परित्याग (२१)। तण्डुल पकाना (२२-३०)।

भोजनार्थ आसन के लिये कुशा काट कर लाना, सह भोजन आदि (३१-३३)। ६० वर्ष की आयु होने पर गृह त्याग कर आश्रम परिवर्तन (३४-३८)।

"गृही" संन्यासी

"गृही" संन्यासी सम्बन्धी वर्णन (३९-६०)। यथाः-६० वर्षों की आयु होने पर सन्तानोत्पादन कर्म त्याग करना (४१) और "गृही" संन्यासी होना। "गृही" संन्यासी होने की योग्यता,—पति पत्नी में परस्पर सहानुभूति तथा परिवार के सब सदस्यों के प्रति समदृष्टि (३९-४०)। वसु (दूध), मधु और घृत का सात्विक भोजन (४१)। गृह निधि की सुरक्षा, त्रिविध स्वर्ग की प्राप्ति (४२)। विद्वान् अतिथियों की सेवा (४३,४४)। परमेष्ठी तथा हिरण्मय ज्योति की प्राप्ति (४५,५०)। सत्य और तप के लिये दान (४६)। समग्र लोगों के प्रति कुमार पुत्र की भावना-पूर्वक सेवा (४७,४८)। प्रेम-भावना (४९)। घर बुना वस्त्र धारण करना (५१)। अनृतभाषण परित्याग (५२)। "गृही" संन्यासी की अन्त्येष्टि (५३-६०)।

ऋषिः यमः १-६० । देवताः स्वर्गः, ओदनः, अग्निः । त्रिष्टुप्; १, ४२, ४३, ४७ भुरिक्; ८, १२, २१, २२, २४ जगती; १३, ७, १७ स्वराडार्षी पंक्तिः; ३४ विराड्गर्भा; ३९ अनुष्टुभ् गर्भा; ४४ पराबृहती; ५५, ६० त्र्यवसाना सप्तपदा शंकुमत्यति जागत शाक्वराति शाक्वर धात्यं-गर्भातिधृतिः; ५५, ५७-६० कृतिः; ५६ विराट् कृतिः ।

पुमा॑न् पुंसोऽधि॑तिष्ठ चर्मे॑हि तत्र॑ ह्वयस्व यत॒मा प्रि॒या ते॑।
याव॑न्ता॒वग्रे॑ प्रथ॒मं सं॑मेय॒थुस्तद् वां॒ वयो॑ यम॒राज्ये॑ समा॒नम् ॥१॥

(पुमान्) वृद्धिशील हे पुरुष ! तू (पुंसः¹) नर पशु के (चर्म¹) चमड़े पर (अधितिष्ठ) बैठ, (एहि) आ, (तत्र) उस पर [बैठने के लिये] (ह्वयस्व) उसे बुला (यतमा) इन में से जो (ते) तेरी (प्रिया) प्रिया है । (अग्ने) पहिले अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में (यावन्तौ) जिस आयु के तुम दोनों (प्रथमम् समेयथुः) प्रथम संगत हुए थे, [गुरुकुल में] प्रविष्ट हुए थे, (वाम्) तुम दोनों की (तत् वयः) वह आयु (यमराज्ये) यमनियमों के पालन कराने वाले नियन्ता राजा के राज्य में (समानम्) मान सहित स्वीकृत है ।

[विवाह सम्बन्धी प्रकरण है । विवाह के लिये वरवधू की आयुओं का विचार राज्याधिकारी रखें । ब्रह्मचर्याश्रमों में उन की जो-जो आयु अङ्कित हो, राज्य में उसे मानपूर्वक स्वीकृत कर लेनी चाहिये । विवाह से पूर्व वर-वधू में विवाह के लिये परस्पर प्रीति होनी चाहिये] ।

ताव॑द् वां॒ चक्षु॒स्तति॑ वी॒र्या॑णि॒ ताव॒त् तेज॑स्तति॒धा वाजि॑नानि ।
अ॒ग्निः शरी॑रं सचते॒ य॒दैधो॑ऽधा॑ प॒क्वान्मि॑थु॒ना सं भ॑वाथः ॥२॥

(वाम्) तुम दोनों की (चक्षुः) प्रेम दृष्टि (तावत्) उतनी या उसी प्रकार बनी रहे, (वीर्याणि) वीर्य शक्तियां (तति) उतनी ही बनी रहें, (तेजः) तेज (तावत्) उतना या उसी प्रकार का रहे, (वाजिनानि) बल (ततिधा) उतने ही प्रकार के बने रहें [जैसे कि ब्रह्मचर्याश्रम में थे] । (यदा) जब (शरीरम्) तुम्हारे प्रत्येक शरीर के साथ (अग्निः) ज्योति (सचते) संगत हो जाय, जैसे कि (अग्निः) अग्नि (एधः) इन्धन को

१. चर्म=अजिन या मृगछाल । "पुंसः" द्वारा यह दर्शाया है कि तू अभिवृद्धि शील पुरुषों पर अधिष्ठित हो, उन का मुखिया बन । पुंसः (पुंस् अभिवर्धने) ।

प्राप्त कर उसे ज्योतिर्मय बना देती है, (अधा) तब (पक्वात्) तुम्हारे प्रत्येक के परिपक्व शरीर से (मिथुना) बाल-बालिकाएँ (संभवाथः) सम्भूत हों, पैदा हों ।

[मनुस्मृति में कहा है कि ऋत्वनुसार सम्पर्क से गृहस्थी, ब्रह्मचारी सदृश ही रहते हैं, और उन के तेज आदि पूर्ववत् बने रहते हैं] ।

सम॑स्मिँल्लो॒के सम्ु॑ दे॒वया॒ने सं स्मा॑ स॒मेतं॑ यम॒राज्ये॑षु ।
पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द् रेतो॒ऽधि वां सं ब॒भूव॑ ॥३॥

(अस्मिन् लोके) इस लोक अर्थात् गृहस्थ में (सम् एतम्) तुम दोनों मिल कर रहो, (उ) और (देवयाने) देवों के मार्ग में अर्थात् ब्रह्मचर्य, सत्य आदि के मार्ग में (सम् एतम्) मिल कर चलो, (यमराज्येषु) यमनियमों का पालन कराने वाले नियन्ता राजा के राज्य प्रदेशों में (सं स्मा समेतम्) परस्पर मिल कर जाओ आओ । (पवित्रैः) पवित्र कर्मों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए तुम दोनों (तद्) उस सन्तान को (उपह्वयेथाम्) अपने समीप बुलाया करो, (यद् यद्) जो जो सन्तान कि (वाम्) तुम दोनों के (रेतः अधि) रज-वीर्य से (संबभूव) उत्पन्न हुई है ।

आप॑स्पुत्रासो अ॒भि सं वि॑शध्वमि॒मं जी॒वं जी॑वधन्याः स॒मेत्य॑ ।
तासां॑ भजध्वम॒मृतं॒ यमा॒हुर्यमो॑द॒नं पच॑ति वां॒ जनि॑त्री ॥४॥

(पुत्रासः) हे पुत्रो ! (आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर की तरह सर्वोपकारी हो कर, (जीवधन्याः) जीवलोक में अपने-आप को धन्य समझते हुए, (समेत्य) परस्पर मिल कर, (इमम् जीवम्) इस जीव लोक में (अभि सं विशध्वम्) प्रवेश करो । (तासाम्) उस परमेश्वर का (भजध्वम्) भजन किया करो (यम्) जिसे कि (अमृतम्, आहुः) अमृत अर्थात् अमर कहते हैं, और (यम्, ओदनम्) जिस ओदन को (वाम्) तुम दोनों प्रकार के भाई-बहिन की (जनित्री) जननी (पचति) परिपक्व करती रहती है ।

[आपः, तासाम्=परमेश्वर ! यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में आपः=परमेश्वर, आप्लृ व्याप्तौ । अन्य भाष्यकारों ने संविशध्वम् का कर्म मान कर आपः को "अपः" में परिवर्तित किया है ।

मन्त्र में बुजुर्ग अपने पुत्रों को उपदेश देता है कि (१) तुम अपने आप को धन्य समझो कि इस जीवलोक में तुम्हें मनुष्य जन्म मिला है; (२) परस्पर मिल कर इस जीवलोक में जीवनों को सफल बनाओ; (३) परमेश्वर का भजन किया करो, (४) सदा अमृत परमेश्वर का भजन किया करो, मरने वाले का नहीं; (५) परमेश्वर का भजन करते हुए, जैसे शारीरिक भोजन के लिये ओदन का सेवन करते हो, वैसे आत्मिक भोजन के लिये परमेश्वर का, ओदन की तरह, सेवन किया करो। देखो तुम्हारी माता भी इस आध्यात्मिक ओदन का परिपाक निज जीवन में करती रहती है। ओदनम्=परमेश्वर। यथा "यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव। यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनोदनेनाति तराणि मृत्युम्" (अथर्व० ४।३५।६), "जिस के परिपक्व होने से अमृत अर्थात् मोक्ष प्रकट होता है, जो गायत्री का अधिपति हुआ है। जिस में विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित हैं, उस ओदनरूपी नौका द्वारा (मृत्युम्) जन्म मृत्यु के नद को (अतितराणि) मैं तैर जाऊँ]।

यं वाँ पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥५॥

(रिप्रात्) पाप से (च वाचः शमलात्) और वाणी के मल से (निर्मुक्त्यै) छुटकारे के लिये, हे पुत्र और पुत्री! (वाम्) तुम दोनों का (पिता, यम्, पचति) पिता जिस ओदन नामक परमेश्वर को [निज जीवन में योगाभ्यास द्वारा] परिपक्व करता है, (यं च माता) और जिसे तुम्हारी माता परिपक्व करती है, (सः) वह ओदन नामक परमेश्वर (शतधारः) सैंकड़ों का धारण-पोषण करता, या सैंकड़ों आनन्द धाराओं को प्रवाहित करता (स्वर्गः) और विशिष्ट सुख प्राप्त कराता है। (महित्वा) निज महिमा से (उभे नभसी) वह दोनों भूलोक और द्युलोक में (व्याप) व्याप्त है।

[रिप्रम्=रीयते तद् रिप्रम्, कुत्सितं "पापम्" (उणा० ५।५५, महर्षि दयानन्द)। शमलम्=शम+अलम्, सुखशान्ति को समाप्त करने वाला वाचिक मल, मिथ्या भाषण, दुर्भाषण, अति भाषण आदि। मन्त्र के वर्णन द्वारा स्पष्ट है कि मन्त्र ४ और ५ में ओदन द्वारा परमेश्वर का वर्णन है। यह दर्शाने के लिये कि हम जैसे शारीरिक भूख की शान्ति के लिये प्राकृतिक ओदन का सेवन करते हैं, वैसे आध्यात्मिक भूख की शान्ति के लिये, तथा मानसिक पाप और वाचिक मल से मुक्ति पाने के लिये आध्यात्मिक ओदन का भी सेवन प्रतिदिन करना चाहिये। गृहजीवन में जिन के माता पिता परमेश्वरोपासना में रत होंगे उन की सन्तानें भी आस्तिक बन जायेंगी.]।

उभे नभसी उभयाँश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥६॥

(उभे नभसी) दोनों अर्थात् पृथिवी और द्यौ को, (च) तथा (उभयान् लोकान्) दोनों लोकों को (संश्रयेथाम्) हे पतिपत्नी! तुम दोनों मिल कर अपने आश्रय बनाओ, तथा (यज्वनाम्) यज्ञकर्त्ताओं के (ये) जो (अभिजिताः स्वर्गाः) विजित किये स्वर्ग है—[या इन्हें आश्रय बनाओ]। (तेषाम्) उन में (यः) जो (ज्योतिष्मान्) ज्योति वाला तथा (मधुमान्) मधुर हैं, (अग्रे) अग्रगण्य है, (तस्मिन्) उस में, (पुत्रैः) पुत्रों के साथ (जरसि संश्रयेथाम्) जरावस्था में मिल कर आश्रय पाओ।

[नभसी द्यावापृथिवी नाम (निघं० ३।३०)। "स्वर्गाः" पद में बहुवचन क्या नाना स्वर्गों का द्योतक है? १२।३।४२ में भी तीन स्वर्गों का वर्णन है। मन्त्र में पति-पत्नी के लिये निम्नलिखित विकल्प दिये प्रतीत होते हैं; (१) योगाभ्यास द्वारा विभूति प्राप्त कर द्युलोक और भूलोक में यथेच्छ विहारी होकर आनन्द लाभ करना। (२) दो लोक अर्थात् गृहस्थ में तथा वानप्रस्थ में विचरना। वानप्रस्थ में जाकर सत्संगों द्वारा अध्यात्मज्योति को प्राप्त करना, तथा गृहस्थ में रहते मधुर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना। (३) याज्ञिकों की विधि के अनुसार यज्ञ करते हुए गृहस्थ जीवन को स्वर्गमय बनाना, और जरावस्था में पुत्रों के साथ गृहस्थ में मधुर जीवन व्यतीत करना]।

प्राचीं प्राचीं प्र दिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥७॥

(प्राचीम्, प्राचीम्) प्रत्येक प्रगतिशील (प्रदिशम्) प्रकृष्ट निर्देश के

अनुसार (आरभेथाम्) जीवन आरम्भ करो । (श्रद्दधाना) श्रद्धालु लोग (एतम्, लोकम्) इस गृहस्थ लोक के साथ (सचन्ते) अपना सम्बन्ध करते हैं । (वाम्) तुम दोनों का (यत् पक्वम्) जो पका अन्न है, जोकि (अग्नौ) अग्नि में वैश्वदेव्य आहुतिरूप में (परिविष्टम्) मानो परोसा गया है, (तस्य गुप्तये) उस कर्म को सुरक्षित करने के लिये, (दम्पती) हे घर के तुम दोनों स्वामी ! (संश्रयेथाम्) परस्पर मिल कर रहो ।

[गृहस्थ का सेवन श्रद्धा से करना चाहिये, केवल शारीरिक भोग के लिये नहीं, और दैनिक धर्मकृत्यों का विलोप न होने देना चाहिये । दम्पती=दमे (गृहनाम, निघं० ३।४)+पती; अथवा "जाया और पति" । प्राची=torward is also eastern (ह्विटनी) । अगले मन्त्रों में दक्षिण दिशा, प्रतीची दिशा उत्तर, तथा ध्रुवा का वर्णन है । ये दिशाएँ भी जीवन सम्बन्धी निर्देशों को सूचित करती हैं । ये दिशाएँ । (Cardinal Point) कम्पस द्वारा सूचित दिशाओं या सूर्य के उदयास्त तथा उत्तरायण और दक्षिणायन को सूचित नहीं करतीं] ।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥

(दक्षिणाम्, दिशम्-अभि) दक्षिण दिशा की ओर (नक्षमाणौ) गति करते हुए तुम दोनों, (एतत् पात्रम् अभि) इस रक्षक देवमाग की ओर (पर्यावर्त्तेथाम्) लौट आओ । (तस्मिन्) उस देवमार्ग में (वाम्) तुम दोनों का (यमः) नियन्ता बुजुर्ग, (पितृभिः) घर के पितरों के साथ (सं विदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हुआ, (पक्वाय) तुम्हारे परिपक्व अभ्यास के लिये, (बहुलम्, शर्म) बहुत सुख (नियच्छात्) प्रदान करे ।

[दक्षिण दिशा है वृद्धि की दिशा, दक्ष वृद्धौ । इस ओर जाते हुए व्यक्ति प्रायः भोगमार्गावलम्बी हो जाते हैं । अध्यात्म प्रगतिमार्ग से विमुख हो जाते हैं, देवमार्ग से च्युत हो जाते हैं । अतः उन्हें कहा कि इस वृद्धि-मार्ग की ओर कदम बढ़ाते हुए तुम दोनों रक्षक-देवमार्ग की ओर अपने-आप को लौटाते रहो । देवमार्ग "पात्रम्" है, रक्षक और पालक हैं । पात्रम्=पा (रक्षणे)+त्र (त्रैङ् पालने) । देवमार्ग में अभ्यास के परिपक्व करने में सहायता दे कर घर का बुजुर्ग, अन्य पितरों से परामर्श ले कर तुम्हें बहुत सुख सामग्री प्रदान करता रहे । प्राची है देवमार्ग और दक्षिणा

है पितृमार्ग । इस उपर्युक्त अभिप्राय को दर्शाने के लिये मन्त्र में यम और पितरों का वर्णन हुआ है] ।

प्रतीचीं दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ।
तस्या श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥९॥

(दिशाम्) दिशाओं में (इयम्) यह (प्रतीची) पश्चिम दिशा (इद्) निश्चय से (वरम्) वरणीय है, श्रेष्ठ है, (यस्याम्) जिस में (सोमः) चान्द या वीर्य (अधिपाः) अधिकृतया पालक (च मृडिता) और सुखदायी है । (तस्याम्) उस पश्चिम दिशा में (श्रयेथाम्) तुम दोनों आश्रय पाओ, (सुकृतः) सुकर्मियों तथा उत्तम कर्मों के साथ (सचेथाम्) अपना सम्बन्ध करो, (अधा) तदनन्तर (मिथुनौ) तुम दोनों पति-पत्नी (पक्वात्) परिपक्व योगाभ्यास से (सं भवाथः) परस्पर मिलकर नवजीवन धारण करो ।

[प्रतीची दिशा ह्रास को सूचित करती है । सूर्य प्राची से उदित होता, मध्याकाश तक चढ़ता जाता, तत्पश्चात् पश्चिम की ओर ढलकता हुआ और शक्ति में क्षीण होता हुआ, पश्चिम में अस्त हो जाता है । यही परिस्थिति शारीरिक जीवन में शरीर की है । ४० वर्षों की आयु के पश्चात् शरीर में परिहाणि का प्रारम्भ हो जाता है, मानो शरीर पश्चिम की ओर ढलकता जाता है । इस ढलकते काल में, वीर्य का प्रयोग सन्तानोत्पत्ति में न कर, योगाभ्यास में करना चाहिये । वीर्य शक्ति के विना योगाभ्यास में सफलता नहीं मिलती । इसलिये योगदर्शन में वीर्य को योगाभ्यास में एक कारण कहा है । "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञा-पूर्वक इतरेषाम्" (योग ।१।२०) । सोमः=सु (प्रसवे)+मन् (उणा० १। १४०); सुमन् semen । सोमः=तथा चन्द्रमा । चन्द्रमा रात्रि का देवता है और शीतल प्रकाशवाला तथा शान्ति प्रद है । प्राची और दक्षिण शब्दों द्वारा द्योतित जीवन यापन के पश्चात् ढलकती आयु में जीवन को शान्त बना कर, योगाभ्यास करना चाहिये । इस ढलकती आयु में सोम पालक और सुखदायी होता है । इस आयु में सुकर्मियों के साथ सम्पर्क करते हुए उत्तम कर्म करते रहना चाहिये] ।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥१०॥

(उत्तरम्, राष्ट्रम्) उत्कृष्ट राष्ट्र (प्रजया) प्रकृष्ट सन्तानों द्वारा (उत्तरावत्) उत्कृष्ट होता है । (दिशाम्, उदीची) दिशाओं में उदीची अर्थात् उन्नति पहुंचाने वाली दिशा (नः) हमें (अग्रम्) अग्रणी (कृणवत्) करे । इस दिशा से (पुरुषः) प्रत्येक मनुष्य (पांक्तम्) पांचों इन्द्रिय-शक्तियों से सम्पन्न, तथा (छन्दः) स्वतन्त्रेच्छा सम्पन्न (बभूव) हुआ है । (विश्वैः) सब के साथ मिल कर (विश्वाङ्गैः सह) सब अङ्गों सहित (संभवेम) हम सब हों ।

[मन्त्र ९ में सुकर्मों के करने का वर्णन हुआ है । सुकर्मों द्वारा उत्कृष्ट हो कर, हम राष्ट्र को उत्तम बना कर, सर्वाग्रणी बनें, समग्र इन्द्रियों की शक्तियों वाले, स्वतन्त्र, तथा सर्वाङ्ग सम्पन्न हम सब हों । प्रजा=प्र (प्रकृष्ट)+जा (अपत्यम्), निघं. ६।२।९, देखो विजामातुः(४०) । उदीची दिशा=उन्नति की ओर ले जाने वाले निर्देश । पुरुषः=पांक्तं, छन्दः] ।

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥११॥

(इयम्) यह (ध्रुवा) गतिशील तो भी स्थिररूप पृथिवी (विराट्) विशिष्ट दीप्ति से सम्पन्न है, (अस्यै) इस के लिये (नमः) नमस्कार हो, (पुत्रेभ्यः) यह अपने समस्त पुत्रों के लिये, (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये (शिवा) कल्याण कारिणी (अस्तु) हो । (देव्यदिते) हे दिव्यगुणों वाली अखण्डित, (विश्ववार) तथा सब वरणीय वस्तुओं वाली मातृभूमि ! (सा) वह तू (नः) हमारे (पक्वम्) परिपक्व योगाभ्यास की (अभि रक्ष) रक्षा कर (इव) जैसे कि (इर्यः) जलों का स्वामी (गोपाः) पृथिवीपति (पक्वम्) पकी खेती की रक्षा करता है ।

[ध्रुवा=ध्रुवति गतिकर्मा (निघं० २।१४), तथा स्थिर (ध्रुवस्थैर्ये)। पृथिवी गति करती हुई भी हमें स्थिर अनुभूत हो रही है । पुत्रेभ्यः=पृथिवी वासियों को पुत्र कहने से पृथिवी को माता है । माता के प्रति नमस्कार करना पुत्रों का दैनिक कर्त्तव्य है । अदिते=अ+दो (अव खण्डने)+क्तिन् । पृथिवी अखण्डित इकाई है । खण्डशः राज्य व्यवस्था वेदाभिमत नहीं, अपितु एक सार्वभौम महाराजा के साथ सम्बद्ध सब माण्डलिक राजा होने चाहियें । अदितिः पृथिवी नाम (निघं. १।१) । इर्यः=इरा (जलम्) यथा इरावती=जलवती नदी तथा इरा अन्ननाम (निघं. २।७) । गोपाः=गो (पृथिवी, निघं. १।१)+पा (रक्षणे)] ।

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥१२॥

(पिता इव पुत्रान्) पिता जैसे पुत्रों का, वैसे हे [ओदन] परमेश्वर! (नः) हमारा (अभि सं स्वजस्व) साक्षात् आलिङ्गन कर, (इह भूमौ) इस भूमि में (नः) हमारे लिये (शिवाः वाताः) शुभ वायुएं तुम्हारी कृपा से (वान्तु) बहें । (देवते) देवतास्वरूप पति-पत्नी (इह) इस गृह में (यम् ओदनम्) जिस परमेश्वर को (पचतः) परिपक्व करते हैं (तम्) उस परमेश्वर को (नः) हमारा (तपः) तप (च) और (सत्यम्) सत्यमय जीवन (वेत्तु) जाने ।

[ओदनम्=परमेश्वर को, (देखो मन्त्र ४) । पचतः=योगाभ्यास द्वारा । वेत्तु=परमेश्वर का प्रत्यक्षज्ञान हो जाना ही उसे प्राप्त करना है । वह तो सर्वव्यापक होने से हमें सर्वदा प्राप्त ही है । तपश्चर्या और सत्यमय जीवन द्वारा उस का ज्ञान होता है । वेत्तु=विद् ज्ञाने] ।

यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद ।
यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥१३॥

(यद् यद्) जब-जब (विषक्तं त्सरन्) विना-टिके (त्सरन्) छद्म-गति से उड़ता हुआ (कृष्णः शकुनः) काला पक्षी कौआ, (इह आ गत्वा) यहां आ कर (बिले) बिल सदृश सुरक्षादायक हमारे घर में (आ ससाद) आ बैठता है; (यद्वा) अथवा (आर्द्रहस्ता) गीले हाथों वाली (दासी) दासी (उलूखलं मुसलम्) उलूखल और मुसल को (समङ्क्त) गीला कर देती है, तो (आपः) हे जलो ! (शुम्भत) उन्हें शुद्ध कर दो ।

[कौआ विष्ठा खाता तथा विष्ठा के समीप बैठता है । घर में आ बैठने पर उस के पञ्जों तथा चोंच द्वारा स्थान के अपवित्र हो जाने की आशङ्का रहती है, इसी प्रकार दासी के साथ से टपकते जल बून्दों द्वारा उलूखल (Mortar) और मुसल (Pestle) के भी अपवित्र हो जाने पर उन्हें शुद्ध जल द्वारा स्वच्छ कर लेना चाहिये । गीले हाथों के जल में हाथ के मल के घुले रहने की सम्भावना रहती है । (Hygienics) अर्थात् आरोग्य की दृष्टि से ये सुझाव ग्राह्य हैं । मनुस्मृति में भी गीले हाथ के

बिन्दुओं को अपवित्र माना है। उलूखल और मुसल तथा दृषद् अर्थात् हाथ की चक्की की वैदिक सभ्यता ग्राह्य है। इस द्वारा तण्डुल और आटे के विटेमिन विनष्ट नहीं होते। बिले=बिल, बिलवासियों को सुरक्षा प्रदान करती है, यह अवस्था घर की भी है। मन्त्र में उपमावाचक पद लुप्त है। त्सरन्=त्सर छद्मगतौ]।

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४॥

(अयं ग्रावा) यह ग्रावा (पृथुबुध्नः) विस्तृत पेंदे [अधोभाग] वाला, (वयोधाः) अन्न का आधार, (पवित्रैः) पवित्र जलादि द्वारा (पूतः) पवित्र हुआ (रक्षः) क्षुद्र कीटाणु समूह को (अप हन्तु) अपगत अर्थात् पृथक् करे। हे ग्रावन्! (चर्म आरोह) चर्म पर आरोहण कर, (महि शर्म यच्छ) महासुख प्रदान कर, (दम्पती) पति-पत्नी (पौत्रमघम्) पुत्र हत्या के पाप या कष्ट को (मा निगाताम्) न प्राप्त हों।

["रक्षः" पद द्वारा, मन्त्र १३ में वर्णित आर्द्रहस्ता दासी तथा कौए से प्राप्त हो सकने वाली कीटाणुरूपी अपवित्रता का निर्देश किया है। कीटाणु पुत्रहत्या के कारणीभूत हो सकते हैं। अन्नाभाव द्वारा भी पुत्र-हत्या होती हैं, इस कारण का निषेध "वयोधाः" शब्द द्वारा दर्शाया है। इस द्वारा अन्न के अभाव को सूचित किया है। वयः अन्ननाम (निघं० २।७)। "ग्रावा" पत्थर का बना है या लकड़ी का—यह सन्दिग्ध है। यह उलूखल प्रतीत होता है]।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।
स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

(देवैः सह) दिव्यगुणों वाला (वनस्पतिः) वृक्ष-निर्मित मुसल (नः आगन) हमें प्राप्त हुआ है, यह (रक्षः पिशाचान्) रोगबीजरूपी राक्षसों और पिशाचों को दूर करता है। (सः) वह (उच्छ्रयातै) ऊपर की ओर उठे और [नीचे की ओर आता हुआ] (वाचं प्र वदाति) आवाज करे। (तेन) उस के सहारे मानो (सर्वान् लोकान् अभि जयेम) सब लोकों पर हम विजय पाएं।

["वनस्पति" द्वारा मुसल का वर्णन किया है। मुसल ऐसे वृक्ष की

लकड़ी का होना चाहिये जो कि रोगनिवारक हो। रक्षः=वे रोग या रोग-कीटाणु जो कि स्वास्थ्य या वृद्धि को रोक देते हैं (रक्षयितव्यमस्मादिति रक्षः)। पिशाचान्=शरीर के मांस का ह्रास करने वाले रोग या किटाणु। पिशाच=पिश=पिशित (मांस)+च (चमु अदने), मांसक्षय, सूखा रोग (Marasmus रोग)। मन्त्र १४, १५ में ऊखल-मुसल द्वारा स्वयं तण्डुल तय्यार करने का निर्देश दिया है]।

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्मान् उत यश्चकर्ष ।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥

(पशवः) पशुओं ने (सप्त मेधान्=मेधाः) सात मेधाओं का (पर्यगृह्णन्) परिग्रह किया है, (एषाम्) इन पशुओं में (यः) जो (ज्योतिष्मान्) प्रशस्त ज्योति अर्थात् मेधावान् होता है, (उत) और (यः चकर्ष) जो मेधा में प्रकृष्ट है, (तान्=तम्) उस को (त्रयस्त्रिंशत्[1]) ३३ (देवताः) दिव्य शक्तियां (सचन्ते) प्राप्त होती हैं। (सः) वह ज्योतिष्मान् व्यक्ति (नः) हमें (स्वर्गम् लोकम् अभि) स्वर्ग लोक की ओर (नेष) ले चले, अर्थात् हमारे गृहस्थों को स्वर्गीय करे।

[सप्त मेधान्=सप्तमेधाः। सप्तमेधान् का अर्थ है "सातयज्ञों को" और सप्तमेधाः का अर्थ है "सात प्रज्ञानों को। मन्त्र में "सप्तमेधान्" सम्भवतः "सप्तमेधाः" वाचक हो। ज्योतिष्मान् पद के स्थान में अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा में "मेधस्वान्" पठित है। सप्तमेधाः हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, १ बुद्धि। इन्हें यजुर्वेद में सात ऋषि भी कहा है, यथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (३४।५५)। तथा "अत्रासत ऋषयः सप्त साकम्" (ऋ० १०।८।९) में भी मस्तिष्क में ७ ऋषियों का स्थान दर्शाया हैं। "सप्तमेधान्" का अर्थ है "सातयज्ञ"। ये कौन से सात यज्ञ हैं जिन का कि परिग्रह पशुओं ने किया हुआ है, ज्ञात नहीं। ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि तो सब पशुओं में है, किन्हीं में कम और किन्हीं में अधिक। सम्भवतः यजुर्वेदोक्त ७ ऋषियों को निजस्थानों में यज्ञकर्त्ताओं के रूप में अधिकतर माना है।

---

१. ये ३३ देवता शरीरगत शारीरिक और मानसिक दिव्य शक्तियां प्रतीत होती हैं, आधिदैविक नहीं। आधिदैविक ३३ देवों की प्राप्ति अशक्य है।

पशवः=वेद की दृष्टि में ५ प्रकार के पशु अधिक उपयोगी मान कर उन्हें ५ विभागों में विभक्त किया है। यथा "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)। इन सब में सप्तमेघाएं विद्यमान हैं]।

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥१७॥

हे ज्योतिष्मान्! (१६), (नः) हमें (स्वर्गं[1] लोकम् अभि) सद् गृहस्थरूपी स्वर्ग लोक की ओर (नयासि) ले चल, ताकि हम (जायया) पत्नी के (सम् स्याम) साथ हों, अर्थात् पत्नियों वाले हों, और (पुत्रैः सह स्याम) पुत्रों के साथ हों। हे वधु! (हस्तं गृह्णामि) मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूं, (अत्र) इस गृहस्थ में वह (मा अनु एतु) मेरी अनुव्रता हो। गृहस्थ में (निर्ऋतिः) कष्ट (मा तारीत्) हमें न प्राप्त हो, (मा अरातिः) न अदानवृत्ति प्राप्त हो।

[जिस गृहस्थ में पत्नी अनुव्रता न हो वहां कष्टमय जीवन हो जाता है। गृहस्थधारण कर अदानी न होना चाहिये। अदानभावना के होते पञ्चमहायज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकते। अरातिः=अ+रा (दाने)+तिः]।

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥

(पाप्मानम्) पापी (ताम् ग्राहिम्) उस आलस्यवृत्ति का अकर्मण्यता का (अति अयाम) हम अतिमगन करें, उसे त्याग दें। हे पत्नी! (तमः) तामसिक भावना को (व्यस्य) हटा कर (वल्गु) मनोहर (प्र वदासि) वचन बोला कर। (वानस्पत्य) हे वनस्पति के बने मुसल! (उद्यतः) ऊपर की ओर उठता हुआ, उद्यम करता हुआ तू (मा जिहिंसीः) तण्डुल को चूरा-चूरा न कर, (मा) और न (विशरीः) इसे तोड़, (देवयन्तम्) क्योंकि [पक कर इस ने] माता, पिता, अतिथि आदि देवों की सेवा के लिये जाना है।

[कटुवचन तामसिक भावना के परिणाम होते हैं। गृहादि कृत्यों के लिये आलस्य और अकर्मण्यता का परित्याग करना चाहिये। धान कूटते

1. मन्त्र भावना, गृहस्थ-स्वर्ग सम्बन्धिनी है।

समय मुसल का प्रहार ऐसा करना चाहिये कि न तो तण्डुलों का आटा बने और न वे टूटें]।

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥१९॥

हे तण्डुल! (विश्वव्यचाः) सब को प्राप्त होने वाला, (सयोनिः) जल में पका हुआ, (घृतपृष्ठः भविष्यन्) और घृत से स्पृष्ट होने वाला तू (एतं लोकम्) इस देवलोक को (उप याहि) प्राप्त हो। हे गृहस्वामिन्! तू (वर्षवृद्धम्) वर्षाऋतु में बढ़े हुए, (शूर्पम्) छाज को (उप यच्छ) प्राप्त कर, पकड़, (तद्) वह छाज (तुषं पलावान्) तुषों और तिनकों को (अप विनक्तु) छांट कर तण्डुलों से पृथक् करे।

[विश्वव्यच्=विश्व+वि+अञ्च् (गतौ) सब को प्राप्त होने वाला अन्न पर सब प्राणियों का अधिकार है। सयोनिः=स+योनिः (उदक नाम, निघं. १।१२), जलसहित अर्थात् जल में पका हुआ ओदन। पके ओदन में घृत मिला कर देवों के निवास स्थानों पर पहुंचा कर उन की सेवा करना गृहस्थों का कर्तव्य है (देवयन्तम्)। पलावान्=पलाव या पलाल=तिनके]।

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥

(ब्राह्मणेन) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ व्यक्ति द्वारा (त्रयः लोकाः) तीन लोक (संमिता) सम्यक्तया जाने हुए होते हैं, (असौ द्यौः) वह द्युलोक, (पृथिवी, अन्तरिक्षम्, एव) पृथिवी और अन्तरिक्ष [ये तीनों] ही। (अंशून् गृभीत्वा) तण्डुल के कणों को ले कर,-(आप्यायन्ताम्) जब कि ये कण पर्याप्त इकट्ठे हो जांय,-(अनु आरभेथाम्) तदनन्तर छांटना आरम्भ करो, और इस निमित्त कण (पुनः) फिर (शूर्पम्) छाज में (आ यन्तु) आ जांय।

[ब्राह्मणेन=मन्त्र १८ में "देवयन्तम्" पद द्वारा देवों का निर्देश किया है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि तो सेवनीय देव हैं ही, परन्तु ब्रह्मज्ञ-और-देवज्ञ व्यक्ति, जिन्हें कि तीनों लोकों का ज्ञान है, विशेषतया सेवनीय हैं,-यह निर्देश मन्त्र के प्रथमार्ध में दिया है। अंशून्=जब धान कूटा जाता है तो कतिपय तण्डल टूट जाते हैं, उन कणों को लेकर छाज द्वारा पुनः छांट लेना चाहिये। संमिताः=सम्+मिताः (ज्ञाताः)]।

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवति सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥२१॥

(पशूनां रूपाणि) पशुओं के रूप (बहुधा पृथक्) बहुत कर के पृथक् पृथक् होते हैं, (सं समृद्धया) सम्यक्[1] समृद्धि द्वारा (एक रूपः भवसि) तू एक रूप हो जाता है। (एतां लोहिनीं त्वचम्) इस लोहिनी त्वचा को (नुदस्व) पृथक् कर, इस निमित्त (ग्रावा) विज्ञानी-उपदेष्टा गुरु (ताम् शुम्भाति) उस को शुभ्र रूप करे, (इव) जैसे कि(मलगः)वस्त्रों के मल को पृथक् करने वाला धोबी (वस्त्रा = वस्त्राणि) वस्त्रों को शुभ्ररूप करता है।

[पशुओं में पुरुष भी पशु है, "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषाः अजावयः" (अथर्व० ११।२।९) । पुरुष भी नाना रूप होता है, कभी तामसिक रूप कभी राजसिक रूप, और कभी सात्त्विक रूप। जीवात्मा कई कोशों से घिरा हुआ है, जिन में दो मुख्य हैं, (१) एक शरीर जिसे कि "लोहिनी त्वचा" कहा है। इस त्वचा का सम्बन्ध लोहित (रक्त) से है। (२) दूसरी त्वचा को भी "लोहिनी त्वचा" कहा है। यह है रजोगुण वाली मनोरूप त्वचा। मनोरूप-त्वचा प्रायः पुरुषों में रजोगुणी[2] होती है। रजोगुण का धर्म है क्रियाशीलता। जागते-सोते मन सदा क्रियाशील रहता है। त्वचा है आवरण रूप (त्वच् संवरणे)। ये दो आवरण या कोश जीवात्मा को घेरे हुए हैं। इन्हें सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपायों द्वारा पृथक् करके जीवात्मा शुभ्र सात्त्विक दृष्टि से "एकरूप" हो जाता है। जीवात्मा के तमोरूप और रजोरूप मलों को सद्गुरु धो डालता है। मलगः = मलं गमयति, अपाकरोति, अपगमयति = धोबी। ग्रावा = गुरुः, गृणातेः (निरुक्त ९।१।६); गृ विज्ञाने; शब्दे; गुरु]।

तण्डुल पक्ष में

तण्डुल व्रीहि से निकलते हैं। व्रीहि के नाना रूप होते हैं। व्रीहि को देख कर बताया जा सकता है कि व्रीहिवर्ती तण्डुल किस प्रकार का है।

१. योगाभ्यास जन्य समृद्धि।

२. रजोगुण को "लोहित" भी कहते हैं, यथा "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० उप० अध्या० ४, खण्ड ५) में रजोगुण को "लोहित" सत्त्वगुण शुक्ल, तथा तमोगुण को "कृष्ण" कहा है। अजा = न जन्म लेने वाली प्रकृति, अर्थात् नित्या—प्रकृति।

तण्डुल नाना प्रकार के होते हैं, और उन के दाम भी इस लिये अलग-अलग होते हैं।

ये तण्डुल भी पशु हैं। काण्ड ११, सूक्त ३, मन्त्र ५ में कहा है कि "अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः"। जब समृद्धि होती है, अर्थात धान को कूटा, छांटा जाता है तो सब प्रकार के तण्डुल एक रूप हो जाते हैं, शुभ्र रूप हो जाते हैं। इन की पहली त्वचा अर्थात् आवरण लोहिनी अर्थात् रोहणी होती है। इस त्वचा के होते बीज का जन्म होता है, पौदा पैदा होता है (रुह बीजजन्मनि)। दूसरी त्वचा तण्डुल के साथ चिपकी होती है। पालिश की विधि से इस त्वचा को पृथक् करने से प्रत्येक प्रकार का तण्डल एकरूप, शुभ्ररूप हो जाता है। तण्डुल पक्ष में "ग्रावा" है चक्की का पाट। ग्रावा = हन्तेः (निरुक्त ९।१।६) अर्थात् व्रीहि का अवहनन कर पाट उसे तण्डुलरूप प्रदान करता है। यथा "व्रीहीनवहन्ति (शतपथ ब्राह्मण)"। व्रीहि = धान।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥२२॥

(त्वा पृथिवीम्) तुझ पृथिवी रूप को (पृथिव्याम् आवेशयामि) पृथिवी पर मैं स्थापित करता हूं, (तनूः समानी) [तुम दोनों का] स्वरूप समान है, (एषा) यह [उखा तथा कुम्भी, मन्त्र २३] (ते) हे पृथिवी! तेरा (विकृता) विकृत स्वरूप है। [हे उखा तथा कुम्भी!] (यत् यत्) जो-जो तुम्हारा भाग (द्युत्तम्) अग्नि द्वारा जला है, तथा (अर्पणेन) खुर्चने द्वारा (लिखितम्) क्षत हुआ है (तेन) उस से (सुस्रोः मा) तू स्रवित न हो, न मत, (तद् अपि) उस को भी (ब्रह्मणा) वेदानुसार (वपामि) ठीक कर देता हूं।

[मन्त्र २३ में उखा अर्थात् अंगीठी, तथा कुम्भी अर्थात् तण्डुल पकाने की हण्डिया का वर्णन हुआ है। ये दोनों पृथिवी अर्थात् मिट्टी के ही विकृत स्वरूप हैं। हैं ये तीनों अर्थात् पृथिवी, उखा और कुम्भी समानरूप। उखा और कुम्भी को अग्नि में पकाया जाता है। इस का निर्देश "द्युत्तम्" द्वारा किया है (द्युत दीप्तौ)। तथा इस से पूर्व खर्च कर उखा और कुम्भी पर कुछ चित्रकारी की जाती है जिसे कि "लिखितम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। लेप द्वारा इन्हें लीप दिया जाता है-ताकि ये सुन्दर रूप हो जाएं, और तण्डुल पकाते समय कुम्भी से जल स्रवित न हो]।

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥२३॥

(जनित्री इव) माता जैसे (सूनुम्) पुत्र को, वैसे हे पृथिवी ! तू इसे (प्रति हर्यासि) चाह । (त्वा पृथिवीम्) हे उखा और कुम्भी ! तुझ पृथिवी रूप को (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (सं दधामि) मैं सम्बद्ध करता हूं । (उखा कुम्भी) हे उखा और कुम्भी ! (वेद्याम्) वेदी में (मा व्यथिष्ठाः) तू व्यथा को प्राप्त न हो, (यज्ञायुधैः) यज्ञ के आयुधों द्वारा (आज्येन) तथा घृत द्वारा (अतिषक्ता) दृढ़ रूप से तू टिकाई गई और सिक्त हुई हैं । अतिषक्ता=अति (दृढ़तया)+सक्ता (षच् समवाए), टिकाई गई तथा सिक्त हुई ।

[उखा का सम्बन्ध अग्निचयन में होता है । उखा में अग्नि को यजमान वर्ष भर जलाए रखता है, तत्पश्चात् गार्हपत्य और आहवनीय में इस अग्नि को डाल कर आहुतियां दी जाती हैं । उखा और वेदि शब्दों द्वारा गृहस्थ की पाकशाला को, यज्ञशाला का रूप दिया गया है, क्योंकि गृहस्थ को भी पञ्चमहायज्ञ करने होते हैं । अतः ओदन के पकाने के लिये गृहस्थ को अंगीठी और हण्डिया की आवश्यकता है । उखा=अंगीठी और कुम्भी=हण्डिया । अथवा गृहस्थ में भी एक पृथक् यज्ञशाला निर्माण की सूचना इन शब्दों द्वारा दी गई है । यज्ञायुधैः=ध्रुवा, उपभृत्, स्रुक्, स्रुव आदि—यज्ञ सम्बन्धी आयुध हैं, उपकरण हैं] ।

अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान् ।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददातै ॥२४॥

(पचन्) पकाती हुई (अग्निः) अग्नि (त्वा) मुझ कुम्भी को (पुरस्तात्) पूर्व से (रक्षतु) सुरक्षित करे, (मरुत्वान्) मानसून वायु वाला (इन्द्रः) इन्द्र अर्थात् विद्युत् (दक्षिणतः) दक्षिण से (रक्षतु) रक्षित करे । (वरुणः) वरुण अर्थात् जलाधिदेव[1] (धरुणे) दृढ़ स्थिति के निमित्त (त्वा) तुझे (प्रतीच्याः) पश्चिम से (दृंहात्) दृढ़ करे, (उत्तरात्) उत्तर से (त्वा) तुझे (सोमः) सोम (सं ददातै) दृढ़ बद्ध करे, बान्धे ।

---

१. वरुणोऽपामधिपतिः (अथर्व० ५।२४।४) ।

[अग्निः=अग्नि का सम्बन्ध पूर्वदिशा के साथ है, क्योंकि पृथिवी पर जो अग्नि है उस का मूल स्रोत सूर्य है । पृथिवी के दक्षिण में समुद्र फैला हुआ है । वर्षा ऋतु में मानसून वायु के साथ विद्युत् दक्षिणी समुद्र से आकाश में आती है । मरुत्=मानसून वायु (अथर्व० ४।२७।४,५) । पृथिवी के पश्चिम से चान्द का उदय होता है । सम्भवतः इस मन्त्र में वरुण[1] द्वारा चान्द का निर्देश हो । समुद्र के ज्वार-भाटा के साथ चान्द का भी सम्बन्ध है, इसलिये चान्द को जलाधिपति[2] भी कहा हो । उत्तर में सोम का सम्बन्ध दर्शाया है । उत्तर में ओषधियां और वनस्पतियां होती हैं । सोम भी ओषधि है । सोम को ओषधियों का अधिपति कहा है । यथा—"सोमो वीरुधामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।७) । अधिपति होने के कारण सोम का सम्बन्ध उत्तर के साथ दर्शाया गया है[3] । वीरुधः=विविध प्रकार की रोहण करने वाली ओषधियां तथा वनस्पतियां । रोहण=रुह बीजजन्मनि । सं ददातै=सन्दानम् (रज्जु)] ।

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान् ।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥२५॥

(पवित्रैः) सूर्य की पवित्र रश्मियों द्वारा (पूताः) पवित्र हुए आपः अर्थात् जल (अभ्रात्) मेघ से (पवन्ते) आ कर हमें पवित्र करते हैं । ये (दिवम्) द्युलोक को, (च पृथिवीम्) और पृथिवी को, (च) और अन्तरिक्ष को (लोकान्) इन तीनों लोकों को (यन्ति) जाते हैं, (ताः) वे आपः अर्थात् जल (जीवलाः) जीवनप्रदान करते, (जीवधन्याः) प्राणियों के लिये धन्यवाद के योग्य हैं । (पात्रे आसिक्ताः) पात्र में डाले गये, (प्रतिष्ठाः) और पात्र में स्थित हुए जलों को (अग्निः) आग (परि इन्धाम्) सब ओर से प्राप्त करे ।

---

१. वृञ् आवरणे । चान्द रात्रि में निज प्रकाश का आवरण पृथिवी पर डालता है । २. देखो—पृष्ठ ३१२, टि० १ ।

३. कुम्भी के रक्षक दिव्यतत्त्वों के निर्देश द्वारा, इन्हें अपनी-अपनी नियत दिशाओं से, पृथिवीस्थ समस्त प्राणी और अप्राणी जगत् के रक्षकरूप में दर्शाया है । कुम्भी तो एक दृष्टान्तरूप है ।

[तण्डुलों के परिपाक के लिये कुम्भी में जल डाल कर उन्हें अग्नि द्वारा प्रतप्त करने का निर्देश दिया है । जीवला:=जीव+ला (आदाने)] ।

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥२६॥

जल (दिवः आयन्ति) द्युलोक से आते हैं, (पृथिवीं सचन्ते) और पृथिवी पर इकट्ठे होते हैं, (भूम्या अधि) भूमि से (अन्तरिक्षम् सचन्ते) अन्तरिक्ष में इकट्ठे होते हैं। (शुद्धाः सतीः एव) शुद्ध होते हुए ही (ताः) वे जल (उ) निश्चय से (शुम्भन्ते) सुशोभित होते हैं। (ताः) वे जल (नः) हमें (स्वर्गम् लोकम्[1] अभि) स्वर्ग लोक की ओर (नयन्तु) ले चलें, अर्थात् हमें सुख पहुंचाएँ । [स्वर्गम्=स्वः (सुख)+ग(प्राप्ति); गतेस्त्रयोऽर्थाः; ज्ञानं, गतिः, प्राप्तिश्च] ।

उतेव प्रभ्वीरुत संमिता स उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥

(उत इव) मानो (प्रभ्वीः) जल हैं तो प्रभूत, (उत) परन्तु (संमितासः) कुम्भी में सम्यक्तया मापे हुए हैं, (उत) तथा कुम्भी के जल (शुक्राः शुचयः अमृतासः) शुद्ध, पवित्र और मृत्यु से बचाने वाले हैं । (ताः आपः) हे वे शुद्ध पवित्र जलो ! तुम (प्रशिष्टाः) मात्रा की दृष्टि से प्रशासित हुए, (सुनाथाः) उत्तम प्रकार से प्रतप्त होकर (दम्पतिभ्याम्) पति-पत्नी के लिये (ओदनम्) ओदन (शिक्षन्तीः) देते हुए (पचत) ओदन को पकाओ ।

[पृथिवी में जल हैं तो प्रभूत, परन्तु ओदन के परिपाक के लिये जल मापे हुए होने चाहियें । जल शुद्ध-पवित्र होने चाहियें । जल जीवन में महोपकारी हैं। शिक्षन्तीः=शिक्षति दानकर्मा (निघं० ३।२०) । सुनाथाः=सु+नाथृ (उपतापे) । मन्त्र में "आपः" पद की दृष्टि से बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग में पद प्रयुक्त हुए हैं। वेदों में वर्णन कविता के शब्दों में प्रायः होते हैं। इसीलिये "आपः" पद सम्बुद्धि में प्रयुक्त हुआ है। जल अमृत हैं, जल का पीना तथा जल चिकित्सा आयुवर्धक हैं, इसलिये जल अमृत है] ।

१. अथवा हमारे गृहस्थ लोक या पृथिवी लोक को स्वर्गीयावस्था तक पहुंचाएं । जहां जल नहीं वह नरकधाम है । जहां जल है वह स्वर्गधाम है ।

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमाना: सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥२८॥

(संख्याताः) गिने हुए (स्तोकाः) जलबिन्दु (पृथिवीम् सचन्ते) पृथिवी में समाते हैं, (संमिताः) और मपे हुए (प्राणापानैः) प्राणों और अपानों द्वारा उपलक्षित प्राणियों के साथ, (ओषधीभिः) तथा ओषधियों के साथ (सचन्ते) सम्बद्ध होते हैं। परन्तु (ओप्यमानाः) पृथिवी पर मानो बीजरूप में डाले जाते हुए [मेघ के] जल बिन्दु (असंख्याताः) अनगिनत होते हैं, (सुवर्णाः) उत्तमरूप वाले, (शुचयः) पवित्र होते हैं, तथा (सर्वम् सब प्रकार से (शुचित्वम्) पवित्रता को (वि+आपुः) विशेषतया प्राप्त होते हैं ।

[ओदन परिपाक के साथ-साथ जलविद्या का भी प्रतिपादन मन्त्रों में हो रहा है । पृथिवी, प्राणी ओषधियां जल की अल्पमात्रा का ही प्रयोग करते हैं। आकाश से जल असंख्य मात्रा में पृथिवी पर पड़ता है, जोकि प्रवाहरूप में समुद्र में समा जाता है, और यह बरसा-जल बीजाङ्कुरों को प्रकट करता तथा सब प्रकार से पवित्र होता है] ।

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥२९॥

(तप्ताः) तपे जल (उद् योधन्ति) मानो उछल-उछल कर युद्ध करते हैं, (अभि वल्गन्ति) नाचते हैं या युद्धार्थ चालें चलते हैं, (फेनमस्यन्ति) झाग फेंकते हैं, (च बहूलान् विन्दून्) और बहुत बूंदों को फेंकते हैं। (योषा इव) स्त्री जैसे (पतिं दृष्ट्वा) पति को देखकर (ऋत्वियाय) ऋतुकर्म के लिये (सम् भवति) उस के साथ सम्पर्क करती है वैसे (आपः) हे जलो ! तुम (एतैः तण्डुलैः) इन तण्डुलों के साथ (सम् भवत) सम्पर्क करो ।

[जलों के युद्ध आदि का वर्णन कवितामय है । मन्त्र में जल के लिये "आपः" शब्द पठित है जो कि स्त्रीलिङ्ग है । इस द्वारा स्त्रियों की सेना द्योतित होती है । महर्षि दयानन्द के लेखों में स्त्रीसेना का भी वर्णन हुआ है। तथा मन्त्र में यह भी सूचित किया हैं कि पति-पत्नी का सम्पर्क केवल ऋतुकाल में ही होना चाहिये। मन्त्रार्थ में जल पद के स्थान में स्त्री लिङ्गी "आपः" पद जानना चाहिये] ।

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥३०॥

(बुध्ने सीदतः) कुम्भी के तल पर बैठे (एनान्) इन तण्डुलों को (उत्थापय)उठा, ताकि ये (अद्भिः) जलों के साथ (आत्मानम्) अपने आप का (अभि संस्पृशन्ताम्) सम्यक्-स्पर्श करें। (पात्रैः) पात्रों द्वारा (उदकम्) जल को (अमासि) तूने मापा है, (यत् एतत्) जोकि यह कुम्भी में है। (तण्डुलाः) तण्डुल भी (मिताः) मापे हुए है, (यदि) यदि (इमाः प्रदिशः) इन प्रकृष्ट निर्देशों को (अमासि) तू जानता है।

[पकाने वाले से कहा है कि तू तण्डुल पकाने के लिये, जल और तण्डुल के पारस्परिक अनुपात को जान ले। अमासि=अ+मा (मापना, और ज्ञान)+सि। तण्डुल पकने के पश्चात् अधिक जल को तण्डुलों के निकालने पर जल के घुले तण्डुल के कई पौष्टिक अंश व्यर्थ हो जाते है]।

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥३१॥

(पर्शुम्[1]) फरसे (प्र यच्छ) दे, (त्वरय) शीघ्रता कर; (ओषम्) ताकि उषा के आसपास,—(ओषधीः) ओषधियों को—(अहिंसन्तः) उनकी जड़ों की हिंसा न करते हुए (पर्वन्) जोड़ों पर (दान्तु) काटें, (आ हर) और उन्हें ले आ। (यासाम्) जिन ओषधियों के (राज्यम् परि) राज्य पर (सोमः) सोम (बभूव) राजा हुआ है वे (वीरुधः) ओषधियां (नः) हमारे लिये (अमन्युताः) मन्यु का विस्तार न करने वाली (भवन्तु) हों।

[अमन्युताः=अ+मन्यु+तन् (विस्तारे)]।

१. पर्शुम्=जात्येकवचनम्। काटने वाले नाना व्यक्ति हैं (दान्तु), अतः फरसे भी नाना चाहियें। त्वरण=फरसे देने में शीघ्रता, क्योंकि उषा काल के आस-पास ओषधियां काट लेनी हैं। ओषम्=ओषसम्। ओषधीः=बर्हिः (मन्त्र ३२)। अमन्युताः=ये ओषधियां स्वभावों को शीतल कर मन्यु का निराकरण करतीं, और ओषधीः-अर्थात् मानसिक गर्मी का धयन अर्थात् पान करतीं हैं (धेट् पाने)। सम्भवतः ये दर्भ या कुशाएं हैं। ओषम् क्षिप्रम् (निघं० २।१५); परन्तु क्षिप्रार्थक "त्वरय" पद मन्त्र में पठित ही है। पर्शु प्रदाता और कटी ओषधियों का आहर्त्ता एक ही व्यक्ति है।

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु ।
तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥३२॥

(ओदनाय) चावल के लिये (नवं बर्हिः) नई कटी कुशाओं को (स्तृणीत) बिछाओ, जो कि (हृदः प्रियम्) हृदय को प्रिय तथा (चक्षुषः वल्गु अस्तु) आंख के लिये रमणीय हो। (तस्मिन्) उस पर (देवाः दैवीः) देव और देवियां (सह) साथ-साथ (विशन्तु) प्रवेश करें और (निषद्य) बैठ कर (ऋतुभिः) ऋतु के अनुकूल (इमम् प्राश्नन्तु) इसे खाएं।

[हरी कुशाओं का आसन प्रिय तथा रमणीय होता है। गृहस्थ के स्त्री पुरुष परस्पर साथ-साथ बैठ कर भोजन करें। भोजन के लिये भोज्य पदार्थ ऋतु-ऋतु के अनुकूल होने चाहियें। स्त्री-पुरुषों को दिव्य विचारों, दिव्य भावनाओं और दिव्य कर्मों वाले होने चाहियें]।

वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः ।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम् ॥३३॥

(वनस्पते) हे गृह के स्वामिन्! (स्तीर्णं बर्हिः) बिछाए कुशासन पर (आ सीद) आ विराजिये, (अग्निष्टोमैः) अग्निष्टोम आदि यज्ञों, तथा तत्सम्बन्धी साम गानों के कारण (देवताभिः) इन देवियों और देवताओं द्वारा (संमितः) आप सम्यक्-ज्ञात अर्थात् प्रसिद्ध हैं। (त्वष्टा इव) शिल्पी द्वारा जैसे (स्वधित्या) शस्त्र की सहायता से (रूपं सुकृतम्) वस्तु को सुन्दर रूप किया जाता है, इसी प्रकार (एहाः) भोजनेच्छुक (एनाः) इन देवी-देवताओं को सुन्दर रूप में, (पात्रे) भोजन-पात्र के (परि) चारों ओर बैठे (ददृश्राम्) मैं देखूं।

[वनस्पतिः=वन (A place of abode, residence, house, आप्टे)+पतिः। भोजन के समय वस्त्र स्वच्छ और सुन्दर होने चाहियें। अभ्यागतों के सत्कारार्थ प्रथम यज्ञ तथा गान भी होना चाहिये। गान वैदिक ढंग का सामगान हो। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में गृह स्वामी को देवी-देवताओं के मध्य सत्कार पूर्वक बैठाने का वर्णन हुआ है, और उत्तरार्ध में उस ने अभ्यागतों के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की है]।

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥३४॥

(षष्टयां शरत्सु) ६० वर्षों की आयु में (निधिपाः) निधि का रक्षक (स्वः अभि) स्वः की ओर (इच्छात्) जाने की इच्छा करे, (पक्वेन) इस प्रकार पकी आयु द्वारा (अभ्यश्नवातै) स्वः को प्राप्त हो। (पितरः च पुत्राः) पिता, माता आदि और पुत्र (एनम् उप) इस के आश्रय पर (जीवान्) जीवें (एतम्) इसे (स्वर्गं गमय) स्वर्ग की ओर भेज, (अग्नेः अन्तम्) और अग्नि क्रिया की समाप्ति की ओर।

[निधिपाः=घर के खजाने का रक्षक। ६० वर्षों की आयु होने पर व्यक्ति स्वर्ग धाम की ओर जाना चाहे, और गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नि में की जाने वाली क्रियाओं को समाप्त कर दे। गृह के अवशिष्ट पितर और पुत्र इस द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर जीवन व्यतीत करें। मन्त्र में स्वर्ग पौराणिक-स्वर्ग प्रतीत नहीं होता, जो कि शरीर छोड़ने के पश्चात् प्राप्त हो सकता है। स्वर्ग का अभिप्राय संन्यास प्रतीत होता है, वानप्रस्थ भी नहीं क्योंकि वानप्रस्थ में अग्नि कर्म जारी रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले स्वर्ग की ओर यदि यह गया तो इस के आश्रय, पितर और पुत्र कैसे जीवन निभाएंगे। ६० वर्ष से अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि १० वर्ष की आयु में गुरुकुल में प्रवेश, २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य, १ वर्ष विवाह की तय्यारी, २५ वर्ष गृहस्थ, शेष जीवन आत्मोन्नति द्वारा स्वर्ग-भोग के लिये]।

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु ।
तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥३५॥

(धर्ता) धारण करने वाला तू (पृथिव्याः धरुणे) समग्र पृथिवी के धारण-पोषण के निमित्त, (ध्रियस्व) अपने-आप का धारण कर; (अच्युतं त्वा) गृह कार्यों से न-विरत हुए तुझ को (देवताः) दिव्य गुणी सज्जन (च्यावयन्तु) गृह-कार्यों से विरत कराएं। (जीवन्तौ) जीवित, (जीवपुत्रौ) जीवित पुत्रों वाले (दम्पती) जाया और पति (तं त्वा) उस तुझ को (अग्निधानात् परि) अग्न्याधान सम्पाद्य कर्म से (उद्वासयातः) उद्वासित करें, छुड़ा दें।

[गृह का धारण करने वाला ६० वर्षों की आयु में भी यदि गृहकार्यों से विरत नहीं हुआ, तो दिव्य सज्जन उसे सदुपदेश दे कर गृहकार्यों से छुड़ा दें, ताकि आश्रम-व्यवस्था अक्षुण्ण रूप में चलती रहे, और उसे कहें कि तुम्हारे दम्पती अर्थात् पुत्र और वधू जीवित है, इस लिये गृहकार्यों को वे

सम्भाल लेंगे, उन के पुत्र भी जीवित हैं, इस लिये वंश परम्परा भी बनी रहेगी, तू अब समग्र पृथिवी की सेवा में अपने-आप को व्यापृत कर]।

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥३६॥

(सर्वान् लोकान्) सब लौकिक वासनाओं पर (अभिजित्य) विजय पाकर तूने (सम् आगाः) नए आश्रम में समागम किया है, (यावन्तः कामाः) जितनी भी एषणाएं हैं (तान्) उन्हें (सम् अतीतृपः) तूने पूरी तरह तृप्त कर लिया है। (आयवनं च दर्विः) तेरे कड़छी और चमच और गृह्यसाधन (विगाहेथाम्=विगाहेताम्) जलस्नान करें, अर्थात् उन्हें धो और साफ कर (एकस्मिन् पात्रे) किसी एक विश्वासपात्र में (अधि) अधिकृत कर दे, और (एनम्) इस अपने-आप का (उद्धर) उद्धार कर।

[पात्रे=यज्ञिय आयवन और दर्वि आदि को, स्वामी के मृत्युकाल में, स्वामी के शव के साथ दग्ध करना होता है। इसलिये मृत्युकाल तक उन्हें सुरक्षित रखने का विधान हुआ है। एषणाएं=पुत्रैषणा, लोकैषणा, धनैषणा आदि। नए आश्रम के वासी अभ्यागत के प्रति कहते है]।

उप स्तृणीहि प्रथय पुरस्तात् घृतेन पात्रमभि घारयैतत् ।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभि हिं कृणोत ॥३७॥

(उप स्तृणीहि) समीप आसन बिछा, (पुरस्तात् प्रथय) पूर्व की ओर आसन को फैला। (एतत् पात्रम्) इस पात्र को (घृतेन अभिघारय) घी से स्निग्ध कर। (इव उस्रा) जैसे गौ (तरुणं स्तनस्युम् अभि) तरुण स्तनेच्छु बछड़े के प्रति (वाश्रा) हम्भारती है, वैसे (देवासः) हे दिव्य सज्जनो! (इमम् अभि) इस नवाश्रमी के प्रति (हिं कृणोत) हिंकारपूर्वक सामगान करो।

[नवाश्रमी पर्वदिशा में आसन बिछाता है। घृतादि द्वारा यज्ञ किया जाता है, और यज्ञ की समाप्ति निमित्तक सामगान किया जाता है। साम-गान के ५ अवयव होते हैं; हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन]।

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥३८॥

(उप अस्तरीः) तूने आसन बिछाने आदि कर्म कर दिये, (एतम् लोकम् अकरः) इस नवीन लोक अर्थात् आश्रम को तूने प्राप्त कर लिया है। (असमः) जिसकी समता का और कोई आश्रम नहीं, वह (स्वर्गः) विशिष्ट सुख प्रापक आश्रम (उरुः प्रथताम्) खूब फैले, अर्थात् इस आश्रम में बहुत व्यक्ति आएँ, या इस आश्रम की स्थिति भिन्न-भिन्न स्थानों में हो जाय। (तस्मिन्) उस आश्रम में (महिषः) एक महान् (सुपर्णः) सब का उत्तमरूप में पालन-पोषण करने वाला आचार्य (श्रयातै) निवास करे । (देवाः) स्थानीय दिव्य लोग (एनम्) इसे (देवताभ्यः) आश्रम के दिव्य व्यक्तियों के प्रति (प्र यच्छान्) सौंप दें ।

यद्यद् जाया पचति त्वत् परः परः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु सं पादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥३९॥

(त्वत्) तुझ से (परः परः) परे हो कर (जाया) पत्नी (यद् यद्) जो कुछ (पचति) पकाती है, (जाये) हे पत्नी ! (वा) या (पतिः त्वत् तिरः) पति तुझ से छिप कर पकाता है, (तत्) उसे (सं सृजेथाम्) तुम दोनों मिला दो, (वाम्) तुम दोनों का (तद् सह अस्तु) वह कर्म एक साथ हो जाय, (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) इस प्रकार एक गृहस्थलोक का तुम दोनों मिल कर सम्पादन करो ।

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः ।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥४०॥

(अस्याः अस्मत् परि) इस पत्नी से और मुझ से (ये पुत्राः) जो पुत्र (सं बभूवुः) पैदा हुए हैं, (यावन्तः) और जितने (पृथिवीं सचन्ते) पृथिवी पर हैं, अर्थात् जीवित हैं, (तान् सर्वान्) उन सब को, (पात्रे) खाने के पात्र के (उप) समीप (ह्वयेथाम्) तुम दोनों बुलाओ, (नाभिं जानानाः) सम्बन्ध जानते हुए (शिशवः) शिशु (समायान्) सम्मिलित होने के लिये आयें ।

[सब शिशु माता-पिता के साथ मिल कर साथ-साथ भोजन किया करें । पुत्राः=पुत्र और पुत्रियां । इसीलिये मन्त्र के उत्तरार्ध में शिशवः पद पठित है । नाभिं जानानाः=एक माता के पेट से पैदा हुए अपने आप को जानते हुए] ।

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः ।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥४१॥

(याः) जो (वसोः धाराः) दूध की धाराएँ, (मधुना प्रपीनाः) मधु द्वारा अभिवर्धित, (घृतेन मिश्राः) घृतमिश्रित हैं, वे (अमृतस्य नाभयः) शीघ्र न मरने के केन्द्ररूप है । (स्वर्गः) स्वर्गीय जीवनरूप हैं (ताः सर्वाः) सब धाराएं । (षष्ट्यां शरत्सु) ६० वर्षों की आयु में (निधिपाः) गृह्य-सम्पत्ति का रक्षक (अभि इच्छात्) अगले आश्रम की इच्छा करें ।

[दूध में शहद और घृत मिला कर सेवन करने से आयु बढ़ती है । गृहस्थरूपी स्वर्ग में ये सब वस्तुएँ प्रभूतमात्रा में होनी चाहियें । इन सुखों की प्राप्ति के होते हुए भी गृहस्थी को, ६० वर्षों की आयु हो जाने पर, आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिये अगले आश्रमों में जाने की इच्छा करनी चाहिये । गृहस्थ जीवन स्वर्गरूप है, इस निमित्त देखो (अथर्व० ४।३४।१-८) इस सूक्त में दर्शाया है कि गृहस्थ में मधु, घृत, क्षीर अर्थात् दूध, दधि, उदक से भरे कुम्भ होने चाहियें । ऐसे गृहस्थ को स्वर्ग कहा है (मन्त्र ५,७)। यदि सब प्रकार की सुखसामग्रीं प्राप्त हो तो गृहस्थ भी स्वर्ग हैं, आधिभौतिक स्वर्ग है, परन्तु वानप्रस्थ आदि का निरीह जीवन आध्यात्मिक स्वर्ग है] ।

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये ।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥

(निधिपाः) निधि का रक्षक गृहस्वामी, (एनं निधम्) इस निधि को, (अभीच्छात्) निजाधिकार में चाहे; (ये अन्ये) जो अन्य गृहवासी (अभितः) गृहस्वामी के समीप या चारों ओर रहते हैं वे (अनीश्वराः सन्तु) निधि पर अनधिकारी हों । (अस्माभिः दत्तः) हम द्वारा दी गई (निहितः) निधि भी (स्वर्गः) स्वर्गरूप है, सुखविशेष प्राप्त कराने वाली है । (त्रिभिः) तीन (काण्डैः) कमनीय साधनों द्वारा (त्रीन् स्वर्गान्) तीन स्वर्गों पर (अरुक्षत्) व्यक्ति आरोहण करता है ।

[गृहस्वामी जब तक गृहजीवन में रहे तब तक गृह्यसम्पत्ति पर गृहस्वामी का ही अधिकार होना चाहिये । दान देने से भी जीवन स्वर्गमय बनता है । यथा "दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव" (अथर्व० ६।१२२।२)। अर्थात्

अन्य बन्धुओं से रहित व्यक्ति, यदि अपनी सम्पत्ति का सर्वस्व दान कर दे तो यह स्वर्ग रूप ही है। व्यक्ति तीन कमनीय साधनों द्वारा तीन स्वर्गों पर आरूढ़ होता है,—गृहस्थ द्वारा, वानप्रस्थ द्वारा, संन्यास द्वारा स्वर्ग, अर्थात् विशेष सुखमय जीवन को प्राप्त करता है, या ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, और संन्यास द्वारा। पौराणिक साहित्य में प्रायः एक स्वर्ग का ही वर्णन मिलता है, जिसका कि अधिपति इन्द्र है। काण्डैः=कमनीयैः, काम्यैः]।

अ॒ग्नी रक्षं॑स्तपतु॒ यद् वि॒दे॑वं क्र॒व्यात् पि॑शा॒च इ॒ह मा प्र पा॑स्त।
नु॒दाम॑ ए॒न॒मप॑ रुध्मो अ॒स्मदा॑दि॒त्या ए॑नमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥

(अग्निः) ज्ञानाग्नि (रक्षः) राक्षसी विचार को (तपतु) तपा दे, भस्मीभूत कर दे (यद् विदेवम्) जो कि देवविरोधी है, परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, नास्तिकतारूपी है। (क्रव्याद् पिशाचः) मांस-भक्षी यह पैशाची विचार (इह) इस हमारे जीवन में (मा प्रपास्त) हमारा रक्त न पीए। (एनं नुदाम) इसे हम दूर करते हैं, (अस्मत्) अपने पास आने का इस का मार्ग (अपरुध्मः) दूर से ही रोक देते हैं। (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (अङ्गिरसः) ज्ञानाग्नि विद्या के जानने वाले (एनम्) इस पैशाची विचार के साथ (सचन्ताम्) अपना सम्बन्ध स्थापित करें [इस के विनाश के लिये]।

[अग्निः="ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" (गीता)। ज्ञानाग्नि सब बुरे कर्मों को भस्मसात् करती है। एतदर्थ अग्निविद्या अर्थात् ज्ञानाग्निविद्या के जानने वाले विज्ञ विद्वानों की सहायता प्राप्त करनी चाहिये। अग्नि को अङ्गिरा भी कहा है। यथा "तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः" (यजु० ३।३)। आधिभौतिक दृष्टि में आदित्यकोटि के विद्वान् अङ्गिरसः हैं। नास्तिक जीवन में जीवन निरङ्कुश हो जाता है और पैशाची विचार जीवन में मांस खाने लगते और रक्त पीने लगते हैं। "रुध्मः" द्वारा यह भी सूचित किया है कि यत्नपूर्वक हमें भी ऐसे विचारों को रोकते रहना चाहिये]।

आ॒दि॒त्येभ्यो॒ अङ्गि॑रोभ्यो॒ मध्वि॒दं घृ॒तेन॑ मि॒श्रं प्रति॑ वेदयामि।
शु॒द्धह॑स्तौ ब्राह्म॒णस्यानि॑हत्यै॒तं स्व॒र्गं सु॑कृता॒वपी॑तम् ॥४४॥

(आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यः) ज्ञानाग्नि विद्या के जानने वाले आदित्य कोटि के विद्वानों के लिये (घृतेन मिश्रम्) घृत सहित (इदं मधु) यह मधु

प्रतिवेदयामि) निवेदित अर्थात् समर्पित करता हूं। (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता के (एतम्) इस भाग का (अनिहत्य) हनन न करके, (शुद्ध-हस्तौ) शुद्ध हाथों वाले तुम दोनों पति-पत्नी, (सुकृतौ) सुकर्मों वाले हो कर, (स्वर्गम्) स्वर्ग को (अपीतम्) प्राप्त करो।

[जिन आदित्यों और अङ्गिराओं ने हमारे पैशाची विचारों को दूर कर कृपा की है, उस निमित्त हम में से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि सात्त्विक पदार्थों के दान द्वारा इनकी सेवा करें। दृष्टान्त रूप में शुद्ध गोघृत तथा शुद्ध मधु का निर्देश मन्त्र में हुआ है। शुद्धहस्तौ=हाथों द्वारा पवित्र कर्म करने वाले, यथा "Have clean hands=To be free from guilt. अर्थात् पापों से रहित होना। पैशाची विचारों से रहित होकर शुद्धहस्त पति पत्नी स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं। "ब्राह्मणस्य" में एक वचन अविवक्षित है, क्योंकि आदित्येभ्यः, अङ्गिरोभ्यः में बहुवचन है। अपीतम्=अपि+इतम्]।

इ॒दं प्राप॑मुत्त॒मं काण्ड॑मस्य॒ यस्मा॑ल्लो॒कात् प॑रमे॒ष्ठी स॒माप॑।
आ सि॑ञ्च स॒र्पिर्घृ॒तव॒त् सम॑ङ्ग्ध्ये॒ष भा॒गो आङ्गि॑रसो॒ नो॒ अत्र॑ ॥४५॥

(अस्य) इस जीवन के (इमम्) इस (उत्तमं काण्डम्) उत्तम काम्य लोक को (प्रापम्) मैंने प्राप्त किया है, अर्थात् उस लोक को (यस्मात् लोकात्) जिस लोक से कि (परमेष्ठी[1]) सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त परमेश्वर (समाप) सम्यक्तया प्राप्त होता है। (घृतवत्) घृत वाले मधु को, (सर्पिः) तथा पिघले घी को (आसिञ्च) तू उदर में सींच, (समङ्ग्धि) और इस प्रकार शरीर को कान्ति से युक्त कर, (अङ्गिरसः) हे ज्ञानाग्नि विद्या के जानने वालो! (अत्र) इस आश्रम में (नः) हमारा (एष भागः) यह भाग है।

[काण्डम्=कमनीय, काम्य। परमेष्ठी=परमे स्थाने तिष्ठति (अथर्व० १०।२।१७)। सर्पिः=पिघला घी। आसिञ्च=आश्रम का आचार्य, नव प्रविष्ट के प्रति, कहता है कि इस आश्रम में हमारे लिये घृत उपकारी है, पिघले घृत का पान, तथा घृत मिश्रित मधु का सेवन]।

---

१. परमेषु प्रकृत्यपेक्षयोत्कृष्टेषु जीवात्मसु तिष्ठतीति वा।

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् ।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥४६॥

(सत्याय च तपसे) सत्य और तपश्चर्या की वृद्धि के लिये, (देवताभ्यः) दिव्यगुणी विद्वानों के प्रति (एतं शेवधिं निधिम्) इस सुख दायक खजाने को (परि दद्मः) हम देते हैं, या सौंपते हैं। (नः) हमारा यह धन (द्यूते) द्यूत कर्म में (मा अवगात्) भ्रष्ट न हो, (मा समित्याम्) न युद्ध में; और (मत् पुरा) मुझ से विना पूछे, (मा स्म अन्यस्मै उत्सृजत) न अन्य किसी के प्रति दो।

[शेवधिम्=शेवम् (सुखनाम, निघं. ३।६)+धिम्, सुख के लिये सुरक्षित धन। शेवम्=Savings। पुरा मत्=आश्रम आचार्य कहता है]।

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रो३ऽन्वारभेथां वयः उत्तरावत् ॥४७॥

(अहं पचामि) मैं पकाता हूं, (अहं ददामि) मैं देता हूं, (मम इद् उ करुणे कर्मन् अधि) मेरे इस करुणामय कर्म में ही (जाया) मेरी पत्नी सम्मिलित है। (लोकः) सब लोग (कौमारः पुत्रः) हमारे लिए कुमार-पुत्र (अजनिष्ट) हो गया हैं। हे पति-पत्नी ! तुम दोनों (उत्तरावत् वयः) इस उत्तम जीवन को (अन्वारभेथाम्) अब से निरन्तर आरम्भ करो, या इस जीवन का आलम्बन करो।

[पति पत्नी जो कुछ पकाएं उस का दान भी अन्नाभिलाषियों को करें। सब मनुष्यों को निज पुत्रवत् जानें]।

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः समममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥४८॥

(अत्र) इस प्रकार के गृहस्थ जीवन में (किल्विषम् न) कोई पाप नहीं, (न आधारः अस्ति) न यह लाच्छन है कि यह किसी का धारण-पोषण नहीं करता, (न यत्) न यह कि (मित्रैः समम्) मित्रों के संग (अमानः) मानरहित होता हुआ यह (एति) विचरता है। (नः) हमारा (एतत्) यह (पात्रम्) पात्र (अनूनं निहितम्) सदा भरपूर रखा रहता हैं, न्यून नहीं होता। (पक्वः) पका भोजन, (पुनः) अतिथि आदि की सेवा के पश्चात्, (पक्तारम्) पकाने वाले में (आ विशाति) प्रवेश करे, या करता है।

[गृहस्थ में रह कर जीवन व्यतीत करने में कोई पाप नहीं। यथा "इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ" (अथर्व० १४।१।२२)। आधारः=आ+अधरः (धारण-पोषण-रहितः)। अन्नार्थियों द्वारा भोजन खा लेने के पश्चात् अन्नदाता अन्नसेवन करे। यथा:-"अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्" (अथर्व० ९।६। पर्याय ३। मन्त्र ८); अर्थात् "अतिथि के खा चुकने पर खाए, अतिथि यज्ञ की आत्मा के बने रहने के लिये, अतिथि यज्ञ के लगातार बने रहने के लिये, यह व्रत है"। सममानः=समम् (साथ)+अमानः (मान रहितः)]।

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति ।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥४९॥

(प्रियाणाम्) प्रियों का (प्रियं कृणवाम) हम प्रिय करें। (यतमे) जो (द्विषन्ति) हमारे साथ द्वेष करते हैं (ते) वे (तमः यन्तु) तमोगुण को प्राप्त रहें। (धेनुः) दूध देने वाली गौ (अनड्वान्) तथा बैलगाड़ी चलाने वाला बैल (वयः वयः) प्रत्येक अन्नरूप हैं, अन्न प्रदाता है (आयत् एव) ये हमें प्राप्त होते ही रहें, और (पौरुषेयम्) पुरुष सम्बन्धी (अप मृत्युम्) बुरी मृत्यु को (नुदन्तु) धेनु और अनड्वान् दूर करते रहें।

[सद्गृहस्थी प्यारों के प्रिय अर्थात् अभीष्ट का सम्पादन करे, और द्वेषियों के साथ द्वेष न कर उन्हें इस तमोमयी वृत्ति में रहने दे कर, उन के सम्बन्ध में उपेक्षावृत्ति धारण करें। यथा "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्", (योग १।३३) में अपुण्यों के प्रति उपेक्षा करने को कहा है। मनुष्यों के उपकारार्थ सद्गृहस्थी दूधदायक गौओं, तथा खेती में सहायक बैलों का उपार्जन करता रहे, क्योंकि ये दोनों प्रकार के प्राणी दूध तथा कृष्यन्न देते हैं। इन अन्नों द्वारा मनुष्य मात्र की सेवा करके उन्हें अन्नाभाव के कारण होने वाली अपमृत्यु से बचाया जा सकता है]।

समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् ।
यावन्तो देवा दिव्या३तपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥५०॥

(अग्नयः) अग्नियां (अन्यो अन्यम्) परस्पर में (संविदुः) संवेदन अर्थात् मानों ऐकमत्य को प्राप्त हैं, (यः) जो अग्नि कि (ओषधीः सचते)

अोषधियों के साथ सम्बद्ध है, (यः च) और जो (सिन्धून्) स्यन्दनशील नदियों, या अन्तरिक्ष में स्यन्दन करने वाले मेघों के साथ सम्बद्ध है वे। तथा (यावन्तः) जितने (देवाः) द्योतमान नक्षत्र-तारागण (दिवि) द्युलोक में (आ तपन्ति) द्युलोक के सब ओर तप रहे हैं, उन सब में से (हिरण्यं ज्योतिः) हिरण्मय ज्योति (पचतः) अन्न पका कर निरीह-सेवा करने वाले को (बभूव) प्राप्त होती है।

[अभिप्राय यह कि उक्त ज्योतियां जड़ होती हुई भी परस्पर में ऐकमत्य (Harmony) को प्राप्त हो कर हमारी सेवाएं कर रही हैं, तो हम ज्ञानवान् ज्योतियो को भी परस्पर सहानुभूतिपूर्वक एक-दूसरे की सेवा करनी चाहिये। ओषधियों की अग्नि, ओषधि के जलाने से प्रकट होती है। सिन्धुओं की अग्नि हैं विद्युत्। हिरण्यं ज्योति है "हिरण्मय सूर्य में विद्यमान ज्योति, "यथा "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)। इस ब्राह्मी ज्योति को "आदित्यवर्णम्" भी कहा है (यजु० ३१।१८)]।

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥५१॥

(त्वचाम्) त्वचाओं में से (एषा) यह त्वचा [अर्थात् वस्त्र] (पुरुषे) पुरुष के निमित्त (सं बभूव) हुई हैं, (ये अन्ये पशवः) जो अन्य पशु हैं वे (सर्वे) सब (अनग्नाः) नग्न नहीं हैं। इसलिये तुम दोनों पति-पत्नी (क्षत्रेण) क्षतों से त्राण करने वाले वस्त्र द्वारा (आत्मानम्) अपने-आप को (परिधापयाथः) सब ओर से ढांपो (अमोतं वासः) घर में बुना वस्त्र (ओदनस्य) ओदन की अपेक्षया (मुखम्) मुख्य है।

[पुरुषभिन्न पशु निजत्वचाओं द्वारा सर्दी-गर्मी-वर्षा से बचे रहते है, अतः वे नग्न नहीं, परन्तु पुरुष की स्थिति ऐसी नहीं, अतः उस के लिये वस्त्ररूपी त्वचा चाहिये। वस्त्ररूपी त्वचा को क्षत्र कहा है,क्षत्+त्र(पालने), यह वस्त्ररूपी त्वचा खाद्यान्न से भी मुखिया है। विना वस्त्र के पुरुष समाज से वञ्चित रहता है। अमा गृहनाम (निघं० ३।४)]।

यदक्षेषु वदा यत् समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः॥५२॥

(यद् अनृतम्) जो असत्य (अक्षेषु) मुकद्दमों में (वदा) तुम बोलते हो, (यत् समित्याम्) जो राष्ट्रिय सभा-समिति में, (यद्वा) या जो (वितकाम्या) धन की कामना से (वदा) असत्य बोलते हो, (समानम्) एक ही (तन्तुम्) व्यापी यज्ञभावना का वस्त्र (अभिसंवसानौ) पहिनते हुए तुम दोनों, (तस्मिन्) उस यज्ञभावना में, (सर्वं शमलम्) समग्र अनृतमल का (सादयाथः) विशीर्ण कर दो।

[अक्षेषु=Legal procedure, law suit (आपटे)। तन्तुम्=तन् विस्तारे, व्यापी यज्ञ, सत्य का व्यापी व्रतरूपी यज्ञ। या The supreme Being (आपटे) अर्थात् परमेश्वर। परमेश्वर रूपी वस्त्र में अपने-आप को लिपटे जानते हुए। सादयाथः=शद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। शमलम्=शम्=(शान्ति)+अलम् (समाप्ति), अनृतरूपी मल के कारण चित्त अशान्त हो जाता है]।

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥५३॥

(वर्षम्) परमेश्वरीय कृपा की वर्षा की (वनुष्व) याचना कर, (देवान्) दिव्य लोकों को (अपि गच्छ) जा, (त्वचः) शरीर से (धूमम्) अन्त्येष्टि संस्कारोत्त्थित धूएं को (उत्पातयासि) तू ऊपर अन्तरिक्ष की ओर उड़ा। (विश्वव्यचाः) विश्व में फैलने वाला, (घृतपृष्ठः) घृत से स्पृष्ट (भविष्यन्) होने वाला, तथा (सयोनिः) सब के लिये जो सामान्य घर है उसे प्राप्त हुआ, (एतम् लोकम्) इस अन्तरिक्ष लोक को (उप याहि) तू जा।

[मृत्यु के समय का, तथा अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन है। विश्वव्यचाः=अग्नि द्वारा शरीर सूक्ष्म होकर विश्व में फैल जाता है, और घृतपृष्ठः=घृताहुतियों द्वारा अन्त्येष्टि संस्कार निष्पन्न किया जाता है। विश्वव्यचाः का यह भी अभिप्राय है कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा विश्व में विचरता है। विश्वव्यचाः विश्व+वि+अञ्च् (गतौ)। त्वचः=शरीर मानो आत्मा की त्वचा हैं, त्वच् संवरणे। सयोनिः=स+योनिः (गृहनाम, निघं० ३।४)। मृत्यु के पश्चात् जीवात्माओं का घर अन्तरिक्ष होता है। पृष्ठ=स्पृशतेः (निरु० ४।१।३)]।

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथाविद आत्मन्नन्यवर्णाम्।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ५४

(स्वर्गः) विशिष्ट-सुख की ओर गमन कहने वाला व्यक्ति, (यथाविदे) यथार्थज्ञानी (आत्मन्) आत्मा के आश्रय में विद्यमान (तन्वम्) निज तनू को (वहुधा) बहुविध अर्थात् (अन्यवर्णाम्) अन्यान्य वर्णों वाली (विचक्रे) विशेष प्रयत्न द्वारा करता है । (कृष्णाम्) काली अर्थात् तामसिक तनू पर (अजैत्) विजय पाता है, (रुशतीम्) चमकती अर्थात् सात्त्विक तनू को (पुनान) पवित्र करता रहता है, [हे स्वर्गेच्छु !] (या) जो (ते) तेरी (लोहिनी) रजोमयी तनू है (ताम्) उसे (अग्नौ) ज्ञान अग्नि में (जुहोमि) मैं तेरा आचार्य आहुत करता हूं ।

[तीन प्रकार की तनुएं आत्मा की होती हैं । एक तो कृष्णा, स्थूल शरीरमयी । दूसरी मन और इन्द्रियमयी, इसे लोहिनी अर्थात् रजोमयी कहा है । तीसरी बुद्धिमयी, इसे रुशती कहा है । आश्रम का आचार्य रजोमयी तनू को ज्ञानाग्नि के सुपुर्द करता है । "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन** (गीता)] ।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नोऽत्र जरसे नि
नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥५५॥

(प्राच्यै दिशे) पूर्व दिशा के लिये, (अग्नये अधिपतये) अधिपति अग्नि के लिये, (रक्षित्रे असिताय) रक्षक असित के लिये. (इषुमते आदित्याय) इषु अर्थात् रश्मियों वाले आदित्य के लिये, (एतं त्वा) इस तुझ को (परिदद्मः) हम सौंपते हैं । (नः) हमारे (तम्) उस बन्धु की (गोपायत) रक्षा करो, (अस्माकम्) हमारे उस बन्धु को (ऐतोः) सर्वत्र जाने,आने में समर्थ करो । (दिष्टम्) निर्दिष्ट आयु (अत्र) इस जीवन में या पृथिवी में (नः)हमें (जरसे) जरावस्था तक (निनेषत्) ले चले, (जरा) बुढ़ापा (नः) हमें (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (परि ददातु) दे या सौंप दे, (अथ) तदनन्तर (पक्वेन सह) पके अन्न के साथ या कर्मों के परिपाक के साथ (सं भवेम) हम उत्पन्न हों ।

[प्राची दिशा का अतिपति हैं अग्नि, अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर । प्राकृतिक अग्नियां भी प्राची दिशा से उद्यत होतीं और पश्चिम दिशा में अस्त होती हैं । सर्वाग्रणी परमेश्वर असित है, वह अन्य किसी शक्ति द्वारा बद्ध नहीं, वह स्वयंभू है, स्वाश्रित सत्ता वाला है, वह सब का रक्षक है ।

आदित्य की रश्मियां उस के इषु हैं, वाण हैं, जिन द्वारा वह अन्धकार, अज्ञान तथा रोगों का विनाश करता है । दिष्टम्=वेद द्वारा निर्दिष्ट आयु मनुष्य की १०० वर्षों की है, "**जीवेम शरदः शतम्**" (अथर्व. १९।६७।१) । ऐतोः=आ (सर्वत्र)+इण् (गतौ) +तोसुन् । असिताय=अ+सित (षिञ् बन्धने)+क्त । आदित्याय इषुमते=**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः**" (अथर्व. २।३२।१); रश्मियों द्वारा हनन कहने से रश्मियां इषु रूप हैं । पक्वेन="**अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः,**" परिपक्व रेतस्, या पके अन्न से उत्पन्न रेतस् के साथ जन्म । अथवा कर्मों के परिपाक के साथ जन्म । ऐतोः (**ईश्वरे तोसुन् कसुनौ,** अष्टा० ३।४।१३)] ।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चीराजये रक्षित्रे
यमायेषुमते । एतं० । दिष्टं नो० ॥५६॥

(दक्षिणायै दिशे) दक्षिण दिशा के लिये (इन्द्राय अधिपतये) अधिपति इन्द्र के लिये, (तिरश्चीराजये रक्षित्रे) टेढ़े चलने वालों पर राज्य करने वाले रक्षक के लिये, (इषुमते यमाय) इषु वाले जन्म मृत्यु के नियन्ता के लिये; (एतम् त्वा) इस तुझ को । दिष्टं नो० । पूर्ववत् (५५) ।

[इन्द्राय=**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (य० ८।३७) द्वारा इन्द्र को सम्राट् कहा है । मनुष्य सम्राट्, मनुष्यों से बसी पृथिवी का राजा है, सामुद्रिक जीवजन्तुओं को वश में नहीं कर सकता, परन्तु सम्राट्-परमेश्वर पार्थिव भाग तथा सामुद्रिक भाग दोनों का महाराज है । दोनों भागों के प्राणियों का नियन्ता और उन की जन्म-मृत्यु का नियन्ता है ।

तिरश्ची राजयेः—परमेश्वर समुद्र में टेढ़ी गतियों से चलने वाले जीव जन्तुओं का भी राजा है । मृत्यु उस का महास्त्र है, जिस से कोई बच नहीं सकता, पार्थिव-सम्राट् को भी मृत्यु आ घेरती है । परमेश्वर के लिये कहा है कि "**स उ एव महायमः**", अर्थात् परमेश्वर महायम है(अथर्व० १३।४। पर्याय १।५); तथा "**स एव मृत्युः सो मृतम्**" (अथर्व० १३।४।, पर्याय ६।२५), अर्थात् परमेश्वर मृत्यु है, वह अमृत है, तथा "**यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा**" (अथर्व० १३।३।२), अर्थात् जो मार देता है प्राणित करता है, जिस से सब भुवन प्राणित होते हैं । इस से भी ज्ञात होता कि मृत्यु और जीवन का दाता परमेश्वर ही है] ।

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं० । दिष्टं नो० ॥५७॥

(प्रतीच्यै दिशे) पश्चिम दिशा के लिये, (अधिपतये वरुणाय) अधिपति वरुण के लिये, (पृदाकवे रक्षित्रे) पालन साधन भूतान्न के प्रदानकर्त्ता रक्षक के लिये, (इषुमते अन्नाय) इषु वाले अन्न[1] के लिये (एतं त्वा) इस तुझ को० । दिष्टं नो० । पूर्ववत् (५५) ।

[वरुणाय=वरुण है जलाधिपति । यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४), अर्थात् वरुण जलों का अधिपति है। प्रायः वर्षा ऋतु में, प्रथमवर्षा, पश्चिम समुद्र की मानसून वायु द्वारा आती है । वर्षा और अन्न, तथा पालन-पोषण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिये वरुण, पृदाकु और अन्न का वर्णन मन्त्र में हुआ है। अन्न इषु है क्षुधा का। पृदाकुः =पृ (पालने)+दा+कु (डुन्, उणा० ५।२८, बाहुलकात्) । इस दृष्टि से "पृदाकु",—वरुण तथा रक्षिता हो सकता है, सर्प अर्थ में नहीं । वरुण द्वारा वर्षाकारी परमेश्वर का वर्णन हुआ है। "वरुण का अर्थ श्रेष्ठ भी है। वर्षाकारी होने के कारण वह श्रेष्ठ है। वरुण का अर्थ निवारण कर्त्ता भी है (अथर्व० ४।१६।१-९)। वह क्षुधा का और अन्नाभाव से उत्पन्न होने वाले कष्टों, और मृत्यु का निवारण करता है,—अन्नोत्पादन द्वारा परमेश्वर को अन्न भी कहा है, "अहमन्नम्"] ।

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै । एतं० । दिष्टं नो० ॥५८॥

(उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशा के लिये, (अधिपतये सोमाय) अधिपति उत्पादक के लिये, (स्वजाय रक्षित्रे) स्व सदृशों के उत्पादक रक्षक के लिये, इषु वाली अशनि[2] अर्थात् विद्युत् की तरह व्यापक परमेश्वर के लिये (एतं त्वा) इस तुझ को० । दिष्टं नो० । पूर्ववत् (५५) ।

---

१. "अहमन्नम्" (तैत्ति० उप० भृगु वल्ली) ।

२. अथवा अशनिः=Aurora Borealis. The goddess of dawn. A luminous meteoric phenomenon of electrical character, Seen in and towards the polar regions, with a tremulous motion, and giving forth streams of light.

[उत्तर दिशा के साथ "सोम" का सम्बन्ध दर्शाया है । सोम का अर्थ वीर्य भी होता है, देखो (अथर्व० १४।१।१-५) मन्त्रों की व्याख्या "अथर्ववेदभाष्य, जिल्द ३, ग्रन्थकार कृत) । सोमः=सु (प्रसवे)+मन् (उणा० १।१४०) । सुमन् का विकृतरूप है semen (वीर्य) । सोम अर्थात् semen प्राणिजगत् का उत्पादक है। सोम से जो प्राणी उत्पन्न होते हैं वे "स्वज" होते हैं, वीर्यदाता के स्वसदृशों के उत्पादक होते हैं, स्वज=(स्व+ज) । पक्षियों, पशुओं, मनुष्यों, कृमियों आदि में "स्वज" का नियम दृष्टिगोचर होता है। परमेश्वर उदीची दिशा के प्राणियों का उत्पादक है, इसलिये परमेश्वर को भी सोम अर्थात् उत्पादक कहा है । प्राणि जगत् के उत्पादन द्वारा परमेश्वर प्राणिजगत् की स्वसदृश वंश परम्परा की रक्षा करता है। उत्तर दिशा में विविध प्रकार के तथा निज सृष्टि में श्रेष्ठ तथा सर्वश्रेष्ठ मनुष्य प्राणियों के उत्पादक होने से, उत्तर दिशा के साथ परमेश्वर के सोमस्वरूप का सम्बन्ध दर्शाया है । अशनि का व्यवहार यतः उत्तरदिशा में होता हैं, इसलिये अशनि को इषु कहा है। "अशनि" सम्भवतः उत्तर दिशा में वर्तमान चुम्बक शक्ति या "उत्तरध्रुवीय प्रकाश" भी हो, देखो मन्त्र (५८) की टिप्पणी] ।

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः । एतं० । दिष्टं नो० ॥५९॥

(ध्रुवायै दिशे) ध्रुवादिशा के लिये, (अधिपतये विष्णवे) ध्रुवादिशा के स्वामी, किरणों द्वारा व्याप्त सूर्य के लिये, (कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे) विविधरूपों वाली वनस्पतियों की माला जिसने मानों ग्रीवा में पहनी हुई है ऐसे (रक्षित्रे) रक्षक सूर्य के लिये, (इषुमतीभ्यः ओषधीभ्यः) वाणों वाली ओषधियों के लिये:—

तथा

(अधिपतये विष्णवे) जगत् के अधिपति सर्वव्यापक परमेश्वर के लिये, (कल्माषग्रीवाय) पापमल का निगीर्ण करने वाले (रक्षित्रे) सर्वरक्षक परमेश्वर के लिये, (इषुमतीभ्यः) वाणों वाली सर्वौषधिरूप परमेश्वर के लिये:—

(एतं त्वा) इस तुझ को० । दिष्टं नो० पूर्ववत् (५५) ।

[ध्रुवा दिशा=पृथिवी। पूर्वादि दिशाएं भिन्न-भिन्न स्थानों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। यथा मसूरी की अपेक्षया देहरादून-नगर दक्षिण में, और हरद्वार की अपेक्षया उत्तर में, सहारनपुर की अपेक्षया पूर्व में, तथा ऋषिकेश की अपेक्षया पश्चिम में है। इस प्रकार पूर्व आदि दिशाएं ध्रुव नहीं, स्थिररूप नहीं। परन्तु पृथिवी सदा ध्रुवरूपा है।

कल्माषग्रीवः=सूर्यपक्ष में कल्माष का अर्थ है "विविधरूपी" (Variegated, आप्टे), तथा परमेश्वर पक्ष में कल्माष का अर्थ है मल, पाप (Dirt, sin, आप्टे)। परमेश्वर सच्चे उपासकों के चित्त के मलों तथा पापों को निगीर्ण कर देता है, ग्रीवा=गृ निगरणे।

ओषधीभ्यः—सूर्य पक्ष में ओषधयः का अर्थ है "ओषद् धयन्ति; दोषं धयन्ति" (निरुक्त ९।३।२७), अर्थात् जलन पैदा करने वाले रोग को जो पी जाती है, या वात-पित्त-कफ आदि दोषों को जो पी जाती है। रोग निवारण करने के कारण ओषधियां इषु या बाण रूप हैं।

ओषधीभ्यः—परमेश्वर पक्ष में, परमेश्वर दैहिक, ऐन्द्रियिक तथा मानसिक और आध्यात्मिक रोगों तथा मलों और पापों के निवारण में महौषधि रूप है! यथा:—भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥ (यजु. ३।५९)। मन्त्र में परमेश्वर को भेषज कहा है। [भिषज् चिकित्सायाम्] महर्षि दयानन्द "भेजषम्=परमेश्वर। महीधर "भेषजम्=रुद्र। रुद्र भी आध्यात्मिक शक्ति है]।

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते। एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः॥

दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥

(ऊर्ध्वायै दिशे) ऊपर की दिशा के लिये, (अधिपतये बृहस्पतये) अधिपति बृहस्पति अर्थात् महान्-से-महान्-के-पति परमेश्वर के लिये, (श्वित्राय रक्षित्रे) गतियों और वृद्धियों के पालक तथा रक्षक के लिये, (वर्षाय इषुमते) वर्षक तथा वर्षारूपी इषु वाले के लिये, (एतं त्वा) इस तुझ को (परिदद्मः) हम देते हैं, समर्पित करते हैं, (नः तम्) हमारे उस बन्धु की

(गोपायत) तुम रक्षा करो (अस्माकं ऐतोः) हमारे उस बन्धु के सर्वत्र आने जाने के लिये। (दिष्टं) निर्दिष्ट आयु (नः) हमें (अत्र) इस जीवन में (जरसे) बुढ़ापे के लिये (निनेषत्) ले चले, (जरा) बुढ़ापा (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (नः) हमें (परि ददातु) दे या सौंप दे, (अथ) तत्पश्चात् (पक्वेन सह) पके अन्न के साथ (संभवेम) हम उत्पन्न हों।

[द्युलोक पक्ष में श्वित्राय=white lepnosy (आप्टे)=श्वेत कुष्ठ। द्युलोक में श्वेत तारे तथा ताराओं के मध्यवर्ती कृष्ण आकाश श्वेत कुष्ठ की एक अवस्था का निर्देशक है। परमेश्वर पक्ष में "श्वित्राय"= गतियों तथा वृद्धियों के पालक तथा रक्षक के लिये" श्वि (गति वृद्धयोः) +त्रै (पालने)।

वर्षाय=वर्षा द्वारा प्यास आदि की निवृत्ति तथा अन्नोत्पत्ति, और तद्-द्वारा क्षुधा की निवृत्ति होने से वर्षक परमेश्वर को इषुमत् कहा है। संभवेम=उत्पन्न हों,—वर्षा का वर्णन इस लिये भी किया है कि उपनिषद् (बृहदा० अ० २, ब्रा० २ कं० १६) के अनुसार जीवात्मा पुनर्जन्म के लिये "आकाशद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं, ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते, ततो योषाग्नौ जायन्ते" इन प्रक्रमों में से गुजरते है। संभवेम" और "वर्ष" के द्वारा भी सम्भवतः इस उत्पत्ति के प्रक्रम को सूचित किया हो। मन्त्र में वर्ष शब्द है वर्षा नहीं। परन्तु उपनिषद् के कथनानुसार वर्ष का अर्थ वर्षा किया है। वर्ष शब्द कालवाची भी है, लगभग वर्षभर मातृयोनि में निवास कर मनुष्य शिशु जन्म लेता है]।

॥ तीसरा सूक्त समाप्त ॥

सूक्त ४

विषय प्रवेश

(१) सूक्त (अनुवाक) ४ का विषय है "वशा"। इन मन्त्रों में वशा के सम्बन्ध में, विवादरूप में, ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों, देवों अर्थात् दिव्य कोटि के विद्वानों तथा तदनुयायी प्रजा में तथा राजन्य (राजा) अधिकारी वर्ग तथा राजन्य के अनुयायी प्रजा में, वेदवाणी के प्रचार को स्वतन्त्रता और प्रचारक ब्राह्मणों आदि को वाक्-स्वतन्त्रता (Freedom of speech) के प्रदान तथा इस सम्बन्ध में राजन्य पक्ष के विरोध का वर्णन हुआ है। यह वर्णन कोई ऐतिहासिक वृत्त नहीं, अपितु सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये प्ररोचनारूप में, काल्पनिक वृत्त है।

(२) प्रकरण में "ब्रह्म" के दो अर्थ दर्शाए हैं, १. परमेश्वर; तथा २. वेद (बृंहेर्नोऽच्च, उणा० ४।१४७, महर्षि दयानन्द), इस प्रकार ब्राह्मण का अर्थ है परमेश्वरज्ञ तथा वेदज्ञ, न कि जन्मतः ब्राह्मण।

(३) वशा का पर्याय शब्द मन्त्रों में "गौः" पद पठित है। इस के तीन अर्थ किये है, १. गौः वाङ्नाम (निघं० १।११), २. स्तोतृ नाम (निघं० ३।१६), (३) गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१)। इस दृष्टि से गौ के अर्थ हैं वेदवाणी तथा प्रचारक ब्राह्मणों की वाणी और स्तोताओं की वाणी; तथा "गोपति" पद का अर्थ हैं पृथिवी का पति राजन्य।

(४) कई वैदिक विद्वान् "वशा" का अर्थ करते हैं "गर्भघातिनी" बन्ध्या गौ। परन्तु मन्त्र ३७-३८ में वशा स्वयं कहती है कि मैं गर्भधारिणी हूं "विहत्" नहीं। वेहत्=वी (प्रजननं, गर्भम्) तत् हन्ति।

(५) मन्त्र २७, २८ से ज्ञात होता है कि वशा ऋचाओं का उच्चारण करती है। चतुष्पाद गौ पशु ऋचाओं का उच्चारण नहीं कर सकती। मन्त्र २७ की टिप्पणी में अथर्ववेद के आङ्गलभाषा में अनुवादकर्त्ता विलियम ड्विट ह्विटनी लिखते हैं कि "Verses (ऋचः) are doubtless those which the Brahmanas come to claim their rightful property"।

तथा वशा के स्वरूप के परिज्ञान के लिये अथर्ववेद १०।९।१४ का निम्नलिखित मन्त्रार्ध अति महत्त्व का है। यथा "वशा समुद्रे प्रानृत्यत् ऋचः सामानि बिभ्रती", अर्थात् ऋचाओं और सामगान को धारण करती हुई वशा समुद्र में नाची है। अभिप्राय यह कि जैसे समुद्र में जलीय लहरें मानो नाचती कूदती हैं। इस प्रकार उपासक के हृदय समुद्र में ऋचाओं और सामगानों की लहरें नाचती तथा कूदती हैं। जैसे कि कहा है कि "एताः" (स्तुतिवाणियां) अर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात्" (यजु० १७।९३)। अतः वशा है काम्या तथा कान्तिमयी ऋचाओं का समूहरूप वेदवाणी (वशकान्तौ), तथा इन ऋचाओं के प्रचार करने वाले ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों की वशीकृत अर्थात् सुसंयमित वाणी। इन्हीं दृष्टियों के आधार पर समग्रसूक्त ४ के बुद्धिग्राह्य अर्थ किये गए हैं।

(६) वशा की तीन जातियां कहीं हैं, विलिप्ती, सूतवशा और वशा (४४, ४६, ४७)। इन पर भी प्रकाश डाला है।

(७) वशा के सम्बन्ध में मनः, मनसा तथा क्रुद्धा (३०, ३१, ३७) शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। यतः वशा को राजन्य की माता कहा है (३२, ३३); अतः मातृरूप में मनः आदि का प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है।

(८) वशा के गुप्त ऊधस् तथा स्तनों का भी वर्णन हुआ है (१८)। वेदवाणी के भी गुप्त ऊधस् और स्तनों की व्याख्या दर्शाई है।

(९) मन्त्रों में नारद (१६, २४, ४१-४३, ४५); रुद्र (५२); इन्द्र (५०); बृहस्पति (४४, ४६, ४८); तथा भवाशर्वौ (१७), इन के अभिप्रायों को भी दर्शाया है।

—:०:—

वशा गौ

ऋषिः कश्यपः। देवता वशा। अनुष्टुप्; ७ भुरिक्; २० विराट्; ३२ उष्णिग्बृहती गर्भा; ४२ बृहतीगर्भा।

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत।
वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत् प्रजावदपत्यवत् ॥१॥

(वशाम्) वशीकृत वाणी, (याचद्भ्यः) याचना करने वाले (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मरूप हुए व्यक्तियों को (ददामि) मैं देता हूं, (इति एव ब्रूयात्) यह ही कहे, यदि (एनाम्) इस वशा के स्वरूप को (अनु अभुत्सत) अनुकूल रूप में जान लिया है। (तत्) वह अर्थात् वशास्वातन्त्र्य (प्रजावत्) प्रशस्त प्रजा वाला है, (अपत्यवत्) प्रशस्त सन्तान वाला है।

[मन्त्र में ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को, वशीकृत वाणी के प्रयोग की स्वतन्त्रता देने का वर्णन है। उन ब्राह्मणों को जो कि ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए हैं। "यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्याः अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ (ऋ० ६।३ अ०।४० वर्ग।२३), अर्थात् हे सर्वाग्रणी ! जब मैं तुझ स्वरूप हो जाऊं, या तू मुझ स्वरूप हो जाय, तो इस जीवन में तेरे दिये आशीर्वाद सत्य हो जायें। योगी जब ब्रह्म को ध्येय कर, चित्तवृत्ति को ब्रह्म में लीन कर देता है, तब वह स्व-स्वरूप को भूल जाता, और ब्रह्म का ही केवल साक्षात् करता है, यह है योगी को ब्रह्मरूपता[1]। राजा का कर्त्तव्य है कि ऐसे योगिब्राह्मण को वाणी का स्वातन्त्र्य दे। इस की वाणी वशा हैं, स्वात्मवश है संयमित है। यह जो कुछ बोलेगा यथार्थ बोलेगा। इस के यथार्थ सदुपदेशों द्वारा प्रजाएं प्रशस्त बन जायेंगी, और सन्तानें भी प्रशस्त बन जायेंगीं। प्रजावत्, अपत्यवत् में "वत्" प्राशस्त्यार्थ में है। यथा "भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः"]।

प्रजया स विक्रीणीते पशुभिश्चोपदस्यति।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ॥२॥

(यः) जो राजा (याचद्भ्यः) याचना करते हुए (आर्षेयेभ्यः) ऋषि सन्तानों के लिये (देवानाम्) दिव्यगुणी ब्राह्मणों की (गाम्) वाणी [की स्वतन्त्रता] को (न दित्सति) नहीं देना चाहता (सः) वह (प्रजया पशुभिः च) प्रजा और पशुओं समेत (विक्रीणीते) अपने-आप को बेच देता है, (च) और (उप दस्यति) अन्यों के समीप दास बन जाता है, या उपक्षीण हो जाता है।

१. "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इस की व्याख्या भी इसी प्रकार जाननी चाहिये।

[गाम्; गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। जो राजा ऋषियों की सन्तानों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगा देता है, और उन्हें वाणी का स्वातन्त्र्य [Freedom of speech] नहीं देता, वह राज्यच्युत और निर्धन हो कर अपनी सन्तानों तथा पशुओं समेत अपने आप को बेच कर, अन्यों के स्वामित्व में दासवृत्ति से जीवनयापन करता है]।

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति।
बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥३॥

(कूटया) कूटनीति द्वारा (अस्य) इस क्षत्रिय राजा की प्रजाएं (सं शीर्यन्ते) जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, (श्लोणया) लंगड़ीनीति के द्वारा (काटम्) काटे गए गढ़े में (अर्दति) दुःख भोगता हैं। (बण्डया) प्रलोभन की नीति द्वारा (गृहा) गृहवासी (दह्यन्ते) दग्ध हो जाते हैं, (काणया) निमीलन की नीति द्वारा (स्वम्) उस का निजधन (दीयते) क्षीण हो जाता है।

[क्षत्रिय राजा यदि ब्रह्मज्ञों को वाणी का स्वातन्त्र्य न दे कर भिन्न-भिन्न नीतियों की चालें चलता है तो उन का जो परिणाम होता है उसे मन्त्र में दर्शाया है। वे नीतियां हैं, (१) कूटनीति अर्थात् झूठ और धोखे की नीति (२) श्लोणानीति, अर्थात् वचन दे कर उसे पूरा न करना, कुछ अंश में दिये वचन को पूरा करना, अवशिष्ट वचन स्थगित कर देना। (३) बण्डानीति[1], अर्थात् प्रलोभन की नीति, लालच दिखा कर वाणी स्वातन्त्र्य के आन्दोलन को रोकने का यत्न करना। (४) कानीनीति, अर्थात् आन्दोलन पर पूरा ध्यान ही न देना, आंख मूंद रखना। काणया= कण निमीलने (आंख बन्द रखना)]।

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम्।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे ॥४॥

(शक्नः[2]) शक्ति के (अधिष्ठानात्) अधिष्ठानरूप ब्रह्मज्ञ से (गोप-

१. बण्डि=बण्टि=fish-hook ध।

२. शक्ना=धूम आदि से; तेज आदि से (यजु० ३७।९), महर्षि दयानन्द। अतः शक्नः का अर्थ लीद ही नहीं। शक्नोतीति शकृत् (म० दयानन्द)।

तिम्) पृथिवीपति को (विलोहितः) मुख का पीलापन (विन्दति) प्राप्त होता है। (तथा) वैसा अर्थात् उपर्युक्त (वशायाः) वशीकृत अर्थात् संयमित ब्रह्मज्ञवाणी के सम्बन्ध में (संविद्यम्) यथार्थ ज्ञान है, (हि) चूंकि हे वशे ! (दुरदभ्ना=दुरादभ्ना) तू कठिनाई से दबाई जाने वाली (उच्यसे) कही जाती है।

[विलोहितः=लोहित अर्थात् रक्त से विगत हो जाना। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति शक्ति का अधिष्ठान है। उस की वाणी अदम्या है। अतः पृथिवी-पति का पराजय हो जाने पर उस का मुख पीला पड़ जाता है। गोपतिम्= गौः पृथिवी (निघं० १।१)]।

पुदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति ।
अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोप जिघ्रति ॥५॥

(अस्याः) इस वाणी के (पदोः) प्रतिपाद्य दो [विषयों] के (अधिष्ठानात्) अधिष्ठानरूप ब्रह्मज्ञ को प्राप्त कर (विक्लिन्दुः) विशेष प्रकार से गीला हुआ पृथिवीपति, (नाम) नम्रता को (विन्दति) प्राप्त होता है। (अनामनात्) और न नम्र होने से (सं शीर्यन्ते) इस की प्रजाएं नष्ट हो जाती हैं, (याः) जिन प्रजाओं को ब्रह्मज्ञ की वाणी, (मुखेन) ब्रह्मज्ञ के मुख द्वारा, (उप जिघ्रति) समीप हो कर सूंघती[1] है। पदोः; देखो "पदवायम्" (१२।५। पर्याय १।४)।

[अधिष्ठानात् विन्दति=अधिष्ठानं प्राप्य विन्दति। यथा प्रासादात् प्रेक्षते=प्रासादमारुह्य प्रेक्षते। पदोः=प्रतिपाद्य दो विषय=अभ्युदय और निश्रेयस। विक्लिन्दुः=पसीने से गीला हुआ। मन्त्र ४ में विलोहित द्वारा, भय के कारण मुख के पीलेपन का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ५ में भय के कारण छूटे पसीने का वर्णन किया है]।

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते ।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥६॥

१. उपजिघ्रति=इस द्वारा ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की वाणी को विषैली सर्पिणी कहा है। विषैला सर्प सूंघने मात्र से व्यक्ति को मार देता है। यथा "स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः" हितोपदेश ३।१४; तथा भामिनी विलास १।११।२।

(यः) जो [गोपति अर्थात् पृथिवीपति] (अस्याः) ब्रह्मज्ञ की इस वाणी के सम्बन्ध के (कर्णौ) कानों को (आस्कुनोति) अपने ओर झुकाने का यत्न करता है, (सः) वह (देवेषु) देवसंघ में (वृश्चते) अपने-आप को पृथक् कर लेता है। और जो (इति मन्यते) यह मानता है कि (लक्ष्म कुर्वे) मैं इन का केवल दर्शन करता हूं वह देवसंघ में (स्वम्) अपने आप को (कनीयः) छोटा (कुरुते) कर लेता है।

[कर्णौ=वाणी सम्बन्धी दो कान हैं, दो प्रकार के श्रोतृवर्ग। प्रजाओं में कई तो राजपक्ष के लोग होते हैं और कई प्रजा के नेतृपक्ष के। राजा दोनों पक्षों के नेताओं की वक्तृताओं को सुनता है, मानो ये दोनों पक्षों के लोग दो कान रूप हैं। कान सुनते हैं। सुनने के कारण इन्हें कान कहा है। जैसे "षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः" (पञ्चतन्त्र १।९९), में मन्त्र का विशेषण है "षट्कर्णः" इसी प्रकार "अस्याः कर्णौ" में वाणी के दो कर्ण कहे हैं]।

यदस्याः कस्मैचिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्र कृन्तति ।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥७॥

(कश्चित्) राजपक्ष का कोई व्यक्ति, (कस्मैचित् भोगाय) किसी स्वार्थ लाभ के लिये, (यद्) जो (अस्याः) ब्रह्मज्ञ की इस वाणी के (बालान्) बालों को (प्रकृन्तति) काटता है, (ततः) तदनन्तर (किशोराः) बालक (म्रियन्ते) मर जाते हैं, (वृकः वत्सान् च) और भेड़िया शिशुओं का (घातुकः) हनन करता है।

[बालान् प्रकृन्तति=वाणी या वक्तृता की "बाल की खाल उतारना"। किशोराः=ब्रह्मज्ञ पक्षीय तथा राजपक्षीय लोगों में युद्ध की अवस्था में किशोर सैनिक भी मर जाते हैं, और ब्रह्मज्ञ पक्ष का सेनाध्यक्ष मानो वृक बन कर शिशुओं को भी मार देता है, ताकि ऐसे राजा के वंश का ही विलोप हो जाये]।

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥८॥

(गोपतौ) पृथिवीपति के होते (अस्याः सत्याः) ब्रह्मज्ञ की इस सती अर्थात् पवित्र वाणी के (लोम) एक भी बाल को, (यद्) जो (ध्वाङ्क्षः) लोभी कर्मचारी (अजीहिडत्) खींच कर अनादृत करता है, (ततः)

तदनन्तर (कुमाराः) कुमार (म्रियन्ते) मर जाते हैं, (अनामनात्) और राजा के नम्र या नत न होने पर (यक्ष्मः) ब्रह्मज्ञ का सेनाध्यक्ष मानो यक्ष्मरोग का रूप धारण कर के (विन्दति) राजकीय परिवार को प्राप्त होता है।

[इस मन्त्र में भी युद्ध हो जाने पर युद्ध का बुरा परिणाम दर्शाया हैं। कुमाराः= यौवन प्राप्त सैनिक। किशोराः=जो कि यौवन प्राप्त नहीं हुए। ध्वाङ्क्षः=ध्वाङ्क्षेण क्षेपे (अष्टा० २।१।४२), यथा "तीर्थध्वाङ्क्षः"। ध्वांक्षः=कौआ। क्षेप=तिरस्कार अनादर, नीचता। गोपतौ=पृथिवीपति की उपस्थिति में। गौः=पृथिवी (निघं० १।१)। लोम अजीहिडत्= वक्तृता के किसी छोटे अंश को ले कर "उस की बाल की खाल उतार कर" ब्रह्मज्ञ का अनादर करता है। हेड् अनादरे]।

यद॑स्याः पल्पूल॑नं शकृ॑द् दासी स॒मस्य॑ति ।
ततोऽप॑रूपं जायते तस्मा॒द्व्यैष्य॒देन॑सः ॥९॥

जैसे (दासी) गृहदासी (शकृत्) गोबर का (समस्यति) संग्रह करती है, वैसे दासी अर्थात् पृथिवीपति की वेतन भोगी प्रजा (अस्याः) ब्रह्मज्ञ की इस वाणी की जड़ को (पल्पूलनम्=पल्यूलनम्) काटने वाले साधनों का (यद्) जो संग्रह करती है, (ततः) उस से पृथिवीपति का (अपरूपम्) अपयश (जायते) उत्पन्न होता हैं, और वह (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (अव्येष्यत्) विगत नहीं हो पाता, छूटता नहीं।

[पल्पूलनम्=पल्पूल लवनपवनयोः (चुरादि)। अव्येष्यत्=अ (नञ्)+वि+इष् (गतौ)+स्य+शतृ। लवन=काटना तथा काटने के साधन]।

जाय॑माना॒भि जा॑यते दे॒वान्त्सब्रा॑ह्मणान् व॒शा ।
तस्मा॑द् ब्र॒ह्मभ्यो॒ दे॑यै॒षा तदा॑हुः स्वस्य॒ गोप॑नम् ॥१०॥

(वशा) वेदवाणी (जायमाना) प्रकट होती हुई, (सब्राह्मणान्) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ अर्थात् ब्राह्मणों समेत (देवान्) दिव्य व्यक्तियों को (अभि) अभिमुख कर के (जायते) प्रकट होती है। (तस्मात्) इस लिये (एषा) यह वशा (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों के स्वामित्व के लिये (देया) दे देनी चाहिये, (तद्) इस दान को (स्वस्य गोपनम् आहुः) राजा की निज सुरक्षा रूप कहते हैं।

[राष्ट्रिय प्रजाओं और सन्तानों को प्रशस्त बनाने के लिये, ब्रह्मवेत्ताओं तथा वेदवेत्ताओं की वाणी की स्वतन्त्रता प्रदान करने के प्रकरण में "वशा" द्वारा वेदवाणी का वर्णन हुआ है। ऐसे तथा इस प्रकार के अन्य दिव्यगुणी विद्वानों को वेदवाणी के प्रचार का अधिकार, राजा द्वारा, प्राप्त होना चाहिये, इस से राजा की भी आत्मरक्षा हो सकेगी। ऐसे विद्वान् अपनी वाणी द्वारा, वेदवाणी के अनुकूल ही, प्रजा को सदुपदेश देंगे, जिस से राष्ट्रोन्नति हो कर राजा की स्थिरता बनी रहेगी]।

य ए॑नां व॒निमा॒यन्ति॒ तेषां॑ दे॒वकृ॑ता व॒शा ।
ब्र॒ह्मज्येयं॒ तद॑ब्रुव॒न् य ए॑नां निप्रि॒याय॑ते ॥११॥

(ये) जो ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ व्यक्ति (एनाम् वनिम्) इस वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता की याचना के लिये (आयन्ति) राजा के प्रति आते हैं, (तेषाम्) उन के लिये, (वशा) वेदवाणी (देवकृता) परमेश्वर देव ने आविर्भूत की है। (तद् अब्रुवन्) देव कोटि के व्यक्तियों ने यह कहा है कि (इयम्) यह वेदवाणी (ब्रह्मज्या) ब्रह्मवेत्ताओं तथा वेद वेत्ताओं के जीवन को हानि पहुंचाती हैं (यः) जो राजा कि (एनाम्) इस वेदवाणी को (निप्रियायते) नितरां निज प्रिया की तरह अपने स्वामित्व में रखता है।

[वनिम्=वनु याचने। वेदवाणी के प्रचार या न प्रचार का अधिकार, यदि राजा, अपने हाथ में रखता है तो इस से वेदज्ञों का जीवन कष्टमय हो जाता है। परमेश्वर ने तो ऐसे विद्वानों को, प्रचारार्थ, वेद का अधिकार दिया हुआ है]।

य आर्षे॑येभ्यो॒ याच॑द्भ्यो॒ दे॒वानां॒ गां न दित्स॑ति ।
आ स दे॒वेषु॑ वृश्चते ब्रा॒ह्मणानां च म॒न्यवे॑ ॥१२॥

(यः) जो राजा (याचद्भ्यः) याचना करने वाली (आर्षेयेभ्यः) ऋषि सन्तानों को (देवानाम्) देवों की (गाम्) वेदवाणी पर अधिकार (न दित्सति) नहीं देना चाहता, (सः) वह (देवेषु) देव समाज में (आ वृश्चते) पूर्णतया अपने आप को सम्बन्ध से वञ्चित कर लेता है, (च) और (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों के (मन्यवे) मन्यु का भाजन बन जाता है।

[देवानाम्=ब्राह्मणों से भिन्न राष्ट्र के अन्य विद्वान्]।

यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत् तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥१३॥

(अस्य) इस राजा का (यः वशा भोगः) वेदवाणी द्वारा सम्पन्न जो भोग (स्यात्) हो, (तर्हि) तो (सः) वह राजा (अन्याम्) अन्य रीति को (इच्छेत) अपनाने की इच्छा करे। (अदत्ता) न दी गई (पुरुषम्) राज पुरुष की (हिंस्ते) हिंसा कर देती है, जोकि (याचिताम्) याचना की गई को (न दित्सति) नहीं देना चाहता।

[भोगों की अन्य रीति = अपनी मिल्ल लगाना लेना, टैक्स नए लगा देना, व्यापार आदि। वेदवाणी के प्रचार पर प्रतिबन्ध[1] लगा कर राजा निजभोगों के सम्पादन की इच्छा न करे, क्योंकि वेद प्रचार न होने से प्रजाएं और सन्तानें प्रशस्त नहीं हो सकतीं।

विशेषः—(१) मन्त्रों में "ब्रह्मभ्यः, आर्षेयेभ्यः, ब्राह्मणानां, देवानाम्" में बहुवचन, और "गाम्" में एक वचन होने से, एक गौ के लिये बहुतों की मांग प्रतीत होती है। यदि "गौ" का अर्थ "गोप्राणी" किया जाये तो राजा किस को गौ दे, यह राजा के निश्चय के लिये प्रश्न पैदा हो जायेगा। यदि गौ का अर्थ वेदवाणी और उस के प्रचार के लिये ब्राह्मणों को वाणी प्रयोग का स्वातन्त्र्य दिया जाये तो कोई कठिनाई पैदा नहीं हो सकती। (२) ब्राह्मणाम्, देवानाम्" में भेद यह है कि जो तो वेद प्रचार करना चाहते हैं उन्हें तो मन्त्रों में ब्राह्मण शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है, और जो वेदवाणी के भक्त तो हैं, परन्तु उस के प्रचार में रुचि नहीं रखते उन्हें इन मन्त्रों में देव शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥१४॥

(यथा) जैसे (निहितः) सुरक्षित (शेवधिः) सुखदायक खजाना होता है, (तथा) वैसे (ब्राह्मणानाम्) वेदज्ञों के लिये (वशा) वेदवाणी होती

१. प्रतिबन्ध=निरोधन (मन्त्र १५)। राजा वेदवाणी के प्रचार पर प्रतिबन्ध इसलिये लगाता है कि इस के प्रचार द्वारा उस के निजभोग कहीं समाप्त न हो जायें, क्योंकि वेदवाणी तो "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः" का उपदेश देती है (यजु० ४०।१)।

है। (एतत्) इस हेतु से, (यस्मिन् कस्मिन् च) जिस किसी व्यक्ति में (जायते) वेदवाणी प्रादुर्भूत हो जाती है (ताम्) उस वशा अर्थात् वेदवाणी के [द्रष्टा] की (अच्छ) ओर (आयन्ति) वेदज्ञ विद्वान् आते हैं [उस के दर्शन के लिये] अच्छ=अच्छाभी आभिमुख्ये।

[जिस किसी ऋषि को को यथार्थ रूप में वेदमन्त्रों का ज्ञान प्रकट होता है, उस की ओर उस के दर्शन के लिये वेदज्ञ विद्वान् जाते हैं। अच्छ =आभिमुख्ये]।

स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि ।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥१५॥

(ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ=तथा—वेदज्ञ विद्वान् (यद्) जो (वशाम्) वेदवाणी या निज वशीकृत वाणी को (अभि) लक्ष्य करके (आ यन्ति) राजा की ओर आते हैं, वे (एतद् स्वम्) मानो इस निज सम्पत्ति को (अच्छ) लक्ष्य कर के आते हैं। (अस्याः) इस वाणी का (निरोधनम्) निरोध (एवा) ऐसा ही है (यथा) जैसे कि (एनान्) इन ब्राह्मणों को (अन्यस्मिन्) अन्य (किसी अपराध) में (जिनीयात्) हानि पहुंचाना है।

[मन्त्रों में "वशा" शब्द द्वारा दो अर्थ द्योतित होते हैं। (१) वेदवाणी; (२) ब्राह्मणों की वेदवाणी के प्रचारार्थ वशीकृत निज वाणी का स्वातन्त्र्य। इस निमित्त ब्राह्मण राजा की ओर जाते हैं। ब्राह्मण प्रजा में विद्रोह पैदा कर के यह स्वातन्त्र्य नहीं चाहते। क्योंकि विद्रोह से प्रजा का तथा राष्ट्रिय सम्पत्ति का विनाश होता है। इसलिये शान्ति के उपाय द्वारा अपनी मांग को वे सफल बनाना चाहते हैं]।

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती ।
वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥१६॥

वशा (आ त्रैहायणात्) तीन वर्षों की अवधि तक (अविज्ञातगदा सती) अज्ञात रूप में (चरेत् एव) विचरती ही रहे (नारद) हे नरसमाज के शोधक! (च) और (वशाम्) वशीकृत वाणी के स्वरूप को (विद्यात्) राजा जब जान ले (तर्हि) तो (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ यथा वेदज्ञ व्यक्ति (एष्याः) ढूंढने चाहियें, ताकि उन्हें वाणी का स्वातन्त्र्य दिया जा सके।

[तीन वर्षों तक ब्राह्मण शान्ति के उपायों का अवलम्बन कर, जनता में व्याख्यान न दें, अपितु व्यक्तिरूप में परस्पर मिल कर वेदवाणी का

प्रचार करते रहें। राजा को जब यह ज्ञात हो जायगा कि ब्राह्मण लोग अपनी वक्तृताओं द्वारा प्रजा को भड़का कर वाणी स्वातन्त्र्य नहीं चाहते, तो नरों की विचारशुद्धि और आचारशुद्धि चाहने वाला अधिकारी, नारद स्वयं ऐसे शान्तिप्रिय ब्राह्मणों की खोज करेगा ताकि प्रजा में वे वेदवाणी का प्रचार करें। नारद=नार (नृणां समूहः)+द (दैप् शोधने)। सम्भवतः नारद धर्माधिकारी है]।

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम्।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥१७॥

(यः) जो राजाधिकारी (देवानां निहितं निधिम्) देवकोटि के विद्वानों की सुरक्षित वेदवाणी रूपी खजाने को (अवशाम्) अवशा (आह) कहता है, अर्थात् इस के प्रकार द्वारा प्रजा वश में नहीं रहेगी, विद्रोही हो जायेगी (तस्मै) उस अधिकारी को, (उभौ) दोनों (भवाशर्वौ) भव और शर्व (परिक्रम्य) घेर कर उस पर (इषुम् अस्यतः) बाण फैंकते हैं।

[भव=प्रधानमन्त्री; शर्व=सेनापति। ये दोनों अधिकारी उसे वाक-वाणी द्वारा वींधते हैं, उस की निन्दा करते हैं]।

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥१८॥

(यः) जो (अस्याः) इस वशा अर्थात् वेद माता के, तथा वेद प्रचारक की वाणी के (ऊधः) दुग्धाशय को (न, वेद) नहीं जानता, (अथ उ उत) और (अस्याः) इस के (स्तनान्) स्तनों को (न, वेद) नहीं जानता वह (चेत्) यदि (वशाम् दातुम्) वशा प्रदान करने को (अशकत्) शक्ति सम्पन्न या सामर्थ्य वाला हो जाय, तो वशा (उभयेन एव) दोनों अर्थात् दुग्धाशय तथा स्तनों द्वारा ही (अस्मै) इस के लिये (दुहे) दूध देने लगे।

[अभिप्राय यह है कि राजा अथवा राज्याधिकारी यह कहता है कि इस वशा-माता का न तो दुग्धाशय है और न स्तन हैं, अतः वशा निरुपयोगी हैं, राष्ट्र के लिये। परन्तु मन्त्र के उत्तरार्ध में यह कहा है कि वह यदि वशा के प्रचार की स्वतन्त्रता देने का सामर्थ्य रखे तो उसे ज्ञात हो जायेगा कि वशा के दुग्धाशय और स्तन हैं, और वह दूध देती है, प्रचार के लिये राष्ट्रोपयोगी है।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्रार्ध विशेष प्रकाश डालता है यथा–

"अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५)। इस पर यास्कमुनि लिखते हैं कि "अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक् प्रतिरूपया, नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्यामित्यफलास्मा अपुष्पा वाक् भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। (निरुक्त १।६।२०)।

अर्थात् जिस ने वेदवाणी को केवल सुना ही है वह मायारूप अर्थात् कृत्रिम गौ के साथ विचरता है, जो कि अधेनु है, दूध नहीं दे रही, तथा ऐसे वृक्ष की सेवा करता है, जो कि फल और पुष्प नहीं दे रहा" (ऋ० १०।७१।५)। तथा "देवस्थान अर्थात् यज्ञों में, तथा मनुष्यस्थान अर्थात् पाठशाला आदि में जिसने केवल वेदवाणी सुनी ही है, परन्तु उस के फलों और पुष्पों को प्राप्त नहीं किया, अथवा स्वल्पमात्रा में फल-पुष्प प्राप्त किये हैं, वह न दूध देने वाली गौ के साथ विचरता है जो कि मायारूप है, वेदवाणी की प्रतिकृति मात्र है, वह इस श्रोता के लिये वाणी द्वारा दोहे जाने वाले काम्य पदार्थों को नहीं दोहती। वेदवाणी का अर्थ है पुष्प और फल, अर्थात् यज्ञ और देवता तथा परमेश्वर और जीवात्मा का ज्ञान। तथा "वृक्षो वेदः तस्य फलं प्रणवः" (आप० धर्मसूत्र ?), अर्थात् वृक्ष है वेद और उस का फल है प्रणव, अर्थात् परमेश्वर।

इस प्रकार समुच्चित वेदवाणी है गौ, चार वेद हैं चार स्तन, और वेदों द्वारा प्राप्त ज्ञान है दुध। और प्रकार वशा अर्थात् वदवाणी दुग्धाशय तथा स्तनों से रहित नहीं। अतः फल प्रदा है]।

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति ॥१९॥

(दुरदभ्ना) दर्वाजों को तोड़ देने वाली वशा (एनम्) इस के समीप (आशये) सोई सी रहती है, जो कि (याचिताम्) मांगी गई को (न दित्सति) नहीं देना चाहता। (अस्मै) इस के लिए (कामाः) कामनाएं (न समृध्यन्ते) संमृद्ध नहीं होतीं, (याम्) जिस वशा को (अदत्त्वा) न देकर (चिकीर्षति) यह करना चाहता है।

[दुरदम्ना=दुर (दर्वाजा)+दभ् (तोड़ना) तथा (मन्त्र ४) । मन्त्र में राजा का वर्णन "दित्सति" द्वारा हुआ है। वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता न देने पर, स्वतन्त्रताभिलाषी व्यक्ति, राजा के निवास स्थान के दरवाजे तोड़ कर राजा पर आक्रमण कर देते हैं। दुरः=द्वार (अथर्व० २०।२१।२) । दुर=Door] ।

देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम् ।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥२०॥

(देवाः) देवों ने (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ को (मुखं कृत्वा) मुखरूप या मुखिया बना कर (वशाम्) वशा की (अयाचन्) याचना की। (अददत्) न देता हुआ राजा (तेषां सर्वेषाम्) उन सब देवों के (हेडम्) अनादर को (न्येति) नितरां प्राप्त होता है।

[सब दिव्यगुणी जन राजा का निरादर करने लगते हैं वाणी स्वातन्त्र्य न देने से। मुखम् (मन्त्र ५) । अददत्=अ+दद् (दाने)+शतृ । मानुषः=अर्थात् राजा कोई अलौकिक व्यक्ति नहीं, वह भी है तो मनुष्य ही। इसलिये प्रजा द्वारा बाधित किया जा सकता है] ।

हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम् ।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥२१॥

(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ विद्वानों को (वशाम्, अददद्) वशा अर्थात् वेदवाणी और उस के प्रचार के लिये वशीकृत वाणी का स्वातन्त्र्य (अददद्) न देता हुआ राजा (पशूनाम्) पशु सदृश साधारण प्रजाजनों के (हेडम्) अनादर को भी (न्येति) नितरां प्राप्त होता है, (चेत्) यदि वह (मर्त्यः) मरणधर्मा राजा (देवानाम्) देवजनों के (निहितम्) सुरक्षित (भागम्) वाणी-स्वातन्त्र्य अधिकार को (निप्रियायते) नितरां निज प्रियावत् स्वाधिकृत समझता है (मन्त्र ११) ।

[मन्त्र में राजा को "मर्त्य" कह कर उस की दिव्यता का निरास किया है] ।

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् ।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥२२॥

(यद्) यदि (अन्ये) अन्य (शतं ब्राह्मणाः) सौ ब्राह्मण (गोपतिम्) पृथिवीपति से (वशाम्, याचेयुः) वशा मांगें, (अथ) तो भी (एनाम्) इस वशा के सम्बन्ध में (देवा अब्रुवन्) देवों ने कहा है कि (वशा एवं विदुषः ह) कि वशा इस प्रकार के ज्ञानी की ही है।

[ब्राह्मण तीन प्रकार के होते हैं। (१) ब्रह्मज्ञ। (२) वेदज्ञ। (३) ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ। तीसरे प्रकार के ब्राह्मणों को वेद प्रचार के लिये वाणी-स्वातन्त्र्य देना चाहिये, ऐसा अभिप्राय है] ।

य एवं विदुषेऽदत्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥२३॥

(यः) जो राजा (एवं विदुषे) इस प्रकार के ज्ञानी को (अदत्वा) न दे कर (अथ) फिर (अन्येभ्यः) अन्यों को (वशाम्) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता (ददद्) प्रदान करता है, (तस्मै) उस के लिये (सहदेवता) देवताओं सहित (पृथिवी) पृथिवी, (अधिष्ठाने) राजा के निज निवास स्थान में, (दुर्गा) दुःख पहुंचाती है।

[यदि राजा विद्वान् ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ को वेदप्रचार की स्वतन्त्रता न दे कर अन्यों को स्वतन्त्रता देता है, तो मानो पृथिवी के वासी निज नेताओं के साथ मिल कर उसे उसके निवास स्थान पर जा कर कष्ट पहुंचाते हैं] ।

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत ।
तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥२४॥

(देवाः) देवों ने (वशाम्) वेदवाणी की (अयाचन्) याचना उस से की (यस्मिन्) जिस किसी व्यक्ति में (अग्रे) प्रथम (अजायत) वेदवाणी प्रकट हुई। (नारदः) नर-नारी समाज को शुद्ध करने वाला वह व्यक्ति (ताम्) उस वशा के स्वरूप को (विद्यात्) जान ले। (देवैः सह) राष्ट्र के देवों के साथ मिल कर वह व्यक्ति (एताम्) इस वशा अर्थात् वेदवाणी को (उदाजत) समुन्नत करता है। "अग्रे अजायत" देखो (मन्त्र १४) ।

[जिस किसी व्यक्ति में वेदप्रचार की अभिव्यक्ति प्रथम हो उस की सहायता सभी देवकोटि के विद्वान् कर के वेदविद्या की समुन्नति में सहयोग दें। नारदः=नार (नर नारियों का समाज)+द (दैप शोधने)] ।

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम् ।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥२५॥

[जो राजपुरुष] (ब्राह्मणैः) ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों द्वारा (याचिताम्) मांगी गई (एनाम्) इस वशा अर्थात् वेदवाणी को (निप्रियायते) नितरां निजप्रिया के सदृश स्वस्वामित्व में रखता है, (पूरुषम्) उस राजपुरुष को (वशा) अप्रचारित वेदवाणी (अनपत्यम्) प्रजारूप सन्तान से रहित तथा (अल्पपशुम्) अल्पपशुओं वाला (कृणोति) कर देती हैं । निप्रियायते, देखो (मन्त्र ११, २१) ।

[जो राजपुरुष वेद प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाता है, उस के राज्य में न प्रजा की वृद्धि होती है, न पशुओं की] ।

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥२६॥

(अग्नीषोमाभ्याम्) राज्य में अग्नि और सोम की वृद्धि के लिये, (कामाय) काम्यपदार्थों के लिये, (मित्राय) मित्रों के लिये, (च वरुणाय) श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिये, (तेभ्यः) उन सब के लिये, (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् (याचन्ति) वशा की याचना करते हैं, (अददत्) राजा न देता हुआ, (तेषु) उन में रहता हुआ भी (आ वृश्चते) पूर्णतया अपने आप को अलग कर लेता है ।

[राज्य की वृद्धि के लिये अग्नि (Power) की तथा सोम (जल) की वृद्धि चाहिये । अग्नि द्वारा कलाकौशल की वृद्धि, तथा जल द्वारा कृषि की वृद्धि होती है । इन द्वारा काम्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वेद प्रचार द्वारा प्रजा में मैत्री-भावना का तथा श्रेष्ठता का प्रसार होता है । सोम=Water (जल) आप्टे । वरुणः=उत्तमम् (उणा० ३।५३, महर्षि दयानन्द) । अभिप्राय यह कि ब्राह्मण स्वार्थ के लिये वेदप्रचार नहीं चाहते, अपितु राष्ट्रोन्नति के लिये चाहते हैं] ।

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥२७॥

(गोपतिः) पृथिवी का पति राजा (यावत्) जब तक (अस्याः) इस

वशा अर्थात् वेदवाणी की (ऋचः) ऋचाओं को (न उपशृणुयात् स्वयम्) अपने आप नहीं सुनता, (तावत्) तब तक (अस्य) इस गोपति के (गोषु) स्तोताओं में वशा अर्थात् वेदवाणी (चरेत्) विचरे, (श्रुत्वा) ऋचाओं को सुन कर (अस्य) इस गोपति के (गृहे) केवल गृह में ही (न वसेत्) न बसे, न विचरे ।

[वशा का अर्थ यदि गौ(पशु)हो तो वह ऋचाएं कैसे बोलेगी । वेदवाणी तो ऋचाएं बोलती ही है । अतः इस वशा प्रकरण में वशा का अर्थ वेदवाणी ही जानना चाहिये । वेदवाणी मानो वेदज्ञ ब्राह्मण के मुख द्वारा ऋचाओं का उच्चारण करती है । गोपति का अर्थ है पृथिवीपति, न कि ग्वाला । इसीलिये मन्त्र ३२में 'राजन्यः', और मन्त्र ३३में 'राजन्यस्य' पद पठित हैं ।

मन्त्र में यह भी निर्देश मिलता है कि गोपति के अन्य कार्यों में व्यापृत होने के कारण वह वेदवाणी के सदुपदेशों से वञ्चित रहता है । इसलिये वेदवाणी राजा के स्तोतृ आदि याज्ञिकों तक सीमित रहती है, परन्तु गोपति जब स्वयं वेदवाणी की ऋचाओं का श्रवण करता है तब वह वेदवाणी के सदुपदेशों के प्रचार की इच्छा करता है, और वेदवाणी पहिले जो उस के गृह्यकृत्यों के लिये याज्ञिकों द्वारा प्रयुक्त होती थी वह अब राष्ट्रकृत्यों के लिये भी उपयुक्त होती है । गोषु, गौः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)] ।

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत् ।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥२८॥

(यः) जो राजा (अस्याः) इस वशा अर्थात् वेदवाणी को (ऋचः) ऋचाओं को (उपश्रुत्य) सुन कर, (अथ) फिर भी (गोषु) इन्द्रियों [के भोगों] में (अचीचरत्) विचरता रहता है, (तस्य) उस की (आयुः च, भूतिं च) आयु को और विभूति को—(हीडिताः देवाः) अनादृत हुए देवजन (वृश्चन्ति) काट देते हैं ।

[मन्त्र २७ में "अस्याः गोपतिः ऋचः" में "अस्याः" का अन्वय "गोपति" के साथ नहीं, अपितु "ऋचः" के साथ है, जैसा कि मन्त्र २८ में स्पष्ट है । गोषु=इन्द्रियेषु । यथा "गौः पशुः, इन्द्रियं, सुखं, किरणो, वज्रं चन्द्रमा, भूमिः, वाणी, जलं वा", "गमेर्डोः" (उणा० २।६८, महर्षि दयानन्द) । देखो "वशागोगः" (१३)] ।

वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥२९॥

(देवानां निहितः निधिः) देवकोटि के विद्वानों का सुरक्षित खजाना (वशा) वेदवाणी, (बहुधा) बहुत प्रकार के विषयों में (चरन्ती) गति करती हुई, (रूपाणि) नाना रूपों का (आविष्कृणुष्व=आविष्करोति) आविर्भाव अर्थात् वर्णन करती है, (यदा) जब कि यह (स्थाम) निज स्थान अर्थात् आश्रय में (जिघांसति) जाना चाहती है।

[अभिप्राय यह कि वेदवाणी जब ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ विद्वानों में आश्रय पाती है, तब नाना विषयों का प्रतिपादन करती है। ये विषय हैं आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। इस वेदवाणी का निज स्थान है—ब्राह्मण। यथा "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि" (निरु० २।१।३)। विद्या=वेदविद्या; तथा (३०, ३१)। जिघांसति=हन् हिंसागत्योः=जिगमिषति]।

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याञ्च्याय कृणुते मनः ॥३०॥

(आविः आत्मानम्) अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है (यदा) जब कि वशा अर्थात् वेदवाणी (स्थाम) निज स्थान अर्थात् ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता को (जिघांसति) जाना चाहती है। (अथ उ ह) तब निश्चय से (वशा) वेदवाणी (ब्रह्मभ्यः) वेदवेत्ताओं द्वारा (याञ्च्याय) निज याचना के लिये (मनः कृणुते) इच्छा करती है, अर्थात् ब्राह्मण मेरी माँग करें मुझे चाहें, ऐसी इच्छा करती है। [जिघांसति=जिगमिषति; हन् गतौ] आविरात्मानम्="उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः" (ऋ० १०।७१।४)।

मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥३१॥

(मनसा) मन से (सं कल्पयति) संकल्प करती है, (तत्) वह संकल्प (देवान्) देवों को (अपि गच्छति) प्राप्त होता है। (ततः ह) तत्पश्चात्, निश्चय से, (ब्रह्माणः) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता (वशाम्) वेद-

वाणी की (याचितुम्) याचना के लिये (उप प्रयन्ति) गोपति के समीप प्रयाण करते हैं।

[मनसा,—संकल्प मन का गुण है न कि आत्मा का। अभिप्राय यह कि वेदवाणी के प्रचार के स्वातन्त्र्य के लिये प्रथम देवकोटि के विद्वानों से परामर्श लेना चाहिये। तत्पश्चात् राजा के पास इस निमित्त प्रयाण करना चाहिये। मन्त्र ३० और ३१ में मनः और मनसा, तथा संकल्प का वर्णन कवितारूप में है]।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥३२॥

(पितृभ्यः) पितरों के लिये (स्वधाकारेण) उन के निज धारण और पोषण करने वाले अन्न के प्रदान द्वारा, (देवताभ्यः) देवताओं के लिये (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा, तथा [ब्रह्मभ्यः] ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों के लिये (वशायाः दानेन) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता के प्रदान द्वारा (राजन्यः) प्रशस्त राजा (मातुः) वेद माता द्वारा (हेडम्) अनादर को (न, गच्छति) नहीं प्राप्त होता।

[पितृभ्यः=वृद्ध माता पिता, वनस्थ तथा संन्यस्त मुनियों की सेवा द्वारा; पृथिवी, जल, वायु और अन्न आदि की शुद्धि यज्ञों द्वारा तथा वेदवाणी के प्रचार द्वारा करके राजा, वेदवाणीरूपी माता द्वारा अनादर नहीं पाता। वेदमाता="स्तुता मया वरदा वेदमाता" (अथर्व० १९।७१।१)। मन्त्र में राजा के कतिपय कर्त्तव्यों का निर्देश किया है। निज कर्त्तव्यों के पालन से राजा वेदमाता द्वारा सत्कार पाता है, अन्यथा वह अनादर पाता है, अर्थात् वेदमाता के भक्तों द्वारा वह निज कर्मानुसार अनादर या सत्कार पाता है]।

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः ।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥३३॥

(वशा) वेदवाणी (राजन्यस्य) राजा की (माता) माता है, (तथा) ऐसा (अग्रशः) पहिले से (संभूतम्) निश्चित हुआ है। (तस्याः) उस के सम्बन्ध में दान को (अनर्पणम्, आहुः) "यह समर्पण नहीं है", ऐसा कहते हैं, (यद्) जबकि (ब्रह्मभ्यः) वेदज्ञों को (प्रदीयते) वशा अर्थात् वेदवाणी प्रदान की जाती है।

[समर्पण का अभिप्राय है, उस वस्तु का प्रदान, जिस पर कि दाता का स्वामित्व है। वशा अर्थात् वेदवाणी राजन्य की माता हैं। माता पर राजन्य का स्वामित्व नहीं। अपितु राजन्य का कर्त्तव्य हैं माता की सेवा करना। राजन्य की माता का समर्पण तो राजन्य का पिता ही निज जामाता को कर सकता हैं। वेदमाता का समर्पण करने वाला केवल परमेश्वर है, जोकि वेदमाता का पिता है। इस मन्त्र द्वारा यह दर्शाया है कि राजन्य यदि ब्रह्मवेत्ताओं को वेदवाणी प्रदान करता है तो इस द्वारा वह निज कर्त्तव्य का ही पालन करता है]।

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥३४॥

(यथा) जैसे (अग्नये) अग्नि के लिये (प्रगृहीतम्) ग्रहण किये गए (आज्यम्) घी को (स्रुचः) यज्ञिय चमच से (आलुम्पेत्) कोई छीन ले, तो वह (अग्नये) अग्नि=कर्म के लिये (आ वृश्चते) अपने सम्बन्ध को काट लेता है, (एवा) इसी प्रकार (ह) ही (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मवेत्ताओं के लिये (वशाम्) वेदवाणी को (अददत्) न देता हुआ राजा, [ब्रह्मज्ञों से अपने सम्बन्ध को काट लेता है]।

[अग्नये=अग्निकर्म कर्तुं स्वात्मानमावृश्चते]।

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥३५॥

(पुरोडाशवत्सा) पुरोडाशवत्सवाली, (सुदुघा) सुगमता से दुही जाने वाली (वशा) वेदवाणी (लोके) लोक में (अस्मै) इस राजा के लिये (उप तिष्ठति) उपस्थित होती है। वह (अस्मै) इस राजा के लिये,(प्रददुषे) जिसने कि वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता दी हैं,—(सर्वान् कामान्) सब कामनाओं का (दुहे) दोहन करती है।

[सुदुघा गौ, बछड़े के सम्पर्क से, दूध देती है। मन्त्र में पुरोडाश को वशा का बछड़ा कहा हैं. अर्थात् चावल को पीठी से कछुए के आकार में बनाए गए भटूरे को वत्स कहा है। पुरोडाश=Sacrificial cake। इस से प्रतीत होता है कि मन्त्र में "वशा" पद गोपशु वाचक नहीं। गोपशु का वत्स चार टांगों वाला प्राणी होता है, पुरोडाश नहीं। इसलिये मन्त्र में

"वशा" पद वेदवाणी का वाचक है न कि गोपशु का। "लोके" का भी अभिप्राय है—इस लोक में, राजा के राज्य में। जो राजा निजराज्य में वेदप्रचार की स्वीकृति देता है उस के राज्य में सब कामनाएँ सफल हो जाती हैं। वेदवाणीरूपी वशा सब कामनाओं का दोहन करती है, केवल दूध का ही नहीं]।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥३६॥

(यमराज्ये) यम नियमों का पालन कराने वाले नियन्ता राजा के राज्य में वशा अर्थात् वेदवाणी (प्रददुषे) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान करने वाले के लिये (सर्वान् कामान्) सब कामनाओं का (दुहे) दोहन करती है। (अथ) और (याचिताम्) मांगी हुई को (निरुन्धानस्य) रोक देने वाले के लिये (नारकम्, लोकम्) नरक समान लोक (आहुः) कहते हैं।

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा ।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥३७॥

(प्रवीयमाना) गर्भवती (वशा) वशा (गोपतये) गोपति के लिये (क्रुद्धा) क्रुद्ध हुई सी (चरति) विचरती है। गोपति जोकि (मा) मुझे (वेहतम्) गर्भघातिनी (मन्यमानः) मानता है वह (मृत्योः) मृत्यु के (पाशेषु) फन्दों में (बध्यताम्) बान्धा जाय।

[मन्त्र ३५ के अभिप्राय के आधार पर मन्त्र ३७ की निम्नलिखित व्याख्या प्रतीत होती है:—

कविता शैली में वेदवाणी कहती है कि पृथिवीपति मुझ गर्भवती को गर्भघातिनी न समझे। गर्भघातिनी गृहस्थ-जीवन के लिये अनुपयोगी है। इसी प्रकार यदि पृथिवीपति मुझ वेदवाणी को राष्ट्रिय जीवन के लिये अनुपयोगी समझता है तो वह जान ले कि मेरे पेट में जो सत्यनियमों के गर्भ विद्यमान हैं उन से लाभ न लेने पर पृथिवीपति अन्ततोगत्वा मृत्यु का ग्रास बनेगा। राष्ट्र में वेद प्रतिपादित समुन्नति के उपायों का आश्रय न लेने से प्रजा दुःखी हो कर पृथिवीपति का विनाश कर देगी]।

यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम् ।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥३८॥

(यः) जो पृथिवीपति (वेहतं मन्यमानः) मुझे गर्भघातिनी मानकर, (च) और (अमा) अपने घर में (वशाम्) मुझ वेदवाणी को (पचते) सन्तप्त[1] करता है, (अस्य) इस पृथिवीपति की (पुत्रान्, पौत्रान् च) पुत्रों और पौत्रों को (अपि) भी (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का पति परमेश्वर (याचयते) भिखारी वना देता है।

[वेदवाणी में प्रदर्शित राष्ट्रोन्नति के उपायों का अवलम्ब न लेने पर, राष्ट्र की अवनति हो जाने से, प्रजाविद्रोह द्वारा राजा पदच्युत कर दिया जाता और सम्पत्ति से रहित कर दिया जाता है। परिणाम में राजा भी भिखारी सा बन जाता है, और उस का परिवार भी। वेहत्=वी (प्रजननम्)+हत् (हन्ति) जो प्रजनन का हनन करे, अर्थात् गर्भघातिनी। वेदवाणी का सन्तप्तहृदया होना कवितामय है]।

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि ।
अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥३९॥

(गोषु) स्तोतृ-याज्ञिकों में (चरन्ती) केवल विचरती हुई (एषा) यह वेदवाणी (महत्) बहुत (अव तपति) सन्तप्तहृदया सी रहती है। (गौः अपि) वाणी होती हुई भी (वशा) वेदवाणी (अददुषे) प्रचार को स्वतन्त्रता जिस ने नहीं दी उस (गोपतये) पृथिवीपति के लिये (विषम् दुहे) मानो विषरूपी दूध देती हैं।

[गोषु; गौः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। वशा अर्थात् वेदवाणी का यज्ञों में प्रयोग (३५)। वर्णन कवितामय है]।

प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ।
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥

(यद्) जो (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मज्ञों के लिये (प्रदीयते) वेदवाणी के प्रचार में स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो (पशूनाम्) पशुओं का (प्रियम्) प्रिय अन्न

१. मानसिक सन्ताप देता है। यमः (३०, ३१)।

(भवति) पैदा होता है। (अथो) तथा (वशायाः) वेदवाणी का भी (तत्) वह (प्रियम्) अभीष्ट सिद्ध हो जाता है कि (यद्) जो (देवत्रा) देवों को (हविः) हवि (स्यात्) प्राप्त हो।

[ब्रह्मज्ञों को वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता मिलने पर वे यज्ञों द्वारा वर्षा के कारण बनते, और वर्षा द्वारा कृषि की तथा घास चारे की वृद्धि होने से पशुओं की प्रिय वस्तु उन्हें यथेच्छ प्राप्त होती है, और मन्त्र पूर्वक हवि भी देवों को प्राप्त होती रहती है। देव=पृथिवी, जल, वायु, ओषधि आदि (यजु० १४।२०)]।

या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य ।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥४१॥

(यज्ञात् उदेत्य) यज्ञ से उठकर (देवाः) विद्वानों ने (याः वशाः) जिन वशाओं को (उदकल्पयन्) [विषय विभाग की दृष्टि से] विभक्त किया, (तासाम्) उन में (भीमाम्) भयप्रद (विलिप्त्यम्=विलिप्ती वशा को (नारदः) नर-नारी समाज के शोधक ने (उदाकुरुत[1]) उत्कृष्ट जाना या माना। या वशाः=बहुवचन[2]; अभी तक वशा का वर्णन एकवचन में हुआ है।

[मन्त्र में यज्ञ का अभिप्राय है "ज्ञानगोष्ठी"[3]। "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः" (ऋ० १०।७१।५) की व्याख्या में निरुक्तकार ने "वाक्-सख्ये" तथा "देवसख्ये", "वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि" आदि शब्दों द्वारा ज्ञान-गोष्ठी का निर्देश किया है (निरुक्त १।६।२०)। यह ज्ञानगोष्ठी यज्ञ स्वरूपा है। इस गोष्ठी में देवों ने वशाः अर्थात् वेदवाणियों के तीन विभाग किये, और नारद ने "विलिप्त्यम्" विभाग को उत्कृष्ट माना। विलिप्त्यम्= विलिप्ती+अम्। "इको यणचि" (अष्टा० ६।१।७७) के अनुसार "यण्" हुआ है। यह छान्दस प्रयोग है=विलिप्तीम्। ऐसे प्रयोग वेदों में प्रायः

१. उदाकुरुत=उत्कृष्ट आकर अर्थात् सनिरूप माना।

२. वशा का बहुवचन "वेदवाणी" रूप में उपपन्न होता है, गोपशु के रूप में नहीं। मन्त्र (४१-४७) तक में वशा के बहुत्व का प्रतिपादन हुआ है।

३. ऐसी ज्ञान गोष्ठियों को परिषद् कहा है। यथा "पदप्रकृतीनि सर्व-चरणानां पार्षदानि" (निरुक्त १।६।१७)।

मिलते हैं, तथा कुमार्यम्=कुमारीम् (अथर्व० १४।१।६३) । नारद है जनशोधक । अतः उसने विलिप्ती मन्त्रों को उत्कृष्ट माना । विलिप्ती का अर्थ है वह वेदवाणी, जो कि राग-द्वेष आदि के लेपों से रहित होने का वर्णन करती हैं । यह विलिप्तीभावना समाज का संशोधन करती है । मन्त्र में कोई ऐतिहासिक घटना कथित नहीं हुई । अपितु रोचक ढंग से एक तथ्य का वर्णन हुआ है । विलिप्ती प्रदर्शित जीवन-मार्ग अतिकठिन है इसलिये इस विलिप्ती को "भीमा"[1] कहा है] ।

तां दे॒वा अ॑मीमांसत व॒शेया३मव॒शेति॑ ।
ताम॑ब्रवीन्नार॒द ए॒षा व॒शानां॑ व॒शत॒मेति॑ ॥४२॥

(ताम्) उस विलिप्ती के सम्बन्ध में (देवाः) विद्वानों ने (अमीमांसत) विचार किया, (इयम्) कि यह (वशा) वशा है या (अवशा इति) वशा नहीं है । (ताम्) उस के सम्बन्ध में (नारदः) समाज-संशोधक ने (अब्रवीत्) कहा कि (एषा) यह विलिप्ती (वशानाम्) वशाओं में (वशतमा इति) सर्वाधिक वशा है ।

[वशा=कान्तिमयी या कामना योग्य वेदवाणी । वश कान्तौ, तथा वश्मि कान्तिकर्मा (निघं० २।६) । नारद कहता है कि "विलिप्ती" वेदवाणी, अन्य वेदवाणियों में सर्वाधिक कान्ति वाली तथा कामना योग्य है, क्योंकि यह नर नारी समाज का संशोधन करने वाली है] ।

कति॒ नु व॒शा ना॑र॒द यास्त्वं वे॑त्थ मनुष्य॒जाः ।
तास्त्वा॑ पृच्छामि वि॒द्वांसं॒ कस्या॒ नाश्नी॑या॒दब्रा॑ह्मणः ॥४३॥

(नारद) हे नर नारियों का शोधन करने वाले ! (वशाः) "वशा" वेदवाणियां (नु कति) कितने प्रकार की हैं, (याः) जिन्हें कि (त्वम्, वेत्थ) तू जानता है, जोकि (मनुष्यजाः) मनुष्यों के लिये आविर्भूत हुई हैं ?, (ताः) उन वेदवाणियों को (त्वा विद्वांसम्) तुझ ज्ञानी से (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, और यह भी पूछता हूं कि (कस्याः) किस वेदवाणी का (न अश्नीयात्) न भोग करे, न सेवन करे (अब्राह्मणः) जोकि ब्रह्म और वेद को नहीं जानता ।

१. विलिप्ती-मार्ग को इसलिये "दुर्गंपथः" भी कहा है । यथा "दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति" (कठ० १।३।१४) । यह मार्ग योगियों तथा संन्यासियों का है, सामान्य प्रजा का नहीं ।

[अब्राह्मणः=ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः । तद्भिन्नः अब्राह्मणः । अश्नीयात्=अश भोजने । भुज धातु का प्रयोग मुख द्वारा खाने में ही नहीं होता यथा "अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियान्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा । यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान् न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ (निरुक्त २।१।३) में "भोजनीयाः और भुनक्ति" में मुख द्वारा खाना अर्थ नहीं] ।

वि॒लि॒प्त्या बृ॑हस्पते॒ या च॑ सू॒तव॑शा व॒शा ।
तस्या॒ नाश्नी॑या॒दब्रा॑ह्मणो॒ य आ॒शंसे॑त॒ भूत्या॑म् ॥४४॥

(बृहस्पते) हे बृहती वेदवाणी के रक्षक ! (विलिप्त्या) विलिप्ती वेदवाणी के साथ (या च) और जो (सूतवशा, वशा) सूतवशा और वशा वेदवाणी है (तस्याः) उस का (न अश्नीयात्) सेवन न करे, (यः) जोकि (अब्राह्मणः) ब्रह्म और वेद को नहीं जानता, और जो (भूत्याम्) सांसारिक ऐश्वर्य में जीवन बिताना (आशंसेत) चाहता है ।

[आशंसेत=आङः शासु इच्छायाम् । भूत्याम्=अथवा भूतिम् । भूति+ड्या+अम् ("सुपां सुलुक्" अष्टा० ७।१।३९) । अभिप्राय यह कि जो व्यक्ति सांसारिक भोगों में हो रहना चाहता है और जिस में ब्रह्मज्ञान और वेदज्ञान की इच्छा नहीं, उस के लिये उक्त तीन प्रकार की वाणियां व्यर्थ हैं यथा—"यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋग्वेद), अर्थात् जो ब्रह्म को नहीं जानता उस को ऋचाओं द्वारा क्या लाभ होना है ।

विलिप्ती=राग-द्वेष आदि के लेप से रहित होने का उपदेश देने वाली वेदवाणी (योगियों और संन्यासियों के लिये) ।

सूतवशा=इन्द्रियों को वशीभूत कर के सन्तानोत्पादन का उपदेश देने वाली वेदवाणी (गृहस्थियों के लिये) ।

वशा=इन्द्रियों को वशीभूत कर के आश्रम-जीवन का उपदेश देने वाली वेदवाणी (ब्रह्मचारियों और वानप्रस्थियों के लिये) ।

तथा सांसारिक भोगों को चाहने वालों के लिये वह वेदवाणी जिस में कि कृषि, वाणिज्य, गोपालन और कला-कौशल आदि का वर्णन हो । मन्त्र में वशा का एक रूप "सूतवशा" भी कहा है । जिस ने एक वशा को अर्थात् प्रसूत कर दिया वह "वशा" गौ, बन्ध्या या गर्भघातिनी कैसे कही जा सकती है । अतः वशा का अर्थ गौ नहीं] ।

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा ।
कतमासां भीमतमा यामदत्वा पराभवेत् ॥४५॥

(नारद) हे नर-नारियों को शुद्ध करने वाले ! (नमस्ते अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (अनुष्ठु) यह अनुरूप स्थिति है कि (वशा) काम्या तथा कान्तिमती वेदवाणी के प्रचार का अधिकार (विदुषे) विद्वान् व्यक्ति के लिये है। (आसाम्) इन वेदवाणियों में (कतमा) कौन सी (भीमतमा) सर्वाधिक जयप्रदा है (याम् अदत्वा) जिसे न देकर (पराभवेत्) राजन्य पराभव को प्राप्त करता है।

[राजन्य (३२, ३३) यदि भीमतमा अर्थात् विलिप्ती (४१) वेदवाणी के प्रचार की स्वतन्त्रता विद्वान् ब्रह्मवेत्ता को नहीं देता तो वह प्रजा द्वारा पराभव अर्थात् अपमान् को प्राप्त होता है। विलिप्ती वेदवाणी राग-द्वेष आदि के लेप से रहित होने का उपदेश देती है, जिस द्वारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। विलेपमार्ग अतिदुर्गम होने से भीमतम है]।

विलिप्ती या बृहस्पतेऽथो सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥४६॥

४६॥ अर्थ देखो (मन्त्र ४४)। (तस्याः नाश्नीयात् अब्राह्मणः) अब्राह्मण उस का भोग न करे। अब्राह्मण=जोकि वेदवेत्ता नहीं।

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा ।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥४७॥

(वशा जातानि) वशा अर्थात् वाणियों के भेद (वै) निश्चय से (त्रीणि) त्रिविध है, विलिप्ती, सूतवशा, तथा वशा। (ताः) उन्हें राजन्य (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मवेत्ताओं के प्रति (प्रयच्छेत्) सौंप दे, (सः) इस से वह राजन्य (प्रजापतौ) प्रजाओं के पति परमेश्वर की दृष्टि में (अनाव्रस्कः) छिन्न भिन्न नहीं होता।

[अनाव्रस्कः=अन्+आ+व्रश्चू छेदने। व्याख्या (मन्त्र ४४)]।

एतद् वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे ॥४८॥

(चेत्) यदि (एनम्) इस राजा से (वशाम् याचेयुः) वशा की याचना करे तो (याचितः) प्रार्थित हुआ राजा (इति मन्वीत) यह माने या कहे कि (ब्राह्मणाः) हे ब्रह्मज्ञो और वेदज्ञो ! (एतद्) यह वशा (वः) तुम्हारे लिये (हविः) हवि है, (या) जो वशा कि (अददुषः गृहे) न देने वाले के घर अर्थात् अधिकार में रही हुई (भीमा) भयप्रदा होती है। वशा=काम्या वेदवाणी, वश कान्तौ।

देवा वशां पर्यवदन् न नोऽदादिति हीडिताः ।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद् वै स पराभवत् ॥४९॥

राजन्य ने (नः) हमें (न अदात्) भीमा वेदवाणी नहीं दी,—(इति) इस से (हीडिताः) अनादृत या क्रुद्ध हुए (देवाः) देवों ने (वशाम्) वेदवाणी को (पर्यवदन्) मानो शिकायत की। और (एताभिः ऋग्भिः) इन ऋचाओं द्वारा देवों ने (भेदम्) भेदनीति का अवलम्ब किया, (तस्मात्) उस भेद से (सः) वह राजन्य (पराभवत्) पराभूत हुआ।

[वशाम्, ऋग्भिः=देवों ने वशा को शिकायत की और ऋचाओं द्वारा भेदनीति अपनाई,—इस से भी सूचित होता है कि वशा और ऋचाएँ अभिन्न हैं, एकात्मरूप हैं। नीति चार प्रकार की होती है, साम, दान, दण्ड और भेद। देवों ने भेदनीति को अपना कर राजा और प्रजा में भेद अर्थात् फूट पैदा कर राजन्य का पराभव किया। भेद के लिये देवों ने उन ऋचाओं का आश्रय लिया जिन में कि भेदनीति का वर्णन है]।

उतैनां भेदो नाददाद् वशामिन्द्रेण याचितः ।
तस्मात् तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे ॥५०॥

(इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (याचितः) प्रार्थित हुए राजन्य ने (एनाम्, वशाम्) इस काम्या और कान्तिमती वेदवाणी पर अधिकार (न, अददात्) न दिया, (उत) तथा (भेदः) भेदनीति ने भी न दिया, तो (तस्मात् एनसः) उस अपराध के कारण (देवाः) देवों ने (तम्) उस राजन्य को (अहमुत्तरे) युद्ध में (अवृश्चन्) काट डाला।

[भेदनीति से यदि सफलता न मिले तो दण्डनीति को अपना कर सफल होना चाहिये। इन्द्रेण—"इन्द्रश्च सम्राट्, वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७), अर्थात् इन्द्र है सम्राट् और वरुण है राजा अर्थात् माण्डलिक राजा। राजन्य, माण्डलिक-राजा प्रतीत होता है जोकि सम्राट् से नीचे पद का है। जब सम्राट् द्वारा प्रार्थना करने पर भी राजन्य ने वशा का

अधिकार ब्रह्मवेत्ताओं को न दिया, और भेदनीति भी असफल हुई तब सम्राट् की स्वीकृति पा कर देवों ने राजन्य को काट डाला । अहमुत्तरे=युद्ध में; जिस में परस्पर लड़के वाले दोनों पक्षों के नेता यह भाव रखते हैं कि युद्ध में मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं—इस प्रकार अहमहमिकया युद्ध लड़ते हैं] ।

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः ।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आवृश्चन्ते अचित्तया ॥५१॥

(ये) जो (परिरापिणः) सर्वत्र स्पष्ट आन्दोलनकारी लोग (वशायाः) वेदवाणी सम्बन्धी अधिकार के (अदानाय) न देने के लिये (वदन्ति) राजन्य को कहते हैं, वे (जाल्माः) जाल फैलाने वाले या जालिम (अचित्तया) निज अज्ञान के कारण (इन्द्रस्य) सम्राट् के (मन्यवे) क्रोध के लिये (आवृश्चन्ते) सब काटे जाते हैं ।

[परिरापिणः=परि (सर्वत्र)+रापिणः (रप व्यक्तायां वाचि)]

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति ।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्तया ॥५२॥

(ये) जो लोग (गोपतिम्) पृथिवीपति को (पराणीय) परे ले जा कर (अथ) तदनन्तर (इति आहुः) यह कहते हैं कि (मा) न (ददाः) दे, (ते) वे (अचित्तया) निज अज्ञान के कारण (रुद्रस्य) सेनापति के (अस्ताम्) चलाए हुए अस्त्र को (परि यन्ति) सब ओर से प्राप्त करते हैं ।

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम् ।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निरृच्छति ॥५३॥

(यदि) यदि वेदवाणी की स्वतन्त्रता (हुताम्) देने का वचन तो दिया, (यदि) परन्तु (अहुताम्) वस्तुतः न दी गई (वशाम्) वेदवाणी को (अमा) घर में (पचते) मानो सन्तप्त करता है, तो वह (जिह्मः) कुटिल पृथिवीपति (सब्राह्मणान् देवान्) ब्रह्मवेत्ताओं समेत देवों को (ऋत्वा) कष्ट पहुंचा कर (लोकात्) राष्ट्रभूमि से (निः ऋच्छति) निकाला जा कर कष्ट भोगता है । [ऋत्वा; ऋ=To injure, hurt (आप्टे) । निर्+ऋच्छ (गतौ), निर्गत हो जाता है] ।

॥ चौथा सूक्त समाप्त ॥

सूक्त ५

विषय प्रवेश

सूक्त (अनुवाक) ५ में ७ पर्याय और ७३ मन्त्र हैं । विषय है ब्रह्मगवी । ब्रह्मगवी के दो अर्थ हैं । (१) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ अर्थात् वेदवाणी । गौः वाङ्नाम् (निघं० १।११) । तथा (२) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का गोपशु, गोजाति । गौ सर्वश्रेष्ठ पशु है, इसलिये इसे विशेषतया परमेश्वरीय कहा है । १ से ११ मन्त्रों में ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी का वर्णन हुआ है । वेदवाणी ब्रह्म द्वारा सृष्ट हुई, ब्रह्म की कृपा से प्राप्त होती, और वेदवाणी के वर्णनों और सांसारिक नियमों में समन्वय है, विरोध नहीं (१) । मन्त्रों के पदों का संगठन ब्रह्मकृत है, और ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ, तथा वेदज्ञ व्यक्ति वेदवाणी का अधिपति अर्थात् अधिष्ठाता और रक्षक है (४) । ब्राह्मण वेदवाणी का प्रचार करना चाहता है, परन्तु क्षत्रिय अर्थात् राजा (५, ११) प्रचार का विरोधी है । परिणाम यह होता है कि क्षत्रिय राज्यलक्ष्मी के वञ्चित कर दिया जाता है (६), और नाना प्रकार के कष्ट भोगता है (६-११) ।

१२ से ७३ मन्त्रों में ब्रह्मगवी अर्थात् गोपशु जाति का वर्णन हुआ है । इन मन्त्रों में दर्शाया है कि गोजाति का अधिपति ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति, गोजाति की रक्षा के लिये कटिबद्ध है, परन्तु क्षत्रिय अर्थात् राजा, जिस का कि धर्म है "क्षत से परित्राण करना",—वह गोघात तथा गोमांस का पक्षपाती है । इस पर ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा में युद्ध हो जाता है, सम्भवतः द्वन्द्व युद्ध । क्षत्रिय मारा जाता है, उस से शव को कुछ काल तक गीध आदि पक्षियों का भोज्य करके शेष बचे को जला दिया जाता है (४७, ४८) । क्षत्रिय राजा के पश्चात् राजपक्ष के लोग पुनः युद्ध करते हैं । इस युद्ध को "छिन्धि", आदि (५१) द्वारा दर्शाया है । राजपक्ष का नेता परास्त होता और उसका सिर काट कर और धड़ कुचल कर जला दिया जाता (६०, ६१) । फिर राजपक्ष का एक और नेता युद्ध के लिये तय्यार हुआ और "वृश्च" आदि (६२) द्वारा पुनः युद्ध प्रारम्भ होता है । अन्त में यह भी परास्त होता और जला दिया जाता (६३) ।

उपर्युक्त वर्णन ऐतिहासिक वृत्त नहीं हैं । मन्त्रों का अभिप्राय इतने मात्र में है कि गो जाति की रक्षा के लिये युद्ध भी करने पड़ें तो इस के लिए भी तय्यार हो जाना चाहिये, और गोघातियों को उग्र दण्ड देने चाहियें ।

मन्त्र १से ३ में सृष्टा, वित्ता, श्रिता,आवृता, प्रावृता, परीवृता परिहिता, पर्यूढा, गुप्ता तथा प्रतिष्ठिता—इन पदों को, विसर्गान्त बहुवचन पद मान कर, महर्षि दयानन्द ने व्याख्यात किया है (ऋ० भा० भूमिका वेदोक्तधर्म विषय) । इस का कारण यह प्रतीत होता है कि पदपाठ में "प्रतिष्ठिता" पद को विसर्गान्त पढ़ा है, यथा "प्रति स्थिताः" अतः सृष्टा आदि पदों को भी महर्षि ने विसर्गान्त बहुवचान्त माना है । "बहुलं छन्दसि" द्वारा अन्य पदों में विसर्गों का लोप सम्भव है ।

—:०:—

पर्याय १

अथर्वाचार्यः । ब्रह्मगवी । १ प्राजापत्यानुष्टुप्; २ भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्; ३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्; ४ आसुर्यनुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्तिः ।

श्रमे॑ण तप॑सा सृष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते॑ श्रि॒ता ॥१॥

[ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी] (श्रमेण) श्रम द्वारा तथा (तपसा) तप द्वारा (सृष्टा) प्रकट की गई है, (ब्रह्मणा) ब्रह्म के अनुग्रह से (वित्ता) प्राप्त हुई, (ऋते) यथार्थ नियमों पर (श्रिता) आश्रित है।

[मन्त्र ५ में ब्रह्मगवी पद पठित है । उसी का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है । ब्रह्म का अर्थ है सर्वोपरि शक्ति परमेश्वर, और गो का अर्थ है वाणी, यथा गौः वाङ्नाम (निघं० १।११) । अतः ब्रह्मगवी का अर्थ है "ब्रह्म की गौ" अर्थात् वेदवाणी । वेदवाणी ब्रह्म द्वारा प्रकट हुई है, देखो (ऋ० १०।७१।१,३) । वेदवाणी ब्रह्म के श्रम तथा तप द्वारा सृष्ट हुई है । ब्रह्म का श्रम है मानसिक श्रम अर्थात् कामना, यथा "सोऽकामयत (बृहदा० उप० १।२।४) । प्रलयावस्था में ब्रह्म निष्काम होता है । सर्जनावस्था में उसमें सृष्टि के सर्जन की कामना होती है । ब्रह्म के लिये यह कामना ही श्रमरूप है । तपः के सम्बन्ध में कहा है कि "यस्य ज्ञानमयं तपः" अर्थात् ब्रह्म का तपः है ज्ञानमय अर्थात् ज्ञान. सृष्टि किस प्रकार करनी है, एतद्विषयक ज्ञान । प्रथम कामना पैदा हुई कि मैं सृष्टि का सर्जन करूं, तत्पश्चात्

आलोचन हुआ, ज्ञान प्रकट हुआ कि इस विधि से मैं सृष्टि का सर्जन करूँ । प्राकृतिक सृष्टि की रचना के पश्चात् मनुष्य सृष्टि के काल में ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी की सृष्टि हुई ऋषियों के माध्यम से (ऋ० १०।७१।३) । वेदवाणी को ब्रह्मगवी कह कर यह सूचित किया है कि वेदवाणी ब्रह्म की वाणी है, मनुष्य की नहीं ।

ब्रह्मणा वित्ता=वेदवाणी तपश्चर्या और पुण्यकर्मों के प्रभाव से ब्रह्म की प्रसन्नता तथा अनुग्रह द्वारा ऋषियों को प्राप्त हुई है ।

ऋते श्रिता=सत्य है ज्ञानरूप; और ऋत है नियमरूप । सृष्टि परमेश्वरीय नियमों तथा व्यवस्था पूर्वक रची गई और चल रही है। वेदवाणी में इन नियमों तथा व्यवस्था का वर्णन है । इन्हीं नियमों तथा व्यवस्था के प्रतिपादन के लिये वेदवाणी की रचना की गई है । अतः वैदिक वर्णनों और सृष्टि के नियमों में परस्पर विरोध नहीं, अपितु ये दोनों परस्पर के यथार्थ स्वरूपों के जानने में सहायक हैं] ।

स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता य॒शसा॒ परी॑वृता ॥२॥

(सत्येन) सत्यज्ञान से (आवृता) आच्छादित, (श्रिया) सम्पत् से (प्रावृता) प्रकर्षरूप में ढकी हुई, तथा (यशसा) यश अर्थात् कीर्त्ति से (परीवृता) सब प्रकार से घिरी हुई ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी है ।

[आवृता, प्रावृता, परीवृता—तीनों पद लगभग समानार्थक हैं । अभिप्राय यह कि जो राष्ट्र वैदिक सत्यज्ञान के अनुसार चलेगा, उस राष्ट्र की समृद्धि होगी, और उस का यश होगा] ।

स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥३॥

(स्वधया) निज धारण तथा पोषण शक्ति से (परिहिता) सब के लिये हितकारिणी, (श्रद्धया) श्रद्धावृत्ति द्वारा (पर्यूढा) पूर्णतया धारण की गई, (दीक्षया) वैदिकधर्म में दीक्षा के द्वारा (गुप्ता) सुरक्षित हुई, (यज्ञे) यज्ञियकर्मों में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हुई ब्रह्मगवी है । (लोकः) इहलोक, परलोक तथा ब्रह्मलोक के ज्ञान-प्रदान में (निधनम्) ब्रह्मगवी अर्थात् ब्रह्मप्रोक्त वेदवाणी का पर्यवसान है ।

[स्वधा=स्व+धा (धारणपोषणयोः), अर्थात् वेदवाणी में जो धारण और पोषण करने की निज स्वाभाविक शक्ति है, उस द्वारा वह सब के लिये हितकारिणी है।

पर्यूढा=परि+ऊढा (Borne, आप्टे)। प्रतिष्ठिता=पद पाठ में "प्रति, स्थिताः" ऐसा बहुवचनान्त पाठ है। सम्भवतः इस बहुवचनान्त की दृष्टि से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदोक्तधर्म-विषय) में महर्षि दयानन्द ने मन्त्र १-३ में सर्वत्र बहुवचनान्त पद माने हों। निधनम्=सामगान में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, तथा निधन, ये ५ रूप माने हैं। निधन का अर्थ है सामगान का पर्यवसान अर्थात् समाप्ति]।

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥४॥

(ब्रह्म) परमेश्वर (पदवायम्) वेदवाणी में पदों का सन्तान अर्थात् फैलाव करता है, और (ब्राह्मणः) ब्रह्मज्ञ[1] तथा वेदज्ञ व्यक्ति (अधिपतिः) वेदवाणी का अधिष्ठाता तथा रक्षक होता है।

[पदवायम्=पदानि वयति संतनोति, इति पदवायम्। "ब्रह्म" पद की दृष्टि से नपुंसकलिङ्ग में "पदवायम्" प्रयुक्त हुआ है। मन्त्रों में पदों का सन्तान परमेश्वर ने किया है। यथा="पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि" (निरु० १।६।७)। ऋ० १०।७१।३ में "पदवीयम् आयन्" पाठ के साथ पदवायम् की तुलना। पदवायम् का विग्रह "तन्तुवाय" पद के सदृश है। इस सूक्त में ब्रह्मगवी का अर्थ है "ब्रह्म की वाणी", न कि ब्राह्मण का गौ। ब्राह्मण[2] ब्रह्मगवी का रक्षक है]।

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥५॥

अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥६॥

(ताम् ब्रह्मगवीम्) ब्रह्म की उस वाणी का (आददानस्य) अपहरण करने वाले, [इस प्रकार] (ब्राह्मणम्) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता व्यक्ति को

१. ब्रह्म=परमेश्वर तथा वेद। "ब्रह्म=ईश्वरो, वेदः, तत्त्वम्, तपो वा" (उणा० ४।१४७; महर्षि दयानन्द)।

२. यथा "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि" (निरु० २।१।४), अर्थात् वेदविद्या ब्राह्मण के शरण में आई कि तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरा सुखों का खजाना हूँ। ब्राह्मण का अभिप्राय है ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति।

(जिनतः) जीवन की हानि पहुंचाने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (सूनृता) उषः काल, (वीर्यम्) वीरता, और (पुण्या लक्ष्मीः) पुण्यकर्मों द्वारा उपार्जित राज्यलक्ष्मी (अप क्रामति) अपक्रान्त हो जाती है, उस से छीन ली जाती है।

[आददानस्य=अपहर्तुः। यथा:—"आदित्यः कस्मात् आदत्ते भासं ज्योतिषाम्" (निरु० २।४।१३)। प्रातरुदयन्नादित्यः ज्योतिषां नक्षत्राणां भासं दीप्तिमादत्ते, अपहरति। क्षत्रियस्य—प्रजाओं का क्षतों से त्राण करने वाले राजा का। सूनृता=उषोनाम (निरु० १।८)। क्षत्रिय के राज्य का प्रारम्भ काल। यदि राजा अपने राज्यकाल के प्रारम्भ काल में ब्राह्मण की वेदवाणी पर प्रतिबन्ध लगा देता है तो प्रजाविद्रोह के कारण उस के राज्य के उषः काल में ही उससे राज्यलक्ष्मी अपक्रान्त हो जाती है। वेदवाणी वेदवेत्ता के लिये जीवनीय साधन होती है। अतः वेदवाणी का अपहरण वेदवेत्ता के जीवन को हानि पहुंचाना है]।

पर्याय २

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥८॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥९॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥१०॥

तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥११॥

पराक्रम और तेज, पराभव शक्ति और सैनिक बल, वक्तृत्वशक्ति और अन्य इन्द्रियां, सम्पत्ति और धर्मकृत्य ॥७॥

वैदिक ज्ञान और क्षतों से त्राण करने की शक्ति, राज्य और प्रजाएं दीप्ति और यश, प्रभाव और धन ॥८॥

आयु और रूप, नाम और कीर्त्ति, प्राण और अपान, दृष्टिशक्ति और श्रवणशक्ति ॥९॥

दूध तथा अन्य रस, अन्न और अन्न का खाना, जीवन के नियम और सत्य, यज्ञ और परोपकार, प्रजा अर्थात् सन्तानें और निज के पशु ॥१०॥

वे सब अपक्रान्त हो जाते हैं, अर्थात् इन सब से वञ्चित कर दिया जाता है, जो क्षत्रिय अर्थात् राजा, ब्रह्मवेत्ता अर्थात् वेदवेत्ता की ब्रह्मप्रोक्त वेदवाणी का अपहरण करता, और इस द्वारा ब्रह्मवेत्ता के जीवन को हानि पहुंचाता है ॥११॥

[१ से ११ तक के मन्त्रों का सार यह है कि वेदवाणी ब्रह्मप्रोक्त है, और ब्रह्म के अनुग्रह द्वारा परिश्रमी और तपस्वी व्यक्ति को प्राप्त होती हैं, वैदिक ज्ञान और प्राकृतिक नियमों में परस्पर विरोध नहीं । वेदविद्या समृद्धिकारिणी है, इस में इहलोक, परलोक तथा ब्रह्मलोक का वर्णन है। वैदिक पदों द्वारा मन्त्रों की रचना ब्रह्म ने की है, और ब्राह्मण वेदवाणी का रक्षक है । जो क्षत्रिय (राजा) वेदवाणी के प्रसार तथा प्रचार में प्रतिबन्ध उपस्थित करता है वह पदच्युत हो कर, राज्यलक्ष्मी से वञ्चित हुआ, नानाविध कष्ट भोगता है] ।

पर्याय ३

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥१२॥

(सा एषा) वह यह (ब्रह्मगवी) ब्रह्म की गौ (भीमा) भयानक है; (अघविषा) हत्यारा विष है, (साक्षात् कृत्या) वस्तुतः काट देने वाली शक्ति है; (आवृता[1]) प्रतिबद्ध हुई, (कूल्बजम्[1]) नदी के कूलों अर्थात् किनारों में प्रतिबद्ध वेगवान् जलप्रवाह के सदृश है ।

[ब्रह्मगवी=ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ । गौ महोपकारी प्राणी है, दूध, घृत, नवनीत, दधि, छाछ, पनीर आदि प्रदान करती, बैलों को जन्म दे कर कृषिकर्म, भारोद्वहन, कार्य तथा बैल गाड़ी द्वारा यातायात और उत्तम खाद देने में सहायिका है । इसलिये ब्रह्म की रचना में श्रेष्ठ प्राणी है । मन्त्र १२ से गोरक्षान्दोलन का प्रारम्भ होता है । जो क्षत्रिय (राजा) अपने राज्य में गोरक्षा न कर, गौओं के नानाविध कष्टों में कारण बनता

१. आवृता, कूल, बज (बज गतौ), इन के साहचर्य द्वारा निर्दिष्ट अर्थ सूचित होता है ।

है, उस के लिये गौ विषरूपा, घातक तथा नदी के कूलों को काट देने वाले जल प्रवाह के सदृश हो जाती है । यद्यपि गोपशु स्वयं इन कृत्यों के करने में अशक्त है, तथापि वह प्रेरिका बन जाती है गोरक्षा के आन्दोलन कर्त्ताओं के इन कृत्यों के करने में । मन्त्रों में गो शब्द एकवचनान्त गो जातिपरक है ।

कूल्बजम् आवृता=कूल+वजम् (वज गतौ), कूलों द्वारा आवृत हुई नदी के वेगवान् जल प्रवाह के सदृश । मन्त्र १३ और उसे से आगे भी, गौ के जिन-जिन कृत्यों का वर्णन हुआ है, वे गोरक्षान्दोलकों द्वारा किये जाने वाले कृत्य समझने चाहियें । अघम्="हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्गः, आहन्तीति" (निरु० ६।३।१२)] ।

सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥१३॥

(अस्याम्) इस गौ अर्थात् गोजाति में (सर्वाणि घोराणि, सर्वे च मृत्यवः) सब प्रकार के घोरकर्म तथा सब प्रकार की मृत्युएं वास करती हैं।

[घोराणि=हन्तीति घोरम् । हन्तेरच् घुर च (उणा० ५।६४) सब प्रकार के घोरकर्म तथा सब प्रकार की मृत्युएं, गोहत्यारे राजवर्ग के लिये गोरक्षा सम्बन्धी आन्दोलन कर्त्ताओं द्वारा सम्भावित हैं] ।

सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥१४॥

(अस्याम्) इस गौ अर्थात् गोजाति में (सर्वाणि क्रूराणि) सब प्रकार के क्रूरकर्म और (सर्वे पुरुषवधाः) सब प्रकार के [राज] पुरुषों के वध के साधन वास करते हैं ।

[क्रूराणि=कृन्तति छिनत्ति, इति क्रूरः (उणा० २।२१), काटने के साधन] ।

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्यादीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति।१५

(सा ब्रह्मगवी) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की वह गौ अर्थात् गोजाति (आदीयमाना) हिंसित की जाती हुई, (ब्रह्मज्यम्) गो जाति के अधिपति ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले, (देवपीयुम्) देवकोटि के ब्राह्मण के हिंसक [क्षत्रिय राजा] को (मृत्योः पड्वीशे) मृत्यु की बेड़ी में (आ द्यति) पूर्णतया विनाश कर देती हैं।

[ब्रह्मज्यम्=ब्रह्म (ब्राह्मण)+ज्या वयोहानौ । पीयुम्=पीयति-हिंसाकर्मा (निरु० ४।४।२५) । ब्रह्मगवो=परमेश्वर की गोजाति । आदीयमाना=आं+दीङ् (क्षये)+यक्, मुक्, शानच् । पड्वीशे=पदि विशति, पैरों में डाला गया "पादबन्धन", बेड़ी । ब्रह्मज्यम्=ब्राह्मण, गोरक्षान्दोलन का नेता है । यह ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ है, निःस्वार्थी तथा परोपकारी है, अतः नेता बनने का अधिकारी है । इन गुणों वाले व्यक्ति ही आन्दोलन आदि के नेता होने चाहियें । मन्त्रों में वर्णित ब्राह्मण पद जन्मजात का सूचक नहीं इसलिये मन्त्र में ब्राह्मणपद नहीं दिया, अपितु "ब्रह्म" पद दिया है, जो ब्रह्म और वेद का सूचक है] आ द्यति=दो अवखण्डने (दिवादि) ।

मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥१६॥

(सा) वह गौ अर्थात् गो जाति (शतवधा मेनिः) सौ का वध करने वाला वज्र है, (सा) वह (हि) निश्चय से (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले का (क्षितिः) विनाश रूप है ।

[मेनिः=मी हिंसायाम् । क्षितिः=क्षि क्षये] ।

तस्माद्वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥१७॥

(तस्माद् वै) इस कारण निश्चय से (विजानता) विज्ञानी द्वारा (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता ब्राह्मणों की गौ अर्थात् गो जाति (दुराधर्षा) धर्षण करनी कठिन है ।

[ब्राह्मणानाम् में बहुवचन, और गौ में एक वचन, गो जाति को सूचित करते हैं । बहुवचन द्वारा यह दर्शाया है कि एक के पश्चात् दूसरा ऐसे अनेक ब्राह्मण, गोरक्षान्दोलन में नेतृत्व के लिये कटिबद्ध हैं] ।

वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥१८॥

(धावन्ती) भय के कारण दौड़ती हुई (वज्रः) वज्ररूप है । (उद्वीता) उठती हुई (वैश्वानरः) वैश्वानर अग्निरूप है ।

[धावन्ती में "धावु-गतौ", और वज्र में "वज गतौ" । दोनों में गत्यर्थ समान होने से भय द्वारा धावन्ती गौ अर्थात् गो जाति को वज्र कहा है । उद्वीता अर्थात् उठ कर चलती फिरती गौ वैश्वानर अर्थात् सब नर नारियों का हित करने वाली है, परन्तु भय के कारण उठी हुई गौ अग्नि रूप है । वैश्वानरः=वैश्वानरः=अग्निः] ।

हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवोऽपेक्षमाणा ॥१९॥

(शफान् उत्खिदन्ती) खेद में खुरों को उठा-उठा कर पटकती हुई (हेतिः) अस्त्र या वज्र है । (अपेक्षमाणा) अपेक्षा करती हुई (महादेवः) महादेव है ।

[हेतिः=हि गतौ, या "हेतिर्हन्तेः" (निरु० ६।१।३) । हेतिर्वज्रनाम (निघं० २।२०) । उत्खिदन्ती=उत्+खिद् (खेदे) । महादेवः=महान् देवाधिदेव ब्रह्म । जैसे सृष्टि रचनार्थ, ईक्षण करता हुआ ब्रह्म ("स ऐक्षत," ऐतरेय २।३; ३।१.) ईक्षतेर्नाशब्दम् (वेदान्त) प्रकृति तथा जीवात्माओं के कर्मों की अपेक्षा करता है और उसे ये दोनों सहायक कारण, प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही खेद में सहायता की अपेक्षा करने वाली गो जाति को ब्राह्मण नेता सहायक रूप, प्राप्त हो जाते हैं] ।

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभिस्फूर्जति ॥२०॥

(ईक्षमाणा) [घातक की ओर] दृष्टि करती हुई (क्षुरपविः) मानो छुरावज्र है, (वाश्यमाना) लड़ाई का सा शब्द करती हुई (अभि स्फूर्जति) मानो प्रत्यक्षरूप में बिजुली कड़कती है ।

[वाशृ=Howl, cry, roar, Scream (आप्टे) । पविः वज्रनाम (निघं० २।२०) ।

घातक को देखती हुई, और उससे अपने आप को छुड़ाती हुई गौ को देख कर, गो रक्षक घातक के लिये क्षुरपवि और विद्युत्पात रूप हो जाते हैं, यह अभिप्राय प्रतीत होता है] ।

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥२१॥

(हिंकृण्वती) हिङ्कार अर्थात् धीमा "हिं" शब्द करती हुई गौ [घातक के लिये] (मृत्युः) मृत्युरूप है । (पुच्छम्) पूंछ को (पर्यस्यन्ती) सब ओर पटकती हुई (उग्रः देवः) उग्र देव अर्थात् रुद्ररूप है ।

[हिङ्कार="हिं" ऐसा धीमा शब्द करना । अति निर्बलता के कारण शब्दोच्चारण धीमा पड़ जाता है । घातक द्वारा चोट खाई हुई गौ की निर्बलावस्था को उस के "हिं" शब्द द्वारा सूचित किया है, जो कि

मरणासन्न गौ का है । ऐसी अवस्था देख कर गोरक्षक भी घातक के लिये मृत्युरूप हो जाते हैं । मच्छरों और मक्खियों से तंग हुई गौ पूंछ को इधर-उधर पटकती रहती है । यह दोष राजवर्ग का है जो कि गौओं के स्वच्छ और सुखप्रद गोशालाओं का प्रबन्ध नहीं करते । गौओं के इस कष्ट को अनुभव कर गोरक्षक राजवर्ग के प्रति उग्ररूप हो कर रोष प्रकट करते हैं । गौ में सामर्थ्य न तो मृत्युरूप होने का है, और न उग्रदेव अर्थात् रुद्ररूप होने का] ।

सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥२२॥

(कर्णौ) कानों को (वरीवर्जयन्ती) बार-बार वर्जित सी करती हुई (सर्वज्यानिः) सर्ववयोहानिरूप है, और (मेहन्ती) और बार-बार मूत्र करती हुई (राजयक्ष्मः) तपेदिकरूप है ।

[बार-बार वर्जित करना अर्थात् बार-बार फरफराना, इस द्वारा गौ कर्ण पीड़ा आदि को सम्भवतः सूचित करती है । और मेहन्ती पद द्वारा सम्भवतः प्रमेहरोग अभिप्रेत प्रतीत होता है । प्रमेह में वृक्कों (Kidney) और मूत्राशय (Urinary Bladder) की विकृति हो जाती है । सम्भवतः इस विकृति को मन्त्र में यक्ष्म कहा हो । यक्ष्मरोग शरीर के प्रत्येक अङ्ग को हो सकता है । इसलिये यक्ष्म के सम्बन्ध में कहा है कि "अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि यक्ष्मं त्वचस्यम्" आदि (अथर्व० २।३३।७)। यक्ष्म के स्वरूप के परिज्ञान के लिये समग्र २।३३।१-७ मन्त्र द्रष्टव्य हैं । कर्ण और प्रमेह शब्दों द्वारा गौ की रुग्णावस्था को सूचित किया है, ताकि गोरक्षक गौ के रोगों की चिकित्सा कर सकें । गौएं यक्ष्मरोग द्वारा आक्रान्त हो जाती हैं, इसे पशु चिकित्सक जानते हैं] ।

मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥२३॥

(दुह्यमाना) दोही जाती हुई, तथा (दुग्धा) दोही गई (मेनिः, शीर्षक्तिः) हिंसक वज्ररूप तथा शिरोरोग रूप है ।

[मन्त्र २३ का सम्बन्ध मन्त्र २२ के वर्णन के साथ समझना चाहिये । मन्त्र २२ में गौ को कर्णरुग्णा तथा प्रमेहरुग्णा दर्शाया है । ऐसी गौ का दूध "हिंसकवज्ररूप" तथा सिर के रोगों को पैदा करता है । अतः ऐसी का दूध त्याज्य है] ।

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥२४॥

[ऐसी रुग्णा गौ] (उप तिष्ठन्ती) अन्य गौओं के स्थान में उपस्थित रहती हुई (सेदिः) अन्य गौओं की विनाशिका और उन में अवसाद पैदा करती है, (परामृष्टा) और छुई गई (मिथोयोधः) साथिन गौओं पर रोग का संप्रहार करती है ।

[सेदिः=षद्लृ विशरणे; अवसादे । विशरणः=Killing; अवसादः=Sinking, fainting (आप्टे) । अतः रुग्ण गौओं को स्वस्थ गौओं से पृथक् रखना चाहिये । मिथः=मिथ्=To associate with, to unite (आप्टे) । योधः=युध सम्प्रहारे] ।

शरव्या३मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥२५॥

(मुखे, अपिनह्यमाने) मुख के बान्धे जाते हुए (शरव्या) गौ शरों के समान होती है, (हन्यमाना) वध की जाती हुई (ऋतिः) कष्टरूपा है ।

[गौ चाहे रुग्ण भी हो तब भी इसे कष्ट न पहुंचाना चाहिये, न इस का वध करना चाहिये—यह मन्त्र में प्रतिपादित किया है । वध के लिये गौ के मुख को बान्ध रखना, ताकि वह आक्रन्दन न कर सके, और मुख बान्धने के पश्चात् हनन करना, इन का निषेध किया है । इन दो कृत्यों के करने वाले को भी, गोरक्षक लोग, शरों द्वारा विनष्ट करते, और विविध प्रकार के कष्ट देते हैं] ।

अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥२६॥

(निपतन्ती) वध के पश्चात् गिरती हुई गौ (अघविषा) हत्यारा विष रूप है, और (निपतिता) गिर गई (तमः) अन्धकार रूप है ।

[गौ हत्यारे को, गोरक्षक लोग, हत्यारे-विष द्वारा मार डालें, और उसे अन्धेरी कोठरी में बन्द रखें,—ऐसा विधान मन्त्र में है । जब तक हत्यारे के वध का प्रबन्ध नहीं होता तब तक गो हत्यारे को अन्धेरी कोठरी में बन्द रखना चाहिये] ।

अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥२७॥

(ब्रह्मगवी) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ या गोजाति (ब्रह्मज्यस्य) ब्राह्मण को [हानि पहुंचाने] वाले मृत क्षत्रिय का (अनुगच्छन्ती) अनुगमन

करती हुई, पीछा करती हुई, (प्राणान्) प्राणों को (उप दासयति) विनष्ट करती है।

[मन्त्र २६ के अनुसार घातक क्षत्रिय (राजा) को तो मार दिया गया। गौ भी मारी गई। मन्त्र का अभिप्राय यह है मृत गौ, मृत हत्यारे क्षत्रिय का पीछा करती है, और पुनः जन्म लिये हत्यारे के प्राणों को नष्ट कर देती है। कर्म गति के अनुसार यह सम्भव है कि मृत गौ, ऐसे मनुष्य या प्राणी के रूप में पुनः पैदा हो जोकि नए शरीर में प्राप्त हत्यारे के प्राणों का हरण कर ले]।

पर्याय ४

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥२८॥

(विकृत्यमाना) विविधाङ्गों में काटी जाती हुई (वैरम्) परस्पर में वैर उत्पन्न करती, (विभाज्यमाना) और भाण्टी जाती हुई (पौत्राद्यम्) घातक के पौत्रों तक को खाने वाली होती है।

[गौ या गौओं को काटने और उस के मांस को वाण्टने पर, घातक के कुल और रक्षकों में वैर पैदा हो जाता, और इस वैर का दुष्परिणाम घातक के पौत्रों तक को भोगना पड़ता है। यह वैर कहां तक चलता है, यह गोरक्षकों की गौ के प्रति उग्र श्रद्धा पर निर्भर है]।

देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥२९॥

[बाण्टने के पश्चात्] (ह्रियमाना) ली जाती हुई (देव हेतिः) देवों का अस्त्र है, (हृता) ली गई (व्यृद्धिः) ऋद्धि का अभाव रूप है।

[अभिप्राय यह कि गौमांस लिये जाने पर यदि राष्ट्र के विद्वानों या दिव्य कोटि के लोगों को इस बात का पता लग जाय तो वे भी प्रहार करने पर उद्यत हो जाते हैं, और गोओं के कम हो जाने पर दूध आदि के अभाव तथा कृषिकर्म में कठिनाई के कारण राष्ट्र की ऋद्धि क्षीण होती जाती है]।

पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥३०॥

(अधिधीयमाना) ऊँचाई पर रखी जाती हुई पापरूप है, और तदनन्तर उतार कर (अवधीयमाना) नीचे रखी जाती हुई (पारुष्यम्) कठोरता है।

[सुरक्षा के लिये गोमांस ऊँचे स्थान पर रखना पापवृत्ति को प्रकट करता, तथा पकाने के लिये पुनः उसे उतारना हृदय की कठोरता को प्रकट करता है]।

विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥३१॥

(प्रयस्यन्ती) पकाने के लिये प्रयास की जाती हुई गौ (विषम्) विषरूप है, (प्रयस्ता[1]) और प्रयास की गई (तक्मा[2]) कष्टप्रद ज्वर रूप है।

[प्रयस्यन्ती=प्र+यस् (प्रयत्ने) +शतृ। मन्त्र ३२ में "पच्यमाना और पक्वा" पदों की दृष्टि से पकाने से पूर्व—किये जाने वाले प्रयास, अर्थात् मांस को देगची में डालना और आग के जलाने आदि का वर्णन मन्त्र में अभिप्रेत है। मन्त्र में दर्शाया है कि गोमांस खाना विषरूप है, तथा कष्टप्रद ज्वर का उत्पादक[3] है]।

अघं पच्यमाना दुःष्वप्न्यं पक्वा ॥३२॥

---

१. प्रयस्त=Seasoned, dressed with condiments (आप्टे), अर्थात् मसाले लगाना।

२. तकि कृच्छ्र जीवने। अभिप्राय है "कष्टप्रद ज्वर", (अथर्व० ५।२२।१४)।

३. बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ "सुत्तनिपात" के एक प्रकरण के सन्दर्भ का अंग्रेजी में अनुवाद निम्न लिखित है—"Like unto a mother, a father, a brother and other relatives, the cows are our best friends. There were formerly three diseases—desire, hunger and decay, but from the slaying of cattle there came ninety-eight"। अर्थात् माता-पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों की तरह गौएं भी हमारे श्रेष्ठ सखा हैं। पूर्व काल में तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और क्रमिक ह्रास। परन्तु पशुघात के कारण ९८ रोग पैदा हो गए।

इसी प्रकार चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के १० वें अध्याय में निम्नलिखित सन्दर्भ है। "गवां गौरवादौष्ण्याद सात्म्याद् शस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः"। अर्थात् गौ के मांस के भारी होने से, उष्ण और अस्वाभाविक होने से और इस के प्रयोग के अप्रशस्त होने से लोगों की जाठराग्नि और बुद्धिशक्ति मन्द हो गई, और अतिसार रोग उत्पन्न हो गया"।

(पच्यमाना) मांसरूप में पकाई जाती हुई गौ (अघम्) पाप सूचक है, (पक्वा) पकी हुई (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों में दुःखदायी है।

[गौ के मांस को पकाना पाप है, और परिणाम में दुःखदायी हैं, दुःष्वप्न्यों के सदृश। दुःस्वप्न दुःखदायी होते हैं, क्योंकि ये भय, कम्पन देते और निद्रा के विघातक हो जाते हैं]।

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥३३॥

(पर्या क्रियमाण) विलोड़ी जाती हुई (मूलबर्हणी) जड़काट देती, और (पर्याकृता) विलोड़ी गई (क्षितिः) क्षयरोग पैदा करती है।

[कड़छी द्वारा विलोडना। पकते समय दाल आदि को विलोड़ा जाता है। इसी क्रिया को मांस पकाते समय निर्दिष्ट किया है। गौ के मांस से क्षय रोग हो जाने की सम्भावना है। खाने पर खाने वाले को क्षयरोग हो जाने पर इस उत्पन्न होने वाली सन्तानों में भी क्षयरोग की सम्भावना रहती है, "पितृभूत जड़" के रुग्ण होने से मानो भावी सन्तानों के स्वास्थ्य की जड़ कट गई]।

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥३४॥

[पकते गोमांस की] (गन्धेन) गन्ध से [गन्ध लेने वाले की] (असंज्ञा) अज्ञता सूचित होती है। (उद्ध्रियमाणा) पके मांसरूप में आग से उठाई जाती गौ (शुक्) परिणाम में शोक जनिका होती है। (उद्धृता) उठाई गई (आशीविषः) विषैले सर्पवत् होती

[असंज्ञा="सम्यक् ज्ञान का अभाव", कि गोमांस दुष्परिणामी है, और रोग द्वारा शोकोत्पादक है। गोमांस विष के समान है, आशीविष है, आशी अर्थात् फण में है विष जिस के=विषैला सांप]।

अभूतिरूप ह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥३५॥

(उपह्रियमाणा) गोमांस रूप में समीप लाई जा रही गौ (अभूतिः) शारीरिक विभूति का नाश करती, और (उपहृता) समीप लाई गई (पराभूतिः) पराभव करती है।

[गौमांस द्वारा शारीरिक विभूति नष्ट हो जाती है, और व्यक्ति रोगों द्वारा पराभूत हो जाता है]।

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥३६॥

(पिश्यमाना) गोमांसरूप में पीसी जाती हुई, गौ (क्रुद्धः शर्वः) क्रुद्ध और विनाशकारी रूप है, (पिशिता) और पीसी गई (शिमिदा) सत्कर्मों की जड़ काट देती है।

[गोमांस के सेवन से व्यक्ति में क्रोधवृत्ति तथा हिंस्र भावना पैदा होती, और सत्कर्म विनष्ट हो जाते हैं। क्रोध और हिंसा सत्कर्मों का विनाश करते हैं। शिमिदा=शिमि कर्मनाम (निघं० २१)+दाप् लवणे। निघण्टु में "शिमी" पाठ है]।

अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥३७॥

गोमांसरूप में (अश्यमाना) खाई जाती हुई गौ (अवर्तिः) दरिद्रता पैदा करती, और (अशिता) खाई गई (निर्ऋतिः) कष्टोत्पादन करती है।

[गोमांस के प्रचार से गोवंश के विनाश द्वारा दुग्ध आदि के अभाव से जीवन में दरिद्रता होती तथा जीवन कष्टप्रद होता है]।

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥३८॥

(अशिता) खाई गई (ब्रह्मगवी) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की गौ, (ब्रह्मज्यम्) गोरक्षक ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले को, इस लोक तथा उस लोक से विच्छिन्न कर देती है।

[मन्त्र में दो ब्रह्मपद द्व्यर्थक हैं। ब्रह्मगवी द्वारा तो यह सूचित किया है कि गोजाति का स्वामी परमेश्वर है। परमेश्वर की सम्पत्ति के विनाश करने का अधिकार किसी मनुष्य को नहीं। दूसरे ब्रह्म पद द्वारा ब्राह्मण को सूचित किया है जो कि गोरक्षान्दोलन का नेता है। ऐसे नेता के जीवन को हानि पहुंचाने पर गोरक्षा का आन्दोलन न हो सकेगा और गोवंश के विनाश से जनता का इह लोक दुःखप्रद हो जायगा, तथा गोघृत के अभाव में यज्ञों के न हो सकने के कारण परलोक की प्राप्ति भी न हो सकेगी। यथा "स्वर्गकामो यजेत"]।

पर्याय ५

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥३९॥

(तस्याः) उस गौ की (आहननम्) हत्या (कृत्या) कृत्यारूप है, (आशसनम्) काटना (मेनिः) वज्ररूप और (ऊबध्यम्) पेट का मल (वलगः) घेरा डाल कर चलने वाला अस्त्ररूप है।

[कृत्या=कृती छेदने; काटने का शास्त्रविशेष। मेनिः वज्रनाम (निघं० २।२०) वलगः=वल (संवरणे)+ग (गच्छति), जो अस्त्र को फूट कर, घेरा डाल कर आगे-आगे बढ़ता जाता है। "वलग" भूमि में गाड़ा जाता है। यथा-"वलगं वा निचख्नुः" (अथर्व १०।१।१८)। अभिप्राय यह कि गौ की हत्या उसके काटने, और भय के कारण पेट के मल के निकल जाने पर, गोरक्षकः कृत्या आदि साधनों द्वारा घातक पर आक्रमण करते हैं]।

अस्वगता परिह्णुता ॥४०॥

(परिह्णुता) चुराई गई गौ (अस्वगता) चुराने वाले की "स्व" अर्थात् सम्पत्ति को "अगत" अर्थात् विगत कर देती है।

[परिह्णुता=परि+ह्नुङ् (अपनयने)। अभिप्राय है कि गौ चुराने वाला निज लाभ के लिये चुराता है, गौ रक्षक दण्डरूप में चोर की सम्पत्ति उस से छीन लेते हैं]।

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥४१॥

(ब्रह्मगवी) "ब्रह्म" अर्थात् परमेश्वर की "गवी" अर्थात् गोजाति, (क्रव्याद् अग्निः भूत्वा) श्मशान की शवाग्नि हो कर, (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ के जीवन को हानि पहुंचाने वाले में (प्रविश्य) प्रविष्ट हो कर (अत्ति) उसे खा जाती है।

[गोजाति परमेश्वर की सम्पत्ति या सन्तानरूप है, क्योंकि परमेश्वर ने ही गोजाति को उत्पन्न किया है। ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण, उस गोजाति का रक्षक है। जो क्षत्रिय (राजा) गोरक्षक के जीवन को हानि पहुंचाता है, उसे गोरक्षक-नेता के अनुयायी अग्नि द्वारा दग्ध कर देते हैं,-यह अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है। गोरक्षा के समग्र प्रकरण में, नेता-ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् राजा में, परस्पर विवाद का वर्णन है। ब्रह्मज्यम्=ब्रह्म+ज्या (वयोहानौ)]।

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥४२॥

(अस्य) इस ब्रह्मज्य के (सर्वा=सर्वाणि; अङ्गा=अङ्गानि) सब अङ्गों को, (पर्वा=पर्वाणि) जोड़ों को, (मूलानि) मूलों को (वृश्चति) ब्रह्मगवी काट देती है।

[जीवित, और मृत गौ, बदला नहीं ले सकती। अतः गौ के मारने वाले के अङ्गों, जोड़ों, और मूलों को गोरक्षक नेता के अनुयायी काट देते हैं—यह अभिप्राय है। मूल का अर्थ है जड़ें। जिन से कि क्षत्रिय-राजा पैदा हुआ है, अर्थात् माता-पिता आदि तथा ज्ञातिवर्ग]।

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥४३॥

(अस्य) इस ब्रह्मज्य के (पितृबन्धु) पैतृक सम्बन्ध या बन्धुओं को (छिनत्ति) गौ अर्थात् गो जाति काट देती है, और (मातृबन्धु) मातृक बन्धुओं का (परा भावयति) पराभव कर देती है।

[काटती और पराभव करती है निज रक्षकों के आन्दोलनों द्वारा]।

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥४४॥

(क्षत्रियेण) क्षत्रिय राजा द्वारा (अपुनर्दीयमाना) स्वरक्षा का वचन पुनः न दी जाती हुई (ब्रह्मगवी) गौ अर्थात् गो जाति (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुंचाने वाले के (विवाहान्) विवाहों और (सर्वान्) सब (ज्ञातीन् अपि) ज्ञाति बन्धुओं को भी (क्षापयति) निज रक्षकों द्वारा नष्ट करा देती है।

[अपुनर्दीयमाना=अथवा अ+पुनः+दीयमाना (दीङ् क्षये)=पुनः पुनः क्षीण न होती हुई, अर्थात् एक बार भी क्षीण होती हुई गौ अर्थात् गो जाति]।

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥४५॥

इस क्षत्रिय राजा को (अवास्तुम्) घर से रहित, (अस्वगम्) सम्पत्ति

से रहित, (अप्रजसम्) प्रजा तथा सन्तानों से रहित (करोति) गौ अर्थात् गो जाति कर देती है। (अपरापरणः) क्षत्रिय राजा किसी अपर व्यक्ति द्वारा भी पालन-पोषण से रहित (भवति) हो जाता हैं (क्षीयते) और क्षीण या नष्ट हो जाता है।

[अवास्तुम्=अ+वास्तु (गृह)। अपरापरणः=अपर+अ+परणः (पृ पालने); परणः=पृ+युच् (औणादिक)]।

य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥४६॥

(यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय राजा कि (एवम् विदुषः) इस प्रकार के विद्वान् (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ नेता की (गाम्) गौ अर्थात् गो जाति को [सुरक्षित करने के अधिकार को] (आदत्ते) छीन लेता है।

[आदत्ते=आदित्यः कस्मात् आदत्ते भासं ज्योतिषाम् (नक्षत्राणाम्); निरु० २।४।१३॥ १२ से ४६ तक के मन्त्रों में गोरक्षा का वर्णन हुआ है। क्षत्रिय अर्थात् राजा गोरक्षा नहीं चाहता। परन्तु ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति गो जाति को ब्रह्म की राष्ट्रोपयोगी विशिष्ट सन्तान जान कर, और गो रक्षा को वेदानुकूल जान कर, गोरक्षान्दोलन करता हैं। परिणामतः क्षत्रिय राजा का हनन होता हैं। हत हो जाने पर उस की जो दशा होती है, उस का वर्णन ४७ से ७३ तक के मन्त्रों में हुआ है। गौ स्वस्थ हो या रुग्ण उसकी रक्षा करना और उस के मांस को न खाने देना—यह वैदिक धर्म है। इसके लिये देखो यजु० १३।४३; ३०।१७; ऋक् ८।१०१।१५; १०।८७।१६ तथा अथर्व० १।१६।४]।

पर्याय ६

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलवम् ॥४७॥

(तस्य) उस क्षत्रिय राजा के (आहनने) हनन हो जाने पर (क्षिप्रं वै) निश्चय से शीघ्र (गृध्राः) गीध (ऐलवम्) विलास (कुर्वते) करते हैं।

[ऐसे क्षत्रिय राजा को मार देने पर उस के शरीर को खाने के लिये गीध इकट्ठे हो जाते हैं]।

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलवम् ॥४८॥

(क्षिप्रम् वै) निश्चय से शीघ्र ही (तस्य) उस क्षत्रिय के (आदहनम् परि) जलती चिता के चारों ओर, (पाणिना) हाथों द्वारा (उरसि आघ्नानाः) छातियां पीटती हुई, (केशिनीः) बिखरे केशों वाली स्त्रियां (पापम्, ऐलवम्, कुर्वाणाः) बुरा विलास करती हुई (नृत्यन्ति) गात्र विक्षेप करती हैं।

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलवम् ॥४९॥

(क्षिप्रम् वै) निश्चय से शीघ्र ही (तस्य) उस क्षत्रिय के (वास्तुषु) घरों में (वृकाः) भेड़िये (ऐलवम्, कुर्वते) विलास करने लगते हैं।

[इन मन्त्रों में क्षत्रिय राजा के मारे जाने का निर्देश किया है। गोरक्षा के विरोधी राजा के मारे जाने का वर्णन राष्ट्र में मुखिया होने के कारण हुआ है। अथवा यह द्वन्द्व युद्ध प्रतीत होता है। गोरक्षा के विरोधी राजा के मारे जाने पर प्रजा स्वयमेव गोरक्षा के पक्ष में हो ही जायगी। इस द्वन्द्वयुद्ध के कारण न तो प्रजा का विनाश होता है, न राष्ट्रिय सम्पत्ति का। ऐसे द्वन्द्व युद्ध महाभारत के काल में भी हुए हैं, जैसे कि भीम और जरासन्ध का युद्ध, भीम और दुर्योधन का, तथा कृष्ण और कंस का युद्ध]।

क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासी३दिदं नु ता३दिति ॥५०॥

(क्षिप्रं वै) निश्चय से शीघ्र ही (तस्य) उस क्षत्रिय राजा के सम्बन्ध में प्रजाएं (पृच्छन्ति) पूछने लगती हैं कि (यत्) जो (तद्) वह राजा था, क्या (इदम्, नु) यह ही (तत्) वह है।

[अर्थात् वह तो शक्तिशाली राजा था वह ही श्मशाग्नि में जल रहा है क्या?]।

छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥५१॥

(छिन्धि) काट, (आच्छिन्धि) सब ओर से काट, (प्रच्छिन्धि) पूर्णतया काट, (अपि क्षापय क्षापय) तथा मार, मार डाल।

[राजा के मारे जाने और जला देने के पश्चात् यदि गोमांस भक्षक युद्ध के लिए फिर खड़े हो जांय, तो गोरक्षा का पक्षपाती-नेता निजानुयाइयों द्वारा उन से युद्ध करता हुआ, अनुयाइयों को मन्त्र द्वारा प्रोत्साहित करता और आज्ञा देता है]।

आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥५२॥

(आङ्गिरसि) अङ्गों=अङ्गी अर्थात् शरीर के लिये रस-प्रदायिनि ओषधिरूप हे गोजाति ! (आददानम्) गोरक्षा का अधिकार छीनने वाले, (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण-नेता के जीवन को हानि पहुंचाने वाले का (उप दासय) क्षय कर।

[आङ्गिरसि=ओषधियां ४ प्रकार की होती हैं। आथर्वणी; आङ्गिरसी:, दैवी:, तथा मनुष्यजा: । यथा "आङ्गिरसीराथर्वणीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ अथर्व० ११।४।१६); तथा "या रोहन्त्याङ्गिरसी: पर्वतेषु समेषु च । ता नः पयस्वती: शिवा ओषधी: सन्तु नो हृदे" (अथर्व० ८।७।१७) । गोजाति का रसीला दूध ओषधिरूप है। गोजाति स्वरक्षकों द्वारा निज-घातकों का क्षय करती है। राजा की मृत्यु के पश्चात् राजपक्ष के लोगों के नेता को ब्रह्मज्य जानना चाहिये। आददानम्, यथा आदत्ते (मन्त्र ४६), अथवा आ+दाप् लवने]।

वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥५३॥

[हे गोजाति] (वैश्वदेवी हि) सब देवों की तू प्रतिनिधिरूपा (उच्यसे) कही जाती है। (आवृता) रोकी गई तू (कूल्बजम्) नदी के कूलों से आवृत, वेग वाले जल प्रवाह के सदृश है।

[चार प्रकार की ओषधियों में "दैवी" ओषधियां भी हैं (मन्त्र ५२), यथा जल, वायु, मृद्, सौर रश्मियां आदि । इस द्वारा गोजाति को ओषधि रूपा कह कर मनुष्योपकारिणी दर्शाया है । तथा "कूल्बजम्" कह कर इस की गति पर रुकावट डालने वालों के लिये वेगवती नदी के जल प्रवाह के सदृश विनाश करने वाली भी कहा है । वैश्वदेवी="वीरुधो वैश्वदेवीरुग्रा: पुरुषजीवनी:" (अथर्व० ८।७।४), अर्थात् वैश्वदेवी लताएं रोगनाश में उग्ररूप तथा पुरुषों को जीवन देने वाली हैं]।

ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥५४॥

[गोजाति] (ओषन्ती) दग्ध करने वाली, तथा (समोषन्ती) सम्यक् दग्ध करने वाली (ब्रह्मणः वज्रः) ब्रह्म का वज्ररूप है। [ओषन्ती=उष् दाहे]।

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥५५॥

(क्षुरपवि:) छुरे के समान तीक्ष्ण वज्ररूप हुई, तथा (मृत्युः भूत्वा) मृत्युरूप होकर (त्वम्) हे गोजाति ! तू (वि धाव) विविध और दौड़।

[गो जाति के विनाशक शत्रु जो कि गोरक्षकों के साथ युद्ध के लिये एकत्रित हुए हैं (मन्त्र ५१) उन के लिये हे गोजाति ! तू क्षुरपवि तथा मृत्युरूप हो कर, विविध पार्श्वों में स्थित जो शत्रु हैं उन के प्रति दौड़। [यह निर्देश गोरक्षकों के लिये है कि वे दौड़-दौड़ कर शत्रुओं का सब ओर से विनाश करें]।

आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥५६॥

[हे गो-जाति !] (आ दत्से) तू छीन लेती है (जिनताम्) तेरे जीवन को हानि पहुंचाने वालों के (वर्चः) तेज को, (इष्टम्) उन के यज्ञ के फलों को, (पूर्तम्) सामाजिक परोपकारों के यश को, (आशिषः) तथा इच्छाओं को।

["जिनताम्" पद में बहुवचन है, इस से प्रतीत होता है कि गोघातक नाना व्यक्ति हैं जिन के साथ कि गोरक्षकों का युद्ध है । आदत्से=छीन लेती है या हरण कर लेती है]।

आदाय जीतं जीताय लोके३ऽमुष्मिन् प्र यच्छसि ॥५७॥

[हे गोजाति !] (जीतम्) मृत गोघातक को (आदाय) पकड़ कर (जीताय) मृत गोरक्षक के प्रति, (अमुष्मिन् लोके) उस परलोक में (प्रयच्छसि) तू सौंप देती है, सुपुर्द कर देती है [बदला लेने के लिये]। यद्यपि की गई मृत्यु का दुष्फल तो परमेश्वर ने देना है, परन्तु उस दुष्फल का निमित्त गौ हो जाती है]।

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥५८॥

(अघ्न्ये) न हनन के योग्य हे गो जाति ! तू (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की (अभिशस्त्या) गोरक्षान्दोलन में मृत्यु के कारण (पदवीः भव) अन्य रक्षकों की मार्ग दर्शिका बन।

[पदवीः=पदों में गति देने वाली युद्ध के लिए; पद (पैर)+वी (गतौ)। मन्त्र में गोजाति के लिये "अघ्न्या" शब्द का प्रयोग हुआ है,—यह दर्शाने के लिये कि परमेश्वर की दृष्टि में गोजाति हनन के योग्य नहीं, परन्तु फिर भी गोघातक गोजाति का नन करते हैं। इसलिये परमेश्वर की आज्ञा है कि हे वशे! तू "पदवी भव" अन्य रक्षकों के लिये मार्ग दर्शिका हो जा। पदवी=पद (पैर)+वी (गतौ)=पैरों द्वारा जिस में जाया जाय। Road, Path, course, यथा "अनुयाहि साधुपदवीम्" (आप्टे)]।

मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥५९॥

[हे अघ्न्ये] तू (मेनिः) हिंसक वज्र, (शरव्या) विशीर्ण करने वाला शर समूह, तथा (अघात्) घातक पाप से (अघविषा) घातक विष (भव) होजा।

[मेनिः=मी हिंसायाम्। शरव्या=शृ हिंसायाम्। अघम्=आहन्तीति]।

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥६०॥

(अघ्न्ये) हे अवध्य गोजाति! (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुंचाने वाले, (कृतागसः) पापी, (देवपीयोः) देवहिंसक, (अराधसः) आराधना हीन के (शिरः) सिर को (प्रजहि) काट दे, या उस के सिर पर प्रहार कर।

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥६१॥

[हे अघ्न्ये] (त्वया) तेरी वजह से (प्रमूर्णम्) मारे गए, (मृदितम्) कुचले गए (दुश्चितम्) बुरे विचार वाले को (अग्निः) अग्नि (दहतु) दग्ध कर दे।

दुश्चितम्=दुः+चिती संज्ञाने+कन्। अथवा चिञ् चयने अर्थात् जिस की चिता बुरी तरह से चिनी गई है]।

पर्याय ७

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥६२॥

(वृश्च) काट, (प्रवृश्च) पूर्णतया काट, (संवृश्च) अच्छी तरह काट, (दह) जला दे, (प्रदह) पूर्णतया जला दे, (संदह) अच्छी तरह जला दे।

[शब्दों के पुनर्वचनों, भावपूर्ण पुनर्वचनों तथा शब्दों के अर्थों को दृष्टिगत करने से प्रतीत होता है कि मन्त्र में गोघातकों और गोरक्षकों में युद्ध का निर्देश है। इस के सदृश ही मन्त्र ५१ में शब्द हैं। साथ ही "जिनताम्" (मन्त्र ५९) में बहुवचन भी यह दर्शाता है कि गोसम्बन्धी विवाद किन्हीं दो व्यक्तियों में नहीं, अपितु क्षत्रिय पक्ष तथा ब्राह्मणपक्ष के लोगों में यह युद्ध है। इस वर्णन को पढ़ते हुए इस युद्ध को ऐतिहासिक युद्ध न समझना चाहिये, अपितु इस द्वारा यह भाव सूचित किया है कि गोरक्षा के लिये युद्ध भी लड़ना एक धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्य है]।

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु सं दह ॥६३॥

(अघ्न्ये देवि) हे अवध्य गौ देवि! (ब्रह्मज्यम्) गोरक्षक ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुंचाने वाले को (आ मूलात्) मूल से लेकर (अनु-सं दह) सम्यक् जला दे।

[मन्त्रों में बार-बार अघ्न्या पद के कथन द्वारा गोरक्षकों को सचेत किया जा रहा है कि गौ किसी के लिये भी वध्या नहीं। इस की रक्षा होनी ही चाहिये। गौ को देवी कह कर इस की दिव्यता को सूचित किया है, क्योंकि गौ प्रजा के लिये महोपकारी प्राणी है]।

यथा यात् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥६४॥

(यथा) जिस तरह कि गोघाती (यमसादनात्) यम[1] के सदन से (परावतः) दूरवर्ती (पापलोकात्) पापियों के लोकों को (यात्) जाए।

[पापलोकान्=पापियों के लोक अर्थात् कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि। इन्हें "परावतः" इसलिये कहा है कि इन योनियों में पहुंच कर पुनः मनुष्य योनि में आने में बहुत लम्बा काल अपेक्षित होता है]।

एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥६५॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥६६॥

प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥६७॥

---

१. यमः="अयं वै यमो योऽयं पवते" (शतपथ १४।२।२।११)। अतः यमसादन=अन्तरिक्ष।

(एवा) इस प्रकार (अघ्न्ये देवी) हे अवध्य गौ देवी ! (त्वम्) तू (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुंचाने वाले, (कृतागसः) पापी, (देवपीयोः) देवहिंसक, (अराधसः) आराधनाहीन व्यक्ति के (६५),

(शतपर्वणा) सौ जोड़ों वाले, (तीक्ष्णेन) तेज (क्षुरभृष्टिना) प्रतप्त छुरे की तरह भूनने वाले (वज्रेण) वज्र द्वारा । (६६), [भृष्टिना= भ्रस्ज पाके] ।

(स्कन्धान्) कन्धों को (प्र जहि) काट दे, (शिरः) सिर को (प्र जहि) काट दे (६७) ।

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥६८॥

मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥६९॥

अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥७०॥

सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥७१॥

(अस्य) इस के (लोमानि) लोमों को (सं छिन्धि) काट दे, (अस्य) इसकी (त्वचम्) त्वचा को (वि वेष्टय) उधेड़ दे (६८) ।

(अस्य) इस के (मांसानि) मांसों को (शातय) टुकड़े-टुकड़े कर दे, (अस्य) इस की (स्नावानि) नस-नाड़ियों को (सं वृह) सम्यक्तया काट दे (६९) ।

(अस्य) इस की (अस्थीनि) हड्डियों को (पीडय) पीस दे, (अस्य) इसके (मज्जानम्) मज्जा को (निर्जहि) नष्ट कर दे (७०) । [मज्जा= marrow), हड्डियों में वर्तमान गुद्दा] ।

(सर्वा=सर्वाणि) सब (अस्य) इस के (अङ्गा=अङ्गानि) अङ्गों को, (पर्वाणि) जोड़ों को (विश्रथय) ढीला कर दे (७१) ।

[वेद, पापी को, सख्त दण्ड देने की आज्ञा देता है । नर्म दण्ड से पापकर्मों में बार-बार प्रवृत्ति होती है । सख्त दण्ड इस प्रवृत्ति को भी रोकता और प्रजा के लिये चेतावनी का काम भी करता है] ।

अग्निरेनं क्रव्यात्पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥७२॥

सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥७३॥

(क्रव्याद् अग्निः) शवाग्नि (एनम्) इस गोघाती को (पृथिव्याः) पृथिवी से (नुदताम्) धकेले, (उद् ओषतु) जलाए और ऊपर [वायु में भेजे], (वायुः) वायु (महतो वरिम्णः, अन्तरिक्षात्) महाविस्तृत अन्तरिक्ष से धकेले, (सूर्यः) सूर्य (एनम्) इसे (दिवः) द्युलोक से (प्र नुदताम्) दूर धकेले, (न्योषतु) और तपा कर नीचे पृथिवी की ओर धकेले (मन्त्र ७२, ७३) ।

[मन्त्रानुसार, सूक्ष्मशरीर समेत जीवात्मा, पृथिवी से वायु अर्थात् अन्तरिक्ष में जाता है, तदनन्तर सूर्य की ओर, फिर सूर्य के ताप से उत्पन्न मेघ से वर्षा द्वारा पुनः पृथिवी पर आ कर कर्मानुसार जन्म लेता है] ।

॥ पांचवां सूक्त समाप्त ॥

१२ वां काण्ड समाप्त

—:०:—

तेरहवां काण्ड

सूक्त १

विषय प्रवेश

१ काण्ड १३। सूक्त १ अध्यात्म और रोहितादित्यदेवता परक है। अध्यात्म दृष्टि में रोहित है सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर। इसी लिये रोहित को ऋषि भी कहा है, **"रोहितेन ऋषिणा भृतम्"** (मन्त्र ५५) सूक्त के मध्य में भी स्थान-स्थान पर रोहित पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। यथा **'यो रोहितो विश्वमिदं जजान"** (१), **"रोहितो द्यावा पृथिवी जजान"** (६)। मन्त्र द्रष्टा तथा मन्त्रार्थद्रष्टा को ऋषि कहते हैं। परमेश्वर तो साक्षात् मन्त्र द्वारा तथा मन्त्रार्थ द्रष्टा है, क्योंकि मन्त्र परमेश्वर द्वारा ही प्रदत्त हैं। तथा "विश्व का उत्पादन" और द्यावा पृथिवी की उत्पत्ति जिस रोहित द्वारा हुई है वह परमेश्वर ही हो सकता है। अतः 'रोहित" द्वारा परमेश्वरार्थ के ग्रहण में संशय नहीं।

२ रोहित पद द्वारा राजा का ग्रहण भी मन्त्रानुमोदित है। **"अप्स्वन्तः"** द्वारा राज्याभिषेक, **"राष्ट्रं प्रविश"** द्वारा राष्ट्र में प्रवेश (१)। **"विश आरोह"** द्वारा प्रजाओं पर अधिकार (२)। "मरुतों (सैनिकों) द्वारा शत्रुओं का विनाश (३)। राष्ट्र का वर्णन (४, ५)। तथा **"विशि राष्ट्रे जागृहि"** (६) द्वारा प्रजा और राष्ट्र के प्रबन्ध में जागरूक रहना—इस द्वारा राजा का वर्णन निःसंदिग्ध है। आरोह पद (२), तथा **रोहितः शृणवत्"** (३) द्वारा राजा को रोहित कहा है। (मन्त्र (१३) में **"सामित्यै रोहयतु"** द्वारा राजा निज समिति के सदस्यों की सहायता द्वारा उन्नति की प्रार्थना परमेश्वर से करता है। इस सबसे प्रतीत होता है कि १३।१ में राष्ट्र का तथा राजा का भी वर्णन हुआ है, और राजा को रोहित भी कहा है।

३ रोहित पद द्वारा सूर्य (आदित्य) का भी वर्णन हुआ है (२४)। मन्त्र २४ में रोहित पद के दो अर्थ दर्शाए हैं, (१) ओषधियों का रोहन (बीजजन्म तथा प्रादुर्भाव) करने वाला या द्युलोक में आरूढ़ हुआ।

४ १३।१ सूक्त को रोहितादित्यपरक तथा अध्यात्म भी कहा है। रोहित पद द्वारा जिन मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन हुआ है वे तो "अध्यात्म" स्वतः सिद्ध हैं। रोहित पद द्वारा राजा के वर्णन में, तथा सूर्य के वर्णन में भी परमात्मा का वर्णन मन्त्रों में अनुस्यूत है। यथा राजा के सम्बन्ध में कहा है कि **"स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु"** (१), अर्थात् वह रोहित (परमेश्वर) राष्ट्र की सेवा के लिये उत्तम भरण-पोषण पूर्वक तुझे परिपुष्ट करे। तथा **"आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद्"** (५), अर्थात् रोहित परमेश्वर इस पृथिवी पर तेरे लिये राष्ट्र या राज्य लाया है—इत्यादि। इस प्रकार वैदिक राष्ट्र और परमेश्वर में परस्पर सम्बन्ध होने से, वैदिक राष्ट्र का वर्णन भी, अध्यात्म है।

५ सूर्य (आदित्य) के सम्बन्ध में भी कहा है कि **"यो रोहितो······ पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव"** (२५), अर्थात् जो रोहित अग्नि के सब ओर, और सूर्य के सब ओर विद्यमान है, इन दोनों में व्याप्त या इन दोनों को घेरे हुए हैं। इस प्रकार सूर्य के वर्णन में भी अध्यात्म भावना ओत-प्रोत है।

६ मन्त्र १७-१९ में "वाचस्पति" द्वारा शिक्षाध्यक्ष का; तथा मन्त्र ३१ में "बृहस्पति" शब्द द्वारा सेनापति का भी वर्णन हुआ है।

७ मन्त्र ३३ में रोहित को "ब्रह्म" भी कहा है। इस प्रकार रोहित पद का परमेश्वरार्थ संपुष्ट होता है।

८ परमेश्वर का वर्णन "सूर्य" पद द्वारा भी हुआ है (३९, ४५)।

९ सूक्त में प्रासंगिक पराविद्या और अपरा विद्या का भी निर्देश हुआ है (४१)।

१० मन्त्र ४६ से ५४ में सौर-जगत् का वर्णन, याज्ञिक-यज्ञों के पारिभाषिक शब्दों में किया है। यथा "हिम और घ्रंस अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य को दो अग्निरूप (आहवनीय तथा गार्हपत्यरूप) में दिशाओं को परिधिरूप में, भूमि को वेदिरूप में, पर्वतों को यूपरूप में, वर्षा आदि को आज्यरूप आदि में वर्णित किया है।

११ मन्त्र ५६-५८ के तीन मन्त्र, प्रसिद्धार्थों में अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं, इन मन्त्रों की व्याख्या, प्रासंगिक दृष्टि से की गई है।

—:०:—

१-६० ब्रह्मा । अध्यात्मम्; रोहितादित्यदेवत्यम् । (३ मरुत्, २८-३१ अग्निः; ३१ बहुदेवत्या) त्रिष्टुप्: ३-५, ९, १२, १५. जगती (१५ अति जागत गर्भा); ८ भुरिक्; १७ पञ्चपदा ककुम्मति जगती; १३, अति शाक्वरगर्भाति जगती; १४ त्रिपदा पुरःपरशाक्वरा विपरीतपादलक्ष्म्या पंक्ति; १८, १९ पंचपदा ककुम्मत्याति जगती (१८ परशाक्वरा भुरिक्; १९ पराति जागता); २१ आर्षी निचृत् गायत्री; २२, २३, २७ प्राकृताः; २६ विराट् पुरोष्णिक्; २८-३० (२८ भुरिक्; ३२, ३९, ४०, ४५-५०, ५१-५६, ५७, ५८ अनुष्टुप् (५२, ५५ पथ्या पंक्ति; ५५ ककुम्मती बृहती गर्भा, ५७ ककुम्मती); ३१ पंचपदा ककुम्मती शाक्वरगर्भा जगती; ३५ उपरिष्टाद् बृहती; ३६ निचृन्महाबृहती; ३७ परशाक्वरा विराड् अति जगती; ४२ विराड् जगती; ४३ विराड् महाबृहती; ४४ परोष्णिक्; ५९, ६० जगती ।

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥१॥

(वाजिन्) हे बलशालिन् ! (उदेहि) उठ आ, (यः) जो तू कि (अप्सु अन्तः) [राज्याभिषेकार्थं] जलों में स्थित है, (सूनृतावत्) प्रिय और सत्य वाणी वाले (इदम् राष्ट्रम्) इस राष्ट्र में (प्रविश) तू प्रवेश कर। (यः) जिस (रोहितः[1]) सर्वारूढ़ ने (इदम् विश्वम्) इस विश्व को (जजान) पैदा किया है (सः) वह (त्वा) तुझे (राष्ट्राय) राष्ट्र की सेवा के लिये (सुभृतम्) उत्तम भरण-पोषण पूर्वक (बिभर्तु) परिपुष्ट करे।

[वाजः बलनाम (निघं० २।९), अतः वाजी=बलशाली । सूनृता =प्रिय सत्यवाणी; True and Pleasant Speech (आप्टे) । राज्याभिषेकार्थं जलस्नान का वर्णन है । रोहितः=रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च, जो संसार को जन्म देना और उसे प्रादुर्भूत करता, वह सर्वाधिरूढ़ परमेश्वर] ।

उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥२॥

(वाजः) बलस्वरूप राजा (उद् आ गन्) उठ आया है, (यः) जोकि (अप्सु अन्तः) [राज्याभिषेकार्थ] जलों में स्थित था, (विशः आरोह) प्रजाओं पर तू आरोहण कर (याः) जिन प्रजाओं ने (त्वत् योनयः) तुझ से नवजन्म धारण करना है, या जिन की तू योनिरूप है । (सोमम्, ओषधीः, अपः, दधानः) सोम, ओषधियों, जल को धारण करता हुआ तू, (इह) इस राष्ट्र में (गाः) गौओं, (चतुष्पदः) अन्य चौपायों तथा (द्विपदः) दोपायों को (आ वेशय) सब ओर प्रविष्ट कर, निवासित कर ।

[आरोह=राजसिंहासन पर आरोहण । दधानः=राष्ट्र में सोम आदि की परिपुष्टि करता हुआ] ।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥३॥

(पृश्निमातरः) भूमि को माता मानने वाले (उग्राः मरुतः) हे शूर-वीर सैनिको ! (यूयम्) तुम (इन्द्रेण युजा) सेनापति के सहयोग द्वारा (शत्रून् प्र मृणीत) शत्रुओं का नाश करो । (सुदानवः) सुगमता से विनाश करने वाले वीरो ! (रोहितः) सिंहासनारूढ़ राजा (वः शृणवत्) तुम्हारी तकलीफों और कष्टों को सुने । (मरुतः) मारने वाले शूरवीरो ! तुम (त्रिषप्तासः) ३ और ७ या ३×७ सैन्य विभागों में विभक्त हो, और (स्वादु संमुदः) स्वादु भोजनों में परस्पर मिल कर हर्ष प्राप्त करते हो ।

[पृश्निः=भूमिः (सायण ऋक् १।२३।१०) । मरुत्=म्रियंते मारयतीति वा सुदानवः=सु+दो (अवखण्डने)+नु । स्वादु संमुदः=सैनिकों के भोजन स्वादिष्ट होने चाहियें] ।

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम् ।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥४॥

---

[1] १३।१ सूक्त के देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय हैं,—अध्यात्म, रोहित और आदित्य । इन मन्त्रों में "रोहित" पद द्वारा परमेश्वर, राजा और आदित्य,—इन तीनों का मिला-जुला वर्णन हुआ है । रोहित पद के ३ अर्थ हैं । (१) जन्मदाता, (२) प्रादुर्भावकर्त्ता, और (३) आरोहण कर्त्ता । परमेश्वर विश्व को जन्म देता, उस का प्रादुर्भाव करता, तथा सर्वोपरि आरूढ़ है । राजा राष्ट्र की सम्पत्तियों को जन्म देता, उन का प्रादुर्भाव करता, तथा राजसिंहासन पर आरूढ़ होता है । सूर्य या आदित्य पार्थिव उत्पत्तियों को जन्म देता, उन का प्रादुर्भाव करता, तथा द्युलोक में आरूढ़ है । इन समान धर्मों के कारण इन तीनों का संमिश्रित वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है ।

(रोहितः) उन्नति करने वाला राजा (रुहः) राष्ट्र की समुन्नतियों पर (रुरोह) चढ़ा है, (आ रुरोह) आरूढ हुआ है। (जनीनाम्) जन्म दात्री प्रजाओं का (गर्भः) गर्भवत् सुरक्षित राजा, (जनुषाम्[1]) जन्म दात्री प्रजाओं की (उपस्थम्) गोदी में मानो बैठा है। (ताभिः) उन प्रजाओं द्वारा (संरब्धम्) लब्ध अर्थात् प्राप्त हुए को (षड् उर्वीः) ६ विस्तृत दिशाओं [की प्रजा] ने (अनु अविन्दन्) अनुकूल रूप में स्वीकार कर लिया है। (गातुम्) [राष्ट्रोन्नति के] मार्ग को (प्रपश्यन्) देखता हुआ या जानता हुआ, (इह) यहां (राष्ट्रम्), राष्ट्र को (आहाः) राजा प्राप्त हुआ है।

[आहाः=आ+अ+अट्+हाः (ओहाङ् गतौ)। गतेः अर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। यहाँ प्राप्त्यर्थक "हाङ्" है। संरब्धम्=संलब्धम्। संलब्धम्, अनु अविन्दन्=अभिप्राय यह कि पौरों और नागरिकों द्वारा प्रस्तुत राजा को, ६ दिशाओं के वासी अन्य प्रजाजनों ने भी अनुकूल रूप से स्वीकृत कर लिया। इह=पृथिवी में। ६ दिशाएं=पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशा के वासी, पर्वतवासी (ऊर्ध्वा दिक्), तथा अधर प्रदेश वासी (सामुद्रिक स्थान वासी)। सामुद्रिक स्थान अधर प्रदेश हैं, क्योंकि नदियां इस अधर प्रदेश की ओर बहती हैं। मन्त्र २ में "त्वद्योनयः याः" द्वारा राजा को प्रजा की योनि कहा है, चूंकि राजा के सुप्रबन्ध द्वारा मानो प्रजा का नवजन्म सा होता है, और मन्त्र ४ में राजा को जन्मदात्री प्रजाओं का गर्भ पुत्र कहा है। दोनों कथन ठीक हैं, इन में परस्पर विरोध नहीं]।

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत्।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः ॥५॥

हे राजन्! (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ परमेश्वर (इह) इस पृथिवी पर (ते) तेरे लिये (राष्ट्रम्) राष्ट्र या राज्य (आ अहार्षीत्) लाया है, (मृधः) संग्रामकारी शत्रुओं को (व्यास्थत्) उस ने स्थानच्युत कर दिया है, (ते) तेरे लिये राष्ट्र (अभयम् अभूत्) भय रहित हुआ है। (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (रेवतीभिः) धन सम्पन्न तथा (शक्वरीभिः) शक्ति सम्पन्न प्रजाओं के द्वारा, (तस्मै ते) उस तेरे लिये (इह) इस राष्ट्र में (कामम्) कामना को (दुहाथाम्) प्रपूरित करें, दोहें।

[मृधः संग्राम नाम (निघं० २।१७)]।

[1] अथवा राष्ट्रिय उत्पत्तियों की तू गोद है, आश्रय है।

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥६॥

(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (जजान) पैदा किया है, (परमेष्ठी) परमस्थान में स्थित परमेश्वर ने (तत्र) उन दोनों के मध्य में (तन्तुम्) विस्तृत सूत्रात्मकवायु को (ततान) ताना है, फैलाया है। (तत्र) उन द्युलोक-पृथिवी तथा सूत्रात्मक वायु में (एकपादः अजः) एक पाद तथा अजन्मा परमेश्वर (शिश्रिये) आश्रय पाया हुआ है, उसने (बलेन) निज बल द्वारा (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (अदृंहत्) सुदृढ़ किया है।

[परमेष्ठी="ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १०।७।१७), अर्थात् जो पुरुष अर्थात् शरीरपुरी में शयन किये हुए या बसे हुए जीवात्मा में विद्यमान ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म के परमेष्ठिस्वरूप को जानते हैं। परमेष्ठी=परमे जीवात्मनि तिष्ठतीति परमेष्ठी। अजः=परमेश्वर का जन्म नहीं होता। वह शरीरधारण नहीं करता। एकपादः="पादोऽस्यविश्वा भूतानि", "पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु० ३१।३,४)]।

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥७॥

(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (अदृंहत्) सुदृढ़ किया है, (तेन) उसने (स्वः) स्वर्लोक को (स्तभितम्) थामा हुआ है, (तेन) उस ने (नाकः) मोक्ष को थामा हुआ है। (तेन) उस ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष तथा (रजांसि) सब लोक (विमिता=विमितानि) मापे हुए हैं, (तेन) उस द्वारा अर्थात् उस की कृपा से (देवाः) दिव्यकोटि के लोग (अमृतम्) अमृत-परमेश्वर या मोक्ष को (अन्वविन्दन्) पाए हैं।

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥८॥

(प्ररुहः) प्ररोहों (रुहः च) और रोहों का (समाकुर्वाणः) संग्रह करते हुए, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ परमेश्वर ने, (विश्वरूपम्) विश्व के स्वरूप का (वि अमृशत्) विमर्श अर्थात् विचार किया। (महता महिम्ना)

अपनी महामहिमा के कारण (दिवम् रुढ्वा) द्युलोक पर आरुढ़ हो कर परमेश्वर, (ते राष्ट्रम्) तेरे राष्ट्र को, (पयसा) दुग्ध और जल द्वारा तथा (घृतेन) घृत द्वारा (सम् अनक्तु) सम्यक्तया कान्तियुक्त करे।

[प्ररुहः, रुहः=बीज से जो प्रथम अँकुर निकलता है वह "प्ररोह" है, तथा उस अंकुर के जो भावी रूप होते हैं वे "रुहः" हैं। इन शब्दों द्वारा जगदुत्पत्ति के क्रमों को निर्दिष्ट किया है। परमेश्वर ने इन क्रमों का ध्यान कर विश्व का स्वरूप क्या होना है,—इस पर विचार किया। इसे उपनिषदों में "सोऽ कामयत" "स ऐक्षत" इन शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया है। पृथिवी पर जो प्रकाश, ताप तथा जल आते हैं वे द्युलोक से आते हैं। मानो द्युलोक पर आरूढ़ परमेश्वर, इन्हें प्रेषित कर रहा है। इन्हों के कारण पृथिवी पर दूध जल और घृत की सत्ता होती है। दूध और घृत के सेवन से प्रजा को कान्ति बढ़ती है, तथा जल द्वारा अन्नोत्पत्ति होती है]।

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥९॥

हे राजन्! (ते) तेरे (याः) जो (रुहः प्ररुहः) रोह और प्ररोह हैं, (ते) तेरे (याः) जो (आरुहः) आरोह हैं, (याभिः) जिन द्वारा (दिवम्, अन्तरिक्षम्) द्यौः और अन्तरिक्ष को (आ पृणासि) तू भरपूर करता है, (तासाम्) उन रोहों, प्ररोहों तथा आरोहों के (पयसा) फलों द्वारा, तथा (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान तथा परमेश्वर की कृपा द्वारा, (वावृधानः) बढ़ता हुआ तू, (रोहितस्य) सर्वोपरि आरुढ़ परमेश्वर की (विशि) प्रजा में तथा (राष्ट्रे) राष्ट्र में (जागृहि) जागरूक रह, सावधान रह।

[रुहः, प्ररुहः, आरुहः=राजा के भिन्न-भिन्न राष्ट्रिय विभागों की जो समुन्नतियां, उन्नतियां तथा समृद्धियां हैं, जिन की कीर्ति मानो द्यौः और अन्तरिक्ष में फैली हुई है, उन के फलों तथा परिणामों द्वारा तू स्वयं बढ़ तथा प्रजाओं को बढ़ा। साथ ही "ब्रह्मणा" अर्थात् वेद मन्त्रों के सदुपदेशों द्वारा स्वयं वृद्धि को प्राप्त हो तथा प्रजा को बढ़ा। राजा को यह भी कहा है प्रजा और राष्ट्र परमेश्वर के हैं। इन्हें परमेश्वरीय देन समझ कर इन की रक्षा और समृद्धि के लिये सदा जागरूक रहना। "प्ररुहः" आदि द्वारा राष्ट्रिय विभागों की उन्नति के क्रमिक विकास को, ओषधियों के क्रमिक विकास द्वारा रूपित किया है]।

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः ॥१०॥

(ते) तेरी (यः विशाः) जो प्रजाएँ (तपसः) तपोमय जीवन से (सं बभूवुः) सम्यक् सम्पन्न हुई हैं (ताः) वे प्रजाएँ, (गायत्रीम्, वत्सम्, अनु) गायत्री और उस के वत्स[1] परमेश्वर को अनुकूलता में हो कर (इह) इस राष्ट्र में (आ अगुः) तुझे [हे राजन्!] प्राप्त हुई हैं। (ताः) वे प्रजाएँ (शिवेन मनसा) शिव संकल्पी मन के साथ (त्वा) तुझे (विशन्तु) प्राप्त हों या तेरे राष्ट्र में प्रवेश करें, (रोहितः, वत्सः) सर्वोपरि आरूढ़ हुआ गायत्री का वत्स परमेश्वर, (संमाता) गायत्री माता के साथ, (अभ्येतु) तेरे और तेरी प्रजाओं के अभिमुख आए, प्राप्त रहे।

[प्रजाओं के जीवन तपोमय होने चाहियें (अथर्व० १२।१।१)। गायत्री में परमेश्वर का वर्णन है। गायत्री के जप द्वारा परमेश्वर प्रकट होता है। अतः परमेश्वर गायत्री का वत्स है। वत्स अर्थात् बछड़े के सांनिध्य में गौ दूध देती है, इसी प्रकार वत्सरूपी परमेश्वर के सांनिध्य में गायत्री फलप्रदा होती है। गायत्री के जप द्वारा यदि परमेश्वर प्रकट नहीं हुआ तो मानो गायत्री का जप सफल नहीं हुआ। प्रजाओं के जीवन, गायत्री और उस के वत्स के अनुकूल होने चाहियें, प्रतिकूल नहीं। परमेश्वर और उस की माता गायत्री को राजा और प्रजाएँ सदा अपने संमुख रखें, ताकि प्रजाएँ शिवसंकल्पी हो सकें]।

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥११॥

---

१. वेदमन्त्रों का वर्णन निराले ढंग का है। यहां परमेश्वर को गायत्री का वत्स कहा है। (अथर्व० ४।३९।९) में अग्निवासी परमेश्वर को "ऋषीणां पुत्रः" कहा है, अर्थात् ऋषि लोग परमेश्वर के लिये ऐसा स्नेह रखते हैं जैसाकि माता-पिता पुत्र के प्रति स्नेह रखते हैं तथा यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव" (अथर्व० ४।३५।६) में गायत्री का अधिपति कहा है। अथवा वत्सः=बसा हुआ, गायत्री में रमा हुआ। इसी प्रकार परमेश्वर को माता, पिता, बन्धु आदि भी कहा है।

(ऊर्ध्वः) संसार की रचना से उपर उठा हुआ (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (नाके अधि) मोक्ष स्वरूप में (अस्थात्) अधिष्ठित हुआ है। (विश्वा रूपाणि) सब रूपों, आकृतियों को (जनयन्) जन्म देता हुआ (युवा कविः) सदा युवा तथा वेदकाव्यों का कवि, तथा (अग्निः) अग्निवत् प्रकाशमान परमेश्वर (तिग्मेन ज्योतिषा) उग्र ज्योति के साथ (विभाति) चमकता है । (तृतीये रजसि) तीसरे द्युलोक में (प्रियाणि) प्रिय लगने वाले नक्षत्रों और तारागणों को (चक्रे) उस ने निर्मित किया है।

[ऊर्ध्वः="त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः" (यजु० ३१।४) । युवा=नित्य पदार्थ निज शक्तियों की दृष्टि से सदा युवा होते हैं, अथवा युवा=यु मिश्रणामिश्रणयोः, संसार की उत्पत्ति में घटकतत्त्वों का संयोग विभाग करने वाला परमेश्वर]।

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि॥

(सहस्रशृङ्गः) हजारों जाज्वल्यमान किरणों वाले सूर्य के सदृश (वृषभः) सुखों की वर्षा करने वाला, (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों का ज्ञाता तथा उन में विद्यमान, (घृताहुतः) घृत की आहुतियों द्वारा सत्कृत, (सोमपृष्ठः) चन्द्रमा आदि का पृष्ठवत् आश्रय, (सुवीरः) उत्तम प्रेरणाओं का प्रदाता परमेश्वर है। (नाथितः) प्रार्थित हुआ परमेश्वर (मा मा) मुझे न (हासीत्)त्यागे, (नेत्) न ही (त्वा) तुझे (जहानि) मैं त्यागूं । (गोपोषम्) गौओं, राष्ट्रभूमि, तथा इन्द्रियों की पुष्टि (च) और (वीरपोषम्) वीर पुरुषों की पुष्टि (मे) मुझे (धेहि) दे।

[शृङ्गः, शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं० १।१७) । सुवीरः=सु+वि+ईर (गतौ)। मन्त्र में अभिषिक्त राजा द्वारा कथन प्रतीत होता है (मन्त्र-१,२)]।

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥१३॥

(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (यज्ञस्य) यज्ञ का (जनिता) जन्मदाता (च) तथा (मुखम्) उपदेष्टा है, (रोहिताय) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के प्रति (वाचा) स्तुति वचनों द्वारा, (श्रोत्रेण मनसा) श्रवण

और मनन द्वारा, (जुहोमि) मैं अपने आप को समर्पित करता हूं। (देवाः) देव कोटि के लोग (सुमनस्यमानाः) सुप्रसन्नचित्त हो कर या उत्तमविधि से मनन करते हुए (रोहितम्) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर को (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (सः) वह परमेश्वर (सामित्यैः) राजसभा के सदस्यों के साथ (मा) मुझ राजा को (रोहैः) उन्नतियों द्वारा (रोहयतु) समुन्नत करे।

[यज्ञस्य=संसार-यज्ञ या द्रव्ययज्ञ । सामित्यैः=समिति (राजसभा) के सदस्य राजवर्ग (अथर्व० १२।१।५६)]।

रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः ।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥१४॥

(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने (विश्वकर्मणे) विविध प्रकार की रचनाओं के करने वाले शिल्पिसमूह के लिये, (यज्ञम्) संसार-यज्ञ का (व्यदधात्) विधिपूर्वक निर्माण किया है; (तस्मात्) उस शिल्पि-समूह से (मा) मुझ राजा को (इमानि तेजांसि) ये राष्ट्रिय तेज (उपागुः) प्राप्त हुए हैं। हे परमेश्वर! (भुवनस्य) उत्पन्न संसार के (मज्मनि अधि) बलों या शक्तियों में (ते) तेरी (नाभिम्) केन्द्रिय-शक्ति का (वोचेयम्) मैं कथन करता हूं।

[परमेश्वर ने संसार-यज्ञ विधिपूर्वक रचा है। शिल्पी लोग संसार की विधिपूर्वक रचनाओं को देख कर विविध रचनाएं करते हैं। राष्ट्र के नगरों, मकानों आदि का निर्माण कर शिल्पी राष्ट्र को सुन्दर रूप देते हैं। संसार की रचनाओं में, केन्द्ररूप शक्ति, परमेश्वर की है। मज्मनि=मज्मना बलनाम (निघं० २।९) नाभिम्=शरीर में नाभि केन्द्ररूप है। माता के पेट में शिशु का पालन नाभिनाल द्वारा होता है। सांसारिक शक्तियों में परमेश्वर की शक्ति नाभिरूप है]।

आ त्वा रुरोह बृहत्यु१त पङ्क्तिरा ककुब् वर्चसा जातवेदः ।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह॥

हे राजन्! (त्वा) तुझ पर (बृहती) बृहती छन्द वाले मन्त्र, (उत) और (पङ्क्तिः)पङ्क्ति छन्द वाले मन्त्र (आरुरोह)सवार हुए हैं, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले राजन्! (ककुप्) ककुप् छन्द वाले मन्त्र (वर्चसा) निज ज्ञानवर्चस् के साथ (आ) तुझ पर सवार हुए हैं।

(उष्णिहाक्षरः) उष्णिक् छन्द द्वारा प्रतिपाद्य अक्षर, अविनाशी परमेश्वर या इस छन्द के अक्षरों वाला मन्त्र तथा (वषट्कारः) वषट्कार (त्वा) तुझ पर (आ रुरोह) सवार हुए हैं, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (रेतसा सह) निज शक्ति के साथ (त्वा) तुझ पर (आ रुरोह) सवार हुआ है ।

[राजा को सम्बोधित कर के कहा है कि हे राजन् ! राष्ट्र में जो उत्पत्तियां या उन्नतियां होती हैं उन्हें तू जानता है । राष्ट्रशासन के लिये वैदिक छन्दों में निर्दिष्ट विधियों द्वारा तूने राष्ट्रशासन करना है । ये वैदिक छन्द तुझ पर आरूढ़ हुए हैं, मानो तुझ पर सवार हुए हैं । जैसे अश्वारोही अर्थात् घुड़सवार अश्व पर आरूढ़ होकर अश्व को चलाता है, इसी प्रकार वैदिक छन्दों में उपदिष्ट निर्देश तुझे मार्ग दर्शन कराएंगे । यही नहीं, अपितु यह भी जान कि सर्वाधिरोही परमेश्वर भी निज शक्ति समेत तुझ पर सवार है । इसलिये परमेश्वर निर्दिष्ट मार्ग से राष्ट्र का शासन करना, तथा राष्ट्रशासन यज्ञ को सफल बनाने वाले राष्ट्रिय देवों अर्थात् सत्पात्रों को दान देकर उनकी पूजा करते रहना । यजुर्वेद के यज्ञाहुति सम्बन्धी मन्त्र का उच्चारण करने के अन्त में "वषट्" बोलकर यज्ञों में आहुति दी जाती है । इसलिये मन्त्र में वषट्कार का अभिप्राय है सत्पात्रों में दानरूपी आहुतियां प्रदान करना । उष्णिहाक्षरः=उष्णिक् (उष्णिह् ; उत्पूर्वात् स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः; निरुक्त (७।३।१२) । उष्णिक्=उष्णिह् ; "टापं चैव हलन्तानाम्" द्वारा उष्णिह्+आ=उष्णिहा । उष्णिहायाः अक्षराणि[1] यस्मिन् सः उष्णिहाक्षरः मन्त्रः । प्रतीत होता है कि बृहती आदि छन्दों में से, कतिपय बृहती आदि छन्दों में राष्ट्रशासन के उत्कृष्ट तत्त्वों का वर्णन हैं, उन्हीं छन्दों का निर्देश मन्त्र में किया गया है] ।

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽ यमन्तरिक्षम् ।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥१६॥

(अयम्) यह [रोहित परमेश्वर] (पृथिव्याः गर्भम्) पृथिवी के गर्भ में (वस्ते) वसता है, (अयम्) यह (दिवम्, अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और द्युलोक में (वस्ते) वसता है । (अयम्) यह (ब्रध्नस्य) महान् सूर्य

१. इस द्वारा यह दर्शाया है कि मन्त्रपादों में अक्षरसंख्या का नियम आवश्यक है, लघु-गुरु मात्राओं का नियम आवश्यक नहीं ।

सम्बन्धी (विष्टपि) द्युलोक में विद्यमान (स्वर्लोकान्) उत्तप्त या प्रकाशमान लोकों में (व्यानशे) व्याप्त है ।

[वस्ते=वस निवासे, आच्छादने । ब्रध्नस्य=ब्रध्नः महान् सूर्यः (उणा० ३।५; महर्षि दयानन्द) । विष्टपि="अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च" (निरुक्त २।४।१४) । लोकान्=नक्षत्र, तारा आदि] ।

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु

(वाचस्पते) हे वाणी अर्थात् शिक्षा के पति राजन् ! (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमें (स्योना) सुखकारी हो, (योनिः) घर (स्योना) सुखकर हो, (तल्पा) पलंग (नः), हमें (सुशेवा) उत्तम सुखदायी हो । (इह एव) इस राष्ट्र में ही (प्राणः) प्राण (नः) हमारे साथ (सख्ये अस्तु) सखिभाव में हो, (परमेष्ठिन्) राष्ट्र के परमोच्चपद पर स्थित हे राजन् ! (अग्निः) ज्ञानाग्निमय परमेश्वर, (तं त्वा) उस अर्थात् शिक्षाध्यक्षरूप तुझ को, (आयुषा) दीर्घ तथा नीरोग आयु के साथ, तथा (वर्चसा) तेज के साथ, (परि दधातु) घेरे रहे ।

[शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये जिस से कि जीवन सुखी हो सके, गृह जीवन तथा रात्री में शयन सुखकर हों, जीवन में प्राण हमें सुखदायी हों, प्राणसम्बन्धी कष्ट हमें न हो । परिदधातु=ज्ञानाग्नि सम्पन्न परमेश्वर, आयु और तेज की दृष्टि से, परिधि बन कर तेरी रक्षा करे] ।

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा
वर्चसा दधातु ॥१८॥

(वाचस्पते) हे वाणी अर्थात् शिक्षा के पति अर्थात् अध्यक्ष राजन् ! या शिक्षाध्यक्ष ! (वैश्वकर्मणाः) विश्व के कर्त्ता द्वारा रचीं (ये) जो (पञ्च ऋतवः) पांच या विस्तृत ऋतुएं हैं, (ये) जोकि (नौ) हम दोनों अर्थात् प्रजावर्ग और राजवर्ग को (परि सं बभूवुः) घेरे हुई हैं, वे हम दोनों के लिये सुखदायी हों (मन्त्र १७ से) । इहैव प्राणः (पूर्ववत् मन्त्र १७) ।

[मन्त्र १७ में "अग्नि", और १८ में "रोहित" पद, परमेश्वरार्थक है। पञ्च=पचि विस्तारे । विस्तृत या हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मान कर, पांच ऋतुएं कही हैं। अथवा ऋतवः नः सख्ये सन्तु] ।

वाचस्पते सौमनुसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥१९॥

(वाचस्पते) वाणी अर्थात् शिक्षा के पति अर्थात् अध्यक्ष हे राजन् ! [शिक्षा द्वारा] (नः) हम प्रजाजनों में (सौमनसम्) मन की प्रसन्नता, (च मनः) और मननशीलता हो; तथा (गोष्ठे) इन्द्रियों की स्थिति स्थान शरीर में (गाः) स्वस्थ इन्द्रियां हों, या गोशालाओं में गौएं हों, (योनिषु) घरों में या स्त्रीयोनियों में (प्रजाः) सन्तानें (जनय) पैदा कर। इहैव--(पूर्ववत् मन्त्र १७) । मन्त्र में "अहम्" पद द्वारा परमेश्वर का कथन है ।

[शिक्षा द्वारा मन की प्रसन्नता तथा मन का मननशील होना चाहिये, तथा इन्द्रियों की स्वस्थता होनी चाहिये। राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि घर-घर में दूध आदि के लिये गौएं हों, और गृहस्थी संतानों से विहीन न हों। गाः; गौः=पशुः, इन्द्रियम्, सुखं किरणो, वज्रम्, चन्द्रमाः, भूमिः, वाणी, जलं वा (उणा० २।६८; महर्षि दयानन्द । योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)] ।

परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥२०॥

(सविता देवः) दिव्य गुणी, उत्पत्तियों का अध्यक्ष, (त्वा) तेरी (परि धात्) रक्षा-परिधि बने, या सब ओर से तेरा रक्षक और पोषक हो, (वर्चसा) तेज के साथ (अग्निः) परमेश्वर या ज्ञानाग्नि का अधिष्ठाता तेरी रक्षा-परिधि बने, या सब ओर से तेरा रक्षक और पोषक बने [परि-त्वा धात्], (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (त्वा अभि) तेरे संमुख रहें। (सर्वाः) सब (अरातीः) शत्रुओं को (अवक्रामन्) आक्रमण द्वारा नीचे करता हुआ (एहि) विजयी बन कर आ, और (इदम् राष्ट्रम्) इस राष्ट्र को (सूनृतावत्) प्रिय और सत्य वाणी वाला (अकः) कर, या तूने किया ।

[सविता=उत्पत्तियों का, विशेष रूप से सन्तानोत्पत्तियों का अध्यक्ष । "सविता प्रसवानामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।१) । प्रसव=उत्पत्ति । मित्रावरुणो; मित्रः=राजा को "मित्रवर्धन" कहा है (अथर्व० ४।८।२,६), तथा "मित्रेण मित्रधा यतस्व" (अथर्व० २।६।४) में "मित्र के द्वारा तू "मित्रधा" बनने के लिये यत्न कर । इस प्रकार मित्रनामक अधिकारी है "पर राष्ट्रों के अधिकारियों को अपने राष्ट्रमित्र बनाने के लिये । वरुणः =यह है स्पशों का अधिकारी । स्पश् का अभिप्राय है "गुप्तचर" । यथा "दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य", "संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्" (अथर्व० ४।१६।४,५) । यद्यपि यह वर्णन परमेश्वर-वरुण सम्बन्धी है। राष्ट्रपरक अर्थ में "वरुण" गुप्तचरों का अधिकारी प्रतीत होता है। सूनृतावत्= राष्ट्रिय शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य नैतिक या सदाचार शिक्षण है। सूनृता अर्थात् "प्रिय और सत्य भाषण" की शिक्षा राष्ट्र के लिये अत्युपयोगी है। मनुस्मृति का श्लोक इस सम्बन्ध में स्मरणीय है। यथा "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः"] ।

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित ।
शुभा यासि रिणन्नपः[1] ॥२१॥

(रोहितः) हे सिंहासनारूढ़ राजन् ! (यम् त्वा) जिस तुझ को (पृषती) चितकबरी (प्रष्टिः) घोड़ी (रथे) रथ में (वहति) वहन करती है, वह तू (अपः रिणन्) जल का विमोचन करता हुआ, (शुभा) शोभा से युक्त हुआ (यासि) राष्ट्र में जाता है ।

---

१. (रोहित) हे बीजों के उत्पादक ! तथा बीजाङ्कुरों का प्रादुर्भाव करने वाले राजन् ! (यं त्वा) जिस तुम को (पृषती) भूमि को सींचने वाली नहर के सदृश [शीघ्र गामिनी] (प्रष्टिः) घोड़ी (रथे) रथ में (वहति) ले चलती है, और तू (शुभा यासि) शोभायुक्त हुआ (यासि) जाता है, (अपः रिणन्) और जलों का विमोचन करता है ।

[पृषती=पृषु सेचने । लुप्तोपमावाचक शब्द । बीजों के उत्पादन और बीजाङ्कुरों के उत्पादन के वर्णन के कारण पृषती है सींचने वाली नहर । पृषतियों का सम्बन्ध मानसून वायुओं के साथ है। यथा "पृषत्यो मरुताम्" (निघं० १।१५)। मरुतः=मानसून वायुएं (अथर्व० ४।२७।४,५)] ।

[राष्ट्रोन्नति के लिये योजनाएं (Projects) की जाती हैं। कृषि के लिये कुल्या (नहर) आदि के विमोचन का वर्णन मन्त्र में प्रतीत होता है। राजा इस का विमोचन करता हैं। रिणन्=रि गतौ] ।

अनुंव्रता रोहिंणी रोहिंतस्य सूरिः सुवर्णा बृहुती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वा पृतंना अभिष्याम ॥२२॥

(सूरिः) प्रेरणा देने वाली, (सुबर्णा) उत्तमोत्तम रूपों वाली, (बृहती) संख्या में बड़ी, (सुवर्चाः) तेजस्विनी तथा (रोहिणी) समुन्नतिशील प्रजा, (रोहितस्य) सिंहासनरूढ़ राजा के (अनुव्रता) अनुकूल कर्मों वाली हो। (तया) उस प्रजा के द्वारा हम सैनिक, (वाजान्) शत्रु के बलों को, (विश्वरूपाम्) तथा नानारूपों वाली भूमि को (जयेम) जीतें, (तया) उस प्रजा द्वारा (विश्वाः पृतनाः) सभी सेनाओं का (अभि स्याम) पराभव करें।

[सूरिः= सू प्रेरणे। प्रजा प्रेरणाएं देती है राजा को अथवा सूरिः =विदुषी। व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१)। वाजः बलनाम (निघं० २।९)। पृतनाः संग्रामनाम (निघं० २।१७)। अभिष्याम् =अभि भवेम]।

इदं सदो रोहिंणी रोहिंतस्यासौ पन्थाः पृषंती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नंयन्ति तां रंक्षन्ति कवयोऽप्रंमादम् ॥२३॥

(रोहिणी) समुन्नतिशील प्रजा है। (इदम् सदः) यह सिंहासन स्थिति का स्थान है (रोहितस्य) सिंहासनारूढ़ राजा का। (असौ पन्थाः) और वह मार्ग है (येन) जिस मार्ग द्वारा (पृषती) सींचने वाली नहर (याति) जाती है। (ताम्) उस नहर को (गन्धर्वाः) पृथिवी के धारक राज्याधिकारी तथा (कश्यपाः) राज्यनिरीक्षक लोग (उन्नयन्ति) समुन्नत करते हैं, (ताम्) उस की (अप्रमादम्) आलस्य छोड़कर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (कवयः) वेदकाव्य के विद्वान्।

[अभिप्राय यह कि प्रजा तो स्वयं समुन्नतिशील है, उन्नतिमार्ग पर स्वयं आरोहण करने वाली है। राजा का स्थान है राजसिंहासन, जिस पर आरूढ़ होकर उस ने शासन करना है। प्रजा के जल के लिये तथा कृषि की उन्नति के लिये राज्याधिकारी नहर और उस के मार्ग की रक्षा करें, और वेदकाव्य के विद्वान् भूमि की उपज के सम्बन्ध में मार्ग प्रदर्शन करें]।

सूर्यस्याश्वा हरंयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथंम् ।
घृतपावा रोहिंतो भ्राजंमानो दिवं देवः पृषंतीमा विवेश ॥२४॥

(हरयः) अन्धकार का हरण करने वाले, (केतुमन्तः) रोग हटाने वाले या ज्ञान के साधनभूत, (अमृताः) जल सम्बन्धी (सूर्यस्य अश्वाः) सूर्य के अश्व अर्थात् रश्मियां, (सदा रथं सुखं वहन्ति) सदा सूर्यरूपी रथ का वहन सुख पूर्वक कर रही हैं। (घृतपावा) जल का पान करने वाला, (भ्राजमानः) प्रदीप्त हुआ, (रोहितः देवः) ओषधियों का रोहन करने वाला या द्युलोक पर आरूढ़ हुआ सूर्य-देव, (पृषतीम्[1]) नक्षत्रों और तारा रूपी विन्दुओं से युक्त विविधवर्णा (दिवम्) द्यौ में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है।

[हरयः=हृञ् हरणे। केतु=कित निवासे, रोगापनयने च, अर्थात् चिकित्सक रूप। तथा केतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। अमृताः=अमृतम् उदकनाम (निघं० १।१२), तद्वन्तः "अर्शआदिभ्योऽच्" (अष्टा० ५।२।१२७)। घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। पृषती=विन्दुमती, पृषत्= बिन्दुः (उणा० २।८५)। सूर्यस्य रथम्=सूर्यम् (विकल्पे षष्ठी)]।

यो रोहिंतो वृषभस्तिग्मशृंङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूवं ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥

(यः) जो (वृषभः) सुखवर्षी, (तिग्मशृङ्गः) उग्रप्रकाश वाला (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (अग्निं परि) अग्नि के सब ओर,

१. अथवा "पृषती" का अर्थ यदि नदी ही अभिप्रेत हो, तो पूर्वोक्त मन्त्रों में समन्वय की दृष्टि से "पृषती" द्वारा आकाश गङ्गा का ग्रहण करना चाहिये। सूर्य का स्थान वस्तुतः आकाश गङ्गा है—यह वैज्ञानिक तथ्य है। यथा "The milky way (आकाश गङ्गा) is the mother of the sun" पृष्ठ १२, १४। "The milky way is the great mother of the sun, पृष्ठ १४; milky way to be the suns path, पृ० १५; the milky way as the path of the sun, पृष्ठ ९, (Popular Hindu Astronomy, द्वारा कालीनाथ मुकरजी, संस्करण १९६९)।

तथा (सूर्यं परि) सूर्य के सब ओर (बभूव) विद्यमान है, अर्थात् इन दोनों में व्याप्त है या इन दोनों को घेरे हुए है। (यः) जो (पृथिवीम् दिवं च) पृथिवी और द्यौ को (विष्टम्नाति) थामे हुए है, (तस्मात् अधि) उससे [ज्ञान प्राप्त करके] (देवाः) देवकोटि के शिल्पी (सृष्टीः) विविध प्रकार की सृष्टियां (सृजन्ते) रचते हैं।

[तिग्मशृङ्गः=शृङ्गाणि ज्वलतोनाम (निघं० १।१७)। सूर्यम् परि =इस से ज्ञात होता है कि मन्त्र २४ में "सूर्यस्य" पद का अर्थ परमेश्वर नहीं। देव लोग परमेश्वरीय रचनाओं को देख कर निज रचनाएँ रचते हैं]।

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात्।
सर्वा रुरोह रोहितो रुहः ॥२६॥

(महतः अर्णवात् परि) महासमुद्र से, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर, (दिवम् आरुहत्) द्युलोक पर आरोहण किये हुए है। (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (सर्वाः रुहः रुरोह) सब ऊंचाईयों पर आरोहण किये हुए है।

[महतः अर्णवात्=पार्थिव महासमुद्र। पृथिवी पर तीन अंश समुद्र हैं और एक अंश स्थल। अभिप्राय यह कि परमेश्वर पृथिवी से लेकर द्युलोक तक तथा द्युलोक की भी सब ऊंचाइयों में व्याप्त है]।

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्रस्तौतु वि मृधो नुदस्व ॥२७॥

(पयस्वतीम्) दूध देने वाली, (घृताचीम्) घृत से व्याप्त [राज्य भूमि] को (विमिमीष्व) ठीक प्रकार से माप, (एषा) यह राज्य भूमि (देवानाम्) व्यवहारियों की (अनपस्पृग्) स्पर्श से अपगत न होने वाली (धेनुः) दुधार गौ रूप है। (इन्द्रः) सम्राट् (सोमम्) इस के दूध का (पिबतु) पान करे और कराये, (क्षेमः अस्तु) ताकि सब का कुशल हो, (अग्निः) क्षात्राग्नि (प्रस्तौतु) शत्रु के प्रति युद्ध का प्रस्ताव करे, और तू हे सम्राट्! (मृधः) शत्रु संग्रामकारियों को (विनुदस्व) धकेलने का प्रबन्ध कर।

[देवानाम्=दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार……। अतः देव= व्यवहार कुशल व्यापारी। सोम=दूध, तथा पृथिवी धेनु द्वारा प्राप्य अन्य पदार्थ। "सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९), तथा "सोमो दुग्धाभ्यः

क्षरति" (निरुक्त ५।१।३), अर्थात् दुही गई गौओं से सोम क्षरित होता है। सोम उपलक्षक है अन्य पदार्थों का भी। अनपस्पृग्=अ+नुट्+अप +स्पृग्) (स्पृश्)। स्पर्श से अपगत न होने वाली अर्थात् प्रापणीया। अग्निः=क्षात्राग्निः,[1] (अथर्व० ६।७६।१-४)]।

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥२८॥

(घृताहुतः) घृत की आहुति को प्राप्त, (घृतवृद्धः) घृत द्वारा बढ़ी हुई [याज्ञियाग्नि की तरह] (अग्निः) क्षात्राग्नि (समिधानः) समिद्ध होता हुआ (समिद्धः) तथा पूर्णतया समिद्ध हुआ, (अभीषाड्) संमुख उपस्थित शत्रुओं को पराभूत करता, तथा (विश्वाषाड्) अन्य सब शत्रुओं को पराभूत करता है, (अग्निः) वह क्षात्राग्नि (सपत्नान्) शत्रुओं का (हन्तु) हनन करे, (ये मम) जो कि मेरे हैं।

[क्षात्राग्निः (मन्त्र २७)]।

हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥२९॥

क्षात्राग्नि (एनान्) इन्हें (हन्तु) मारे, (यः) जो (अरिः) शत्रु (नः पृतन्यति) हम पर सेना द्वारा आक्रमण करता है उसे (प्र दहतु)

---

१. क्षात्राग्नि मन्त्रों के अर्थ—"जो इस अग्नि की सेवा करते हैं, और इसे देखने के लिये इस का आधान करते हैं, उन की यह अग्नि जिह्वाओं द्वारा प्रदीप्त होती, और हृदय से उठती है" ॥१॥ "मैं आयु (जीवन) के लिये, सम्यक् तपाने वाली अग्नि के चरण का आश्रय लेता हूं (आलभे)। सत्यान्वेषी व्यक्ति जिस के धूम को मुख से उठता हुआ देखता है" ॥२॥ "क्षत्रिय द्वारा आधान की गई इस अग्नि की समिधा [आत्मसमर्पण] को जो जानता है वह मृत्यु के लिये कुटिल मार्ग [युद्ध] पर अपना चरण नहीं रखता" ॥३॥ "चारों ओर से घेरने वाले शत्रु इस का हनन नहीं कर पाते, समीपस्थ शत्रुओं को तो यह अवगत अर्थात् जानता तक नहीं, जो ज्ञानी क्षत्रिय कि जीवन के लिये इस अग्नि का नाम ग्रहण करता है, नाम जपता है" ॥४॥ अतः क्षात्राग्नि=निज देश की रक्षा के लिये क्षत्रिय के हृदय का उत्साह, तथा आक्रमणकारियों पर क्रोध।

क्षात्राग्नि दग्ध करे। (वयम्) हम (क्रव्यादा अग्निना) श्मशानाग्नि द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र दहामसि) प्रदग्ध करते हैं।

अवाचीनानवं जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥३०॥

(इन्द्र) हे सेनापति ! (बाहुमान्) बाहुओं में शक्ति वाला तू (वज्रेण) वज्र द्वारा (अवाचीनान्) नीचे गिरे हुओं को (अव जहि) नीचे गिरी अवस्था में मार डाल। (अधा) तब (मामकान् सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (अग्नेः) क्षात्राग्नि के (तेजोभिः) तेजो द्वारा, (आदिषि) अपनी अधीनता में मैं लेता हूं।

[अग्नेः तेजोभिः=अथवा आग्नेयास्त्रों के तेजों द्वारा]।

अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥३१॥

(अग्ने) हे क्षात्राग्नि ! (सपत्नान्) शत्रुओं को (अस्मत्) हम से (अधरान्) नीचे (पादय) कर दे। (सजातम्) सजातीय शत्रु को (बृहस्पते) हे बड़ी सेना के पति ! (उत्पिपानम्) जो कि अतिलोभी या उच्छोषणकारी है उसे (व्यथय) व्यथित कर, पीड़ित कर। (इन्द्राग्नी) हे सम्राट् तथा क्षात्राग्नि ! (मित्रावरुणौ) हे मित्र तथा वरुण ! (अप्रतिमन्यूयमानाः) शत्रु हमारे प्रति मन्यु न करते हुए (अधरे पद्यन्ताम्) हम से नीचे हो जायें।

[बृहस्पते=यथा "बृहस्पते परि दीया रथेन" (यजु० १७।३६), हे बृहस्पति ! तू रथ-युद्ध द्वारा शत्रु का क्षय कर। दीय=दीङ् क्षये। इसी इसी प्रकार देखो (यजु० १७।४०), इस मन्त्र में यह कहा है कि बृहस्पति सेना के दक्षिण में हो कर सेना के साथ चले। उत्पिपानम्=उत्+पा (पीना)+कानच्=अति खाउ-पीऊ, अर्थात् लोभी। अथवा "अतिकर" आदि द्वारा प्रजा का रक्तपान करने वाला। अथवा "उत्+पै (शोषणे)+कानच्"=उच्छोषणकारी। इन्द्रः="इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)। मित्रावरुणौ=देखो (मन्त्र २०)]।

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥३२॥

(सूर्य देव) हे दिव्य सूर्य ! (त्वम्) तू (उद्यन्) उदित होता हुआ (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं का (अवजहि) हनन कर। (एनान्) इन्हें (अश्मना) व्यापक रश्मिसमूह द्वारा (अव जहि) मार, (ते) वे शत्रु (अधमं तमः) मृत्युरूप कुत्सित अन्धकार को (यन्तु) प्राप्त हों[1]।

[अश्मना="अश्नुते व्याप्नोति" (उणा० ४।१४८)। सूर्य को रश्मिसमूह द्वारा शत्रुओं के विनाश का वर्णन है]।

तथा

हे सूर्य सदृश स्वप्रकाशी परमेश्वर-देव ! तू मेरे हृदय में उदित होता हुआ मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओं का हनन कर, मेरे जीवन में व्याप्ति द्वारा उन का हनन कर, उन का हनन कर जो कि नीच तमोमयी वृत्तियों के परिणाम हैं।

[सूर्य="सो अग्निः स उ सूर्यः। स उ एव महायमः" (अथर्व० १३।४।५) में परमेश्वर को सूर्य कहा है। मन्त्र में "तमः" शब्द "रजस्" का भी उपलक्षक हैं। प्रथम तमोमयी वृत्तियों का विनाश करना होता है, तदनन्तर रजोमयी का। मन्त्रों में परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" (यजु० ३१।१७) भी कहा है, अर्थात् आदित्य सदृश स्वप्रकाशी तथा प्रकाश-दाता]।

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम्।
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥३३॥

(विराजः) विविध कृतियों में प्रदीप्त हो रही प्रकृति का (वत्सः) वत्सरूप, (मतीनाम्) ज्ञानों की (वृषभः) वर्षा करने वाला, (शुक्रपृष्ठः) शुभ्रसूर्य के लिये पृष्ठवत् आधारभूत परमेश्वर, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या हृदयान्तरिक्ष में (आ रुरोह) आरूढ़ हुआ है। उपासक (अर्कम्) स्तुत्य (वत्सम्) वत्सरूपी परमेश्वर की (घृतेन) घृतादि पदार्थों द्वारा (अभ्यर्चन्ति) स्तुतियां करते हैं, (ब्रह्म सन्तम्) ब्रह्म अर्थात् सर्वतो बृहत् होते हुए को (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद या वेदमन्त्रों द्वारा (वर्धयन्ति) बढ़ाई करते हैं।

---

१. अथवा "सूर्य सदृश राष्ट्र को प्रकाशित करने वाले हे सम्राट् ! तू उदय को अर्थात् अभ्युदय को प्राप्त होता हुआ पत्थर सदृश घातक अस्त्रास्त्र समूह द्वारा राष्ट्र के शत्रुओं का हनन कर। मन्त्र में प्रजा के प्रतिनिधि की उक्ति है।

[विराजः=प्रकृति का। प्रकृति ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादिरूप में, तथा समग्र जड़ और प्राणी जगत् में चमक रही तथा विराजमान हो रही है। परमेश्वर इस का वत्सरूप है। प्राकृतिक कृतियों द्वारा इन के कर्त्ता का अनुमानरूपी ज्ञान हमें होता है। योगियों को समाधि में परमेश्वर का साक्षात् होता है। परन्तु वह भी प्राकृतिक शरीर तथा चित्त की सहायता द्वारा। इसलिये परमेश्वर को विराट् अर्थात् प्रकृति का पुत्र (वत्स) कहा है। क्योंकि वह प्रकृति द्वारा प्रकट होता है। वृषभः=वेदों द्वारा परमेश्वर मतियों अर्थात् ज्ञानों की वर्षा कर रहा है। शुक्रपृष्ठः=सूर्य की रश्मियां शुभ्र हैं, सुफेद हैं। इसलिये सूर्य शुक्र है। सूर्य मानो परमेश्वर को पृष्ठ मान कर, इस पीठ पर सवार हुआ गति कर रहा है। घृतेन=जैसे घृतादि पदार्थों द्वारा शिशु की सेवा, तथा प्रशंसावचनों द्वारा उस की प्रशंसा या स्तुति की जाती है, वैसे उपासक लोग घृतादि साध्य यज्ञों द्वारा प्रेम और स्नेह पूर्वक परमेश्वर की स्तुतियां करते और उस की बढ़ाई करते हैं। मन्त्र में ब्रह्म शब्द जता रहा है कि मन्त्र परमेश्वर परक है]।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।
प्रजां चारोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥३४॥

हे राजन्! या सम्राट्! तू (दिवं च रोह) निज कीर्ति की दृष्टि से द्युलोक तक (रोह) आ रोहण कर, (पृथिवीं च रोह) और समग्र पृथिवी पर आरोहण कर, अर्थात् तेरे सुशासन की कीर्त्ति द्युलोक तथा पृथिवी पर फैले, (राष्ट्रं च रोह) निज राष्ट्र पर आरोहण कर, (द्रविणं च रोह) और राष्ट्र की सम्पत्ति पर आरोहण कर अर्थात् इन पर स्वामित्व कर। (प्रजां च रोह) प्रजा पर आरोहण कर, अर्थात् प्रजा का मुखिया बन, (अमृतं च रोह) अमृत होने की ओर आरोहण कर, (रोहितेन) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के साथ (तन्वम्) निज शरीर का (सं स्पृशस्व) सम्यक्-स्पर्श कर।

[अमृतं च रोह=अर्थात् राष्ट्र, राष्ट्र की सम्पत्ति तथा प्रजा पर तू आरूढ़ हुआ है। ऐसी सात्त्विक भावना से राज्य करना जिस से तेरा अभ्युदय तथा निःश्रेयस (अमृतत्त्व) दोनों सम्पन्न हो सकें।

रोहितेन तन्वम्=परमेश्वर समग्र जगत् का सम्राट् है, इस के साथ

अपने शरीर, मन तथा बुद्धि का सम्यक्-स्पर्श[1] बनाए रखना। यह मान कर सुशासन करना कि जगत् का शासक मेरे शासन में मेरे शरीर, मन और बुद्धि में प्रेरणा दे रहा है, और उसी की प्रेरणाओं द्वारा मैं शासन कर रहा हूं]।

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम्।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥३५॥

(राष्ट्रभृतः) राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाले (ये) जो (देवाः) देवकोटि के शासक अधिकारी, (सूर्यम् अभितः) सूर्य समान निर्मल कीर्ति वाले सम्राट् के संमुख (यन्ति) आते-जाते हैं, (तैः) उन द्वारा (संविदानः) सम्यक्-ज्ञान को प्राप्त हुआ, (ते) हे परमेश्वर! तेरा (रोहितः) राष्ट्रारूढ़ सम्राट्, (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त हुआ, हुआ (राष्ट्रम् दधातु) राष्ट्र का धारण-पोषण करे।

[देवाः=राष्ट्र के शासक देवकोटि के व्यक्ति होने चाहियें। राष्ट्रारूढ़ सम्राट् यह समझे कि मैं परमेश्वर द्वारा नियुक्त हुआ राष्ट्र का शासक बना हूं। वह निज अधिकारियों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ और उन से ज्ञान प्राप्त करके शासन करे]।

उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥३६॥

(ब्रह्मपूताः) ब्रह्म के संस्पर्श के कारण पवित्र हुए (यज्ञाः) तेरे यज्ञिय कर्म (त्वा) तुझे (उत् वहन्ति) उत्कृष्टता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार तू (अध्वगतः) [भवसि] सन्मार्गगामी बनता है, (हरयः) प्रत्याहार सम्पन्न तेरे इन्द्रियाश्व, (त्वा) तुझे या तेरे शरीर का (वहन्ति) वहन करते हैं। तू (अर्णवम्) जल वाले (समुद्रम् तिरः) समुद्र से पार तक (अति रोचसे) अति कीर्तिमान् हो जाता है। तेरी कीर्ति समुद्र पार के प्रदेशों में भी फैल जाती है।

[मन्त्र ३४ में कथित "रोहितेन संस्पृशस्व" का फलनिर्देश मन्त्र ३६ में किया है]।

---

१. अथवा जैसे अयस्कान्त (magnet) के संस्पर्श से लोहा अयस्कान्त के गुणों का ग्रहण कर लेता है, वैसे परमेश्वर के साथ संस्पर्श द्वारा निज को परमेश्वरीय गुणों का ग्रहण करने वाला कर।

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति ।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥

(वसुजिति) वसुओं पर विजय पाए हुए, (गोजिति) पृथिवी पर विजय पाए हुए, (संधनाजिति) समग्र धनों पर विजय पाए हुए (रोहिते अधि) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर में, (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (श्रिते) आश्रय पाए हुए हैं। (यस्य) जिस परमेश्वर के (सहस्रम्) हजारों नक्षत्र-तारा आदि (च) और (सप्त) अर्थात् सात बुध, शुक्र, पृथिवी मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर तथा चन्द्र या सूर्य (जनिमानि) जन्मे पुत्रों के सदृश हैं, (ते) तेरा (नाभिम्) सम्बन्ध या केन्द्रियत्व (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् के (मज्मनि अधि) बलों में है, (वोचेयम्) यह मैं कहूं।

[वसु=पृथिवी, अग्नि; अन्तरिक्ष, वायु; नक्षत्र, चन्द्रमा; द्यौः, सूर्य—ये आठ वसु हैं। नाभिम्=नह् बन्धने; तथा नाभि=केन्द्र। परमेश्वर संसार के बलों का केन्द्र है। इस केन्द्र से संसार के सब बल प्रसूत हुए हैं]।

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥३८॥

[हे सवितः अर्थात् हे सूर्य !] (यशाः) यशस्वी हुआ तू (प्रदिशः) अवान्तर दिशाओं में (च) तथा (दिशः) मुख्य दिशाओं में (यासि) जाता है, (यशाः) यशस्वी हुआ (पशूनाम् उत चर्षणीनाम्) पशुओं और मनुष्यों के मध्य तू आता-जाता है। (अदित्याः उपस्थे) अदीना-देवमाता अर्थात् पारमेश्वरी माता की गोद में स्थित हुआ तू (यशाः) यशस्वी होकर आता जाता है। (पृथिव्या उपस्थे) पृथिवी माता की गोद में (अहम्) मैं सम्राट् (सविता इव) सूर्य के सदृश (चारुः) सब के लिये सुन्दर या रुचिकर (भूयासम्) होऊं।

[अभिप्राय यह कि मैं सम्राट् जब पृथिवी के भिन्न-भिन्न प्रदेशों तथा प्रजाजनों में जाऊं, तो मैं भी यशस्वी हुआ और प्रजाजनों के लिये रुचिकर हुआ जाऊं। कहीं मेरा अपयश न हो, और न मुझे प्रजाजन अप्रिय जानें]।

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥३९॥

हे परमेश्वर ! (अमुत्र सन्) उस दूर द्युलोक में विद्यमान होता हुआ तू (इह) इस पृथिवी लोक में विद्यमान पदार्थों को (वेत्थ) जानता है, (इतः सन्) और इस पृथिवी में होता हुआ तू (तानि) उन द्युलोक के पदार्थों को (पश्यसि) देखता है। परन्तु योगि-ध्यानी लोग (इतः) केवल इस पृथिवी से (रोचनम्) रुचिकर या रोचक और (विपश्चितम्) तुझ मेधावी को (पश्यन्ति) देख पाते हैं, जैसे कि (दिवि सूर्यम्) द्युलोक में सूर्य को [यहां से] देखते हैं।

[मन्त्र के प्रथमार्धभाग में परमेश्वर की व्यापकता का निर्देश दिया है, जोकि दूर होता हुआ यहां के पदार्थों जो जानता और यहां होता हुआ दूर के पदार्थों को देखता है। यह देखने वाला सूर्य नहीं हो सकता। सूर्य दूर रहता हुआ यहां के पदार्थों को जानता है, यह किसी तरह माना जा सकता है। परन्तु सूर्य की सत्ता यहां पृथिवी पर है नहीं, तब वह यहां से द्युलोकस्थ पदार्थों को कैसे देख सकता है। परमेश्वर तो सर्वव्यापक है, उस की स्थिति यहां भी है और दूर में भी। यथा "तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" (यजु० ४०।५)। साथ ही "विपश्चितम्" पद भी सूर्य का सूचक नहीं हो सकता। विपश्चित् का अर्थ है मेधावी (निघं० ३।१५)। सूर्य मेधावी नहीं। परमेश्वर तो मेधावी है। "दिवि सूर्यम्" दृष्टान्तरूप भी है, जैसे हम सूर्य को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे योगि-ध्यानी उपासक परमेश्वर को सूर्यवत् चमकता हुआ ध्यानावस्था में प्रत्यक्ष करते हैं]।

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥४०॥

(देवः) तू परमेश्वर-देव (देवान्) दिव्य-तत्त्वों का (मर्चयसि) सदुपदेश करता है, तू (अर्णवे अन्तः) हृदय-समुद्र के भीतर (चरसि) विचर रहा है। (कवयः) वेदकाव्य के विद्वान् (समानम्, अग्निम्) इसी "एक" परमेश्वराग्नि को (इन्धते) ध्यानावस्था में तथा यज्ञों में प्रदीप्त करते हैं, और (परे कवयः) सर्वोत्कृष्ट कवि (तम्) उस परमेश्वर को (विदुः) जान पाते हैं।

[मर्चयसि=मर्च शब्दार्थः (चुरादि); अतः मर्चयसि=उपदिशसि । अर्णवे अन्तः;=हृदय-समुद्र में । वेदों में हृदय को भी समुद्र कहा है । यथा "एताः अर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात्" (यजु० १७।९३), अर्थात् ये स्तुतिवाणियां हृदय-समुद्र से उठती हैं,अर्थात् जैसे जलीय-समुद्र से जल की लहरें उठती हैं, वैसे हृदय-समुद्र से स्तुतिवाणियों की लहरें उठती हैं । मन्त्र में "अर्णव" शब्द पठित है जिस का अर्थ है "जलवाला समुद्र" । अर्णः उदकनाम (निघं० १।१२) । अथर्ववेद में "रक्त" को "आपः" अर्थात् जल भी कहा है "कोऽस्मिन् [पुरुषे] आपो व्यदधात्" (१०।२।११) । इसलिये हृदय भी अर्णव है, जलीय-समुद्र है । परमेश्वर इस हृदय-समुद्र में विचरता हुआ योगि-ध्यानियों को सदुपदेश देता और उन का प्रेरक होता है । परे कवयः= अथवा पुरे ब्रह्मणि ध्यानावस्थिताः कवयः । कविः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)] ।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥४१॥

(परेण पदा) परब्रह्म प्रतिपादक पद समूह द्वारा (अवः) अवर-ब्रह्मरूपी (वत्सम्) वत्स को, तथा (एना अवरेण) इस अवरब्रह्मप्रतिपादक पद समूह द्वारा (परः) पर ब्रह्मरूपी वत्स को (बिभ्रती) [निज वर्णन द्वारा] परिपुष्ट करती हुई (गौः) वेदवाणी (उद् अस्थात्) उठी है । (सा) वह वेदवाणी (कद्रीची) कहां से आती, (कंस्वित्) और किस (अर्धम्) ऋद्धि-सम्पन्न तत्त्व की ओर (परागात्)परे चली जाती है ? । यह वेदवाणी रूपी गौ (क्वस्वित्) किस में (सूते) निज वत्स को जन्म देती है ? । परन्तु वह (अस्मिन्) इस (यूथे) मानुष संघ में (नहि) निश्चय से नहीं निजवत्स को जन्म देती ।

[मन्त्र कूट है । अतः सम्भावित अर्थ किया है । मन्त्र में पराविद्या और अवरा विद्या की दृष्टि से परब्रह्म और अवरब्रह्म अर्थ किया है । बृह-दा० उप० में "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च, मर्त्यं चामृतं च" (अध्याय २, ब्राह्मण ३, कण्डिका १-३) में जगत् के मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) स्वरूपों को ब्रह्म के दो रूप कहे हैं, परन्तु ब्रह्म इन दोनों रूपों से पृथक् अरूप अर्थात् आत्मस्वरूप है ।

मन्त्रनिष्ठ पदसमूह परब्रह्म का वर्णन करते हुए भी, उस के अवर रूप अर्थात् उस की प्राकृतिक कृतियों द्वारा उसका वर्णन करते हैं,और मन्त्र-

पद जब केवल प्राकृतिक कृतियों का वर्णन करते हैं तब भी उन में कर्तृ स्वरूप में अनुस्यूत ब्रह्म का भी, परम्परया वर्णन अभिप्रेत होता है । इन मन्त्र पदों द्वारा ब्रह्म का स्वरूप जाना जाता है, अतः गौ अर्थात् वेदवाणी को ब्रह्म की माता, तथा ब्रह्म को वेदवाणी का वत्स कहा है, (देखो मन्त्र ३३) ।

यह गौ, अर्थात् वेदवाणी कहां से आती और किस की ओर चली जाती है,—इस सम्बन्ध में कहा है कि "अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथा-यथम् । वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्" ।। (अथर्व० १०।८।३३) । इस मन्त्र में दर्शाया है कि "अपूर्वब्रह्म द्वारा वेदवाणियां प्रेषित होती हैं, और उसी की ओर चली जाती हैं । वह वेदवाणी किसी ही समाधिस्थ व्यक्ति में,—वेदवाणी के जप और तदनुरूप जीवन द्वारा,—निज वत्स रूपी ब्रह्म को प्रकट करती है, सर्व साधारण मानुष यूथ में नहीं] ।

[1]एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥४२॥

[गौ अर्थात् वेदवाणी] (एकपदी) एक पाद वाली, (द्विपदी) दो पादों वाली (सा) वह (चतुष्पदी) चार पादों वाली,(अष्टापदी)आठ पादों वाली, तथा (नवपदी) नौ पादों वाली होती हुई (सहस्राक्षरा) तथा हजारों अक्षरों वाली होती हुई, (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का (पङ्क्तः) विस्तार पूर्वक वर्णन करती है, (तस्याः अधि) उस वेदवाणी से (समुद्राः) नाना ज्ञान समुद्र (विक्षरन्ति) विविधरूप में क्षरित होते हैं ।

[पङ्क्तः=पचि विस्तारवचने (चुरादि) । अथवा पचि व्यक्ती-करणे (भ्वादि), अभिव्यक्त करती है] ।

अथवा

(एकपदी) एक प्रकृति में जिस का पदन्यास है, (द्विपदी) दो अर्थात्

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् में स्थूलजगत् पृथिव्यादि, और सूक्ष्मजगत् वायु-अन्तरिक्ष आदि को, मूर्त्त और अमूर्त्त कहा है । ये दोनों ब्रह्म के रूप हैं । परन्तु ब्रह्म जो कि आत्मस्वरूप से इन में व्याप्त है, वह अरूप है । जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर मूर्त्त और अमूर्त्त, जीवात्मा के दो रूप हैं, परन्तु इन में निजशक्ति द्वारा व्याप्त जीवात्मा अरूप है । मूर्त्त और अमूर्त्त जगत् अपर ब्रह्म हैं, और अरूप ब्रह्म आत्मस्वरूप में इन दोनों से भिन्न है, वह परब्रह्म है । यथा जैसे कि देवदत्त, शरीर की दृष्टि से अपर-देवदत्त है, और जीवात्मदृष्टि से पर-देवदत्त । शरीर और जीवात्मा, इन दोनों के मेल का ही नाम है, देवदत्त ।

प्रकृति और जीवात्माओं में जिस का पदन्यास है, (चतुष्पदी) चार अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार में जिस का पदन्यास है, (अष्टापदी) आठ अर्थात् शरीरस्थ आठ चक्रों में जिस का पदन्यास है, (नवपदी) नव द्वारा शरीर-पुरी के नौ द्वारों में जिस का पदन्यास है, तथा हजारों न-क्षीण होने वाले तारों वाली, तथा भुवन का विस्तार करने वाली या उसे अभिव्यक्त करने वाली या उसे अभिव्यक्त करने वाली पारमेश्वरी-माता है। उस माता से वेदरूपी ज्ञान समुद्र प्रवाहित होते हैं।

[यजुर्वेद में कहा है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (३१।३), तथा "पादोऽस्येहाभवत्पुनः" (३१।४), अर्थात् "सब भूतभौतिक जगत् इस परम पुरुष के "एकपाद" रूपी शक्ति से उत्पन्न हुए हैं", तथा "इस का एकपाद इस संसार में पुनः पुनः प्रकट होता है"। इसी एकपाद द्वारा वह "अमृतत्त्व का भी ईशान" है, "उतामृतत्वस्येशानः (३१।२)। आठ चक्र तथा नौ द्वार=अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" (अथर्व० १०।२।३१; १०।८।४३)। परमेश्वर है चतुष्पाद् (माण्डूक्योपनिषद्)। शेष तीन पाद उस के अमृतरूप हैं। उन का सम्बन्ध मरणधर्मा जगत् की उत्पत्ति आदि के साथ नहीं]।

आरोहन् द्यामृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥४३॥

हे परमेश्वर ! (अमृतः) अमर तू (द्याम्, आरोहन्) सिर या सिर में स्थित सहस्रार-चक्र पर आरोहण करता हुआ (मे वचः) मेरे वचन की (प्र अव) रक्षा कर, या इसे सुन कि (ब्रह्मपूताः) मन्त्रों द्वारा पवित्र हुए (यज्ञाः) यज्ञकर्म, (त्वा) तुझे, (उद् वहन्ति) ऊपर की ओर, अर्थात् सहस्रार-चक्र की ओर ले जाते हैं। (अध्वगतः) तू इस मार्ग द्वारा प्राप्त होता है। (हरयः) प्रत्याहारसम्पन्न योगिजन (त्वा) तुझे (वहन्ति) सहस्रार-चक्र तक ले जाते हैं।

[द्याम्="शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३), अध्यात्म में द्यौः=शिरः सिर। अव=रक्षणे, श्रवणे (भ्वादि)। ब्रह्मपूताः यज्ञाः= मन्त्रों के अर्थों और अभिप्रायों के अनुरूप किये गए यज्ञ-कर्म। अध्वगतः= प्रथमैकवचन, अथवा "अध्वगत्+जस्=प्रथमा बहुवचन। इस स्थिति में "अध्वगतः" पद हरयः का विशेषण होगा, कि ऐसे यज्ञमार्ग के अनुगामी योगिजन। हरयः मनुष्यनाम (निघं० २।३)]।

वेद् तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥४४॥

(अमर्त्य) हे अमर परमेश्वर ! (यत्) जो (ते) तेरा (दिवि) मस्तिष्क में (आक्रमणम्) आक्रमण करना है (ते) तेरे (तत्) उस आक्रमण को (वद) मैं जानता हूं। तथा (ते) तेरे उस (सधस्थम्) साथ बैठने के स्थान को भी मैं जानता हूं, (यत्) जो कि (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट हृदयाकाश में है।

[दिवि=देखो "द्याम्" (मन्त्र ४३)। परमे व्योमन्=परम व्योम हैं हृदयाकाश (छान्दोग्य० उप० अध्या० ८, खं० १, सन्दर्भ १-६)। हृदयाकाश "सधस्थ" है। इस में जीवात्मा तथा परमेश्वर साथ बैठते है]।

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥४५॥

(सूर्यः) सूर्य (द्याम्, पृथिवीम्, आपः) द्युलोक, पृथिवी और समुद्र या अन्तरिक्ष से (अति) परे (पश्यति) देखता है। (सूर्यः) सूर्य (भूतस्य) प्राणियों की (एकम्, चक्षुः) एकमात्र चक्षु है, वह (महीम्, दिवम्) बड़े द्युलोक पर (आ रुरोह) आरूढ़ हुआ है।

[आपः=जल; तथा अन्तरिक्ष (निघं० १।३)। सूर्य पद द्वारा परमेश्वर[1] भी वाच्य है, देखो (मन्त्र ३९)। "अतिपश्यति" पद सूर्य के सम्बन्ध में अत्युक्ति है, परन्तु परमेश्वरार्थ में यथार्थोक्ति है। परमेश्वर भी द्युलोक में आरूढ़ हुआ-हुआ है]।

उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पयत् ।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥४६॥

(उर्वीः) विस्तृत दिशाएं (परिधयः आसन्) परिधियां थीं, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर ने (भूमिः) भूमि को (वेदिः) वेदि (अकल्पयत्) बनाया। (तत्र) उसे वेदि में उस ने (एतौ) इन दो (अग्नी) अग्नियों का (आधत्त) आधान किया, (हिमम् घ्रंसं च) शीत को और गर्मी को।

१. "सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः" (अथर्व० १३।४।५)।

[वेदि को घेरने के लिये उस के चारों ओर घेरा डालते हैं, इसे परिधि कहते हैं। भूमि को परमेश्वर ने वेदि कल्पित किया, और उस के चारों ओर स्थित दिशाओं को परिधि कल्पित किया। वेदि में दो मुख्य अग्नियों का आधान किया जाता है—गार्हपत्याग्नि का और आहवनीयाग्नि का। गार्हपत्य कुण्ड से अग्नि को उठा कर, आहवनीयकुण्ड में उसे स्थापित किया जाता है। भूमिरूपी वेदि में परमेश्वर ने दो अग्नियों का आधान किया, हिम अर्थात् शीत चन्द्रमा का, और घ्रंस अर्थात् दिन के समान गर्म सूर्य का। सूर्य गार्हपत्याग्नि रूप है और चन्द्रमा आहवनीयाग्निरूप। सूर्य की अग्नि का आधान चन्द्रमा में होता है। इन दोनों अग्नियों का प्रकाश पृथिवी में होता है। घ्रंसः अहर्नाम (निघं० १।९)। दिन का निर्माण सूर्य द्वारा होता है, अतः घ्रंस पद सूर्य का उपलक्षक है]।

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान्।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥४७॥

(हिमम्) शीत चन्द्रमा का, (घ्रंसं च) और गर्म सूर्य का, (आधाय) आधान करके, और (पर्वतान्) पर्वतों को (यूपान् कृत्वा) यूप अर्थात् यज्ञशाला स्तम्भरूप करके, (वर्षाज्यौ[1]) वर्षा रूपी यज्ञिय-घृत वाली (अग्नी) चन्द्रमा और सूर्य रूपी दो अग्नियां—(स्वर्विदः) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान या आनन्दाभिज्ञ (रोहितस्य) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के (ईजाते) संसार यज्ञ को रचा रही हैं।

[वर्षाज्यौ=चन्द्रमा और सूर्य के कारण वर्षा होती है, अतः वर्षा का सम्बन्ध, इन दोनों के साथ दर्शाया है। मन्त्र में घ्रंस अर्थात् सूर्य का पृथक् वर्णन किया हैं; अतः "रोहितस्य" द्वारा सूर्य अभिप्रेत नहीं]।

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥४८॥

(स्वर्विदः रोहितस्य) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान या आनन्दाभिज्ञ सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर की (अग्निः) द्युलोकाग्नि, (ब्रह्मणा) सर्वतो महान् परब्रह्म द्वारा (समिध्यते) प्रदीप्त की जाती है। (तस्मात्) उस

1. देखो "वर्षणाज्येन" (मन्त्र ५२, ५३)।

द्युलोकाग्नि से (घ्रंसः) गर्म सूर्याग्नि, (तस्मात्) उस सूर्याग्नि से (हिमः) शीत चन्द्राग्नि, (तस्मात्) उस से (यज्ञः) संसार यज्ञ (मन्त्र ४७), (अजायत) रचाया जाता है।

[यद्यपि मूलतः रोहित और ब्रह्म एक ही चेतन-तत्त्व है, तो भी कर्म भेद से एक ही चेतन-तत्त्व के दो नाम दर्शाए हैं, ये कर्म हैं आरोहण और द्युलोकाग्नि का उत्पादन। द्युलोकाग्नि की उत्पत्ति के पश्चात् उस पर आरोहण सम्भव है। स्वर्विदः=स्वः (सुखविशेष, आनन्द)+विद् (ज्ञाने)]।

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥४९॥

(अग्नी) चन्द्रमा और सूर्य—ये दो अग्नियां, (ब्रह्मणा) सर्वतो महान् परब्रह्म द्वारा (वावृधानौ) बढ़ती हुई, (ब्रह्मवृद्धौ) ब्रह्म द्वारा बढ़ी हुई, (ब्रह्माहुतौ) ब्रह्म द्वारा आहुत हुई, (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त हुई (स्वर्विदः रोहितस्य ईजाते) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान या आनन्दाभिज्ञ, सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर के (ईजाते) संसार यज्ञ को रचा रही हैं।

[ब्रह्माहुतौ=ब्रह्म ही चन्द्रमा और सूर्य में, अग्नितत्त्व की आहुतियां दे रहा हैं]।

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥५०॥

(अन्यः) एक अर्थात् सूर्य (सत्ये) सत्य ब्रह्म में (समाहितः) स्थित है, (अन्यः) दूसरा अर्थात् चन्द्रमा (अप्सु) अन्तरिक्ष में (समिध्यते) प्रदीप्त होता है, चमकता है। (ब्रह्मेद्धौ) वस्तुतः ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त (अग्नी) सूर्य और चन्द्रमारूपी दो अग्नियां (स्वर्विदः, रोहितस्य) स्वर्विद् रोहित के (ईजाते) संसार यज्ञ को रचा रही हैं।

[सत्ये=सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म। सूर्य ब्रह्माश्रित है, यथा "यत्राधि सूरऽ उदितो वि भाति कस्मै देवाय हविषा विधेम" (यजु० ३२।७), कस्मै "क" अर्थात् प्रजापति के आधार में सूर्य उदित हुआ प्रभावान् होता है। अप्सु=आपः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३)। अथवा शीत होने के कारण "अप्सु" अर्थात् जलों में चन्द्रमा का समिन्धन कहा है। स्वर्विदः रोहितस्य (मन्त्र ४७)]।

यं वातः परिशुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥५१॥

(यम्) जिस चन्द्राग्नि को (वातः) वायु नामक ब्रह्म (परिशुम्भति) शोभायुक्त करता है, (वा) तथा (यम्) जिस सूर्याग्नि को (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (ब्रह्मणस्पतिः) वेदपति सत्यब्रह्म (५०) शोभित करता है, (ब्रह्मेद्धौ, अग्नी) ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त वे दो अग्नियां (स्वर्विदः रोहितस्य) स्वर्विद् रोहित के (४७) (ईजाते) संसार यज्ञ को रचाती हैं। वातः या वायुः "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः" (यजु० ३२।१)।

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥५२॥

(भूमिम्) भूमि को (वेदिम् कल्पयित्वा) वेदि कल्पित कर के, (दिवम्) द्युलोक को (दक्षिणाम्, कृत्वा) दक्षिणारूप कर के, (तत्) उस (घ्रंसम्) गर्म सूर्य को (अग्निम्) अग्नि (कृत्वा) कर के, (रोहितः) सर्वोपरि आरुढ़ परमेश्वर ने, (वर्षेण आज्येन) वर्षा रूपी घृत द्वारा, (विश्वम्) सब [प्राणियों] को (आत्मन्वत्) आत्मावाला अर्थात् जीवित (चकार) किया है।

[अभिप्राय यह कि सांसारिक जीवन को, यदि यज्ञ-भावनाओं से संमिश्रित कर निभाया जाय, अर्थात् अभ्युदय और निश्रेयस की दृष्टि से यदि जीवन निभाया जाय, तो इस यज्ञ के फलरूप में दैवी जीवन प्राप्त होता है यज्ञमय जीवन की यह दक्षिणा है। मृत्यु के पश्चात् दैवी जीवन मिलना दक्षिणारूप है। दैवी जीवन को "दिवम्" कहा है। यज्ञ के लिये तीन वस्तुएं चाहियें, वेदि, अग्नि और आज्य। ये हैं भूमि, सूर्य और वर्षा। यद्यपि इस यज्ञ के लिये दो अग्नियां चाहियें (४६-५१), परन्तु याज्ञिक यज्ञ में मुख्याग्नि होती है गार्हपत्य, इसी से आहवनीयाग्नि ली जाती है, इसी प्रकार मुख्याग्नि है सूर्य, इसी से चान्द्राग्नि चमकती है। अतः मन्त्र में मुख्याग्नियों, अर्थात् गार्हपत्य और सूर्य का ही वर्णन हुआ है]।

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥५३॥

(वर्षम्, आज्यम्, अकल्पत) वर्षा हुई आज्य, (घ्रंसः अग्निः) गर्म सूर्य हुआ अग्नि, (भूमिः वेदिः) भूमि हुई वेदि। (तत्र) उस भूमि में (अग्निः) अग्नि ने, (गीर्भिः) शब्दों के साथ (पर्वतान्) पर्वतों को (ऊर्ध्वान्) ऊंचा (अकल्पयत्) रचा या बनाया है।

[आज्य, अग्नि और वेदि से अतिरिक्त, याज्ञिक-यज्ञ में, यूप भी चाहियें (४७), जो कि पर्वतरूप हैं (४७)। इन यूपों के प्रतिनिधिरूप में पर्वतों का वर्णन हुआ है। ये पर्वत, भूमि के गर्भ में स्थित अग्नि द्वारा, उत्क्षिप्त हुए हैं, यह अभिप्राय प्रतीत होता है। ये पर्वत जब भूमिष्ठ अग्नि द्वारा उत्क्षिप्त हुए तो सम्भवतः साथ ही धड़ाके के शब्द भी हुए। इन्हें "गीर्भिः" द्वारा सूचित किया है।

अथवा "अग्निः" द्वारा यदि घ्रंसाग्नि अर्थात् सूर्याग्नि अभिप्रेत हो तो अभिप्राय यह होगा कि पृथिवी जब द्रवावस्था में तथा तत्पश्चात् द्रव-और-दृढ़ावस्था-के बीच की अवस्था में अर्थात् दधि समान पिच्छिलावस्था में थी, तब सूर्य की आकर्षण शक्ति द्वारा ऐसी पृथिवी पर, पार्थिव तत्त्व की ऊंची-ऊंची पर्वत समान लहरों का उत्थान और पतन होता रहता होगा, और शनैः शनैः ये लहरें जब ठण्डी होती गईं तो पर्वत रूप में दृढ़ावस्था वाली पृथिवी पर, स्थिर हो गईं, साथ ही इन लहरों के उत्थान और पतन में उग्र शब्द भी होते रहे, जैसे कि जलीय-समुद्र में सूर्य द्वारा आकर्षण होने पर जलीय लहरें शब्द करती हुईं उत्थान और पतन करती हैं। उत्थान और पतन=चढ़ाव-उतराव, लहरों का। गीर्भिः=याज्ञिक-यज्ञों में यूपछेदन, यूपनिर्माण तथा यूपस्थापन के लिये मन्त्र रूपी वाणियों के उच्चारण किये जाते हैं तब यज्ञ सफल होते हैं; इस लिये वर्तमान प्रतिपाद्य संसार यज्ञ में भी "गीर्भिः" द्वारा पर्वतों के उर्ध्वीभवन का वर्णन किया है]।

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥५४॥

(गीर्भिः) वाणियों या शब्दों के साथ [पर्वतों को] (ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा) ऊंचे रच कर, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर (भूमिम्) भूमि को (अब्रवीत्) बोला कि (त्वयि) तुझ में (इदं सर्वम्) यह सब

[प्राणी और अप्राणी] (जायताम्) पैदा हो, (यद् भूतम्) जो कि वर्तमान हैं या पूर्व कल्पों में हुआ है, (यत् च भाव्यम्) और जो होने वाला है, या होगा।

[मन्त्र कविता शैली का है, परमेश्वर, वास्तव में, भूमि को बोलता नहीं]।

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥

(सः यज्ञः) वह यज्ञ (४६-५३), (प्रथमः) विस्तारवान् है, (भूतः) पूर्वकल्पों में विस्तारवान् (अजायत) हुआ है, (भव्यः) भविष्य में भी विस्तारवान् होगा। (तस्मात्) उस विस्तारवान् यज्ञ से, (ह) निश्चय रूप में, (इदं सर्वं जज्ञे) यह सब पैदा हुआ है, (यत् किं च इदं विरोचते) जो कुच्छ कि यह विविध प्रकार चमक रहा है, जो कि (रोहितेन ऋषिणा) सर्वोपरि आरूढ़ तथा ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा परमेश्वर ने (आभृतम्) धारित तथा परिपुष्ट किया है।

[मनुष्य द्वारा रचित यज्ञ अल्प स्थान में किया जाता है, परन्तु रोहित द्वारा रचाया यज्ञ महाविस्तार वाला है। प्रत्येक कल्प में रोहित द्वारा रचाया यज्ञ विस्तारवान् ही होता है, "यथा पूर्वमकल्पयत्"। प्रथमः = प्रथ विस्तारे (निरुक्त, पृथिवी पद के व्याख्यान में)]।

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥५६॥

प्रसिद्धार्थः—"जो गौ को पैर से ठुकराता है, और सूर्य के सम्मुख मूत्र करता है, उस तेरी जड़ को मैं काट देता हूं, ताकि अपर जगत् को आश्रय तू न कर सके, अर्थात् तू जीवित न रह सके।

विशेषार्थः—"जो (पदा) निज ज्ञान द्वारा (गाम्) वेदवाणी को (स्फुरति) स्फूर्ति देता है, उसे प्रसिद्ध करता है; और जो (सूर्यम्) सूर्यसम प्रकाशमान परमेश्वर के (प्रत्यङ्) सम्मुख भक्ति जल की (मेहति[1]) वर्षा

१. "तं यज्ञं बर्हिषि "प्रौक्षन्" पुरुषं जातमग्रतः" (यजु० ३१।६) में हृदयान्तरिक्ष में, यज्ञनामक परमेश्वर के प्रति भक्तिरसरूपी जल की वर्षा का वर्णन "प्रौक्षन्" शब्द द्वारा किया है।

करता है, (तस्य ते) उस तेरी अविद्यारूपी (मूलम्) जड़ को मैं (वृश्चामि) काट देता हूं, ताकि (अपरम्) अपर जगत् को अपना (छायाम्) आश्रय तू (न करवः) न करे [अपितु परब्रह्म को अपना आश्रय करे]।

[पदा=पद् (गतौ)+क्विप्+तृतीयैकवचन। गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं, गतिः प्राप्तिश्च। मन्त्र में ज्ञानार्थक "पदा" शब्द है। गाम्; गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। प्रत्यङ्=परमेश्वरं प्रति अञ्चति, गच्छति, प्राप्नोति। सूर्यम्="सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः" (अथर्व० १३।४(१)।५) में परमेश्वर को सूर्य कहा है। मेहति=मिह सेचने। हिन्दी में "मेह" शब्द है जो कि "मिह" धातु से व्युत्पन्न है, जिस का अर्थ है वर्षा करना, या मेह बरसना। मेघ शब्द भी "मिह" धातु का रूप है जिस का अर्थ है "बादल"। मेघ जल की वर्षा करता है। इस प्रकार "मेहति" का अर्थ "मूत्र करना" ही है, इस में कोई प्रमाण नहीं। "छाया" का अर्थ आश्रय भी है यथा "यस्य-छायामृतम्" (यजु० २५।१३)। अपरम्=यथा पराविद्या तथा अपरा-विद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्या तथा सांसारिक विद्या। इसी प्रकार परब्रह्म= परमेश्वर, तथा अपरब्रह्म=जगत्, मूर्त्त तथा अमूर्त्त (मन्त्र ४१)]।

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा।
तस्य वृश्चामि ते मूलं नच्छायां करवोऽपरम् ॥५७॥

(यः) जो तू, (अभिच्छायम्, मा) परमेश्वर की छाया अर्थात् आश्रय को प्राप्त हुए मुझ को, (अत्येषि) तिरस्कृत करता है, (च) और (माम् अग्निम् अन्तरा) मुझ और अग्नि के मध्य में अन्तराय रूप होता है, (तस्य ते) उस तेरी (मूलम्) जड़ को, अर्थात् जड़ सहित तुझे, (वृश्चामि) मैं काट देता हूं ताकि तू (अपरम्) अवर-जगत् को भी (छायाम्) अपना आश्रय (न करवः) न कर सके।

[अभिच्छायम्=अभि प्राप्तः छायाम्, आश्रयम्। अत्येषि=अति-क्रमण, उल्लंघन करता है, अतिक्रान्त करता है। अग्निम्=परमात्मानम्। "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में अग्नि पद परमेश्वरार्थक भी है। उपासक और उपास्य अग्निनामक ब्रह्म के मध्य में जो व्यक्ति अन्तराय बनता है, उस के काटने का वर्णन है]।

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुष्वप्न्यं तस्मिंछमलं दुरितानि च मृज्महे ॥५८॥

(देव सूर्य) हे सूर्यसम प्रकाशित परमेश्वर-देव ! (यः) जो (अद्य) आज (त्वां च मां च अन्तरा अयति) तेरे और मेरे बीच अन्तराय रूप हो कर आता है, (तस्मिन्) उस में वर्तमान (दुष्वप्न्यम्) एतत्सम्बन्धी दुःस्वप्न अर्थात् दुर्विचार को, (शमलम्) शान्ति भङ्ग करने वाले विचार को (दुरितानि च) और दुष्कर्मों को (मृज्महे) हम धो डालते हैं, शुद्ध कर देते हैं।

[मन्त्र ५७ में तो ऐसे व्यक्ति के विनाश का वर्णन है, और वर्तमान मन्त्र में उस के संशोधन का । यदि संशोधन के लिये यत्न करने पर भी व्यक्ति शुद्ध नहीं होता तो फिर उस के लिये विनाश दण्ड ही विहित है। मृज्महे=मृजूष् शुद्धौ । रात्रि के समय निद्रावस्था में दुष्वप्न्य आते हैं, और सूर्योदय होने पर निद्राक्षय होने से दुष्वप्न्य दूर हो जाते हैं । इसलिये व्यक्ति के दुष्वप्न्य आदि के दूर करने के प्रसङ्ग में परमेश्वर को सूर्यपद द्वारा निर्दिष्ट किया है। अग्नि का काम है भस्म करना, अतः व्यक्ति के नाश के प्रसङ्ग में मन्त्र ५७ में परमेश्वर को अग्नि पद द्वारा निर्दिष्ट किया है] ।

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥५९॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (पथः) तुझ द्वारा दर्शाए सत्पथ से (वयम्) हम (मा) न (प्र गाम) दूर हों, और (मा) न (सोमिनः यज्ञात्) ब्रह्मचर्य-जीवन रूपी यज्ञ से दूर हों, (नः) हमारे (अन्तः) जीवनों में (अरातयः) अदान भावनाएं रूपी शत्रु (मा स्थुः) स्थित न हों ।

[सोमिनः=सोम=वीर्य, जो सन्तानोत्पादक है; षु प्रसवे (अथर्व० १४।१।१-५) । यज्ञात्=पुरुषो वाव यज्ञः" (छान्दोग्य० उप०) । इन्द्र= इदि परमैश्वर्ये । अरातयः=अ+रा (दाने)+ति] ।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतमशीमहि ॥६०॥

(यज्ञस्य) जीवन-यज्ञ का (यः) जो (प्र साधनः) श्रेष्ठ साधनभूत, (तन्तुः) सूत्रात्मरूप परमेश्वर, (देवेषु) प्रकाशमान सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि में (आततः) फैला हुआ है । (तम्) उस को,—(आहुतम्) जिस में कि हम ने आत्म-समर्पणरूपी आहुतियां दी हैं—(अशीमहि) हम प्राप्त हों। आहुतम्=अथवा जिस की आहुति हम ने निज आत्माओं में दी है उसे हम प्राप्त हों।

॥ प्रथम सूक्त समाप्त ॥

—:०:—

सूक्त २

विषय प्रवेश

१ १३।२ के मन्त्र ४६ हैं। अनुक्रमणी में इस सूक्त को "अध्यात्म", तथा "रोहितादित्य दैवत" कहा है। इस का अभिप्राय यह है कि इस सूक्त के कई मन्त्रों में साक्षात् परमेश्वर का भी वर्णन है, और आदित्य के वर्णन-प्रसङ्ग में तन्निष्ठ तथा तदधिष्ठातृरूप में ब्रह्म का भी वर्णन साथ-साथ जानना चाहिये, जैसे कि "योऽसावदित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७), तथा १३।२।१ से ज्ञात होता है।

२ परमेश्वररूपी माता की प्रज्ञा द्वारा चन्द्र-सूर्यरूपी दो शिशु आकाश में क्रीड़ा कर रहे हैं (११)।

३ अत्रिः=ब्रह्म (१३)। अत्रिनामक परमेश्वर द्वारा सूर्य की द्युलोक में स्थिति (४)।

४ अत्रि के सम्बन्ध में अन्य वर्णन (१२, ३६)।

५ परमेश्वर भक्त की प्रार्थना को सुनता है (४४, ४५)।

६ परमेश्वर के प्रति समर्पण तथा अग्निहोत्र काल (४६)।

७ परमेश्वर का मुख्यरूप में, तथा सूर्य का गौणरूप में वर्णन (३१-४६)।

—:०:—

१-४६ ब्रह्मा। अध्यात्मम् रोहितादित्यदैवतम्। त्रिष्टुप्: १, १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुप्; २, ३, ८, ४३ जगती; १० आस्तारपङ्क्तिः; ११ बृहतीगर्भा; १६-२४ आर्षी गायत्री; २५ ककुम्मत्यास्तारपङ्क्ति; २६ पुरोद्व्यति जागता भुरिग्जगती; २७ विराड् जगती; २९ बार्हतगर्भानुष्टुप्; ३० पञ्चपदोष्णिग्बृहतीगर्भातिजगती; ३४ आर्षी पङ्क्तिः; ३७ पंचपदा विराड्गर्भा जगती; ४४, ४५ जगती (४४ चतुष्पदा पुरःशक्वरी भुरिक्; ४५ अतिजागतगर्भा)।

उद॑स्य के॒तवो॑ दि॒वि शु॒क्रा भ्राज॑न्त ईरते।
आ॒दि॒त्यस्य॑ नृ॒चक्ष॑सो॒ महि॑व्रतस्य मी॒ढुषः॑ ॥१॥

(नृचक्षसः) मनुष्यों के द्रष्टा, (महिव्रतस्य) महाव्रती, (मीढुषः) सिंचन करने वाले, (अस्य आदित्यस्य) इस आदित्य की, (भ्राजन्तः) प्रदीप्त हुईं (शुक्राः) शुद्ध-पवित्र (केतवः) प्रज्ञापक रश्मियां (दिवि) द्युलोक में (उद् ईरते) उदित हुई हैं।

[केतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। नृचक्षसः=सूर्यपक्ष में कवितामय वर्णन है। परमेश्वर पक्ष में वास्तविक वर्णन है। परमेश्वर सब के उपकार के लिये उन पर दृष्टि रखता, और शुभाशुभ कर्मों का निरीक्षण करता है। देखो काण्ड १३।४ (१)।११); तथा (१३।४(२)।९१)। आदित्य=परमेश्वर भी, "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ३२।१)। दिवि उदीरते=परमेश्वर के प्रज्ञापक प्रकाश मस्तिष्क में उदित होते हैं। मीढुषः महिव्रतस्य=वह सुखों की वर्षा करता, और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति के लिये महाव्रती है। परमेश्वर ही सूर्य में स्थित हुआ सौर जगत् का नियन्त्रण कर रहा है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)। तथा "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदा० उप० अध्या० ३। ब्रा० ७।९), अर्थात् जो आदित्य में स्थित हुआ आदित्य से भिन्न है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिस का शरीर है, जो आदित्य को नियमन करता है, यह तेरा आत्मा है, अन्तर्यामी और अमृत है। इस प्रकार वैदिक दृष्टि में सूर्य का वर्णन केवल स्थूल दृश्यमान सूर्य पिण्ड का नहीं, अपितु परमेश्वररूप अधिष्ठातृसमेत सूर्य का वर्णन है। इसीलिये सूर्यपिण्ड के वर्णन में "नृचक्षसः" आदि चेतन धर्मों का भी वर्णन समझना चाहिये। इस प्रकार अगले मन्त्रों के वर्णन भी जानने चाहियें। इस दृष्टि से सूक्त को "अध्यात्म" कहा है]।

दि॒शां प्र॒ज्ञानां॑ स्व॒रय॑न्तम॒र्चिषा॑ सुप॒क्षमा॒शुं प॒तय॑न्तमर्ण॒वे।
स्तवा॑म॒ सूर्यं॒ भुव॑नस्य गो॒पां यो र॒श्मिभि॒र्दिश॑ आ॒भाति॒ सर्वाः॑ ॥२॥

(अर्चिषा) दीप्ति द्वारा (दिशां प्रज्ञानाम्=दिशः प्रज्ञानीः) वस्तुओं की सापेक्ष स्थिति को जताने वाली दिशाओं को (स्वरयन्तम्) प्रकाशित करते हुए, (सुपक्षम्) मानो सुदृढ़ पंखों वाले पक्षी के सदृश (अर्णवे) जलवाले अन्तरिक्ष में (आशुम्, पतयन्तम्) शीघ्र उड़ते हुए, (भुवनस्य गोपाम्) सौर मण्डल के रक्षक (सूर्यम्) सूर्य का (स्तवाम) हम वर्णन करते हैं, (यः) जो सूर्य की (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं को (आ भाति) प्रकाशित करता है।

[दिशां प्रज्ञानाम्=सम्बन्धे षष्ठी । अथवा प्रज्ञानी दिशाओं सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करते हुए…] ।

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया ।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥३॥

(यत्) जो (प्राङ् प्रत्यङ्) पूर्व और पश्चिम की ओर, (स्वधया) स्वनिष्ठशक्ति द्वारा तथा (मायया) परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा (शीभम्) शीघ्र (यासि) तू जाता है, और (नानारूपे) भिन्न-भिन्न रूपों वाले (अहनी) दिन और रात्रि को (कर्षि) करता है, (आदित्य) हे आदित्य ! (तत् महि) वह महाकर्म है, (तत्) तथा वह (ते) तेरा (महि) महा (यशः) यशस्वी कर्म है (यत्) जो कि (एकः) अकेला (विश्वं भूम परि) समग्र भुवन में (जायसे) तू प्रकट होता है ।

[संसार के प्रत्येक पदार्थ में स्वनिष्ठ शक्ति होती है, जिसे कि परमेश्वर निज प्रज्ञापूर्वक प्रदान करता है । आदित्य में भी स्वनिष्ठ शक्ति है, जो कि परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा मिली है। माया प्रज्ञानाम (निघं० ३।९) । माया शब्द के प्रयोग द्वारा मन्त्रार्थ अध्यात्म है । एकः=आदित्य दिन में अकेला प्रकट होता है । दिन में चांद, नक्षत्र, तारागण आकाश में नहीं होते, केवल आदित्य ही आकाश में होता हुआ दिन को प्रकट कर प्राणियों के व्यवहारों का सम्पादन करता है । रात्रि में चांद, नक्षत्र, तथा तारागण नाना ज्योतियां प्रकट होती हैं] ।

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ।
स्रुताद् यमत्त्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥४॥

(बह्वीः) बड़ी (सप्त[1] हरितः) सात या फैली हुई रश्मियां (यम्) जिस (भ्राजमानम्) चमकते हुए, (विपश्चितम्) मेधावी परमेश्वर द्वारा चिने हुए, (तरणिम्) रात्रि के अन्धकार नद से तैराने वाले सूर्य को (वहन्ति) ले जाती हैं, (यम्) और जिसे (अत्त्रिः) अत्त्रि (स्रुतात्) द्रवावस्था से निकाल कर (दिवम् उन्निनाय) ऊपर द्युलोक में लाया, (तं त्वा) उस तुझ को (आजिम् परियान्तम्) मानो संग्राम की ओर जाते हुए को, (पश्यन्ति) देखते हैं । आजौ संग्रामनाम (निघं० २।१७) ।

१. सप्त="सृप्ता संख्या", तथा "सप्तपुत्रम्=सर्पणपुत्रमिति वा" (निरुक्त ४।४।२६) ।

[विपश्चितम्=विपः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)+चितम् (चिञ् चयने) । चिनी हुई वस्तु स्वयं गति नहीं करती, वह निश्चल होती है । इस द्वारा दर्शाया है कि सूर्य निश्चल है, ध्रुव है । अन्यत्र कहा भी है "एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्" (अथर्व० ११।४।२१), अर्थात् हंस (सूर्य) अपने एक पैर को उखाड़ता नहीं, जमाए रखता है । तरणिम्=वह नौकारूप है जो कि प्रत्यक्षत द्यु-समुद्र में तैरती हुई, पूर्व से पश्चिम तक जाती दीखती है । इसे ले जाने वाले सप्तरंगी महाबली सात अश्व हैं । सूर्य की शुभ्र रश्मि, सात रंगों वाली ७ किरणों के परस्पर मिश्रण द्वारा निर्मित होती है । ये सप्तविध किरणें वर्षर्तु में इन्द्र-धनुष में दीखती हैं । अत्त्रि=चराचर जगत् का "अत्ता"[1] अर्थात् खाने वाला परमेश्वर । विराट् अर्थात् आग्नेय अवस्था से जब जगत् की स्रुतावस्था अर्थात् द्रवावस्था आई, तब उस द्रवावस्था से अत्त्रि ने सूर्य को पृथक् कर उसे द्युलोक में स्थापित किया । विराट्—अवस्था तेजोमयी अवस्था है, तत्पश्चात् स्रुतावस्था आती है । "ततो विराड जायत विराजो अधि पूरुषः । स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथोपुरः" (यजु० ३१।५) । "अतिअरिच्यत" द्वारा जगत् की अति विरेचनावस्था अर्थात् द्रवावस्था सूचित की है । सूर्य के सम्बन्ध में कहा है कि वह मानो संग्राम में जाता है—अन्धकार के साथ युद्ध करने के लिये । मन्त्र वर्णन कवितामय है । अत्त्रिः[2]=अद भक्षणे । परमेश्वर प्रलयावस्था में जगत् का भक्षण करता है । मन्त्र में अत्त्रि के वर्णन द्वारा मन्त्रवर्णन अध्यात्मरूप हुआ है । अत्त्रिः (१३।२।१२; ३६; तथा १३।३।१५) । स्रुतात्=स्रु (गतौ)+क्तः । गति सूचक है द्रवावस्था का] ।

मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥५॥

१. वेदान्त (१।२।९) । परमेश्वर को "अत्ताद" भी कहा है (अथर्व० १३।३।७) ।

२. अत्त्रिः=अद्+त्रिः (त्रैङ् पालने) । परमेश्वर प्रलयावस्था में जगत् का "अद्" भक्षण करता, और सर्गावस्था में जगत् का त्राण करता है । अद्+त्र+इनिः ।

(आजिम्, परि यान्तम्) संग्राम की ओर जाते हुए (त्वा) तुझे हे सूर्य ! (मा दभन्) विरोधी शक्तियां न दवाएं, (दुर्गान्) दुर्गम मार्गो का, (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (शीभम्) शीघ्र (अति याहि) अतिक्रमण करता हुआ तू जा । (यद्) जो कि (दिवं च, पृथिवीं च देवीम् अहोरात्रे विमिमानः) द्युलोक को, और दिव्य पृथिवी लोक को (एषि) तू आता है, दिन और रात को मापता हुआ ।

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥६॥

(सूर्य[1]) हे सूर्य ! (चरसे) चलने के निमित्त (ते रथाय[1]) तेरे रथ के लिये (स्वस्ति) कल्याण हो, (येन) जिस रथ द्वारा (उभौ अन्तौ) दोनों अन्तों अर्थात् क्षितिजों (परि यासि सद्यः) की ओर तू शीघ्र जाता है, या एक दिन में जाता है। (ते) तेरे (यम्) जिस रथ को (हरितः) जलाहरण करने वाले, (वहिष्ठाः) तेज ले जाने वाले (शतम् अश्वाः) सैंकड़ों रश्मिरूपी अश्व, (यदि वा) अथवा (सप्त बह्वीः) बहुबली सात—सप्तरंगी सात किरण रूपी घोड़ियां (वहन्ति) ढोए लिये जाती हैं ।

[सद्यः=समाने द्यवि दिने । सप्तरंगी सात किरणें=Red (लाल) Yellow (पीत), Orange (नारंगी), Green (हरी), Blue (नीली), Indigo (नील के पौधा से निकले रङ्ग वाली), Violet (बैंगनी) । इन सात किरणों को "बह्वीः" स्त्रीलिङ्ग पद द्वारा कथित किया है। ये सात किरणें मिश्रित होकर अश्वरूपी शुभ्र (सुफ़ैद) रश्मि की जननियां होती हैं। अतः इन्हें स्त्रीलिङ्ग में, तथा "अश्वाः" को पुँल्लिङ्ग में वर्णित किया है] ।

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥७॥

१. "सूर्य ते रथाय" में सूर्य और सूर्य के रथ का वर्णन हुआ है। इस से प्रतीत होता है कि सूर्य और रथ—ये दो वस्तुएं हैं। यजुर्वेद ४०।१७ में आदित्य और आदित्यस्थ पुरुष, ओ३म् और ब्रह्म का वर्णन हुआ है। सम्भवतः सूर्य द्वारा ब्रह्म और रथ द्वारा सूर्यपिण्ड अभिप्रेत हो। परन्तु "परियासि" पद द्वारा सूर्य क गति का वर्णन मन्त्र में हुआ है। परमेश्वर व्यापक है। अतः उस में गति नहीं हो सकती। अथवा "तदेजति तन्नेजति" (यजु० ४०।५) द्वारा समाधान जानना चाहिये।

(सूर्य) हे सूर्य ! (अंशुमन्तम्) रश्मियों वाले, (स्योनम्) सुखदायक, (सुवह्निम्) उत्तमता से वहन करने वाले, (वाजिनम्) गतिवाले अथवा बलवान् या सुदृढ़ (रथम्) सूर्य पिण्डरूपी रथ पर (सुखम्) सुखपूर्वक (अधितिष्ठ) अधिष्ठातृरूप में तू बैठ। मन्त्र के उत्तरार्ध के लिये देखो मन्त्र ६ का उत्तरार्ध ।

[मन्त्र ७ में रथ द्वारा सूर्य पिण्ड, और सूर्य द्वारा सूर्याधिष्ठाता ओ३म्-ब्रह्म के ग्रहण में विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती] ।

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥८॥

(सूर्यः) सूर्य ने (यातवे) चलने के लिये, (रथे) रथ में, (हिरण्यत्वचसः) सुवर्णसमान चमकीली, (बृहतीः) और महाबली, (सप्त हरितः) सात किरणों को (अयुक्त) जोता है । (रजसः) अन्तरिक्ष-लोक के (परस्तात्) परे के भाग में (शुक्रः) चमकीला सूर्य (अमोचि) अन्धकार से मुक्त हो गया है, (देवः) चमकीला सूर्य (तमः विधूय) तम को हटा कर (दिवम्, आरुहत्) द्युलोक में आरूढ़ हुआ है ।

उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक्तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥९॥

(बृहता केतुना) बड़े प्रकाश के साथ (देवः) सूर्यदेव (उद् आगन्) उदित हुआ है, (तमः अपावृक्) उस ने अन्धकार को हटाया है, (ज्योतिः अश्रैत्) और ज्योति का आश्रय लिया है। (सः दिव्यः, सुपर्णः, वीरः अदितेः पुत्रः) उस दिव्य, उत्तमपालक अथवा उत्तमपंखों वाले पक्षी के समान वर्तमान, वीर या प्रेरक अदिति के पुत्र ने, (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (व्यख्यत्) प्रकाशित किया है ।

[सुपर्णः=सु+पर्णः (पृ पालने), अथवा उत्तम तथा सुदृढ़ पंखों वाले पक्षी के समान [आकाश में उड़ता हुआ । अदितिः="अदितिः अदीना देवमाता" (निरुक्त ४।४।२३), प्रकृति या पारमेश्वरी माता । वीरः=वीर या "वि+ईरः" अर्थात् प्रेरक । सूर्य के उदित होते प्राणी निजकार्यों में व्यापृत हो जाते हैं, अतः सूर्य मानो उन का प्रेरक है । केतुना=निघं० के अनुसार "केतुः प्रज्ञानाम (३।९) । इस अर्थ में "परमेश्वर की प्रज्ञा के द्वारा

उदित हुआ है" ऐसा अर्थ होगा । यह अर्थ है भी सत्य । परमेश्वर की प्रज्ञा के कारण ही सूर्यादि सब पदार्थ अपने-अपने कार्यों में व्यापृत हैं, जड़ प्रकृति के कारण नहीं] ।

उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥१०॥

(उद्यन्) उदित होता हुआ (रश्मीन्) रश्मियों को (आ तनुषे) तू फैलाता है, (विश्वा रूपाणि) सब रूपों को (पुष्यसि) तू पुष्ट करता है। (क्रतुना) अपने कर्म या परमेश्वरीय प्रज्ञा द्वारा (उभा समुद्रौ) दोनों समुद्रों को (विभाति) तू प्रकाशित करता है, (भ्राजमानः) प्रदीप्त होता तू (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को [प्रकाश द्वारा] (परिभूः) घेर लेता है ।

[रात्रि में अन्धकार के कारण वस्तुओं के रूप प्रकट नहीं होते, सूर्य के उदित होते प्रकट हो जाते हैं, यह रूपों का पोषण है । क्रतुना; क्रतुः कर्मनाम (निघं० २।१), प्रज्ञानाम (निघं० ३।६) । समुद्रौ=अन्तरिक्षस्थ तथा पृथिवीस्थ समुद्र; यथा "स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि" (ऋ० १०।९८।५), अर्थात् "उसने उत्तर समुद्र; (मेघ) से अधर समुद्र (पार्थिवसमुद्र) की ओर दिव्य वर्षा जल बरसाए" । इसी प्रकार "अतूर्तेबद्धं सविता समुद्रम्" (ऋ० १०।१४९।१) में "समुद्रम्" का अर्थ मेघ है । निरुक्त में इस पर लिखा है कि "अन्तरिक्षेबद्धं मेघम्"(१०।३।३२)] ।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥११॥

सूर्य और चांद (मायया) परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा (पूर्वापरम्)एक दूसरे के आगे पीछे (चरतः) विचरते हैं, (शिशू) दोनों शिशु (क्रीडन्तौ) मानो परस्पर क्रीड़ा करते हुए (अर्णवम्) प्रकाश समुद्र के (परियातः) चारों ओर जाते हैं । (अन्यः) एक अर्थात् सूर्य (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यम्) दूसरे चन्द्रमा को (हैरण्यैः) हिरण्य-सदृश चमकीले नक्षत्रों द्वारा [निर्दिष्ट मार्ग से] (हरितः) सूर्य की रश्मियां रूपी अश्व, (वहन्ति) ढोते हैं, मार्ग पर चलाते हैं ।

[मन्त्र में पूर्णिमा के चांद और सूर्य रूपों दो शिशुओं की क्रीड़ा का वर्णन हुआ है । पूर्णिमा से अतिरिक्त अवस्था में चांद पृष्टयामयी (ऋ० १।१०५।१८) अर्थात् पृष्टरोगी है, कुबड़ा है, अतः क्रीड़ा में असमर्थ है । ये एक-दूसरे के आगे-पीछे एक दूसरे को पकड़ने की मानो क्रीड़ा कर रहे हैं । इस क्रीड़ा में परमेश्वरीय माता की प्रज्ञा सहायिका है । मायया; माया प्रज्ञानाम (निघं० ३।६) । चन्द्रमा नक्षत्रों का पति है । यथा "चन्द्रमा नक्षत्रणामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।१०) । अतः नक्षत्र उस की प्रजाएँ हैं । नक्षत्र (हैरण्यैः) निज स्वामी का मार्ग प्रदर्शन करते हैं । और वह सूर्य के अश्वों द्वारा अपनी प्रजा के निरीक्षणार्थ जाता है । हरितः=हरण करने वाले, सूर्य रथ के, अश्व । यथा "हरित आदित्यस्य" (निघं० १।१५), अर्थात् आदित्य के अश्व हैं, हरितः । चन्द्र और सूर्य की क्रीड़ा के लिये देखो अथर्व० (१।८१।१; १४।१।२३)] ।

दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे ।
स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥१२॥

(सूर्य) हे सूर्य (मासाय कर्त्तवे) सौर और चान्द्र मास के निर्माण के लिये, (अत्रिः) परमेश्वर ने (त्वा) तुझे (दिवि) द्युलोक में (आ अधारयत्) सम्यक्तया धारित या स्थापित किया है । (सः) वह (सुधृतः) उत्तम प्रकार से धृत अर्थात् स्थापित हुआ तू (तपन्) तपता हुआ (एषि) आता है, और (विश्वा भूता) सब भूत-भौतिक जगत् को (अव चाकशत्) नीचे की ओर प्रकाशित करता हुआ आता है ।

[अत्रिः=अत्रिः (मन्त्र ४) । चाकशत्=चकासृ दीप्तौ । मासाय=सौरमास तथा चान्द्रमास । सौरमास की रचना तो १२ राशियों में सूर्य के संक्रमणों द्वारा होती है, और चान्द्रमास की रचना नक्षत्रों में चन्द्र के संक्रमण द्वारा होती है । चन्द्रमा पर सूर्य के प्रकाश के कम और अधिक के पड़ने पर पूर्णिमा, अष्टमी तथा अमावास्या लक्षित होती हैं, और इस से चान्द्रमास का परिज्ञान होता है । इस लिये चान्द्रमास की रचना में भी सूर्य हेतु है । वेद में दोनों प्रकार के मास अभिप्रेत हैं । इसी लिये इन के दिनों में साम्य के लिये ३० दिनों का मलमास तथा अधिमास (Intercalary month) का वर्णन वेदों में हुआ है, (अथर्व० १३।३।८)] ।

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।
नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥१३॥

हे सूर्य ! (उभौ अन्तौ) दोनों अन्तों अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशा के अन्त भागों को (समर्षसि) तू सम्यक्तया प्राप्त होता है (इव वत्सः) जैसे कि बच्चा (संमातरौ) अपने एक ही माता-पिता को सम्यक्तया प्राप्त होता है । (ननु) निश्चय से (इतः पुरा[1]) इस मन्त्र के पूर्व के मन्त्र में (एतत्) इस अत्रितत्त्व को (अमि देवाः) वे वैदिक विद्वान् (ब्रह्म[1] विदुः) ब्रह्म जानते हैं । अत्रितत्त्व (मन्त्र ४) । अत्रिः=अत्त्रिः । मातरौ=एकशेप में पितरौ की तरह मातरौ प्रयोग हुआ है ।

यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।
अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥१४॥

(यत्) जो मेघीय जल (समुद्रम् अनु श्रितम्) समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में आश्रित है (तत्) उसे (सूर्यः) सूर्य (सिषासति) देना चाहता है या देता है । (अस्य) इस सूर्य का (अध्वा) मार्ग (महान्) महान् है, (यः) जो कि (पूर्वः च अपरः च विततः) पूर्व और पश्चिम में फैला हुआ है ।

[समुद्रम्=अन्तरिक्ष में या मेघ में जल का वास है जिसे कि सूर्य देता है । सूर्य निज ताप द्वारा पार्थिव जल का वाष्पीकरण करके, जल को

१. पुरा शब्द द्वारा कालकृत तथा स्थानकृत उभयविध पूर्वता का ग्रहण होता है । पुरा=In former times; In the first Place (आप्टे) अथवा सूर्य में ब्रह्म अधिष्ठित है, अतः अधिष्ठान और अधिष्ठित में अभेद मान कर पुराकल्प से सूर्य को विद्वान् ब्रह्म जानते रहे हैं—यह अर्थ समझना चाहिये । यथा "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७) । अथवा "द्वे वाव ब्रह्मणे रूपे" की दृष्टि से सूर्य को ब्रह्म कहा है । देखो मन्त्र (१३।१।४१) की व्याख्या । अथवा उपनिषदों में अब्रह्म पदार्थों के लिये भी गौणरूप में ब्रह्मशब्द प्रयुक्त हुआ है । अतः वर्तमान मन्त्र में भी सूर्य को गौणरूप में ब्रह्म कहा है । तथा बृहदा० उपनिषद् में (अ० २ । ब्राह्मण १) में गौणरूप में भी ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है । तथा प्राणो वै ब्रह्म, चक्षुर्वै ब्रह्म, श्रोत्रं वै ब्रह्म, मनो वै ब्रह्म—इत्यादि (बृहदा० उप० अ० ४ । ब्रा० २) में भी प्राण आदि के लिये ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है । अधिष्ठितः=अधितिष्ठतीति ।

अन्तरिक्ष में पहुंचाता और वर्षा ऋतु में हमें पुनः दे देता है । समुद्र के लिये देखो (मन्त्र १०) । तथा "समुद्र अन्तरिक्ष नाम" (निघं० १।३)]

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नापं चिकित्सति ।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥१५॥

(तम्) उस मार्ग को सूर्य (जूतिभिः) वेगों से (समाप्नोति) समाप्त करता है, (ततः) उस मार्ग से वह (अप चिकित्सति, न) टलता नहीं या उस मार्ग को वह विस्मृत नहीं करता । (तेन) उस द्वारा (देवानाम्) देवों के (अमृतस्य भक्षम्) अमृत भक्षण को वह (रुन्धते न) रोकता नहीं ।

[अमृतम् उदकनाम (निघं० १।१२) । अप चिकित्सति=अप+चिति स्मृत्याम्; अपस्मरण=विस्मरण । ततः=पञ्चमी, या द्वितीया विभक्ति में तसिल् । जूतिभिः=वेगों से । बहुवचन द्वारा यह सूचित किया है कि सूर्य प्रतिदिन वेग से अपने मार्ग को इस लिये समाप्त करता है ताकि वर्षा ऋतु के दिन शीघ्र आ जायें, और वह जल को वाष्पीभूत कर के अन्तरिक्ष, वायु और विद्युत् आदि देवों को, और वर्षा द्वारा पृथिवी, ओषधि और वनस्पति आदि देवों को अमृत अर्थात् जल का पान करा सके । यह जल देवों का अमृत भक्ष है । मन्त्र में कूट कविता के शब्दों में भाव छिपा हुआ है[1]] ।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१६॥

(केतवः) रश्मियां (त्यम्) उस (जातवेदसम्) ऐश्वर्योत्पादक, (देवम्) द्योतमान (सूर्यम्) सूर्य को, (विश्वाय दृशे) सब को दर्शाने के लिये, (उद् उ वहन्ति) ऊपर आकाश या द्युलोक में चला रही हैं ।

[(यजु० ७।४१; ८।४१; ३३।३१: अथर्व० २०।४७।१३) । इन स्थानों में कहीं-कहीं मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ भी हैं, प्रकरण की दृष्टि से] ।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥१७॥

(यथा) जैसे (त्ये) वे (तायवः) चोर (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ

१. मन्त्र की भावना "सहस्रगुणमुत्स्रष्टु मादत्त हि रसं रविः" के अनुरूप है ।

(अप यन्ति) भाग जाते हैं वैसे (नक्षत्रा) नक्षत्र, रात्रियों के साथ भाग जाते हैं (विश्व चक्षसे सूराय) विश्व के द्रष्टा सूर्य के निमित्त[1]। तायुः स्तेननाम (निघं० ३।२४)। अक्तुः रात्रिनाम (निघं० ४।३)।

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥१८॥

(अस्य) इस सूर्य की (केतवः) प्रज्ञापक (रश्मयः) रश्मियां, (जनान् अनु) जनों में, (वि अदृश्रन्) विशेषतया दृष्टि गोचर हुई हैं, (यथा) जैसे कि (भ्राजन्तः अग्नयः) दीप्यमान अग्नियां।

[प्रातःकाल होते सूर्य की रश्मियां दृष्टि गोचर होती हैं, जैसे कि प्रातःकाल में पाकशालाओं में अग्नियां दृष्टि गोचर होती हैं। सूर्य की रश्मियां पदार्थों का ज्ञान कराती हैं, अतः ये केतवः हैं, प्रज्ञापक है]।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमा भासि रोचन ॥१९॥

(सूर्य) हे सूर्य! (तरणिः) रात्रि के अन्धकार से तैराने वाला, (विश्व दर्शतः) सब वस्तुओं का दर्शाने वाला, (ज्योतिष्कृत्) प्रकाश करने वाला (असि) तू है। (रोचन) हे रुचिकर तथा सुन्दर! (विश्वम् आभासि) सब को तू चमकाता हैं।

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥२०॥

(देवानाम् विशः) दैवी प्रजाओं के (प्रत्यङ्) संमुख, (मानुषीः) और मानुष प्रजाओं के (प्रत्यङ्) संमुख (उदेषि) तू उदित होता है। (विश्वं प्रत्यङ्) सब के संमुख तू उदित है, (स्वः दृशे) निज प्रकाशमान स्वरूप दिखाने के लिये।

[प्रातः काल का समय, जब कि द्युलोक में दैवी प्रजाएं अर्थात् तारागण विद्यमान हों, तथा मानुषी प्रजाएं भी जागरितावस्था में हो गई हों, उस समय के सूर्योदय का वर्णन है। स्वः=प्रकाशमान। स्वृ उपतापे]।

१. सूर्य को उदयोन्मुख होते जान कर, रात्रि के साथ चोर और नक्षत्र अपगत हो जाते हैं।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥२१॥

(पावक वरुण) हे पवित्र करने वाले श्रेष्ठ सूर्य! (येना चक्षसा) जिस कृपा दृष्टि से (जनान् अनु) मनुष्यों में (भुरण्यन्तम्) प्रगति शील मनुष्य को (त्वं पश्यसि) तू देखता है। [उस कृपा दृष्टि से मुझे भी देख]।

[सूर्य के प्रकाश में कई व्यक्ति उद्यमशील हो कर सफलता प्राप्त करते हैं, और कई उद्यमशील होते हुए भी सफलता प्राप्त नहीं करते। यह विषमता अपने-अपने कर्मों के अनुसार है। परन्तु असफल व्यक्ति भी सफलता के अभिलाषी तो होते ही हैं, अतः वे भी कृपा दृष्टि चाहते हैं। भुरण्यति गतिकर्मा (निघं० २।१४)]।

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥२२॥

(सूर्य) हे सूर्य! (अक्तुभिः) रात्रियों समेत (अहः) दिनों को (मिमानः) मापता हुआ, तथा (जन्मानि पश्यन्) पार्थिव उत्पन्न पदार्थों को देखता हुआ, (द्याम्) द्युलोक में, (रजः[1], पृथु) विस्तृत अन्तरिक्ष लोक में (वि एषि) विविध रूपों में तू आता है।

[ऋतु-ऋतु में कर्म-भेद से सूर्य विविध रूपों वाला है। पृथु=प्रथ विस्तारे। मिमानः=सूर्य दिन के समय मानो दिनों को मापता है, और रात्रि के समय रात्रियों को मापता है। वर्ष के दिनों-रातों की लम्बाई बदलती रहती है, अतः प्रतिदिन और प्रतिरात्रि मापने का वर्णन हुआ है। इस लिये अक्तुभिः में बहुवचन है। "अहः" में एकवचन अहर्जाति कृत है। पश्यन्=वेदों में सूर्य को "चक्षुः[2]" कहा है। चक्षुः का कर्म है देखना। अतः सूर्य के सम्बन्ध में "पश्यन्" का वर्णन हुआ है। अथवा "पश्यन्" पद कवितामय प्रयुक्त है। अथवा सूर्य और सूर्य के अधिष्ठाता में अभेद दृष्टि से "पश्यन्" प्रयुक्त हुआ है]।

१. "रजांसि वै लोकाः" (निरुक्त ४।३।१९)। रजः पद (३१)।
२. "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्" । तथा (मन्त्र २१)।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥२३॥

(देव सूर्य) हे द्योतमान सूर्य ! (सप्त हरितः) सात किरणें, (शोचिष्केशम्) पवित्र या प्रकाशमयी रश्मियों वाले, (विचक्षणम्) द्रष्टा (त्वा) तुझे (रथे वहन्ति) रथ में वहन करती हैं।

["त्वा रथे", या "सूर्य रथे" में सूर्य और रथ अर्थात् सूर्य और सूर्य-पिण्ड में भेद दर्शाया है। यह भेद वैकल्पिक है, कविता रूप में है। केशम्=केशा रश्मय, काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा (निरुक्त १२।३।२६)। विचक्षणम्; विचष्टे पश्यतिकर्मा (निघं० ३।११)। तथा विचक्षते=विपश्यन्ति (निरुक्त १२।३।२८)। सप्त=शुभ्र रश्मि के फटने पर उत्पन्न सात रश्मियां, जो कि इन्द्रधनुष में दृष्टिगोचर होती हैं।

अथवा

हे परमेश्वर ! प्रत्याहार रूपी योगाङ्ग सम्पन्न ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये सात, शरीर रथ में, पवित्र या प्रकाशमयी किरणों वाले, सर्वद्रष्टा तुझ को वहन करते हैं, मुझे प्राप्त कराते हैं। वह प्रापणे। सूर्य=परमेश्वर (अथर्व० १३।४ (१)।५]।

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥२४॥

(रथस्य सूरः) शरीर रथ के प्रेरक सूर्य ने, परमेश्वर ने, (शुन्ध्युवः) शोधक तथा (नप्त्यः) न गिरने देने वाली (सप्त) सात शक्तियों, ५ ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को (अयुक्त) शरीर-रथ में स्वयं जोता है। (स्वयुक्तिभिः) स्वयं जोती हुईं (ताभिः) उन सात शक्तियों द्वारा परमेश्वर (याति) प्राप्त होता है।

[याति=या प्रापणे। सूरः=षू प्रेरणे। नप्त्यः=जिन सात इन्द्रियादि को परमेश्वर स्वयं शरीर-रथ में जोतता है, वे सात पवित्र हुईं, शरीर—रथ का पतन नहीं होने देतीं]।

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥२५॥

(तपसा) उपासक के तप के द्वारा, (तपस्वी) ज्ञान रूप तप वाला (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ परमेश्वर, (दिवम्) उपासक के शिरस्थ-सहस्रारचक्र पर (आरुहत्) आरूढ हुआ है। (सः) वह परमेश्वर (योनिम्) सहस्रारचक्र रूपी घर में (ऐति) आता है, (स उ) वह निश्चय से (पुनः) बार-बार (जायते) प्रकट होता है। (सः) वह (देवानाम्) देवों का (अधिपतिः बभूव) अधिपति हुआ है।

[(दिवम्="शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३), तथा "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२) में सिर को द्यौः तथा दिवम् कहा है। (तपस्वी="यस्य ज्ञानमयं तपः") (मुण्डक उप० १।९)। योनि गृह नाम (निघं० ३।४)। देवानाम्=दिव्यकोटि के योगिजन, तथा द्योतमान लोकलोकान्तर।

[मन्त्र का अभिप्राय यह है कि अभ्यासी के तपोमय जीवन पूर्वक योगाभ्यास की परिपक्व अवस्था में, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, योगी के शिरस्थ सहस्रार चक्र में प्रकट हो जाता है। सहस्रारचक्र परमेश्वर का मानो घर बन जाता है। योगी जब-जब समाधिस्थ हो कर परमेश्वर में ध्यान लगाता है, तब-तब उसे परमेश्वर का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे "पुनः जायते" द्वारा प्रकट किया है। ऐसे योगी की क्रियाओं और कर्मों का अधिपति-परमेश्वर प्रेरक होता है। सूर्य पक्ष में,—दिवम्=द्युलोक; तपसा तपस्वी=ताप द्वारा तपा हुआ; योनिम्=द्युलोक तथा जगद्योनि परमेश्वर अथवा प्रकृति; पुनः जायते=बार-बार उदित होता है, या प्रतिकल्प में पैदा होता है]।

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥२६॥

(यः) जो परमेश्वर (विश्वचर्षणिः) विश्व का द्रष्टा, (विश्वतोमुखः) सब ओर मुख वाला, (विश्वतस्पाणिः[1]) सब ओर हाथों के व्यवहार वाला, (विश्वतस्पृथः) सब ओर विस्तार वाला है, वह (एकः देवः) एक देव (पतत्रैः) परमाणुओं द्वारा (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (सं जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, (बाहुभ्याम्[1]) निज बल द्वारा (संभरति) द्युलोक तथा पृथिवी लोक का सम्यक् भरण-पोषण करता है।

१. "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वेताश्वतर अ० ३। मं० १९)।

[विश्वतोमुखः=सब ओर विद्यमान परमेश्वरीय कृतियां, मानो उस के मुख रूप होकर, उसकी महिमा का वर्णन करती हैं। पृथः=प्रथ विस्तारे। बाहुभ्याम्=बाह्वोर्बलम् (अथर्व० १९।६०।१)। पाणिः=हाथ; हाथों द्वारा आदान-प्रतिदान। पतत्रैः=गतिशील परमाणुओं द्वारा। सूर्य-पक्ष में अर्थ गौण है। बाहुभ्याम्=सूर्य की धारण और आकर्षण शक्ति। पतत्रैः=गतिशील रश्मियां। जनयन्=प्रकट करना, रात्रि के अन्धकार से द्युलोक और पृथिवी को अनावृत करना]।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं१ समासते ॥२७॥

(एकपाद्) एकपाद् परमेश्वर (द्विपदः) द्युलोक और पृथिवी लोक से (भूयः) अधिक (वि चक्रमे) व्यापक है। (द्विपाद्) द्युलोक और पृथिवी लोक (त्रिपाद्मभि) तीन लोकों को अभिमुख कर (पश्चात्) उन के पीछे-पीछे (एति) आते हैं, अर्थात् व्याप्ति की दृष्टि से उन से कम हैं। (द्विपाद्) द्युलोक और पृथिवी लोक (षट् पदः)६ ऋतुओं से (भूयः) अधिक (वि चक्रमे) व्यापी हैं। (ते) वे सब (एक पदः) एक पद परमेश्वर के (तन्वम्) स्वरूप या विस्तार में (समासते) समा जाते हैं, या सम्यक्तया स्थित हैं।

[एकपाद्=एकपाद्रूप। इसी प्रकार द्विपाद्रूप, त्रिपाद्रूप, तथा षट्पाद्रूप। विचक्रमे=विशेष पाद् विक्षेप करता है, अधिक पग चलता है, अतः अधिक व्याप्त है। षट् पदः=६ ऋतुओं का निवास केवल पृथिवी पर है, इसलिये द्युलोक और पृथिवी लोक मिल कर ६ ऋतुओं की अपेक्षया अधिक व्याप्ति वाले हैं: मन्त्र २६ में एक देव और द्युलोक और पृथिवी का वर्णन है। मन्त्र २७ में परमेश्वर और कार्य जगत् की सापेक्ष व्याप्ति का वर्णन हुआ है]।

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥२८॥

(अतन्द्रः) आलस्य रहित हुआ सूर्य, (यास्यन्) जाने के निमित्त, (यद्) जब (हरितः) पीली प्रभा वाले रश्मिरूपी अश्वों[1] पर (आ अस्थात्)

१. "हरित आदित्यस्य" (निघं० १।१५) तथा "हरितोऽश्वानिति वा," (निरुक्त ४।२।१२)।

सवार होता है, तब (रोचमानः) प्रदीप्त हुआ (द्वे रूपे) दो रूपों अर्थात् दिन और रात्रि का (कृणुते) निर्माण करता है। (आदित्य) हे आदित्य! (केतुमान्) किरणरूपी झण्डों से युक्त, (उद्यन्) उदय होता हुआ (विश्वा रजांसि) सब लोकों को (सहमानः) पराभूत करता हुआ, (प्रवतः) गहरी खाईयों को (वि भासि) तू विशेषतया प्रकाशित करता है।

[हरितः=सूर्य की रश्मियां पीत वर्ण की कही जाती हैं। द्वे रूपे= उदित हुआ सूर्य दिन का निर्माण करता और अस्त होकर रात्रि का निर्माण करता है। सहमानः=सूर्य उदित होता हुआ द्युलोक के सभी लोक-लोकान्तररूपी नक्षत्रों तथा ताराओं को पराभूत कर देता है, उन्हें प्रकाश रहित कर देता है। प्रवतः=खाइयां, दर्रे और घाटियां। यथा "यस्यामुद्वतः प्रवतः समं बहु" (अथर्व० १२।१।२), अर्थात् जिस पृथिवी में ऊंचे-नीचे तथा समतल बहुत हैं]।

बण्महाँ३असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥२९॥

(सूर्य) हे प्रेरक! (बट्) सत्य है कि (महान् असि) महान् तू है, (आदित्य) उदित हुए हे आदित्य! अर्थात् द्युलोक की ज्योतियों का आदान अर्थात् अपहरण करने वाले। (बट्) सत्य है कि (महान्) महान् (असि) तू है। (ते महतः) तुझ महान् की (महिमा महान्) महिमा महान् है, (आदित्य) हे आदित्य! (त्वम्) तू (महान् असि) महान् है।

[बट् सत्यनाम (निघं० ३।१०)। मन्त्र में "सूर्य और आदित्य" इन दो पदों द्वारा प्रकृत परमेश्वर और सूर्यपिण्ड—इन दोनों का संयुक्त वर्णन सम्भवतः अभिप्रेत हो। सूर्य और आदित्य ये दोनों नाम परमेश्वर के भी हैं (अथर्व० १३।४(१)।५; तथा (यजु० ३२।१)]।

रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे अप्स्व१न्तः।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥३०॥

(पतङ्ग) हे पक्षी के सदृश उड़ने वाले! (दिवि) द्युलोक में (रोचसे) तू प्रदीप्त होता है, (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (रोचसे) प्रदीप्त होता है। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (रोचसे) प्रदीप्त होता है, (अप्सु अन्तः) शरीरस्थ रस-रक्त में (रोचसे) प्रदीप्त होता है। (उभा समुद्रौ) दोनों

समुद्रों में (रुच्या) प्रदीप्त द्वारा (व्यापिथ) तू व्याप्त हो रहा है, । (देव) हे द्योतमान (देव असि:) तू वस्तुत: देव है, (महिषः) महान् है, (स्वर्जित्) सर्वविजयी है।

[उभा समुद्रौ (देखो मन्त्र १०), अथवा पार्थिव समुद्र तथा हृद्यसमुद्र (यजु० १७।९३), तथा हृदय सिन्धु=सिन्धु सृत्याय (अथर्व० १०।२।११)। अप्सु= रक्त-रस (अथर्व० १०।२।११)। पतङ्गः=पक्षी की तरह उड़ता आता तथा उड़ कर मानो चला जाता। समाधि में परमेश्वर हृदय में मानो उड़ कर आता और व्युत्थानावस्था में मानो उड़ कर चला जाता। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (अथर्व० ९।९।२२) में परमेश्वर को सुपर्ण द्वारा पक्षी कहा भी है। स्वः, स्वर्=सर्वम् रकार वकारयो राद्यन्त विपर्यासः (केशी १४ की व्याख्या में निरुक्त १२।३।२६), अथवा स्वः= द्युलोक तथा सुख विशेष। मन्त्र का स्वारस्य परमात्म-विषयक है]।

अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥३१॥

(प्रयतः) पवित्र, (विचित्तः) प्रकृति जन्य चित्त से विगत अर्थात् रहित, तो भी (विपश्चित्) मेधावी, (व्यध्वे) प्रेय मार्ग के विरुद्ध श्रेय मार्ग में वर्तमान उपासक में, (पतङ्गः) पक्षी के सदृश (परस्तात्) परे से (अर्वाङ्) उपासक की ओर (आशुः पतयन्) शीघ्र मानो उड़ कर आता हुआ, तथा (शवसा) बलपूर्वक (अधितिष्ठन्) उस का अधिष्ठाता होता हुआ (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर, (केतुना) प्रज्ञा और कर्म द्वारा, (एजत्) गति शील (विश्वम्) विश्व पर, (प्र सहते) विजय पाए हुए है।

[मन्त्र में कविता रूप में सूर्य पिण्ड तथा परमेश्वर का सम्मिलित वर्णन है। "विपश्चित्" शब्द परमेश्वर में चरितार्थ होता है, सूर्य पिण्ड में नहीं। सूर्य पिण्ड मेधावी नहीं। न ही सूर्य पिण्ड केतु अर्थात् प्रज्ञा से सम्पन्न है। वेदानुसार परमेश्वर-पुरुष, सूर्य में, अधिष्ठातृरूप से वर्णित है (यजु० ४०।१७)। अतः वेद में प्रायः अधिष्ठेय-सूर्य पिण्ड और अधिष्ठाता-परमेश्वर-पुरुष का मिला-जुला वर्णन भी होता है। इसी प्रकार सूक्त के भावी मन्त्रों में भी जानना चाहिये। मन्त्र में परमेश्वर परक अर्थ किया है सूर्यार्थ भी स्पष्टतया प्रतीत होता है। विष्णु पद सूर्य पिण्डार्थक भी है। सूर्य पक्ष में "व्यध्वे" का अर्थ है "मार्ग रहित आकाश में"]।

चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥३२॥

(चित्रः) विचित्र शक्ति वाला, (चिकित्वान्) चेतनावान्, (महिषः) महान् (सुपर्णः) सुपालक सूर्य पिण्ड या सूर्य पिण्ड का अधिष्ठाता-पुरुष, (रोदसी, अन्तरिक्षम्) द्युलोक-पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को (आ रोचयन्) प्रकाशित करता हुआ वर्तमान है। (सूर्यं परि वसाने) सूर्य के आश्रय पर वसने वाले (अहोरात्रे) दिन-और-रात्रि (अस्य) इस की (विश्वा) विविध प्रकार की (वीर्याणि) शक्तियों को (प्रतिरतः) प्रकर्ष रूप में फैला रहे हैं, बढ़ा रहे हैं।

[चिकित्वान्=चेतनावान् (निरुक्त ८।२।६; इध्मः (२) की व्याख्या में)। चेतना धर्म है चेतन का। अतः इस द्वारा सूर्य पिण्ड के अधिष्ठाता को सूचित किया जाता है। कित रोगापनयने अर्थ में सूर्य को भी निर्दिष्ट किया है। सूर्य विविध रोगों का चिकित्सक है। दिन-रात्रि का सम्बन्ध सूर्य के साथ है अतः मन्त्र में सूर्यपिण्ड का भी निर्देश हुआ है। वस्तुतः जैसे जीवित मनुष्य के सम्बन्ध में शरीर पिण्ड के गुणधर्मों का आरोप जीवात्मा में, और जीवात्मा के गुणधर्मों का आरोप शरीर पिण्ड में, बोल-चाल में होता है, इसी प्रकार इस सूक्त में अधिष्ठेय-सूर्यपिण्ड के गुणधर्मों का आरोप अधिष्ठातृ-पुरुष में, और अधिष्ठातृ-पुरुष के गुणधर्मों का आरोप अधिष्ठेय-सूर्यपिण्ड में प्रायः हुआ है। इस दृष्टि से इस सूक्त को "अध्यात्म" कहा है। "अहोरात्रे सूर्यं परिवसाने" का शाब्दिक अर्थ है "सूर्य रूपी ओढ़नी को अपने सब ओर ओढ़े हुए दिन-रात"]।

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः ।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः॥

(तिग्मः) तीक्ष्ण रश्मियों वाला, (विभ्राजन्) विशेष दीप्ति वाला, (तन्वम् शिशानः) निज शरीर को तेज करता हुआ, (अरङ्गमासः) पर्याप्त दूरी तक पहुंचे हुओं को प्रदीप्त करने वाला, (प्रवतः) गहरे प्रदेशों तक (रराणः) पहुंचा हुआ या रमा हुआ, (ज्योतिष्मान्) ज्योतिवाला, (पक्षी) पक्षी के सदृश प्रकाश में उड़ने वाला, (महिषः) महान्, (वयोधाः) अन्न और आयु को परिपुष्ट करने वाला (विश्वाः प्रदिशः) सब दिशाओं और उपदिशाओं का (कल्पमानः) निर्माण करता हुआ (आस्थात्) सूर्य स्थित है।

[अरंगमासः=अरम् (पर्याप्तं)+गम+अस् (दीप्तौ) । प्रवतः—गहरे या दूर तक फैले हुए प्रदेशों तक सूर्यपिण्ड अपनी रश्मियों द्वारा पहुंचता उन्हें प्रकाशित करता है। रराणः=रणगतौ या रममाण । आस्थात्=पक्षी के सदृश उड़ता प्रतीत होता हुआ भी सूर्यपिण्ड स्थिर है। अस गति दीप्त्यादानेषु (भ्वादि)। ग्रह, सूर्य से बहुत दूर हैं, उन्हें भी सूर्य प्रदीप्त करता है]।

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥३४॥

(चित्रम्) विचित्र, (देवानाम् केतुः) देवों अर्थात् दिव्य ज्योतियों का ध्वज, (अनीकम्) प्राणप्रद, (ज्योतिष्मान्) ज्योति वाला (सूर्यः) सूर्य, (प्रदिशः) दूर की दिशा अर्थात् पूर्व क्षितिज से (उद्यन्) ऊपर को उठता हुआ, उदित होता हुआ (दिवाकरः) दिन का निर्माण करता है, (द्युम्नैः) प्रकाशों द्वारा, (तमांसि) रात्रि के अन्धकारों का (अति) अतिक्रमण करता हुआ, (शुक्रः) चमकीला सूर्य (विश्वा दुरिता) सब दुष्परिणामों को (अतारीत्) दूर करता है।

[अनीकम्=अनिति जीवयतीति (उणा० ४।१८), जो प्राण प्रद अर्थात् जीवन प्रद है। अन प्राणने। द्युम्नम् द्योततेः]।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३५॥

(चित्रम्) अद्भुत, (देवानाम्, अनीकम्) द्योतमान रश्मियों का समूह (उद् अगात्) उदित हुआ है, यह (मित्रस्य) मित्र की, (वरुणस्य) वरुण की और (अग्नेः) अग्नि की (चक्षुः) आंख है। इस ने (द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम्) द्युलोक—पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को (आ अप्रात्) प्रकाश से भरपूर कर दिया है। (सूर्यः) सूर्य (आत्मा) आत्मा है (जगतः) जङ्गम प्राणियों का (तस्थुषश्च) तथा स्थावरों का।

[मन्त्र सूर्यपिण्ड तथा सूर्यस्थ परमेश्वर का वर्णन करता है, मुख्यरूप से परमेश्वर का, तथा गौणरूप से सूर्यपिण्ड का। परमेश्वर पक्ष में मित्र, वरुण और अग्नि=द्युलोकस्थ सूर्य, अन्तरिक्षस्थ वायु, तथा पृथिवीस्थ अग्नि। परमेश्वर परक मुख्यार्थ है, इस में यह भी प्रमाण है कि सूर्य को त्रिलोकी में भरपूर माना है, सूर्य निज प्रकाश द्वारा त्रिलोकी में भरपूर

नहीं। सूर्य पक्ष में मित्र और वरुण दिन और रात हैं। यथा "अहोरात्रौ मित्रावरुणौ" (ताण्डय २५।१०।१०)। परमेश्वर भी निज ज्योति द्वारा रश्मिसमूहरूप है। परमेश्वर हृदयाकाश में उदित होता है]।

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥३६॥

(सुपर्णम्) उत्तम-पंखों वाले पक्षी के समान (उच्चा पतन्तम्) ऊँचे आकाश में उड़ते हुए, (अरुणम्) आरोचमान, (दिवः मध्ये भ्राजमानम्) द्युलोक के मध्य में चमकते हुए, (तरणिम्) नौकारूप में तैरते हुए, (त्वा सवितारम्) तुझ प्रेरक को (पश्याम) हम देखें, (यम्) जिसे कि (अजस्रं ज्योतिः आहुः) अनश्वर ज्योति कहते हैं, (यद्) जिस ज्योति को (अत्रिः) "अत्ता" परमेश्वर ने (अविन्दत्) प्राप्त किया, उस पर स्वामित्व प्राप्त किया है।

[इस प्रकार स्वीय और स्वामी के रूप में, मन्त्र में, सूर्यपिण्ड और उसके अधिष्ठाता का वर्णन हुआ है। अजस्रं[1] ज्योतिः=सूर्य कल्पान्तस्थायी है, इसलिये इसे अनश्वर ज्योतिः कहा है]।

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥३७॥

(दिवस्पृष्ठे) मूर्धा की पीठ पर (धावमानम्) गति करते और उपासक को शुद्ध करते हुए, (सुपर्णम्) उत्तम-पालक, तथा (अदित्याः पुत्रम्) अखण्डित एक रस चित्तवृत्ति के पुत्ररूप, उस द्वारा प्रकटी भूत परमेश्वर को,—(नाथ कामः) उस नाथ की कामना वाला मैं,—(भीतः) सांसारिक कामादि शत्रुओं से डरा हुआ। (उपयामि) शरणागत होता हूं। (सूर्य) हे सूर्य सदृश

१. ज्योतियां ३ हैं। यथा "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" (यजु० ३२।५)। ये हैं (१) भौमाग्निरूप; (२) अन्तरिक्षीय विद्युद्; (३) द्युलोकस्थ, जिस में मुख्य सूर्याग्नि है। (१) और (२) ज्योतियां नश्वर हैं। परन्तु सूर्याग्नि कल्पान्त तक रहेगी। अतः इसे "अजस्रम्" अर्थात् अनश्वर कहा है। अजस्रम्=अ+जसु (हिंसायाम्)।

ज्योति वाले ! (सः) वहतू (नः) हमें (दीर्घम् आयुः प्रतिर) दीर्घ आयु प्रदान कर, (ते सुमतौ स्याम) तेरी सुमति में हम रहें, (मा रिषाम) इस प्रकार हमारा विनाश न हो।

[दिवः पृष्ठे="दिवं चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२), दिव् अर्थात् मूर्धा के साथ स्पृष्ट सहस्रार चक्र में प्रकट हुआ परमेश्वर, इस मूर्धा में गति करता, तथा उपाशक को विशुद्ध करता है। धावमानम्=धावु गति शुद्धयोः। उपासक को कामादि से विशुद्ध करने में जो परमेश्वर की ऐच्छिक सक्रियता है, वह गति यहां अभीष्ट है। उपासक कामादि शत्रुओं से छुटकारा पा कर दीर्घायु की प्रार्थना करता है। मन्त्र में परमेश्वर के अधिष्ठान रूपी सूर्यपिण्ड का भी वर्णन हुआ है, परन्तु "नाथकामः" और "सुमतौ" का सम्बन्ध अधिष्ठातृ-परमेश्वर के साथ समझना चाहिये। पृष्ठ=स्पृष्ट, "पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैः" (निरुक्त ४।१।३) धिताम (३) शब्द की व्याख्या में]।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य सं पश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥३८॥

(स्वर्गम्, पततः) स्वर्ग की ओर उड़ते हुए, (हरेः) सौरपरिवार का हरण करते हुए, उसे अपने साथ लिये हुए, (अस्य हंसस्य) इस हंस अर्थात् सूर्य के (पक्षौ) दोनों पंख, (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों से (वियतौ) विशेष रूप में प्रयत्न शील हैं। (सः) वह हंस (सर्वान्) सब (देवान्) सौर-परिवार के ग्रह-उपग्रह आदि को (उरसि) अपनी छाती में (उपदद्य) दे कर अर्थात् धारित कर के, (संपश्यन्) देखता हुआ, (विश्वा भुवनानि) मार्गवर्ती सब भुवनों को (याति) पहुंचता है।

[वियतौ=वि+यती (प्रयत्ने)+क्विप्+प्रथमा द्विवचन। हरेः=हृञ् हरणे, ले चलना। हंसस्य=सूर्यस्य। हन्ति अन्धकारं, सनोति ददाति च प्रकाशम्; हन्+षणु (दाने)+डः (औणादिक प्रत्यय)। उप दद्य=उप+दद् (दाने)। संपश्यन्=कविता में, या निज अधिष्ठातृ-परमेश्वर की दृष्टि से।

स्वर्गं पततः=स्वर्ग कौन सा स्थान है जिस की ओर सूर्य-हंस हजारों दिनों से उड़ता जा रहा है,—कहा नहीं जा सकता। वर्तमान काल के पाश्चात्य ज्योतिषी कहते हैं कि उत्तर दिशा में एक तारा है जिसे VEga (Alpha Lyrae) कहते हैं, जो कि वीणा मण्डल में है, उस

की ओर सपरिवार-सूर्य गति कर रहा है, और यह VEGA तारा पृथिवी से २६ प्रकाश-वर्षों की दूरी पर है। एक "प्रकाश-वर्ष"=५,८८०,००० मिलियन मील। वीणामण्डल (Lyra Constillation) हर्कुलीज़ मण्डल के पूर्व में, तथा आकाश गङ्गा के पश्चिम में है। एक "प्रकाश-वर्ष" का अभिप्राय है कि प्रकाश की किरणें एक वर्ष में जितना मार्ग चलती हैं। सम्भवतः मन्त्र का वर्णन केवल कविता मात्र ही हो]।

परमेश्वर पक्ष में

हंसः=The supreme soul Brahman (आप्टे) धात्वर्थ की दृष्टि से "हन्ति, अज्ञानान्धकारम्, सनोति ददाति च ज्ञानप्रकाशमिति हंसः। सहस्राह्ण्यम्=हजारों दिनों की व्याप्ति में। परमेश्वर पक्ष में हजार युगों को एक दिन कहा है। यथा "तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः" (ऋ० भा० भूमिका, महर्षि दयानन्द, वेदोत्पत्ति विषय)। हजार युगों की रात्रि भी कही है "रात्रिं च तावतीमेव"। ब्राह्म दिन-रात रूपी सर्ग और प्रलय, परमेश्वर-पक्षी के दो पक्ष अर्थात् पंख हैं। इन पंखों द्वारा परमेश्वर-पक्षी मानो उड़ान कर रहा है। स्वर्ग है असीम-आकाश। सर्वान् देवान् = संसार के सब द्योतमान सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि। यह ब्रह्माण्ड फैलता जा रहा है असीम-आकाश में। वेद में दिन-रात को परमेश्वर के दो पार्श्व कहे हैं, यथा "अहोरात्रे पार्श्वे" (यजु० ३१।२२)। परमेश्वर का वर्णन जब पक्षी रूप में होगा, तब दो पार्श्व, पक्षरूप ही होंगे। सहस्राह्ण्यम् में "अह्नः" शब्द द्वारा दिन और रात अभिप्रेत हैं। यथा "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० ६।९।१) तथा निरुक्त (२।६।२१)। "अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं चाहरर्जुनम्"।

रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१राभरत् ॥३९॥

(रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ (कालः अभवत्) कालरूप हुआ, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ (अग्रे) आरम्भ में (प्रजापतिः) प्रजापति हुआ। (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ (यज्ञानां मुखम्) यज्ञों का मुख हुआ, (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ़ ने (स्वः) प्रकाशमय द्युलोक (आभरत्) रचा है।

[सूर्य भी दिन-रात के द्वारा काल की रचना करता है, परमेश्वर तो काल का भी काल है "ज्ञः कालकालो गुणी सर्व विद्यः (श्वेता० उप० अ० ६।२)। सूर्य प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक है, परमेश्वर भी प्रजाओं का

रक्षक है "ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) । सूर्य के उदयास्त ऋतु तथा वर्षकाल की दृष्टि से यज्ञ किये जाते हैं, परमेश्वर तो यज्ञस्वरूप, यज्ञों का मुख्य देवता, और यज्ञों का सिर है "स यज्ञः तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्" (अथर्व० १३।४(७)।४०) । सूर्य प्रकाश देता है, परमेश्वर ने प्रकाशमय द्युलोक रचा है] ।

रोहि॑तो लो॒को अ॑भवद् रोहि॒तोऽत्य॑तपद् दिव॑म् ।
रोहि॑तो र॒श्मिभि॒र्भूमिं॑ समु॒द्रमनु॒ सं च॑रत् ॥४०॥

(रोहितः) रोहित (लोकः) लोक (अभवत्) हुआ, (रोहितः) रोहित ने (दिवम्) द्युलोक को (अत्यतपत्) अति तपाया । (रोहितः) रोहित (रश्मिभिः) निज रश्मियों द्वारा (भूमिं समुद्रम् अनु) भूमि और समुद्र में (सं चरत्) संचार करता है विचरता है ।

[लोकः=सूर्य से फट कर सौर लोक (परिवार) बना है, मानो सूर्य "सौर लोक (परिवार) रूप हो गया है । परमेश्वर पक्ष में परमेश्वर आलोक[1] अर्थात् प्रकाशवान् या दर्शनीय हुआ है । प्रलयकाल में परमेश्वर का प्रकाश अनुभूत नहीं होता । सृष्टि की उत्पत्ति होने पर उस के प्रकाश की अनुभूति होती है । परमेश्वर तो भूमि, समुद्र में निज व्याप्ति से संचार कर रहा है] ।

सर्वा॑ दिशः॒ सम॑चरद् रोहि॒तोऽधि॑पति॒र्दिवः॑ ।
दिवं॑ समु॒द्रमाद् भूमिं॒ सर्वं॑ भू॒तं वि र॑क्षति ॥४१॥

(दिवः अधिपतिः रोहितः) द्युलोक का अधिपति अर्थात् स्वामी रोहित (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (समचरत्) संचार करता है [रश्मियों द्वारा मन्त्र ४०] । (दिवम्) द्युलोक, (समुद्रम्) समुद्र, (आत्) और (भूमिम्) भूमि (सर्वम् भूतम्) तथा सब प्राणियों की (वि रक्षति) रक्षा करता है ।

सूर्य तो निज रश्मियों द्वारा दिशाओं में विचरता है, वह भी सीमित-रूप में; परन्तु परमेश्वर सब दिशाओं में असीमितरूप में, और दिशाओं को अतिक्रान्त कर के भी विचरता है । दिवः, दिवम्=सूर्य द्युलोक का एक नक्षत्र मात्र है । द्युलोक का वास्तविक अधिपति तथा रक्षक परमेश्वर है] ।

---

१. "अधो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्" (अथर्व० १३।४(६)५३) । लोकः=दर्शनीयः, लोकृ दर्शने ।

आ॒रोह॑ञ्छुक्रो बृ॑ह॒तीरत॑न्द्रो॒ द्वे रू॒पे कृ॑णुते॒ रोच॑मानः ।
चि॒त्रश्चि॑कि॒त्वान् म॑हि॒षो वात॑मा॒या याव॑तो लो॒काना॒भि यद् वि॒भाति॑ ॥

(शुक्रः) प्रकाशमान सूर्य (अतन्द्रः) आलस्य रहित हुआ, (बृहतीः) महती दिशाओं पर (आरोहन्) आरोहण करता हुआ, (रोचमानः) और दीप्त हुआ (द्वे रूपे कृणुते) दो रूपों का निर्माण करता है । (यद्) जब (वातम् आ अयाः) यह [रश्मियों द्वारा] वायु में पहुंचता है तब (चित्रः) चित्र विचित्र रूप में प्रकट होता है, और (यावतः लोकान्) जितने लोक हैं उन के (अभि) अभिमुख अर्थात् संमुख (विभाति) विशेषतया चमकता है । (चिकित्वान्) सूर्य मानो चेतनावान् है, (महिषः) और महान् है ।

[द्वे रूपे="अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० ६।९।१), अर्थात् काला दिन अर्थात् रात्रि, और अर्जुन दिन अर्थात् प्रकाशित दिन । इन दोनों रूपों का निर्माण सूर्य करता है । परमेश्वर पक्ष में काला दिन है प्रलय रात्रि, और अर्जुन दिन है उत्पन्न जगत् । चिकित्वान्=उदित हुआ सूर्य जागरित प्राणियों की चेतना के कारण चेतनावान् है, परमेश्वर स्वतः चेतनावान् है । वातमायाः=सूर्य की रश्मियां जब वायु में आती हैं तब अन्धेरियां आतीं, मेघ बनते, वर्षा होती, इन्द्रधनुष दीखता, उषाएँ चमकतीं,—इस प्रकार सूर्य की शक्तियां चित्र विचित्र रूप में प्रकट होती हैं, और जब सूर्य उदित होता है तो चन्द्रमा, नक्षत्र और समग्र तारागणों के संमुख यही एक चमक रहा होता है, अन्य ये सब ज्योतियां निष्प्रभ हो जाती हैं । परन्तु जब सूर्यों का सूर्य परमेश्वर उदित होता है तब सूर्यपिण्ड भी निष्प्रभ हो जाता है यथा "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽ यमग्निः" (उपनिषद्) । तथा जब परमेश्वर वायु अर्थात् प्राणायामादि की परिस्थिति में प्रकट होता है तब इस का चित्र विचित्र स्वरूप दृष्टिगोचर होता है] ।

अ॒भ्य१॑न्यदे॑ति॒ पर्य॒न्यद॑स्यतेऽहोरा॒त्राभ्यां॑ महि॒षः कल्प॑मानः ।
सूर्यं॑ व॒यं रज॑सि क्षि॒यन्तं॑ गातु॒विदं॑ हवामहे॒ नाध॑मानाः ॥४३॥

(महिषः) महान् सूर्य (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि द्वारा (कल्पमानः) काल का निर्माण करता हुआ, (अन्यत् अभि) पृथिवी के एक पार्श्व के संमुख (एति) आता है, और (अन्यत्) दूसरा पार्श्व (परि उदस्यते) लगभग या पूर्णतया उत्क्षिप्त कर दिया जाता हैं, छोड़ दिया जाता है । परन्तु (नाधमानाः वयम्) याचना करते हुए हम (रजसि) रञ्जक-

जगत् में (क्षियन्तम्) निवास करते हुए, (गातुविदम्) मार्ग दर्शक (सूर्यम्) सूर्य अर्थात् परमेश्वर का (हवामहे) आह्वान करते हैं।

[सूर्यम्=सूर्य पद परमेश्वर का वाचक है (अथर्व० १३।४(१)।५)। गातुविदम्=परमेश्वर वेदों द्वारा जीवन के मार्ग को दर्शाता है, और सूर्य पिण्ड पैरों द्वारा चलने का मार्ग दर्शाता है]।

पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव ।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥४४॥

(पृथिवीप्रः) पृथिवी को वन-धान्यादि से भरपूर करने वाला, (महिषः) महान् (नाधमानस्य) याचना करने वाले का (गातुः) मार्गदर्शक, (अदब्धचक्षुः) अबाधित दृष्टि वाला, (विश्वं परि बभूव) विश्व के सब ओर विद्यमान है। (विश्वं सं पश्यन्) विश्व को सम्यक् देखता हुआ (सुविदत्रः) सम्यक्-ज्ञानी, (यजत्रः) संसार-यज्ञ का रचयिता परमेश्वर (इदं शृणोतु) इस वचन को सुने (यद्) जिसे (अहं ब्रवीमि) मैं कहता हूं।

[पृथिवीप्रः=पृथिवी+प्रा (पूरणे)। यजत्रः=इज्यते यजति वा तद् यजत्रम् (उणा० ३।१०५)। शृणोतु=सूर्य नहीं सुनता, सूर्यस्थ ब्रह्म सुनता है (यजु० ४०।१७)]।

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन्परि द्यामन्तरिक्षम् ।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥४५॥

(अस्य) इस की (महिमा) महिमा (पृथिवीं, समुद्रं, परि) पृथिवी और समुद्र के चारों ओर फैली हुई है, (ज्योतिषा विभ्राजन्) ज्योति द्वारा प्रकाशमान परमेश्वर (द्याम्, अन्तरिक्षम्, परि) द्युलोक और अन्तरिक्ष के चारों ओर व्याप्त है। (सर्वं सं पश्यन् सुविदत्रः यजत्रः इदं शृणोतु यद् अहं ब्रवीमि) सब को सम्यक्-देखता हुआ, सम्यक्-ज्ञानी, संसार-यज्ञ का रचयिता परमेश्वर इस वचन को सुनें जिसे मैं कहता हूं।

[शृणोतु=प्रार्थी के कथन को परमेश्वर तो सुन सकता है, सूर्य पिण्ड नहीं, देखो मन्त्र (४४)]।

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥४६॥

(धेनुम् इव) दुधार गौ की तरह (आयतीम्, उषासम्, प्रति) आती हुई उषा को लक्ष्य कर के (जनानाम्) जनों की (समिधा) समिधाओं द्वारा (अग्निः) अग्नि (अबोधि) प्रबुद्ध हुई है। (भानवः) रश्मियां (नाकम्, अच्छ) नाक की ओर (सिस्रते) प्रसृत हुई हैं, फैली हैं, (इव) जैसे कि (यह्वाः) बड़े वृक्ष (वयाम्) शाखाओं को (प्र उज्जिहानाः) दूर तक ऊपर की ओर फेंकते हैं।

[उषा के आगमन काल में जैसे अग्निहोत्र में अग्नि प्रबुद्ध होती है, वैसे उपासना में परमेश्वराग्नि के प्रबोधक का विधान मन्त्र में हुआ है। उपासना में समिधा के लिए कहा है "त्रिः सप्त समिधः कृताः" (यजु० ३१।१५)। त्रिः सप्त समिधाएं=५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और अहङ्कार; ५ कर्मेन्द्रियां, मन और अहङ्कार; ५ तन्मात्राएं, मन और अहङ्कार। ये तीन सप्तक हैं, जो कि उपासना में समिधाएं हैं। उपासना में इन तीन सप्तकों को परमेश्वरार्पित कर, परमेश्वर में चित्त गाड़ कर, परमेश्वराग्नि को उद्बुद्ध करना चाहिये। धेनुम्=दुधार गौ जब आती है तो उसे चारा भेंट किया जाता है, इसी प्रकार उषा के समय अग्निहोत्र की अग्नि को, तथा परमेश्वराग्नि को, यथोचित् समिधाएं भेंट की जाती हैं। समर्पण या भेंट तो करनी होती हैं,—ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, और ५ तन्मात्राएं परन्तु मन और अहङ्कार साथ न दें, तो इन तीन सप्तकों का समर्पण नहीं हो सकता। इसलिये तीन सप्तकों के साथ मन और अहङ्कार की गणना की है। समर्पण का वर्णन निम्न लिखित मन्त्र द्वारा अधिक स्पष्ट होता है। यथा "यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं हरन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः" (अथर्व० १०।७।३९)। इस मन्त्र में "बलिं हरन्ति" द्वारा समर्पण का वर्णन हुआ है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की निज शक्तियों का, स्कम्भ-परमेश्वर के प्रति समर्पण का कथन हुआ है। हस्त-पाद-वाक्, कर्मेन्द्रियों के सूचक हैं, और श्रोत्र-चक्षुः, ज्ञानेन्द्रियों के सूचक हैं]।

॥ दूसरा सूक्त समाप्त ॥

—:o:—

सूक्त ३

विषय प्रवेश

१ समग्र सूक्त मुख्यरूप में तथा परम्परया "अध्यात्म" है। जिन मन्त्रों में रोहित और आदित्य का वर्णन है उन में भी परमेश्वर सम्बन्धी भावनाएं अनुस्यूत हैं।

२ समग्र मन्त्रों का उद्देश्य यह है कि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञ-और वेदज्ञ को हानि पहुंचता है वह परमेश्वर के लिये पापी है, अपराधी है, उसे रोहित अर्थात् सिंहासनारूढ़ राजा दण्डित करे। साथ-साथ मन्त्रों में परमेश्वर तथा सूर्य का भी वर्णन सर्वत्र हुआ है।

३ सूर्यपिण्ड की शक्ति की अपेक्षया परमेश्वर का उच्चशक्ति रूप में वर्णन (५)।

४ परमेश्वर को "अन्नाद" (७), तथा "अत्त्रि:" अर्थात् अदनकर्त्ता कहा है (१५), जिसे कि वेदान्त सूत्रों में "अत्ता" कहा है, अत्ता चराचरग्रहणात्" (वेदान्त १।२।९)। अन्नाद, अत्त्रि, और अत्ता समानार्थक हैं।

५ मन्त्र में वर्णित "अत्त्रि" परमेश्वर है, भोक्ता जीवात्मा नहीं (१५)।

६ तीस दिनों के तेरहवें मास का,—जिसे कि मलमास तथा अधिमास भी कहते हैं,—वर्णन हुआ है (८)।

७ "सप्त सूर्या:" का वैज्ञानिक स्वरूप (१०)।

८ तीन प्रकार के सूर्यास्त, तीन प्रकार के उषःकाल, तीन लोक, तीन द्युलोक, अग्नि का त्रिविध जन्म, देवों के त्रिविध जन्म,—इन की यथासम्भव व्याख्या (२१)।

९ हजार दिनों से हंस के उड़ते रहने का अभिप्राय (१४)।

१० "य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषम्",—इस मन्त्र (२४) को सूक्त में रखने से यह दर्शाया है कि समग्र सूक्त परमेश्वर का वर्णन साक्षात् तथा परम्परया करता है।

११ मन्त्र २५, २६ की विशिष्ट व्याख्या।

—:०:—

१-२६ ब्रह्मा। अध्यात्मम्, रोहितादित्यदैवतम्। त्रिष्टुप्; १ चतुरवसानाष्टपदाऽऽकृति:। २-४ त्र्यव० षट्पदा (२-३ अष्टि:, २ भुरिग् ४ अतिशक्वरगर्भा धृति:); ५-७ चतुर० सप्तपदा (५, ६ शक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृति:; ७ अनुष्टुब्गर्भातिधृति:); ८ त्र्यव० षट्पदा अत्यष्टि:; ९-१९ चतुर व० (९-१२ १५, १७ सप्तपदा भुरिगतिधृति:); १५ निचृत्; १७ कृति:, १३, १४, १६, १८, १९ अष्टपदा, (१३-१४ विकृति:, १६, १८, १९ आकृति:, १९ भुरिक्); २०, २२ त्र्यव० षट्पदा अत्यष्टि:; २१, २३-२५ चतुर व० अष्टपदा (२४ सप्तपदाकृति:, २१ आकृति:, २३, २५ विकृति:)।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥१॥

(य:) जिस ने (इमे) ये (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवी लोक (जजान) पैदा किये, (य:) जो (भुवनानि) भुवनों को (द्रापिं कृत्वा) वस्त्र कर के (वस्ते) ओढ़े हुआ है। (यस्मिन्) जिस में (उर्वीः) विस्तृत (षट् प्रदिश:) ६ दिशाएँ हैं (या:) जिन्हें कि (पतङ्ग:) मानो वह पक्षी समान उड़ता हुआ (अनु विचाकशीति) निरन्तर देखता है (तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) उस क्रुद्ध देव के लिए (एतत्) यह (आग:) अपराधी है (य:) जो कि (एवम्) इस प्रकार के (विद्वांसं ब्राह्मणम्) विद्वान् ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को (जिनाति) हानि पहुंचाता है। (रोहित) हे सिंहासनारूढ़ राजन्! (उद्वेपय) ऐसे व्यक्ति को कम्पा, (प्रक्षिणीहि) ऐसे का क्षय कर, (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुंचाने वाले पर (पाशान् प्रतिमुञ्च) फंदे डाल।

यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति।
तस्य देवस्य.........पाशान् ॥२॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से (वाता:) वायुएँ (ऋतुथा) ऋत्व-

नुसार (पवन्ते) बहती या पवित्र करती हैं । (यस्मात् अधि) जिस से (समुद्राः) समुद्र (विक्षरन्ति) विविध प्रकार से क्षरित होते हैं । (तस्य देवस्य.........पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[समुद्राः=पार्थिव चारों-समुद्र पृथिवी से अन्तरिक्ष की ओर, तथा अन्तरिक्षस्थ मेघ समुद्र अन्तरिक्ष से पृथिवी की ओर क्षरित होते हैं] ।

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा ।
तस्य देवस्य.......पाशान् ॥३॥

(यः) जो परमेश्वर (मारयति) मारता है, (प्राणयति) जो जीवन देता है, (यस्मात्) जिस से (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (प्राणन्ति) प्राणवान् होते हैं, (तस्य देवस्य........पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[भुवनानि=जगत् के सत्तावान् प्रत्येक पदार्थ में, निज को बनाए रखने की शक्ति को, प्राण कहा है। यह प्राण परमेश्वर द्वारा इन्हें मिलता है] ।

यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति ।
तस्य देवस्य......पाशान् ॥४॥

(यः) जो परमेश्वर (प्राणेन) प्राण द्वारा (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवी लोक को, (तर्पयति) तृप्त करता है, (अपानेन) अपान[1] द्वारा (समुद्रस्य जठरम्) समुद्र के पेट को (पिपर्ति) पालित करता है । (तस्य देवस्य.........पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः ।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे । तस्य देवस्य....पाशान् ॥५॥

(यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (परमेष्ठी) परमोच्च स्थान-द्युलोक में स्थित (विराट्) विशेषतया प्रदीप्त सूर्य, (प्रजापतिः) तथा वर्षा और

१. समुद्र के प्राणी, अस्मदादिवत्, वायुमण्डल से वायु को ग्रहण कर, "आक्सीजन" (O_2) को तो रक्त में विलीन कर लेते हैं, और फेफड़ों की गन्दी वायु "कार्बन डाईआक्साइड" (CO_2) को, अपानरूप में, त्याग देते हैं। यह अपानवायु समुद्र-जल में विलीन होती रहती है, और समुद्रस्थ पौधों के लिये भोजनरूप हो जाती है। यह है समुद्र के पेट का पालना ।

प्राण देकर प्रजा की रक्षा करने वाली वायु, (वैश्वानरः अग्निः) और पाक-कर्म के द्वारा सब नर-नारियों का हितकारी पार्थिव अग्नि, (पङ्क्त्या सह) अपनी-अपनी पंक्तियों के साथ (श्रितः) आश्रित हैं, (यः) जो परमेश्वर (परस्य) दूरस्थ सूर्य के, तथा (परमस्य) उस से भी परम अर्थात् दूरस्थ द्युलोक के (प्राणं तेजः) तेजरूपी प्राण को (आददे) प्रलयकाल में छीन लेता है । (तस्य देवस्य.........पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[तीन लोकों के तीन देवता हैं; (१) परमेष्ठी विराट्=सूर्य; (२) प्रजापति=वायु, (३) पार्थिवाग्नि । पंक्त्या=पार्थिवाग्नि, वायु और सूर्य में से प्रत्येक के "भक्ति सहचारी" गणों का निर्देश निरुक्त में दैवत-प्रकरण में किया है। उदाहरणार्थ **"अथैतान्यग्निभक्तीनि, अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तो गायत्री, त्रिवृत् स्तोमो, रथन्तरम् साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थानेऽग्नायी, पृथिवीळेति स्त्रियः ।** इत्यादि (निरुक्त ७।३।८)। इसी प्रकार शेष दो देवताओं के "भक्ति सहचारी" गण भी दर्शाए हैं। ये हैं तीन निर्दिष्ट देवताओं की पंक्तियां। ये सब परमेश्वराश्रय में स्थित हैं। परस्य=इस द्वारा सूर्य का कथन हुआ है। इस के प्राणभूत तेज को परमेश्वर हर लेता है। इस से प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों में मुख्य वर्णन परमेश्वर का है, सूर्य का नहीं । विराट्=वि + राज् (दीप्तौ) । परमस्य =परमपद द्युलोक वाची प्रतीत होता है। अतः परमेष्ठी पद, "परमे द्युलोके तिष्ठति" इस अर्थ में, सूर्य में सूपपन्न है] । श्रितः=श्रि+क्विप् + तुक् (बहुवचन) ।

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः ।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत । तस्य देवस्य...पाशान् ॥६॥

(यस्मिन् अधि) जिस में (षट् उर्वीः) ६ पृथिवियां (पञ्च दिशः) विस्तृत दिशाएँ (श्रिताः) आश्रित हैं, तथा (यज्ञस्य) संसार यज्ञ के (त्रयः अक्षराः) तीन अनश्वर अर्थात् तीन लोक, और (चतस्रः आपः) चार जलीय समुद्र आश्रित हैं । (यः) जो (क्रुद्धः) मानो क्रुद्ध होकर (रोदसी अन्तरा) द्यौः और पृथिवी के अन्तराल में (चक्षुषा) सूर्य रूपी चक्षु द्वारा (ऐक्षत) देखता है। (तस्य देवस्य.........पाशान्), पूर्ववत् (१) ।

[षट् उर्वीः=बुध, शुक्र, पृथिवी मंगल, गुरु, शनि । चतस्रः आपः= पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के चार जलीय समुद्र । पञ्च=पचि विस्तारे । चक्षुः=सूर्य । यथा "तच् चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् छुक्रमुच्चरत्", तथा "चक्षोः

सूर्यो अजायत" (यजु० ३१।१३) । कल्पान्त काल तक स्थिर, अतः अनश्वर तीन लोक] ।

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः । तस्य देवस्य······पाशान् ॥७॥

(यः) जो (अन्नादः) अन्नभक्षक, (अन्नपतिः) अन्नों का स्वामी, (उत) तथा (यः) जो (ब्रह्मणस्पतिः) वेदों का स्वामी, (बभूव) हुआ है । (यः) जो (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का (पतिः) स्वामी है, (भूतः) हुआ है, (भविष्यत्) और होगा । (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[अन्नादः=परमेश्वर अन्नाद है । समग्र प्राणी तथा अप्राणी उसके अन्न हैं, उन्हें वह खाता रहता है । जैसे कहा है—"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ (कठोप० २।२५) ।

अर्थात् ब्राह्मतेजः सम्पन्न और क्षात्र शक्ति सम्पन्न व्यक्ति जिस के ओदन अर्थात् भात हैं, और मृत्यु जिस का उपसेचन अर्थात् भात को सींचने का पदार्थ दाल आदि है उसे कौन वास्तव में जानता है, जहां कि वह है, अर्थात् हृदय में है या मस्तिष्क में—इन में से कहां उस का प्रत्यक्ष होता है । इस द्वारा यह जतलाया है कि जो परमेश्वर ब्रह्म और क्षत्र समान प्रबल व्यक्तियों को अपना भात बनाता है उस के लिये वैश्य और शूद्र तो सुतरां ओदन या भातरूप हैं, और जड़ पदार्थों की तो गिनती है क्या है? वह परमेश्वर समग्र चराचर का पति है अन्नपति हैं, और साथ ही ज्ञानमय वेदों का भी वह ही पति है । परमेश्वर अन्नाद है, परन्तु अन्न[1] भी है । भक्त उपासक समाधि में इस परमेश्वर के आनन्द रस-रूपी अन्न का आस्वादन करते हैं । "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्तिरीयोप० २।७)] ।

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।
तस्य देवस्य······पाशान् ॥८॥

(अहोरात्रैः) दिनों और रात्रियों द्वारा (विमितम्) मापे हुए, (त्रिंशदङ्गम्) तीस अङ्गों वाले, (त्रयोदशं मासम्) १३वें मास का (यः) जो परमेश्वर (निर्मिमीते) निर्माण करता है । (तस्य देवस्य-पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

१. "अहमन्नम्, अहमन्नादः" (तै० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली २) ।

[सौरमास वेद में ३० दिनों का माना है, और वर्ष ३६० दिनों का । यथा "तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चला चलासः" (ऋ० १।१६४।४८), अर्थात् उस संवत्सर-चक्र में ३०० और ६० शङ्कु हैं । तथा "षष्टिश्च वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः" (शत० ब्राह्मण ६।१।१।४३), अर्थात् ६० और ३०० दिन-रात्र, संवत्सर के हैं । राशिचक्र ३६०° अंशों में बांटा जाता है । सम्भवतः इन अंशों की दृष्टि से संवत्सर के ३६० सौर दिन माने हों । चान्द्रवर्ष ३५४ दिनों का होता है । Lunar year=a Period of twelve lunar months or 354 days (Chamber's Dictionary) । इस प्रकार वैदिक सौरवर्ष और चान्द्रवर्ष में ३६०-३५४=६ दिनों का अन्तर प्रतिवर्ष हो जाता है । ३० दिनों के मल मास या अधिमास के लिये ५ वर्ष अपेक्षित हैं, ६×५=३० दिन । इन ५ वर्षों का वर्णन यजुर्वेद में हुआ है । यथा "संवत्सराय, परिवत्सराय, इदावत्सराय, इद्वत्सराय, वत्सराय"[1] (३०।१५) । कहीं "इद्वत्सराय" के स्थान में "अनुवत्सर" नाम भी आया है, (अथर्व० पैप्पलाद शाखा १७।६।१५) । इस प्रकार वैदिक ३६० दिनों के सौरवर्ष और ३५४ दिनों के चान्द्र वर्ष की दृष्टि से, प्रत्येक ५ वर्षों के पश्चात्, ३० दिनों का १ मलमास या अधिमास अथवा त्रयोदश मास पड़ता है ।

वैदिक ३६० दिनों के सौरवर्ष और वर्तमान कैलेण्डर के ३६६ दिनों के सौर वर्षों में भी लगभग ६ दिनों का अन्तर प्रति कैलेण्डर सौर-वर्ष के हिसाब से पड़ता है । प्रति ५ वर्षों के पश्चात् ३० दिनों का एक मास इस हिसाब में भी पूर्ववत् है । कैलेण्डर सौर वर्ष के दिन=३६५ दिन, ५ घण्टे ४८ मिनिट, ४९.७ सेकण्ड, अर्थात् लगभग ३६६ दिन ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य । तस्य देवस्य······पाशान् ॥९॥

(हरयः) जल का हरण करने वाली, (सुपर्णाः) पक्षियों के सदृश उत्तम-उड्डनशील किरणें अथवा सुपालक किरणें (कृष्णम्) काले (नियानम्) नीचे के मार्ग को प्राप्त कर, (अपो वसानाः) और जल को धारण कर (दिवम्) द्युलोक की ओर (उत्पतन्ति) उड़ जाती हैं । (ते) वे किरणें

१. पारस्कर गृह्यसूत्र ३।२।२ में इसी क्रम से ५ नाम पठित हैं (अथर्ववेद, विलियम ड्विट ह्विटनी, ६।५५।३) ।

(ऋतस्य सदनात्) जल के सदन से (आववृत्रन्) फिर लौटती हैं। (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

कृष्णं नियानम्=सूर्य से नीचे की ओर आता हुआ नीलाम्बर का काला मार्ग। ऋतस्य=जलस्य (निघं० १।१२)। ऋत का सदन=मेघ या अन्तरिक्ष। आववृत्रन्=लौटती हैं, वर्षा काल में]।

तत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम्। तस्य देवस्य······पाशान् ॥१०॥

(कश्यप) हे सर्वद्रष्टः! प्रभो! (ते) तेरा (यत्) जो (चन्द्रम्) चांदी के सदृश (रोचनावद्) रुचिकारक चाँद है, (यत्) और जो (संहितम्) निज ग्रह-उपग्रहों के साथ सन्धि अर्थात् मेल को प्राप्त, (पुष्कलम्) पुष्टिकारक, (चित्रभानु) चित्रविचित्र किरणों वाला सूर्यमण्डल है, तथा (यस्मिन्) जिस तुझ में (सप्त सूर्याः) सप्तरंगी ७ प्रकार के सूर्य (साकम्) परस्पर मिल कर (आर्पिताः) समर्पित हुए हुए हैं (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[मन्त्र में गुण प्रदर्शक पदों द्वारा दो अभिधेयों को सूचित किया है। चन्द्रम् का अर्थ है चांदी। इस पद द्वारा शुभ्र किरणों वाले रोचक चांद का वर्णन किया है। "यत्" पद के दोबारा पठन द्वारा सूर्यमण्डल को सूचित किया है जिस की कि किरणें पुष्टिदायक और चित्र विचित्र हैं। वर्षाकाल में मेघों में इन्द्रधनुष् के रूप में सूर्य की चित्र विचित्र किरणों की आभा प्रकट होती है। द्युलोक में जितने भी विविध प्रकार के सूर्य हैं, अर्थात् स्वयं प्रकाशी चमकते तारा-नक्षत्र हैं, वे रंगों की दृष्टि से ७ प्रकार के हैं। कोई लाल, कोई सन्तरिया, कोई पीला, कोई हरा, कोई नीला आकाशीय रंगवाला, कोई इण्डिगो के पौधे से निकले नील वर्ण के सदृश, और कोई बैंगनी वर्णवाला है। ये सब मिलकर परमेश्वर में आश्रय पाए हुए हैं। मन्त्र में परमेश्वर की महिमा का वर्णन हुआ है। पुष्कलम्=पुष्करम्, रलयोरभेदात्। कश्यप=पश्यक; आद्यन्त विपर्यासः। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में भी वर्णभेद के आधार पर सूर्यों का वैविध्य दर्शाया है। यथा—"असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः" (छान्दो० अध्या० ८, खण्ड ६ (१)। तथा "तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च" (बृहदा० अध्या० ४, ब्रा० ४ (९)।

विशेषः—"सप्त सूर्याः" के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि द्युलोक में जो नक्षत्र और तारा गण रात्रि के समय दृष्टिगोचर होते हैं उन में दीखने वाले सौर ग्रहों को छोड़ कर, अवशिष्ट नक्षत्र तथा तारागण सूर्यरूप हैं, स्वतःप्रकाशी हैं। इन सब का विभाजन (Classification) "सप्त सूर्याः" द्वारा किया गया है, अर्थात् वैदिक दृष्टि से ये सब सूर्य मूल भूत (Primary) सात-रंगों अर्थात् सप्त-वर्णों में विभक्त किये गए हैं, तथा कतिपय ये सूर्य ऐसे भी हैं, जो कि मूल भूत रंगों के मिश्रण द्वारा उत्पन्न मिश्रित रंगों वाले भी हैं❀, मूलभूत या Primary Colours Red, Orange, Yellow, Green, Blue, Indigo, Violet. वर्षा ऋतु में इन्द्र धनुष् (Rain Bow) में ये सात रंग या वर्ण दृष्टि गोचर होते हैं, तथा Prism में से सूर्य की किरणों के गुजरने पर भी]।

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम्। तस्य देवस्य······पाशान् ॥११॥

(पुरस्तात्) पहिले (बृहत्) बड़ा द्युलोक (एनम्) इस परमेश्वर को (अनु) अनुकूल तथा (वस्ते) वस्त्र रूप में धारण करता है, (पश्चात्) पीछे अर्थात् तदनन्तर (रथन्तरम्) रथों द्वारा मानो तैरने योग्य, मार्ग तय करने

❀ कतिपय उदाहरण, यथा (१) Bluish-white star लुब्धक (Sirius), मृगव्याधमण्डल में, पृष्ठ ४६। (२) Yellowish Like sun पूषा पृष्ठ ७७। (३) Yellow colour ब्रह्महृदय तारा, The goat star, पृष्ठ ७४। (४) Deep yellow or Reddish colour रोहिणी Aldebaran शकटाकृतिः, वृष राशि में पृष्ठ ८६। (५) Gold-like yellow colour sword-fish, पृष्ठ ८९। A very red star, R. dorodus, पृष्ठ ८९। (७) Bluish-white coloured or green coloured star २ मिथुनस्य, पृष्ठ ९६।

विशेष—In thc Vedas the star ; लुब्धक is said to be of पिशङ्ग Reddish-Yellow colour. But at Present the star ; लुब्धक is one of the intensely white stars, in the Heavens, पृष्ठ १२४। अभिप्राय यह जब यह पैदा हुआ था तो यह तारा Reddish-Yellow था, परन्तु वर्तमान में अति शुक्ल है। देखो उपरिप्रदत्त नक्षत्र छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद। Reddish-Yellow =Orange? इन्द्रधनुष् का नं० २ वर्ण। ये कतिपय उदाहरण "Popular Hindu Artronomy" ग्रन्थकार कान्तिनाथ मुकरजी, New inpression १९६९ की पृष्ठ संख्याओं से दिये गए हैं।

योग्य पृथिवी लोक (प्रति गृह्णाति) इसे अनुकूल या वस्त्र रूप में ग्रहण करता है। ये दोनों (सदम्) सदा (अप्रमादम्) विना प्रमाद किये (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप परमेश्वर को (वसाने) वस्त्र रूप में धारण किये रहते हैं। (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[सृष्टयुत्पत्ति में पहिले द्युलोक हुआ, पश्चात् पृथिवी लोक। इस लिये द्युलोक ने स्व-रक्षार्थ परमेश्वर को वस्त्र रूप में पहिले धारण किया। पृथिवी लोक पीछे पैदा हुआ, इस लिये इस ने तत्पश्चात् परमेश्वर को वस्त्र रूप में धारण किया। वस्त्र धारण शरीर रक्षार्थ होता है। परमेश्वर वस्त्र रूप में इन दोनों लोकों की रक्षा कर रहा है]।

बृहदुन्यतः पुक्ष आसीद् रथन्तुरमुन्यतुः सबले सुध्रीची ।
यद् रोहितुमजनयन्त देुवाः । तस्य देुवस्य······पाशान् ॥१२॥

(देवाः) देवों ने (यद्) जब (रोहितम्) सर्वोपरि आरूढ़ परमेश्वर को (अजनयन्त) हृदयों में पैदा किया, प्रत्यक्ष किया, तब (अन्यतः) एक ओर का (पक्षः) पक्ष (बृहत्) बृहत्सामगान (आसीद्) था, (अन्यतः) दूसरी ओर का पक्ष (रथन्तरम्) रथन्तर साम गान था। (सबले) ये दोनों साम गान, परमेश्वर के प्रत्यक्षी करण में, प्रबल हैं, जब कि ये दोनों (सध्रीची) साथ-साथ चलें, साथ-साथ गाए जांय। (तस्य देवस्य···पाशान्) पूर्ववत (मन्त्र १)।

[परमेश्वर के प्रत्यक्षीकरण में, पहिले बृहत्साम गान करना चाहिये तत्पश्चात् उपासना के अनन्तर, रथन्तर-सामगान करना चाहिये। पक्षः=पार्श्व, किनारा; Side (आप्टे)]।

स वरुणः सायमुग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ।
तस्य देुवस्य······पाशान् ॥१३॥

(सः) वह (वरुणः) वरणीय या वरा-गया परमेश्वर (सायम्) सायंकाल में (अग्निः भवति) अग्नि होता है, (सः) वह (प्रातः) प्रातःकाल (उद्यन्) उदित होता हुआ (मित्रः भवति) मित्र होता है। (सः) वह (सविता भूत्वा) सविता हो कर (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष द्वारा (याति) गति करता है, (सः) वह (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र हो कर (मध्यतः) मध्य भाग से (दिवम्) द्युलोक को (तपति) तपाता है। (तस्य देवस्य···पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[वरुणः=व्रियते, वृतो वा; मन्त्र १२ के अनुसार वरा-गया रोहित अर्थात् सर्वोपरि आरोहण को प्राप्त परमेश्वर। वरुण नियामक है, इस लिये वरुण के साथ पाशों का वर्णन होता है यथा "**ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुषन्तः**" (अथर्व० ४।१६।६,७; ७।८३।३,४)। इन व्याख्येय मन्त्रों में भी पाशों का वर्णन है, जिन में कि क्रुद्ध हुआ परमेश्वर ब्रह्मवेत्ता को हानि पहुंचाने वाले व्यक्ति को जकड़ देता है। वरुणपद् द्वारा परमेश्वर का वर्णन करते हुए यह दर्शाया है कि क्रुद्ध हुए परमेश्वर के नाना पाश हैं जो कि सुदृढ़ तथा घातक हैं, ताकि ब्रह्मवेत्ता को हानि पहुंचाने का कोई साहस न कर सके।

अग्नि आदि=अग्नि का काम है दग्ध करना; मित्र का काम है स्नेह करना; सविता का काम है प्रेरणाएँ देना (षू प्रेरणे); इन्द्र का काम है परमैश्वर्य वाला होना (इदि परमैश्वर्ये)।

उपासना परक मन्त्रों के प्रकरण में, मन्त्रपद द्वारा यह निर्देश मिलता है कि सायंकाल की उपासना से, सायं काल की अग्नि में तदधिष्ठातृरूप परमेश्वराग्नि[1] का ध्यान करते हुए निजमलों को दग्ध कर देने की प्रार्थना परमेश्वर से करनी चाहिये, शारीरिक कुचेष्टाएँ, इन्द्रियों की अपवित्रता तथा चञ्चलता, मन के अशिव संकल्प,—ये सब मलरूप हैं।

प्रातः काल की उपासना में, उदित होते हुए मित्रनामक सूर्य में स्थित परमेश्वर को सर्वमित्र जान कर, उस से सर्वभूत-मैत्री के सद्गुण की प्रार्थना करनी चाहिये।

सूर्योदय के पश्चात् अन्तरिक्ष में गति करते हुए सविता अर्थात् प्रेरणा-प्रद सूर्य में स्थित परमेश्वर से सत्प्रेरणाओं की प्रार्थना करनी चाहिये।

निजताप और प्रकाश के परमैश्वर्य को, मध्य आकाश में, प्राप्त हुए सूर्य में स्थित परमेश्वर से, निज ध्येय के परमैश्वर्य की उस की परमोच्चता की प्राप्ति के लिये परमैश्वर्यवान् परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये।

---

१. यथा "अन्तरग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व० ४।३९।९) में अग्नि में स्थित परमेश्वराग्नि का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार मित्रादि नामों वाले सूर्य में, मित्र आदि नामों वाले परमेश्वर की सत्ता जाननी चाहिये।

यद्यपि सर्वसाधारण के लिये सन्ध्या दो काल की है। परन्तु जीवन की प्रत्येक अवस्था में, चित्त में परमेश्वर को धारण करते हुए, दिन के भिन्न-भिन्न कालों में भी परमेश्वर के आशीर्वाद की प्रार्थना करना, कार्यों में बाधक नहीं। और वानप्रस्थियों के लिये,—जिन्हों ने जीवनों को आध्यात्मिक बनाने के लिये इस आश्रम को स्वीकार किया है,—दिन के भिन्न-भिन्न कालों में, उपासना में बैठना, लाभकारी ही होगा]।

स॒ह॒स्रा॒ह्ण्यं वियंतावस्य प॒क्षौ हरे॑र्हं॒सस्य॒ पतंतः स्व॒र्गम् ।
स दे॒वान्त्सर्वा॒नुर॑स्यु॒प द॒द्य सं॒ पश्यंन् याति॒ भुवंनानि॒ विश्वा॑ ।
तस्यं दे॒वस्य॑······पाशान् ॥१४॥

यह मन्त्र, १३।२।३८ का पुनः-कथन है। पूर्वपठित मन्त्र के दो अर्थ किये हैं, (१) आधिदैविक और (२) आध्यात्मिक। इस स्थान में पुनः पाठ केवल आध्यात्मिक अर्थ के लिये है। मन्त्र का दण्डान्वयरूप में अर्थ निम्नरूप है—

"स्वर्ग की ओर उड़ते हुए, प्रलयकाल में सृष्टि का हरण करने वाले इस हंस अर्थात् सृष्टिकाल में अज्ञानान्धकार के हन्ता तथा ज्ञानप्रकाश के दाता परमेश्वर के, दो पक्ष अर्थात् ब्राह्मदिन और ब्राह्मी रात्रि, हजारों ब्राह्मदिनों की व्याप्ति तक प्रयत्नशील रहते हैं। वह परमेश्वर सब देवों अर्थात् नक्षत्रों, ताराओं, तीनों लोकों आदि को अपनी छाती में मानों रख कर, उन्हें अपनी छाती का सहारा देता हुआ, और सम्यक्-निरीक्षण करता हुआ सब भुवनों तक जाता है। उस क्रुद्ध देव के लिये वह अपराधी है जो कि इस प्रकार के विद्वान् ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुंचाता है। हे सिंहासनारूढ़ राजन्! ऐसे व्यक्ति को कम्पा, ऐसे का क्षय कर, ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुंचाने वाले पर फन्दे डाल"।

[मन्त्र १४ का पुनः कथन यह जताने के लिये किया गया है कि सृष्टि का कर्त्ता और अपहर्त्ता जिस पर कुपित हो जाय तो वह इस के कोप से बच नहीं सकता। ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् को हानि पहुंचाना उस के लिए अपराध है। इस लिये इस अपराध से बचे रहना चाहिये। मन्त्रार्थ (१३।३।१४, तथा १३।३।१) के आधार पर किया है]।

अ॒यं स दे॒वो अ॒प्स्व१॒॑न्तः स॒हस्र॑मूलः पु॒रुशा॒को अत्त्रिः ।
य इ॒दं विश्वं॒ भुवंनं ज॒जान॑ । तस्यं दे॒वस्य॑······पाशान् ॥१५॥

(अयं सः देवः) वह वह देव जो कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर है, (सहस्रमूलः) हजारों का मूलकारण है, (पुरुशाकः) महाशक्तिशाली है, (अत्त्रिः) प्रलय में संसार का अदन अर्थात् भक्षण करता है। और सृष्टि काल में त्राण (यः) जिसने (इदं विश्वं भुवनम्) यह सब भुवन को (जजान) पैदा किया है। (तस्य देवस्य·········पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[अत्त्रिः पद स्पष्टरूप में परमेश्वर-वाचक है। इसे अन्नाद भी रहा है (मन्त्र ७), वेदान्त में इसे अत्ता कहा है, "अत्ता चराचरग्रहणात्" (१।२।९)। अप्सु=सामुद्रिक जलों में तथा हृदय के रक्तरूपी जलों में (अथर्व० १०।२।११), तथा विस्तृत अन्तरिक्ष में (निघं० १।३), आपः=आप्लृ व्याप्तौ, व्याप्त अन्तरिक्ष]।

शु॒क्रं व॑हन्ति॒ हर॑यो रघु॒ष्यदो॑ दे॒वं दि॒वि वर्च॑सा॒ भ्राज॑मानम् ।
यस्यो॒र्ध्वा दिवं॑ त॒न्व१॒॑स्तप॑न्त्य॒र्वाङ् सु॒वर्णैः॑ पट॒रैर्वि भा॑ति॒ ।
तस्यं दे॒वस्य॑······पाशान् ॥१६॥

(दिवि) द्युलोक में (वर्चसा) तेज द्वारा (भ्राजमानम्) चमकते हुए, (शुक्रम्, देवम्) पवित्र सूर्य-देव को (रघुष्यदः हरयः) शीघ्रगामी रश्मि-रूपी अश्व (वहन्ति) हम तक प्राप्त कराते हैं। (यस्य) जिस सूर्य देव के (ऊर्ध्वाः) ऊर्ध्व दिशा के (तन्वः) रश्मिविस्तार (दिवं तपन्ति) द्युलोक को तपाते हैं, और (अवाङ्) नीचे पृथिवी की ओर वह (सुवर्णैः) सुवर्णमय (पटरैः) रश्मि समूह द्वारा (विभाति) प्रदीप्त होता है। (तस्य देवस्य ·········पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[वहन्ति=वह प्रापणे। सूर्य का हमारे साथ सम्बन्ध उस की रश्मियों द्वारा होता है। सूर्य के वर्णन द्वारा सूर्य के अधिष्ठाता परमेश्वर का भी वर्णन जानना चाहिये। "क्रुद्ध" परमेश्वर ही हो सकता है, सूर्य नहीं। "तस्य देवस्य क्रुद्धस्य पाशान्" इस मन्त्र भाग को प्रत्येक मन्त्र के साथ बार-बार कथन का अभिप्राय है कि जिन मन्त्रों में सूर्य-पिण्ड का वणन प्रतीत होता है, उन में उस के अधिष्ठाता परमेश्वर का भी वर्णन समझा जाय।

परमेश्वर पक्ष में

(दिवि) मस्तिक में (वर्चसा भ्राजमानम्) तेज द्वारा चमकते हुए (शुक्रम्, देवम्) पवित्र परमेश्वर देव को (रघुष्यदः हरयः) तीव्रवेगी

प्रत्याहार आदि योगाङ्गों वाले योगिजन (वहन्ति) प्राप्त करते हैं । (यस्य) जिस के (ऊर्ध्वाः, तन्वः) ऊपर के मस्तिष्क में विस्तार (दिवम्) मस्तिष्क को (तपन्ति) प्रकाशित करते हैं, और जो (अर्वाङ्) अधःस्थ हृदय में (सुवर्णैः) उत्तम वर्णों वाले (पटरः) प्रकाशसमूहों द्वारा (वि भाति) विविध प्रकार से चमकता है । (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[दिवि="दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२) । "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३) । शुक्रम्=शुचिर् पूतिभावे । हरयः मनुष्यनाम (निघं० २।३) । वहन्ति=वह प्रापणे । तन्वः=तनु विस्तारे । पटरैः=पटलैः समूहैः । सुवर्णैः="हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्,—बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाश कल्पं, तत्र स्थिति वैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते" (योग १।३६, व्यास भाष्य), अर्थात् "हृदयकमल में चित्त की धारणा करने वाले को जो चित्त संवित्,—अर्थात् आकाशवत् प्रकाशवती प्रवृत्ति,—सूर्य, चन्द्र, तथा मणि की प्रभारूप में नानारूप वाली होती है" । ये उत्तमवर्णों वाले प्रकाशसमूह, हृदयकाल में योगी को प्रकट होते है । इन प्रकाश समूहों द्वारा इन में मानो परमेश्वर की ज्योति चमकती है, जैसे कि वह चान्द, सूर्य, तथा तारागणों में चमक रही है । इन ज्योतियों के प्रकट होने पर, चित्त अधिकाधिक स्थिरता को प्राप्त हो कर, परमेश्वर के साक्षात्कार में हेतुभूत हो जाता है । रघुष्यदः="तीव्रसंवेगानामासन्नः" (योग १।२१), अर्थात् तीव्र संवेग (वेग या वैराग्य) वालों को समाधिलाभ तथा समाधि का फल शीघ्र प्राप्त हो जाता है] ।

येनादित्यान् हरितः सं वहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । तस्य देवस्य······पाशान् ॥१७॥

(येन) जिस परमेश्वर की सहायता द्वारा (हरितः) अन्धकार का हरण करने वाली आदित्य-रश्मियां (सं वहन्ति) परस्पर मिलकर आदित्य का वहन करती हैं, (येन यज्ञेन) जिस यजनीय परमेश्वर की सहायता द्वारा (प्रजानन्तः) प्रज्ञा को प्राप्त हुए जन (यन्ति) जीवनयापन करते हैं । (यद्) जो (एकं ज्योतिः) एक ज्योति (बहुधा) बहु प्रकार से (वि भाति) चमक रही है, अर्थात् जगत् के विविध रूपों में चमक रही है, (तस्य देवस्य······पाशान्), पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।
तस्य देवस्य······पाशान् ॥१८॥

(एकचक्रम् रथम्) एक चक्र वाले रथ को (सप्त युञ्जन्ति) सात अश्व (युञ्जन्ति) जोतते हैं, वस्तुतः (सप्तनामा) सात अश्वों में परिणत होने वाला (एकः अश्व) एक अश्व (वहति) रथ को चलाता है । (चक्रम्) चक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला, (अजरम्) जरा रहित, (अनर्वम्) नाश रहित है, (यत्र) जिस चक्र में (इमा विश्वा भुवना) ये सब भुवन (अधि तस्थुः) अधिष्ठित हैं । (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) । अनर्वम्=अथवा विना प्राणी घोड़े का चक्र रथ ।

[एकचक्र रथ=सूर्य । सूर्य चक्राकार है, गोल है, और अकेला आकाश में विचरता है । सूर्य के विचरते काल में चान्द, नक्षत्र, तारागण नहीं होते । सूर्यरथ का वहन एक जातीय शुभ्रवर्ण वाली रश्मियां करती हैं जोकि सप्तरंगी सात रश्मियों में फट कर परिणत हो जाती हैं । तीन ऋतुएं अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और शरद् मानो इस चक्र की तीन नाभियां[1] हैं । रथ के चक्र अपनी अपनी रथ-नाभि के चारों ओर घूमते हैं । सूर्यरूपी चक्र, नाभिरूप तीन ऋतुओं के चारों ओर मानो घूम रहा है । सूर्य के आधार पर सब सौर-भुवन अधिष्ठित हैं । "विश्वा भुवना" पद द्वारा सूर्य के अधिष्ठाता परमेश्वर का वर्णन भी अभिप्रेत है, जिस के आश्रय जगत् के समग्र भुवन अधिष्ठित हैं । इस सूर्य-रथ पर सूर्य का स्वामी परमेश्वर अधिष्ठित है । "एक चक्रं रथम्" एक चक्र वाले रथ की सम्भावना को सूचित किया है, अर्थात् mono cycle vehicle को] ।

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ।
तस्य देवस्य······पाशान् ॥१९॥

१. नाभियां=केन्द्र । सौर-चक्र की ३ नाभियां अर्थात् केन्द्र कहे हैं । तीन केन्द्रों पर की परिधि या चक्र वृत्ताकार न हो कर बृहद् अण्डाकार होता है । वेदानुसार सूर्य नहीं चलता, अपितु पृथिवी चलती है । पृथिवी के चलने से सूर्य चलता प्रतीत होता है । अतः पृथिवी के मार्ग की अण्डाकृति दर्शाई है । अथवा त्रिणाभि चक्रम्=ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुरूपी ३ नाभियां ।

(अष्टधा) आठ योगाङ्गों द्वारा आठ प्रकार से (युक्तः) योग युक्त किया गया (उग्रः वह्निः) उग्र वाहक परमेश्वर, (वहति) सिद्ध योगी के शरीर रथ का वहन करने लगता है। वह (देवानाम्) द्योतमान सूर्यादि का (पिता) पिता है, और (मतीनाम्) वैदिक ज्ञानों का (जनिता) उत्पादक है। (ऋतस्य तन्तुम्) सत्यज्ञान तथा संसार के सत्य नियमों के कारणीभूत परमेश्वर को, (मनसा) मानो ज्ञानपूर्वक (मिमानः) मापता हुआ (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (पवते) गति करता या बहता है।

[अष्टधा=आठ प्रकार से । योगाङ्ग आठ हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (योग २।२९) । इन आठ योगाङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग परमेश्वर को योग[1] युक्त करने में सहायक है। इस लिये परमेश्वर को "अष्टधायुक्तः" कहा है । परमेश्वर उग्र है, आसानी से योगयुक्त नहीं किया जा सकता, जैसे कि उग्र अश्व या उग्र बैल आसानी से जोता नहीं जा सकता । परमेश्वर की उग्रता पर, आठ योगाङ्गों द्वारा काबू पाया जा सकता है। वशीभूत परमेश्वर सिद्ध-पुरुष के शरीर-रथ का वहन करने लगता है । उस अवस्था में सिद्ध-पुरुष के जीवन में परमेश्वर प्रेरक हो जाता है । परमेश्वर सूर्यादि जड़-जगत् का तथा वैदिक ज्ञानों का पिता तथा जनयिता है।

तन्तुम्=तन्तु कारण है पट के, वस्त्र के। परमेश्वर तन्तुवत् संसार पट का कारण है, सांसारिक नियमों तथा वैदिक ज्ञानों का कारण है। मिमानः=वायु मानो व्यापक परमेश्वर के परिमाण को नापने के लिये सब[2] दिशाओं में गति कर रही है । जैसे कि कहा है कि "क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा" (अथर्व० १०।७।४), अर्थात् कहां जाना चाहती हुई वायु गति कर रही है । उत्तर में कहा है कि "स्कम्भ रूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिए" वायु गति कर रही है]।

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वां अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे ।
तस्य देवस्य····पाशान ॥२०॥

१. परमेश्वर को योगसाधनों द्वारा शरीर-रथ में जोतना।

२. मानो परमेश्वर की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई नापने के लिये चारों तथा ऊर्ध्व-दिशा में वायु गति करता है ।

(सर्वाः प्रदिशः अनु) सब फैली दिशाओं के साथ-साथ (सम्यञ्चम्) सम्यक् फैले हुए, (गायत्र्याम् अन्तः) और गायत्री के भीतर [प्रतिपाद्यरूप में विद्यमान], तथा (अमृतस्य) अमृत-तत्त्व प्रकृति के (गर्भे) गर्भ में [प्रेरक रूप से विद्यमान], [तन्तुम्) जगत् के कारणीभूत परमेश्वर को [मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा" (मन्त्र १९), मापती हुई अन्तरिक्षस्थ वायु सब दिशाओं में गति कर रही है] (तस्य देवस्य पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[अन्तर्गायत्र्याम्="यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव । यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्" अथर्व० ४।३५।६) में 'गायत्री में मुख्यरूप से परमेश्वर के प्रतिपाद्य होने से परमेश्वर को गायत्री का अधिपति कहा है] ।

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म ।
तस्य देवस्य·······पाशान्॥२१॥

(निम्रुचः) सूर्यास्त (तिस्रः) तीन हैं, (व्युषः) उषाएँ (ह तिस्रः) निश्चय से तीन हैं, (रजांसि) लोक (त्रीणि) तीन हैं, (अङ्ग) हे प्रिय ! (दिवः) द्युलोक (तिस्रः) तीन हैं। (अग्ने) हे अग्नि (त्रेधा) तीन प्रकार के (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्मों को (विद्मा) हम जानते हैं। (त्रेधा) तीन प्रकार के (देवानाम्) देवों के (जनिमानि) जन्मों को (विद्म) हम जानते हैं। (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १) ।

[दिवः तिस्रः=(१) विषुवती रेखा अर्थात् Equinoctial, जिस पर सूर्य के उदयास्त पर दिन-रात बराबर होते हैं, २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को,—वह द्यु भाग । (२(विषुवती रेखा के उत्तर का द्युभाग। (३) विषुवती रेखा के दक्षिण का द्युभाग। इस प्रकार तीन द्युभाग "दिवः तिस्रः" हैं ।

निम्रुचः व्युषः तिस्रः=(१) सूर्य का विषुवती रेखा पर उदयास्त होना, २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को; (२) सूर्य का कर्क राशि पर उदयास्त होना २१ जून को, कर्क राशि उत्तरायण की अन्तिम सीमा है; (३) सूर्य का मकर राशि पर उदयास्त होना २१ दिसम्बर को, मकर राशि

दक्षिणायन की अन्तिम सीमा है। इन तीन[1] स्थानों पर सूर्य के उदयास्त के अनुसार सूर्यास्त तथा उषाएं भी तीन प्रकार की हो जाती है। दिन-रात के बराबर होने, दिनों के बड़े होने, तथा रातों के बड़े होने से सूर्य के उदयास्त के समय भिन्न-भिन्न हो जाने से निम्रुचः अर्थात् सूर्यास्त, तथा व्युषः अर्थात् सूर्योदय सम्बन्धी उषाएं भी भिन्न-भिन्न अर्थात् त्रिविध हो जाते हैं। व्युषः अर्थात् विविध प्रकार की उषाएं।

त्रीणि रजांसि="लोका रजांस्युच्यन्ते" निरुक्त (४।३।१६)। तीन लोक हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः। अग्ने त्रेधा जनित्रम्=अग्नि के जन्म तीन प्रकार के हैं। पार्थिवाग्नि का जन्म इध्म से होता है। अन्तरिक्षीय अग्नि अर्थात् विद्युत् का जन्म मेघों से होता हैं। द्युलोकस्थ अग्नि का जन्म द्युलोक के तत्त्वों द्वारा होता है। वर्तमान पाश्चात्य वैज्ञानिक इस तत्त्व को हाइड्रोजन कहते हैं

त्रेधा देवानां जन्मानि=देवों के त्रिविध जन्म=सूर्य तथा सूर्य सदृश स्वयं प्रकाशी देवों का जन्म प्रकृति की प्रकाशमयी "विराट्" अवस्था से; पृथिवी आदि ग्रहों का जन्म सूर्य से; तथा उपग्रह रूपी चन्द्र आदि का जन्म ग्रहों से हुआ हैं। इस प्रकार देवों के जन्म त्रेधा अर्थात् त्रिविध हैं]।

वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे ।
तस्य देवस्य······पाशान् ॥२२॥

(यः) जो सूर्य (जायमानः) पैदा होता हुआ, (पृथिवीम्[2]) पृथिवी को (वि और्णोत्) विशेतया प्रकाश से आच्छादित करता, या अन्धकार के आच्छादन से विगत करता, और (समुद्रम्) समुद्र अर्थात् मेघ को (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (आ अदधात्) स्थापित करता हैं, (तस्य देवस्य··· पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

---

१. आदित्य के लिये इन तीन स्थानों को "तीन बन्धन" भी कहा है। यथा "त्रीणित आहुर्दिविबन्धनानि" (यजु० २६।१५)। आदित्य की प्रतीयमान गति द्युलोक के इन तीन स्थानों में बन्धी हुई है।

२. तथा "जो परमेश्वर हृदय या मस्तिष्क में प्रकट हुआ, शरीर में विशेष आभा प्रकट करता है, तथा जिसने अन्तरिक्ष अर्थात् वक्षः स्थल में विद्यमान हृदय-समुद्र को स्थापित किया है···। पृथिवीम्="पृथिवी शरीरम्" (अथर्व० ५।६।७); "पृथिव्याः शरीरम्" (अथर्व० ५।१०।८)। समुद्रम्="हृद्यात् समुद्रात्" (यजु० १७।६३), तथा "सिन्धु सृत्याय" (अथर्व० १०।२।११) में सिन्धु=हृदय।

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितो३ऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि ।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः ।
तस्य देवस्य···पाशान् ॥२३॥

(अग्ने) हे अग्रणी! (त्वम्) तू (क्रतुभिः) निज कर्मों द्वारा (केतुभिः) तथा प्रज्ञाओं द्वारा (हितः) सब का हितकारी है। (समिद्ध) प्रदीप्त हुआ अर्थात् प्रकट हुआ तू (अर्कः) सूर्य सदृश है, और (दिवि) मस्तिष्क में (उदरोचथाः) उदित हुआ चमकता है। (यद्) जब (देवाः) दिव्य योगिजन (रोहितम्) तुझ सर्वोपरि आरूढ़ को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं; तब वे (पृश्निमातरः) भूमि माता से उत्पन्न हुए (मरुतः) मरणधर्मा मनुष्य (किम्) और किस को (अभि आर्चन्) लक्ष्य कर के अर्चना अर्थात् स्तुति तथा पूजा करें, अर्थात् तेरी ही स्तुति तथा पूजा करें।

[दिवि="दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।)। पृश्निमातरः =पृश्नि अर्थात् विविध वर्णों से स्पृष्ट पृथिवी है माता जिन की ऐसे मनुष्य मरुत्=म्रियते, मनुष्य जातिः (उणा० १।६४, महर्षि दयानन्द)।

अजनयन्त=परमेश्वर के सम्बन्ध में जब जन्म या जन् धातु का प्रयोग हो तो अर्थ "प्रकट होना" होता है, उत्पन्न होना नहीं। देखो (अथर्व. १३।४(४)।२६-३६)।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः । तस्य देवस्य······पाशान् ॥२४॥

(यः) जो परमेश्वर (आत्मदाः) आत्मा का दाता, (बलदाः) और बलों का दाता है, (विश्वे) सब (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) उत्तम-शासन की (उपासते) उपासना करते हैं, (देवाः) देव (यस्य) जिस के प्रशासन की उपासना करते हैं, या देव जिस के अधीन हैं। (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दोपाय-जगत् का, और (यः) जो इस (चतुष्पदः) चौपाए जगत् का (ईशे) अधीश्वर है, (तस्य देवस्य······पाशान्) पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[आत्मदाः=शरीरों में आत्माओं का देने वाला । प्रार्थी जीवन को जेल न समझता हुआ, जीवन को उन्नति और मोक्ष का साधन जानकर परमेश्वर की स्तुति "आत्मदाः" पद द्वारा करता है । बलदाः=शारीरिक ऐन्द्रियिक, मानसिक तथा आत्मिक बलों का दाता । उपासते=सच्चे उपासक जैसे परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, वैसे सब जड़ जगत् परमेश्वर के उत्तम-शासन के अनुसार चल रहा है]।

एकपाद् द्विपदो भूयो विचक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तिमुपतिष्ठमानः ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥२५॥

(एकपाद्)[1] एकपाद् पुरुषार्थ वाला मनुष्य (भूयः) फिर (द्विपदः) दोपाद् पुरुषार्थ वाले व्यक्तियों की ओर (विचक्रमे) विशेष पग बढ़ाता है, (द्विपात्) द्विपाद् पुरुषार्थ वाला बन कर (पश्चात्) तदनन्तर (त्रिपादम् अभि) त्रिपाद् पुरुषार्थ वाले व्यक्ति की ओर (एति) आता है। तत्पश्चात् वह (चतुष्पाद् चक्रे) चतुष्पाद् पुरुषार्थ वाला होकर तदनुसार आचरण करता है ऐसे (द्विपदाम्) दो पग वाले मनुष्यों की (अभि स्वरे) पुकार कर परमेश्वर (सं पश्यन्) उन की अभिलाषा को देखता हुआ, (पंक्तिम्) उन उपासकों की पंक्ति में (उपतिष्ठमानः) उपस्थित हो जाता है। (तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) उस क्रुद्ध देव के लिये (एतत्) यह (आगः) अपराध या अपराधी है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के (विद्वांसं ब्राह्मणम्) विद्वान् ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को (जिनाति) हानि पहुंचाता है। (रोहित) हे सिंहासनारूढ़ राजन् ! (उद् वेपय) ऐसे व्यक्ति को कम्पा, (प्रक्षिणीहि) ऐसे व्यक्ति का क्षय कर, (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता को हानि पहुंचाने वाले पर (पाशान् प्रतिमुञ्च) फन्दे डाल ।

[पुरुषार्थ के चार पाद हैं, धर्म, अर्थ,काम और मोक्ष । प्रत्येक मनुष्य

१. एकपाद्=एक पादः (धर्मरूपः) यस्य सः । द्विपाद्=द्वौ पादौ (धर्माथौं) यस्य सः। त्रिपाद्=त्रयः पादाः (धर्मार्थकामाः) यस्य सः। चतुष्पाद्=चत्वारः पादाः (धर्मार्थकाममोक्षरूपाः) यस्य सः, अर्थात् चतुष्पाद् धर्मरूपः मनुष्यः ।

को चाहिये कि वह धर्म की आधारशिला पर, अर्थोपार्जन करके गृहस्थ धारण-कर, कालान्तर में अगले आश्रमों का ग्रहण कर, मोक्ष का अधिकारी बने। ऐसी अवस्था में पहुंचे व्यक्तियों की पुकार और अभिलाषाओं को परमेश्वर सुनता है। ऐसे व्यक्ति को हानि पहुंचाने वाले को राजा दण्ड दे, यह वैदिक आज्ञा मन्त्र द्वारा ज्ञात होती है] ।

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत ।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥२६॥

(कृष्णायाः रात्र्याः) काली रात्रि का (वत्सः) बच्चा (रोहितः) लाल सूर्य (अजायत) पैदा हुआ है । (सः ह) वह (द्याम् अधिरोहति) द्युलोक की ओर आरोहण करता है, और (अर्जुनः) शुक्ल हो कर (रुहः) द्युलोक की ऊंचाइयों तक (रुरोह) चढ़ गया है । इसी प्रकार काली रात्रि का (अर्जुनः पुत्रः) शुक्ल पुत्र परमेश्वर प्रकट हुआ है। वह मस्तिष्क रूपी द्युलोक की ओर आरोहण करता है, और मस्तिष्क तक की ऊँचाई तक चढ़ गया है।

[कृष्णायाः रात्र्याः="अजायत" में जन् धातु के प्रयोग के कारण "कृष्णायाः रात्र्याः" को पञ्चम्यन्त, तथा सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठ्यन्त प्रयोग भी समझा जा सकता है । सूर्य जब क्षितिज से पैदा हो रहा होता है तब वह लाल होता है, जैसे कि कवि ने कहा है कि "**उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च**" । ताम्र लाल होता है । इस सूर्य को वत्स मात्र कह कर इस के उदय को विशेष महत्त्व नहीं दिया। सूर्य प्रतिदिन उदित होता ही रहता है।

परमेश्वर भी काली रात्रि से प्रकट होता है । रात्रि के काल में उपासना के अभ्यास से परमेश्वर प्रकट होता है। यथा "**नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः**" (अथर्व० १०।७।३१), अर्थात् "उपासक परमेश्वर के नाम को बार-बार जपता हुआ परमेश्वर का आह्वान करता है, सूर्योदय से पूर्व तथा उषा से पूर्व"। इसका अनुमोदन निरुक्तकार ने भी किया है, "**पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्**" (ऋ० ५।७७।२) का प्रमाण देते हुए "पूर्व-पूर्व काल के उपासक को अधिक सफल कहा है" (निरुक्त १२।३।५); तथा "**ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति**" (अथर्व० १९।४८।५) में रात्रि में अनुष्ठान का वर्णन हुआ है।

अर्जुनः पुत्रः—सूर्य उदित होता हुआ लाल होता है, परन्तु परमेश्वर उदित हुआ शुक्ल प्रतीत होता है । सूर्य उदित होता हुआ साधारण वत्स के सदृश है, परन्तु परमेश्वर उदित होता हुआ पुत्रसमान है, अर्थात् "बहुत रक्षा करने वाला; पालन करने वाला दुःख से या जन्ममरण की परम्परारूपी नरक से रक्षा करने वाला है। यथा "पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुन्नरकं ततः त्रायत इति वा" (निरुक्त २।३।११) । परमेश्वर में पुत्र के ये सब गुण पाये जाते हैं। इसीलिये कहा है कि "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ**" (अथर्व० ४।३९।९), अर्थात् "परमेश्वर अग्नि में अग्नि नाम वाला प्रविष्ट होकर विचरता है, यह ऋषियों का पुत्र है, उन की हिंसा से रक्षा करता है।"

रोहति, रुहः रुरोह=परमेश्वर प्रथम हृदय में प्रकट होता है, तदनन्तर आज्ञा चक्र में आरोहण करता, तत्पश्चात् मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र की ऊँचाई पर आरोहण करता है] ।

॥ तृतीय सूक्त समाप्त ॥

—:०:—

सूक्त ४

विषय प्रवेश

१ सूक्त ४ का भी ऋषि है ब्रह्मा, और देवता है "आध्यात्मिक सविता। अनुक्रमणिका में "**रोहितादित्य देवत्यम्**" कह कर रोहितादित्य को भी सूक्त ४ का देवता कहा है। परन्तु समग्र सूक्त ४ में न तो रोहित पद पठित है और न आदित्यपद। सम्भवतः सविता पद तथा सूर्यपद (४(१)।१,५) की दृष्टि से "**रोहितादित्यदेवत्यम्**" कह दिया हो।

२ समग्र सूक्त ४ में आध्यात्मिक-सविता का वर्णन हुआ है, और एक विषय होते हुए भी सविता के अवान्तर स्वरूपों को भिन्न-भिन्न ६ खण्डों में दर्शाया है, जिन्हें कि "पर्याय" कहते हैं। इस प्रकार सूक्त ४ के ६ पर्याय हैं। सूक्त ४ के कुल मन्त्र ५६ हैं, और मन्त्रों को १ से ५६ क्रमाङ्कों द्वारा दर्शाया है।

३ निरुक्तकार ने सविता के आधिदैविक स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि "**तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का कीर्णरश्मिर्भवति, अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवति**" (१२।२।१३), अर्थात् सविता के काल में द्युलोक का अन्धकार तो दूर हो जाता है, परन्तु नीचे पृथिवी पर अभी अन्धकार रहता है। इसीलिये सूक्त ४ के प्रारम्भ (१) में "अध्यात्म सविता" को "स्वः" पद द्वारा प्रकाशस्वरूप कह कर, उस के प्रकाश की स्थिति "दिवस्पृष्ठे" द्वारा मस्तिष्क में दर्शाकर, "आवृतः" (२) पद द्वारा अभी नीचे के चक्रों में उसे ढका हुआ अर्थात् अप्रकाशित ही दर्शाया है। अध्यात्म सविता के प्रकाश का जब अवरोहण होगा, तभी नीचे के चक्रों में उस का प्रकाश पहुंचेगा।

४ अध्यात्म-सविता के भिन्न-भिन्न गुणों और कर्मों के प्रदर्शक पर्यायवाची १२ नाम, जिन में सूर्यनाम भी पठित है (२-५)। सम्भवतः "सूर्यनाम" के आधार पर अनुक्रमणिका में "रोहितादित्यदेवत्यम्" कहा हो।

५ अध्यात्म दृष्टि से प्रायः ५ कोशों का वर्णन होता है। मन्त्र १० में "नवकोशाः" द्वारा ९ कोशों का वर्णन हुआ है। ९ कोशों के स्वरूपों पर प्रकाश डाला है (१०)।

६ मन्त्र १२-२४ में यह स्पष्ट कहा है कि मुख्य देवता एक ही है, और यह ही एक उपास्य है (४७-५६)।

७ सविता अर्थात् परमेश्वर के सम्बन्ध में जब "जन्" धातु का प्रयोग हो तब उसका अर्थ सामान्य जन्म या उत्पत्ति न होकर केवल ज्ञान अर्थ ही जानना चाहिये (२९-३८)। इन में से मन्त्र ३८ में सविता का जन्म ऋचाओं से दर्शाया है। ऋचाओं से सवितृ-परमेश्वर के स्वरूप का शाब्दिक-ज्ञान होता है, जन्म नहीं।

८ मन्त्र ३८ में यह दर्शाया है कि ऋचाओं की उत्पत्ति सविता अर्थात् प्रेरक (षू प्रेरणे) परमेश्वर से हुई है, अर्थात् ऋचाओं का कर्त्ता परमेश्वर ही है।

९ मन्त्र ४१-४२ में प्रलयकाल का वर्णन प्रतीत होता है।

१० मन्त्र ४६ में "इन्द्र" पद द्वारा परमेश्वर का कथन किया है। इन्द्र= इदि परमैश्वर्ये, अर्थात् परमैश्वर्य वाला परमेश्वर।

—:०:—

ब्रह्मा। आध्यात्मम्, रोहितादित्यदैवतम्। त्रिष्टुप् षट् पर्यायाः मन्त्रोक्त देवत्याः।

४ (१)

१-११ प्राजापत्यनुष्टुप्; १२ विराड् गायत्री, १३ आसुरी उष्णिक्।

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽव चाकशत् ॥१॥

(सः) वह (सविता) प्रेरक (स्वः) प्रकाशमान हुआ (दिवः पृष्ठे) मस्तिष्क की पीठ पर (एति) आता है, और (अव चाकशत्) नीचे के अङ्गों में प्रदीप्त होता है।

[सूक्त अध्यात्म है, अतः तदनुसार व्याख्या उपपन्न है। सविता= षू प्रेरणे। स्वः=स्वृ उपतापे। दिवः="शिर्षयश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२)। अव=नीचे। चाकशत्=चकासृ दीप्तौ। मन्त्र में समाविस्थ पुरुष में परमेश्वरीय प्रकाश का वर्णन हुआ है। परमेश्वर जब मस्तिष्क के सहस्रार चक्र में चमकता है तो उस की चमक नीचे के चक्रों अर्थात् आज्ञा चक्र, विशुद्धि चक्र, अनाहत (हृदय) चक्र में भी अनुभूत होती है। जैसे कि

द्युलोक में चमकते सूर्य का प्रकाश, अधस्थ अन्तरिक्ष तथा पृथिवी लोक में भी होता है।

मन्त्रों में सूर्य का वर्णन भी साथ-साथ जानना चाहिये। सूर्य के अधिष्ठातृ-देवब्रह्म का वर्णन भी अर्थापन्न है (यजु० ४०।१७)]।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥२॥

(रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (नभः) हृदयाकाश (आभृतम्) भर गया है, क्योंकि (आवृतः) ढका हुआ (महेन्द्रः) महेश्वर (एति) हृदयाकाश में आया है।

[महेन्द्र अर्थात् महेश्वर (सविता) जब हृदयाकाश में प्रकट होता है तब महेश्वर के प्रकाश से हृदयाकाश भर जाता है (छान्द० उप० अध्याय ८, खण्ड १, सन्दर्भ १-३)। आभृतम्=भृञ् भरणे (भ्वादि)। सूर्य पक्ष में नभः=मेघ। महेन्द्र=विद्युत् आकाश में ढकी रहती है। वर्षा काल में मेघ में आ प्रकट होती है]।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। रश्मिभि० ॥३॥[1]

(सः) वह सविता अर्थात् प्रेरक परमेश्वर (धाता) सब का धारण-पोषण करता है, (सः) वह (विधर्ता) विधियों का विधान करता है, (सः) वह (वायुः) वायुवत् प्राणभूत है, (नभः) आकाशवत् व्यापक है, (उच्छ्रितम्) ऊपर के द्युलोक में भी आश्रित है। (रश्मिभिः) देखो मन्त्र (२)।

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। रश्मिभि० ॥४॥

(सः) वह सविता (अर्यमा) अर्यमा है, (सः) वह (वरुणः) वरुण है, (सः) वह (रुद्रः) रुद्र है, (सः) वह (महादेवः) बड़ा-देव है। (रश्मिभिः) देखो मन्त्र (२)।

[सविता के भिन्न-भिन्न गुणकर्मों की दृष्टि से, अर्यमा आदि नाम हैं। सत्यार्थप्रकाश समुल्लास प्रथम में, इन नामों के अर्थ व्याख्यात हैं]।

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। रश्मिभि० ॥५॥

वह सविता अग्नि है, वह ही सूर्य है, वह ही महायम है। (रश्मिभिः) देखो मन्त्र (२)।

---

१. मन्त्र २ को, मन्त्र ३-७ के मन्त्रों की समाप्ति पर, आवृत्त किया जाता है।

[महायमः=महानियन्ता, जङ्गम,और स्थावर सृष्टि का नियन्ता] ।

तं वृत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता[1] दश । रश्मिभि० ॥६॥

(एक शीर्षाणः) "एक" जिन का शिरोभूत है ऐसे (दश) दस (वत्साः) बच्चे, (युताः)[1] परस्पर मिलकर, (तम्) उस पिता का (उपतिष्ठन्ति) उपस्थान करते हैं, पूजन करते हैं । (रश्मिभिः) देखो मन्त्र (२) ।

[शिरोभूत=मन । मन सहित ५ ज्ञानेन्द्रियां पुत्र रूप हो कर; निज पिता अर्थात् सविता का पूजन करती हैं । इन्हें वत्स अर्थात् पुत्र कहा है । परमेश्वर सब जगत् का पिता होने से मन और १० इन्द्रियों का भी पिता है । इन इन्द्रियों का शिरोभूत है, मन । मन से प्रेरणा पाकर इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करती हैं, तथा निज शक्तियों को परमेश्वरार्पित करती हैं । यथा **"यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा । यस्मै देवा सदा बलिं हरन्ति"** (अथर्व० १०।७।३९), अर्थात् देवलोग जिस स्कम्भ अर्थात् सब को थामने वाले परमेश्वर के प्रति, हाथों, पादों, वाणी, श्रोत तथा चक्षु द्वारा सदा भेंट देते हैं, अर्थात् निज शक्तियों को समर्पित कर उस का पूजन करते हैं । इसी प्रकार मन सहित १० इन्द्रियां निज पितृरूप सविता के प्रति निज व्यवहारों और शक्तियों को भेंट कर उस का उपस्थान करती हैं ।

सूर्यपक्ष में "एक शीर्षाणः"=जिन १० में से एकशिरोभूत है—ऐसा अर्थ होगा । १० हैं "बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, यूरेनस, नेपच्यून उल्का समूह (methods), तथा चन्द्रमा" । इन में से "पृथिवी" शिरोभूत है, मुखिया है । पृथिवी तथा अन्न से सम्पन्न है, अतः सम्पन्न होने से मुखिया है । ये सब सूर्य से उत्पन्न हैं, इसलिये सूर्य के वत्स हैं । ये सूर्य की परिक्रमाएँ कर रहे हैं, मानो इस द्वारा सूर्य-पिता का उपस्थान कर रहे हैं । उल्का समूह किसी समय एक ग्रह (Planet) था—ऐसा पाश्चात्य ज्योतिर्विद् मानते हैं । अतः उल्का समूह भी ग्रहरूप हैं] ।

---

१. "अयुताः" पाठ भी मिलता है । अयुताः का अर्थ है पृथक्-पृथक् । प्रत्येक इन्द्रिय के विषय पृथक्-पृथक् हैं, अतः प्रत्येक इन्द्रिय की विषय ग्रहण शक्ति भी पृथक्-पृथक् हैं । प्रत्येक इन्द्रिय पृथक्-पृथक् रूप में निज की भेंट करती है ।

पुश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति । रश्मिभि० ॥७॥

(प्राञ्चः[1]) आगे की ओर जाती हुईं, अर्थात् बहिर्मुख हुईं इन्द्रियां, जब (पश्चात्) पीछे की ओर (आ तन्वन्ति) फैलती हैं, अर्थात् अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब (यद्) जो चक्र (उदेति) खिलता है, वह (वि भासति) चमक उठता है । (रश्मिभिः) देखो मन्त्र २ ।

[जब इन्द्रियां अन्तर्मुख हो जाती हैं तो शारीरिक चक्रों पर चित्त को स्थिर करने पर चक्र खिल जाते हैं । शरीर के पृष्ठ की ओर सुषुम्णा-दण्ड हैं । इस में मुख्य आठ चक्र हैं । इसलिये शरीर को आठ चक्रों वाली पुरी कहा है । **"अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या"** (अथर्व० १०।२।३१) । प्रत्येक चक्र में सुषुम्णा दण्ड के अतिसूक्ष्म तन्तु विद्यमान हैं । जिस चक्र पर चित्त को स्थिर किया जाता है उस चक्र के तन्तु खिल कर, कमल की डोडी की तरह खिल कर, प्रकाश देने लगते हैं] ।

तस्यैष मारुतो गुणः स एति शिक्याकृतः ॥८॥

(एषः मारुतः गणः) यह वायुओं का समूह (तस्य) उस सविता का है । (सः) वह वायु समूह (शिक्याकृतः) छिक्के में धरी वस्तु के समान (एति) गति करता है । सविता=परमेश्वर ।

मारुतोगणः=प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान आदि गण । यह शरीररूपी छिक्के में धरा हुआ शरीर में गति करता है । परन्तु इस गण का स्वामी परमेश्वर है । अन्तरिक्षस्थ वायुगण अन्तरिक्ष में गति करता और सूर्य उस का स्वामी है ।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥९॥

रश्मियों द्वारा हृदयाकाश भर गया है, क्योंकि ढका हुआ महेश्वर हृदयाकाश में आया है । देखो (मन्त्र २) ।

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥१०॥

---

१. "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (उपनिषद् कठ० ४।१) ।

(तस्य) उस सविता के (इमे) ये (नव) नौं (कोशाः) कोश हैं, (विष्टम्भाः)[1] जो कि सविता को थामे हुए हैं, और (नवधा) नौ प्रकार से (हिताः) स्थापित किये हैं । परमेश्वर के थामने के स्थान, (बृहदा० उप० अ० ३ । ब्रा० ७ । खण्ड ३-२३) नव कोशाः=अन्नमय (शरीर), प्राणमय (जिसे कि मारुतोगण कहा है (मन्त्र ८), मनोमय (मन, संकल्प-विकल्पात्मक), आनन्दमय (आनन्दमयी चित्तवृत्ति, सम्प्रज्ञात योग की विशेषावस्था, योग १।१७), विज्ञानमय (ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीवात्मा) ये ५ विज्ञानमय कोश हैं, अर्थात् ज्ञान के साधन और आधार हैं । ये नवकोश सविता परमेश्वर को थामे हुए हैं, और नौ प्रकार से अलग-अलग स्थापित हैं[2]] ।

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥११॥

(सः) वह सविता (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के भले के लिये (वि पश्यति) अलग-अलग रूप में सब को देखता रहता है, अर्थात् (यच्च) जो कि (प्राणति) प्राणधारी है, (यच्च) और जो (न) प्राणधारी नहीं, अर्थात् जड़ है ।

---

१. जो परमेश्वर जगदाधार है, द्युलोक और भू लोक को थामे हुए है, "स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः" (अथर्व० १०।८।२), उसे शारीरिक ९ कोश थामते हैं—यह कथन यद्यपि संगत प्रतीत नहीं होता । तो भी इस का अभिप्राय यह है कि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं, सिवाय इन नौ कोशों के समूह के, जहां परमेश्वर साक्षात् अनुभूत हो सके, और उच्चकोटि के योगीजब चाहें अन्तर्ध्यानी होकर परमेश्वर के दर्शन पा सकें । इस लिये ९ कोशों के समूह को सविता के "विष्टम्भाः" कहा है ।

२. सूर्यपक्ष में ९ कोश=बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनि, युरेनस (वरुणम्), नेपचून, चन्द्रमा । ये ९ कोश हैं जो कि सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और जिन के मध्यवर्ती सूर्य है, अतः सूर्य के कोश हैं । इन द्वारा आकृष्ट किया सूर्य निज स्थान में विष्टब्ध हुआ है, थामा हुआ है । अथवा चन्द्रमा के स्थान में "उल्का समूह" की गणना करनी चाहिये, जो कि मङ्गल और बृहस्पति के मध्य में गति करते हैं, जोकि पाश्चात्य ज्योतिषियों के अनुसार ग्रहरूप थे, और किसी कारण इस ग्रह के फट जाने से अब उल्कारूप (metesrs) हो गए हैं, जो कि रात्रि में टूटने तारा के रूप में कभी-कभी दृष्टिगोचर होते हैं । इन्हें उल्कापात कहते हैं ।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥१२॥

(इदम्) यह (सहः)[1] बलशाली जगत् (तम्) उस सविता में (निगतम्) प्रविष्ट है, उस के आश्रय में है । (स एषः) वह यह सविता (एकः) एक है, (एकवृत्)[2] एक महाशक्ति रूप विद्यमान हैं, (एक एव) एक ही है (देखो १३।४।(२)१६-१८) ।

[सः एषः=वह अर्थात् दूरस्थ, तथा एषः अर्थात् समीपस्थ । यथा "तद् दूरे तद्वन्तिके" (यजु० ४०।५)] ।

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥१३॥

(एते) ये (देवाः) सब दिव्य पदार्थ, (अस्मिन्) इस सविता परमेश्वर में, (एक वृतः)[3] अर्थात् इस एक में वर्तमान (भवन्ति) होते हैं ।

४ (२)

१४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्; १५ आसुरी पङ्क्तिः; १६, १९ प्राजापत्यानुष्टुप्; १७-१८ आसुरी गायत्री ।

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥१॥
(मन्त्र १४)[4]

(कीर्तिः च) उस के सम्बन्ध में संकीर्तन, (यशः च) उस का यश (अम्भः च) ज्ञान की दीप्ति, (नभः च) उस के पापकर्मों का हिंसन, (ब्राह्मणवर्चसम् च) ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का तेज, (अन्नं च) दुग्धादि अन्न (अन्नाद्यम्, च) और खाने योग्य अन्न होते हैं:—

---

१. सहः बलनाम (निघं० २।९) ।

२. एकः वर्तते इति ।

३. एकस्मिन् [सवितरि परमेश्वरे] वर्त्तन्ते इति । सूर्यपक्ष में एकवृत् अर्थात् सौर परिवार में सूर्य एक ही है । और सब ग्रह इसी एक के आश्रय में एकवृतः हैं । तथा ९ प्रकार के कक्षा-वृत्तों में पृथक्-पृथक् निहित हैं ।

४. यहां से आगे पर्यायसूक्त के मन्त्रों की क्रम संख्या १-२ आदि के पश्चात् जो ॥१३॥ ॥१४॥ आदि संख्या दी गई है वह पुरे चौथे सूक्त की मन्त्र संख्या है । ऐसा जानना चाहिये ।

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥२॥ (१५)

जो कि (एतम्) इस सविता को (एकवृतम् देवम्) एकमात्र देव (वेद) जानता है।

[नभः=णभ् हिंसायाम् । अम्भश्च=अम् गत्यादिषु, गतिः ज्ञानम्; यथा "गतेस्त्रयोरर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च"+भ (दीप्ति), भा दीप्तौ। जो सविता अर्थात् जगत् के प्रेरक परमेश्वर को जान लेता है, साक्षात् कर लेता है, उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । य एतं० ॥३॥ (१६)

न दूसरा, न तीसरा, और न चौथा परमेश्वर कहा जाता है। (य एतम्) देखो मन्त्र (२)।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते । य एतं० ॥४॥ (१७)

न पांचवां, न छठा, और न भी सातवां परमेश्वर कहा जाता है। (य एतम्) देखो मन्त्र (२)।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । य एतं० ॥५॥ (१८)

न आठवां, न नौवां और न भी दसवां यह परमेश्वर कहा जाता है। (य एतम्) देखो मन्त्र (२)।

[अभिप्राय ३-५ का यह है कि परमेश्वर को जो एक मात्र देव जानता है, उस के लिये परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई उपास्य नहीं। मौलिक संख्याएं १-१० तक हैं, पश्चात् की संख्याएं इन्हीं की पुनरावृत्ति रूप हैं। अतः दस तक वर्णन हुआ है]।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । य एतं ॥६॥ (१९)

(सः) वह परमेश्वर (सर्वस्मै) सब के भले के लिये (वि पश्यति) अलग-अलग रूप में सब को देखता रहता है, (यच्च) अर्थात् जो (प्राणति) प्राणधारी है, (यच्च) और जो प्राणधारी नहीं, अर्थात् जड़ है। (य एतम्) देखो मन्त्र (२)।

[४(१)।११ में प्रजाओं अर्थात् उत्पन्न पदार्थों का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ४(२)।६ में सब उत्पन्न और अनुत्पन्न, प्राणी और अप्राणी जगत् का वर्णन हुआ है]।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । य एतं० ॥७॥ (२०)

(इदम्) यह (सहः) बलशाली जगत् (तम्) उस सविता में (निगतम्) प्रविष्ट है, उस के आश्रय में है, (सः एषः) वह यह सविता (एकः) एक है, (एक वृत्) एक महा शक्ति रूप विद्यमान है, (एक एव) एक ही है। (य एतम्) देखो मन्त्र (२)।

[अभिप्राय, पूर्ववत् (४(१)।१२)]।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । य एतं० ॥८॥ (२१)

(सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ, (अस्मिन्) इस सविता में (एकवृतः) अर्थात् इस एक में वर्तमान (भवन्ति) होते हैं। (य एतम्) देखो मन्त्र (२)।

४ (३)

२२ भुरिक्प्राजापत्या त्रिष्टुप्; २३ आर्षी गायत्री; २५ एकपदा-आसुरी गायत्री; २६ आर्षी अनुष्टुप्; २७, २८ प्राजापत्यानुष्टुप्।

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च । ॥१॥ (२२)

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥२॥ (२३)

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥३॥ (२४)

(ब्रह्म च) वेद-वेदार्थ का ज्ञान, (तपः च) तपोमय जीवन, (कीर्तिः च) व्यक्तित्व का संकीर्तन, (यशः च) यश, (अम्भः च) ज्ञान की दीप्तिः, (नभः च) पापकर्मों का हिंसन, (ब्राह्मण वर्चसम् च) ब्रह्मवेत्ताओं का तेज, (अन्नं च) अन्न, (अन्नाद्यम् च) और खाने-योग्य अन्न ॥१॥ (भूतं च, भव्यं च) भूत और भविष्य का ज्ञान, (श्रद्धा च, रुचिः च) श्रद्धा और श्रद्धेय में रुचि, (स्वर्गः च, स्वधा च) स्वर्ग और स्वधारणशक्ति अर्थात् स्वावलम्बिता ॥२॥ होते हैं, (यः) जो व्यक्ति (एतम्) इस सविता परमेश्वर को (एकवृतम् देवम्) एकमात्र देव (वेद)[1] जानता है।

---

१. वेद=साक्षात्कार।

[कीर्तिः=कृत संशब्दे=संकीर्तन । भूतं च भव्यं च=यथा परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् (योग ३।१६), अर्थात् धर्मपरिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्थापरिणाम में संयम द्वारा वस्तु सम्बन्धी अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) का परिज्ञान होता हैं (देखो सूत्र पर व्यासभाष्य) । अम्भः=अम् गत्यादिषु । अत्र गतिः=ज्ञानम् । गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च । अम्+भः (भा दीप्तौ) । नभः=णभ् हिंसायाम्] ।

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ॥४॥ (२५)

(सः) वह सविता परमेश्वर (एव) ही (मृत्युः) मृत्यु है, (सः) वह (अमृतम्) अमृत है, (सः) वह (अभ्वम्) सृष्टि का अभाव करने वाला अर्थात् विनाशक है, (सः) वह (रक्षः) सृष्टि रक्षक है ।

[परमेश्वर ही मृत्युरूप से प्राणियों की मृत्यु करता और अमृत रूप में जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करता अर्थात् जन्ममरण की शृङ्खला से मुक्त करता है । वह ही सृष्टि विनाशक और सृष्टि रक्षक है ।

अभ्वम्=अ+भू (सत्तायाम्)+व (औणादिकः), ऊकारलोपः, क्लीबत्वं च । "सत्ता का अभाव" करने वाला । रक्षः=रक्षतीति, पालकः (उणा० ४।१९०, महर्षि दयानन्द)] ।

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥५॥ (२६)

(सः) वह (रुद्रः) रौद्ररूप रुलाने वाला है, (वसुदेये) सम्पत्तियों के प्रदान में (वसुवनिः) सम्पत्तियों का विभाग करने वाला, (नमोवाके) "नमः" कहने (वषट्कारः) पर कष्टनाशक है, (अनु संहितः) सदा सम्यक्तया हितकारी हैं ।

(रुद्रः) पापियों को, उन के कर्मों के अनुसार, रौद्ररूप में परमेश्वर, उन्हें रुला कर, सुपथ में प्रवर्तित कर, उन का हित करता है । वसुवनिः=वसु+वन (संभक्तौ) । "वषट्" का प्रयोग याज्यामन्त्रों की समाप्ति पर आहुतियों के प्रदान में होता हैं । यह शब्द मन्त्रान्त का सूचक होते हुए, यहां दुःखान्त तथा कष्टान्त का सूचक है । अथवा वषट् कारः=वष् (हिंसायाम्)+अट् (गतौ)+कारः=हिंसा को विगत करने वाला । अनुसंहितः=कर्मानुसार सुख दुःख प्रदान करने से परमेश्वर सदा हित करता है । राष्ट्र में न्यायाधीश दण्डविधान द्वारा प्रजा का हित ही करते हैं] ।

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥६॥ (२७)

(इमे) ये (सर्वे) सब (यातवः) गतिशील तारागण आदि, (तस्य) उस सविता परमेश्वर के (प्रशिषम्) उत्तम-शासन की (उप आसते) उपासना करते हैं, अर्थात् उस के आज्ञापालक हैं ।

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥७॥ (२८)

(चन्द्रमसा सह) चन्द्रमासहित (अमू सर्वा नक्षत्रा=अमूनि सर्वाणि नक्षत्राणि) वे सब नक्षत्र (तस्य) उस सविता के (वशे) वश में हैं ।

[नक्षत्रा=Ecliptic (रविमार्ग में वर्तमान) नक्षत्र । वेदानुसार, २८ नक्षत्र हैं, जोकि चन्द्रमा की दैनिक गति द्वारा निश्चित किये गए हैं । ये सब भी सविता के अधीन हैं, उस के आज्ञापालक हैं । २८वां नक्षत्र है "अभिजित्" । नक्षत्रों के लिये देखो (अथर्व० १९।७,८) के मन्त्र] ।

४ (४)

२९, ३३, ३९, ४०, ४५ आसुरी गायत्री; ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३१ विराड् गायत्री; ३४, ३७, ३८ साम्नी उष्णिक्; ४१ साम्नी बृहती; ४३ आर्षी गायत्री; ४४ साम्नी अनुष्टुप् ।

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥१॥ (२९)

(सः) वह सविता अर्थात् प्रेरक परमेश्वर (वै) निश्चय से (अह्नः) दिन से (अजायत) पैदा अर्थात् प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उससे (अहः) दिन (अजायत) पैदा हुआ है ।

[दिन कार्य है, प्रतिदिन नया दिन आता हैं । इस कार्य का कोई चेतन-कर्त्ता होना चाहिये, जैसे कि घट-पट आदि कार्यों के कुम्हार और जुलाहा आदि चेतन-कर्त्ता होते हैं । परमेश्वर के कार्यों द्वारा परमेश्वर का अनुमान होता है । यह परमेश्वर का जन्म अर्थात् प्रकट होना है । यही तर्क अगले १० संख्या के मन्त्रों तक जाननी चाहिये] ।

स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥२॥ (३०)

(सः वै) वह निश्चय से (रात्र्याः) रात्रि से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (रात्रिः) रात्रि (अजायत) पैदा हुई है ।

[प्रजायत=इस पद में "जन्" धातु का प्रयोग है, जिस का प्रसिद्ध अर्थ है जन्म धारण करना। दिन और रात्रि आदि से सविता-परमेश्वर का प्रसिद्धार्थक जन्म नहीं होता, न ही प्रतिदिन और प्रतिरात्रि से सविता-परमेश्वर का प्रतिदिन और प्रतिरात्रि जन्म होता रहता है। प्रतिदिन और प्रतिरात्रि, सविता-परमेश्वर का प्रकटी करण तो अनुमान द्वारा होता ही रहता है]।

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥३॥ (३१)

(सः वै) वह निश्चय से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (अन्तरिक्षम्, अजायत) अन्तरिक्ष पैदा हुआ है।

स व वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥४॥ (३२)

(सः वै) वह निश्चय से (वायोः) वायु से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (वायुः) वायु (अजायत) पैदा हुई है।

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥५॥ (३३)

(सः वै) वह निश्चय से (दिवः) द्युलोक से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्माद् अधि) उस से (द्यौः) द्युलोक (अजायत) पैदा हुआ है।

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥६॥ (३४)

(सः वै) वह निश्चय से (दिग्भ्य) दिशाओं से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (दिशः) दिशाएँ (अजायन्त) पैदा हुई हैं।

स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥७॥ (३५)

(सः वै) वह निश्चय से (भूमेः) भूमि से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (भूमिः) भूमि (अजायत) पैदा हुई है।

स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥८॥ (३६)

(सः वै) वह निश्चय से (अग्नेः) अग्नि से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (अग्निः) अग्नि (अजायत) पैदा हुई है।

स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥९॥ (३७)

(सः वै) वह निश्चय से (अद्भ्यः) जलों से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (आपः) जल (अजायन्त) पैदा हुए हैं।

स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥१०॥ (३८)

(सः वै) वह निश्चय से (ऋग्भ्यः) ऋचाओं से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (ऋचः) ऋचाएँ (अजायन्त) पैदा या प्रकट हुई हैं।

[इस वर्णन में स्पष्ट कहा है कि ऋचाएँ अर्थात् वेद, सविता नाम वाले अर्थात् प्रेरक परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। परमेश्वर ने आद्य ऋषियों में वेद प्रेरित किये। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि ऋचाओं से सविता तथा परमेश्वर का प्रसिद्धार्थक जन्म नहीं होता, अपितु उस के स्वरूप का बौद्धिक ज्ञानमात्र होता है। इसलिये जिन भी मन्त्रों में परमेश्वर के जन्म का वर्णन होता है, उन में जन्म द्वारा ज्ञानमात्र अर्थ ही जानना चाहिये।

स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥११॥ (३९)

(सः वै) वह निश्चय से (यज्ञात्) यज्ञ से (अजायत) प्रकट हुआ है, क्योंकि (तस्मात्) उस से (यज्ञः) यज्ञ (अजायत) पैदा हुआ है।

[यज्ञः—एकवचन के कारण, सत्त्व-रजस्-तमस् के परस्पर संगम द्वारा उत्पन्न, संसार यज्ञ यहां अभिप्रेत प्रतीत होता है। अथर्व० ११।३(३)।५२, ५३ मन्त्र, इस सम्बन्ध में निम्नरूप हैं यथा:—

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥५२॥ तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥५३॥ मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि प्रजापति ने ३३ लोकों का निर्माण किया। उन के प्रज्ञान के लिये उस ने यज्ञ सृजा। यहां यज्ञ से संसार यज्ञ अभिप्रेत प्रतीत होता है[1]। ३३ लोकों

---

१. अथर्व० (११।७।५-१६) में नाना यज्ञों तथा यज्ञांगों का कथन हुआ है, जिन के स्वरूपों का वर्णन, अथर्व० में नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन के स्वरूपों का वर्णन हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित इन के स्वरूप अथर्ववेदाभिमत हैं, या नहीं—यह विचार योग्य है।

में समग्र-संसार की व्याप्ति है। इन के स्वरूपों के ज्ञान के लिये ही परमेश्वर ने इन्हें रचा है, ताकि इन का यथावत् प्रयोग और उपयोग किया जा सके]।

स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥१२॥ (४०)

(सः) वह सविता (यज्ञः) यज्ञ है, (तस्य) उस सविता का (यज्ञः) यज्ञ है, (सः) वह सविता (यज्ञस्य) यज्ञ का (शिरः कृतम्) सिर रूप में कल्पित किया गया है।

[वेदों में संसार को शरीररूप मान कर, और संसार के घटक अवयवों को अङ्गरूप मान कर, इन्हें परमेश्वर के शरीर रूप में और अङ्गों के रूप में वर्णित किया है। यथा अथर्व० १०।७।१८-३४; तथा यजु० ३१।११-१३)। संसार और परमेश्वर में शरीर-शरीरिभाव का वर्णन यह दर्शाने के लिये हुआ है ताकि यह अनुभव किया जा सके कि जैसे अस्मदादि जीवनों में शरीर और शरीराङ्ग, चेतन जीवात्माओं के ज्ञान, इच्छा, तथा प्रेरणाओं द्वारा सक्रिय होते हैं, वैसे संसार और संसारावयव भी किसी विभु चेतन के ज्ञान, इच्छा तथा प्रेरणाओं द्वारा ही प्रेरित तथा सक्रिय हो रहे हैं।

परन्तु इस से कहीं यह न समझ लिया जाय कि परमेश्वर वस्तुतः शरीरधारी हैं, इस लिये कहा कि **"तस्य यज्ञः"** अर्थात् यज्ञ उस का है, वह यज्ञ रूप नहीं है, वह यज्ञ का स्वामी है। इसे और स्पष्ट किया है कि **"स यज्ञस्य शिरस्कृतम्"**, वह संसार का "सिर रूप" है। सिर प्रेरक है शरीर और शरीर के अङ्गों का। इसी प्रकार परमेश्वर संसार और संसार के अङ्गों का प्रेरक है। [शिरस्कृतम्=सिर रूप में कल्पित किया गया है]। परमेश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि "अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्" (यजु० ४०।८)।

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥१३॥ (४१)

(सः) वह सविता-परमेश्वर (स्तनयति) गर्जता है, (सः) वह (विद्योतते) विद्युत् रूप में चमकता है, (स उ) वह ही (अश्मानम्) ओले (अस्यति) फैंकता है, बर्साता है।

[मेघ और विद्युत् में प्रेरक रूप में परमेश्वर की सत्ता को जान कर,-यह कहा है कि सविता ही गर्जन, द्योतन, और ओले फैंकने के कार्य कर रहा है। मन्त्र का अभिप्राय मन्त्र ११ के अभिप्राय के अनुरूप है। मानुष शक्ति से बाह्य घटनाओं का प्रेरक परमेश्वर ही है]।

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥१४॥ (४२)

(पापाय) पापी के लिये (वा) और (भद्राय) भद्र के लिये (वा) और (पुरुषाय) पुरुष के लिये (वा) तथा (असुराय) असुर के लिये—[वह गर्जन, द्योतन और ओले फैंकने के कार्य करता है (मन्त्र १२)। वा=समुच्चयार्थः]।

[मन्त्र में प्रलय काल का वर्णन है, जिस में भले-बुरे, आस्तिक-नास्तिक सब का संहार होता है। पुरुषाय=पुरि देहे वसति शेते वा। अर्थात् जो अपने-आप को, देह से भिन्न होता हुआ, कर्मों के कारण देह में वसता तथा शयन कर्त्ता मानता है, अर्थात् जीवात्मा की सत्ता मानने वाला, आस्तिक।

असुराय=असु अर्थात् प्राणों के पोषण में रत, और धनैषणा वाला, नास्तिक। मन्त्र में "वा" पद समुच्चयार्थक हैं, यथा **अथापि समुच्चयार्थे भवति, "वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा"** (निरुक्त १।२।५)। प्रलय काल में प्रलयार्थ सब का समुच्चय होता है। पाप-भद्र, और पुरुष-असुर परपस्र में प्रतिद्वन्द्वी पद हैं]।

यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥१५॥ (४३)

(यद्वा) और जो (ओषधीः) ओषधियों को (कृणोषि) तू पैदा करता है, (यद्वा) और जो (भद्रया) कल्याणकारिणी और सुखदायिनी भावना से (वर्षसि) तू वर्षा करता है, (यद्वा) और जो (जन्यम्) जन समुदाय की (अवीवृधः) वृद्धि करता है:—

[वा=समुच्चयार्थक (मन्त्र १३)। भद्रया=भदि कल्याणे सुखे च। मन्त्र में सृष्टि की रक्षा का वर्णन है]।

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥१६॥ (४४)

(मघवन्) हे सम्पत्तिशालिन् सवितः ! (तावान्) उतनी या वह सब (ते महिमा) तेरी महिमा मात्र है, (उप उ) तथा (ते) तेरे [कार्यों के] (तन्वः) विस्तार (शतम्) सैकड़ों हैं।

उपो ते बद्ध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥१७॥ (४५)

(यदिवा) चाहे (न्यर्बुदम्) अर्बों विस्तार वाला (असि) तू है, वे विस्तार (ते) तेरे (बद्धे) बन्धन में (उप ऊं बद्धानि) समीपता से, बंधे हुए हैं।

[न्यर्बुदम्=अर्बुद का दसगुना। अर्बुद=१०० मिलियन। मिलियन=१० लाख। न्यर्बुद=१० अर्बुद। उ=वितर्क। उप=समीपता; परमेश्वर सब विस्तारवाली वस्तुओं में व्यापक होने से, उन के अत्यन्त समीप होकर उन्हें अपने बन्धन में बांधे हुए है]।

४ (५)

४६ आसुरी गायत्री; ४७ यवमध्या गायत्री; ४८ साम्नी उष्णिक्; ४९ निचृत्साम्नी बृहती; ५० प्राजापत्यानुष्टुप्; ५१ विराड्गायत्री।

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥१॥ (४६)

(नमुराद्) न मरने वाले अर्थात् नित्य पदार्थों से (इन्द्रः) परमेश्वर (भूयान्) बड़ा है, (इन्द्र) हे परमेश्वर! (मृत्युभ्यः) मरने वाले अर्थात् अनित्य पदार्थों से (भूयान्) बड़ा (असि) तू है।

[इन्द्रः=इदि परमैश्वर्ये। अतः इन्द्रः=परमेश्वर। सविता को इन्द्र कहा है]।

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥२॥ (४७)

(इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले! (अरात्याः भूयान्) अदानी से बड़ा, (शच्याः पतिः) कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (त्वम् असि) तू है, (विभूः) व्यापक और (प्रभूः) शक्तिशाली या स्वामी है (इति) इस प्रकार (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

[परमेश्वर अदानी से बड़ा है, वह कर्मों और प्रज्ञाओं का अध्यक्ष है तथा परमैश्वर्य का भी स्वामी है, अतः अदानी से मांग न करते हुए हम तेरी शरण में आते हैं। तू व्यापक, विभूतियों वाला, तथा सर्वशक्तिमान् है। अतः हम तेरी ही उपासना करते हैं]।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥३॥ (४८)

(पश्यत[1]) हे सर्व द्रष्टा परमेश्वर! (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (पश्यत) हे सर्वद्रष्टः! (मा) मुझे (पश्य) कृपा दृष्टि से देख।

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥४॥ (४९)

(अन्नाद्येन) खाद्य अन्न से (यशसा) यश से, (तेजसा) तेज से, (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्रह्मज्ञों की दीप्ति से युक्त हमें कर के कृपा दृष्टि से देख।

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥५॥ (५०)

हे परमेश्वर! तू (अम्भः) जलवत् शान्त स्वरूप (अमः) ज्ञान स्वरूप, (महः) पूजनीय तथा सबसे महान् (सहः) सहन स्वभाव वाला है (इति) इस प्रकार तुझे जानकर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं।

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥६॥ (५१)

(अम्भः) ज्ञान दीप्ति वाला, (अरुणम्) आरोचमान, (रजतम्) प्रीति के पात्र आनन्द स्वरूप, (रजः) रजोमयी पृथिवी के सदृश क्षमाशील, (सहः) बलवान तू है (इति) इस प्रकार जानकर (वयम्) हम (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

[अम्भः=अम् (अम)+भा (दीप्तौ), ज्ञान की दीप्ति वाला। अरुणः=आरोचमानः (निरुक्त ५।४।२१, वृकः ६५ की व्याख्या)। रजतम्=रजति प्रियं भवतीति (उणा० ३।१११)। सहः बलनाम (निघं० २।९)]।

---

१. "पश् या स्पश्" वैदिक धातु है,—जिस का अर्थ है,—देखना। "स्पशः" (गुप्तचर), (अथर्व० ४।१६।४); यतो व्रतानि "पस्पशे" (अथर्व० ७।२६।६); यदा "पश्यः" पश्यते रुक्मवर्णम् (मुण्डक उप० ३।१।३); "पस्पश" (पस्पशाह्निक, महाभाष्य पतञ्जलि)। स्पशः आदि पदों में "पश्" धातु प्रयुक्त हुई है। Spy तथा spectrum में भी "पश्" धातु प्रतीत होती है। Spy तथा स्पश् में अधिक वर्णसाम्य और अर्थसाम्य है।

४ (६)

५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुप्; ५४ द्विपदार्षी गायत्री ।

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥१॥ (५२)

(उरुः) सर्वाच्छादक, (पृथुः) विस्तृत अर्थात् व्यापक, (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार विद्यमान, (भुवः) आकाशवत् सब के लिए निवास स्थान तू है (इति) इस प्रकार जानकर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं ।

[उरुः=ऊर्णुञ् आच्छादने । सुभूः = सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति (ऋ० भा० भूमिका, महर्षि दयानन्द) । सुभूर्भुवः=सम्भवतः सु (स्वः)+ भूः+भुवः (महाव्याहृतियां) । स्वः=सम्प्रसारण द्वारा, सुः=सु ।

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥२॥ (५३)

(प्रथः) सब जगत् का प्रसारक, (वरः) श्रेष्ठ, (व्यचः) विविध प्रकार के सब पदार्थों में गत अर्थात् व्यापक, (लोकः) दर्शनीय तू है (इति) यह जानकर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं ।

[व्यचः=वि+अञ्चु (गतिपूजनयोः) । लोकः=लोकृ (दर्शने)] ।

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥३॥ (५४)

(भवद्वसुः) वसुओं को पैदा करने वाला, (इदद्वसुः) वसुओं में ऐश्वर्य स्थापित करने वाला, (संयद्वसुः) वसुओं का संयमन करने वाला, (आयद्वसुः) वसुओं में प्रयत्नशील, उन में गति देने वाला[2] तू है (इति) यह जान कर (वयम्) हम (त्वा) तेरी (उपास्महे) उपासना करते हैं ।

[भवद्वसुः=भवति वसवः यस्मात् सः । वसवः[1]=पृथिवी, अग्नि; अन्तरिक्ष, वायु; द्युलोक, आदित्य; नक्षत्र समूह, चन्द्रमाः । इदद्वसुः=इदि (परमैश्वर्ये)+शतृ+वसुः । आयद्=आ+यती प्रयत्ने+क्विप्; आ+अय् (गतौ)+शतृ] ।

१. बृहदा० उप० अध्याय ३, ब्राह्मण ६, खण्ड ३ ।

२. प्रयत्न शील, अथवा उन में गति देने वाला ।

५५ साम्नी उष्णिक्, ५६ निचृद् साम्नी बृहती ।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥४॥ (५५)

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥५॥ (५६)

(पश्यत) हे सर्वद्रष्टा सविता परमेश्वर ! (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो, (पश्यत) हे सर्वद्रष्टः ! (मा) मुझे (पश्य) कृपादृष्टि से देख ।

(अन्नाद्येन) खाद्य अन्न से, (यशसा) यश से, (तेजसा) तेज से, (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्रह्मज्ञों की दीप्ति से ।

[युक्त हमें करके, कृपादृष्टि से देख] ।

॥ चौथा सूक्त समाप्त ॥

॥ तेरहवां काण्ड समाप्त ॥

—:o:—

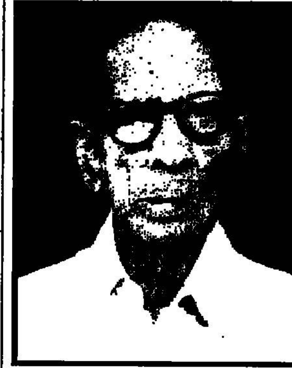
रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**-सं॰-यु॰मी॰ १००.००
२. **भूमिकाभास्कर**-स्वा॰ विद्यानन्द सरस्वती- दो भागों में-
प्रथमभाग ३००.००, द्वितीयभाग २००.००
३. **ऋग्वेदानुक्रमणी**-वेङ्कटमाधवकृत- व्याख्याकार-
पं॰ विजयपाल जी विद्यावारिधि ५०.००
४. **कात्यायनीया ऋक्सर्वानुक्रणी**- षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत
टीका सहित १५०.००
५. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**- युधिष्ठिर मीमांसक ५.००
६. **ऋग्वेदपरिचय**- पं॰ विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड २५.००
७. **माध्यन्दिनपदपाठः** (यजुर्वेद-पदपाठ) २००.००
८. **तैत्तिरीयसंहिता** (मूल) मन्त्रसूचीसहित १२०.००
९. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः**– दाक्षिणात्य पाठानुसारी ३००.००
१०. **अथर्ववेदीय-दन्त्योष्ठ्यविधि** अर्थात् अथर्ववेद का चतुर्थ लक्षण ग्रन्थ-
पं॰ रामगोपाल शास्त्री ५.००
११. **अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका**- भूमिका तथा
सूचियों सहित-पं॰ रामगोपाल शास्त्री ६०.००
१२. **गोपथब्राह्मण** (मूल) ८०.००
१३. **वैदिक-निघण्टु-संग्रह**- डॉ॰ धर्मवीर १००.००
१४. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक- वेदविषयक सत्रह
निबन्धों का संग्रह- प्रथमभाग ७५.०० द्वितीयभाग १००.००
१५. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**- ७०.००
१६. **वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक ५.००
१७. **वैदिकछन्दोमीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक यन्त्रस्थ
१८. **वैदिकस्वरमीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक ६०.००
१९. **वेदार्थभूमिका**– (हिन्दी)– स्वामी विद्यानन्द सरस्वती २५.००
२०. **वेदार्थभूमिका**– (संस्कृत)– स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ३०.००
२१. **वेदार्थभूमिका**– (हिन्दी-संस्कृत)– स्वा॰ वि॰ सरस्वती ५०.००
२२. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन**
प्रकार- युधिष्ठिर मीमांसक- १२.००
२३. **Success Motivating Vedic Lores**–
लेखक- श्री देवेन्द्र कुमार कपूर। ५०.००
२४. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय**- युधिष्ठिर मीमांसक-
२५.००
२५. **देवापि और शान्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप**-
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ८.००
२६. **विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्**- चारों भाग ४००.००
२७. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास** ५.००
२८. **त्वाष्ट्री-सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**-
पं॰ धर्मदेव निरुक्ताचार्य यन्त्रस्थ
२९. **वेद के आख्यानों का यथार्थ स्वरूप**-
वैद्य रामगोपाल शास्त्री ८.००
३०. **कतिपय वैदिक शब्दों के अर्थों की मीमांसा**– ५.००
३१. **वैदिक-जीवन**- पं॰ विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड ६०.००
३२. **वैदिक-गृहस्थाश्रम**- पं॰ विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड ५०.००
३३. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ?**-
पं॰ रामगोपाल शास्त्री १५.००
३४. **उरु-ज्योतिः**-वासुदेवशरण अग्रवाल ७०.००
३५. **वेदों की प्रामाणिकता**-श्रीनिवास जी ४.००
३६. **Anthology of Vedic Hymns**– स्वामी भूमानन्द सरस्वती २००.००
३७. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्**– (मूल) ४०.००
३८. **बौधायन-श्रौतसूत्रम्** (संस्कृत) आधान प्रकरण की व्याख्या
एवं पद्धति संहित ६०.००
३९. **श्रौतपदार्थनिर्वचनम्** (संस्कृत) यन्त्रस्थ
४०. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**-
यन्त्रस्थ
४१. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा** २५.००
४२. **शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा**- पं॰ विश्वनाथ वेदोपाध्याय
६०.००

४३. **संस्कार-विधि**-ऋषि दयानन्द कृत ३०.००
४४. **संस्कार-भास्कर**- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृतसंस्कार-विधि की व्याख्या १५०.००
४५. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**- पं॰ रामगोपाल- २०.००
४६. **वेदोक्त-संस्कारप्रकाश**- पं॰ बाला जी विट्ठलगावस्कर कृत मराठी का हिन्दी अनुवाद ३०.००
४७. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**-(पञ्च महायज्ञविधि के मन्त्रों की पदार्थ व भावार्थ सहित व्याख्या) २०.००
४८. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**- (मूलमात्र) ऋ॰द॰कृत ४.००
४९. **पञ्चमहायज्ञविधि**-ऋ॰द॰कृत १५.००
५०. **सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रविधि**-(हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्यासहित) डॉ॰ विजयपाल जी विद्यावारिधि १५.००
५१. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**- ऋषि दयानन्द ४.००
५२. **निघण्टु-निर्वचनम्**- देवराजयज्वाकृत १५०.००
५३. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**- पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक प्रथम भाग २००.००, द्वितीय भाग २००.००
५४. **निरुक्त-समुच्चय**- वररुचिकृत ३०.००
५६. **निरुक्त-शास्त्रम्**- (हिन्दी-भाष्यम्) पं॰ भगवद्दत्त जी २००.००
५७. **शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र** १०.००
५८. **वर्णोच्चारण-शिक्षा-चिन्तनम्**- आचार्य धर्मवीर २०.००
५९. **शिक्षा-शास्त्रम्**- पं॰ उदयनाचार्य १५०.००
६०. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** १५.००
६१. **अष्टाध्यायीभाष्य**- (संस्कृत-हिन्दी) प्रथमभाग १७०.०० द्वितीयभाग १२०.००, तृतीयभाग १५०.००
६२. **धातुपाठः**- (धातुसूचीसहित) १२.००
६३. **माधवीया-धातुवृत्तिः**-आचार्य सायण रचित धातुपाठ की प्रामाणिक व्याख्या- सं॰- विजयपाल विद्यावारिधि ५००.००
६४. **पारिभाषिकः**-व्याख्याकार-आचार्य प्रद्युम्न। व्याकरण की परिभाषाओं की प्रामाणिक व्याख्या- ६०.००
६५. **काशिका**-वामनजयादित्य- सं॰- विजयपाल विद्यावरिधि ५००.००
६६. **भागवृत्तिसंकलनम्**- अष्टाध्यायीवृत्ति ३०.००

भाष्यकार का परिचय



नाम– प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी– श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता– श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान– मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा– प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन– सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान– सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

ग्रन्थ लेखन– १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार– विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन– १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।